हिंदी-नवरत्न

संपादक
सर्वप्रथम देव-पुरस्कार-विजेता
श्रीदुलारेलाल भार्गव
(सुधा-संपादक)

गंगा-पुस्तकमाला का इकतीसवाँ पुष्प

हिंदी-नवरत्न

अर्थात्

हिंदी के नव सर्वोत्कृष्ट कवि

लेखक

गणेशविहारी मिश्र (स्वर्गवासी)

रावराजा डॉक्टर श्यामविहारी मिश्र डी० लिट्० (इला०)

रायबहादुर शुकदेवविहारी मिश्र बी० ए०

"ते सुकृती, रससिद्ध कबि बंदनीय जग माहिं,
जिनके सुजस-सरीर कहँ जरा-मरन-भय नाहिं।"

मिलने का पता

गंगा-ग्रंथागार

३०, अमीनाबाद-पार्क

लखनऊ

पंचम संस्करण

(सचित्र, संशोधित और संवर्द्धित)

सजिल्द ५)] सन् १९३८ [अजिल्द ४॥)

समर्पण

सूची

पृष्ठ

महाकवि चंद बरदाई

संपादक का वक्तव्य

ग्रंथकार

साहित्य-सेवा शिक्षित मनुष्य-मात्र का एक आवश्यक कर्तव्य और प्रशंसनीय व्यसन है। उसमें भी निस्स्वार्थ भाव से लोकोपयोगी और राष्ट्र में जातीयता के भाव भरनेवाले साहित्य की रचना करना मानो अपने को अमर बना देना है। प्रातःस्मरणीय गोस्वामीजी अथवा राष्ट्र-भाषा-भूषण महाकवि भूषण का पद, इस दृष्टि से, कोरे शृंगार-रचना-रसिक अन्यान्य प्रौढ़ कवियों से कहीं ऊँचा है। लोकमान्य तिलक, माननीय गोखले अथवा महात्माजी की लेखनी से निकले हुए ग्रंथों या लेखों और चंद्रकांता-संतति या भूतनाथ की जीवनी में महान् अंतर है, यद्यपि साहित्य में समावेश दोनो प्रकार की रचनाओं का हो सकता है। जो सुशिक्षित सज्जन नौकरी या अन्य अनेक प्रकार के अपने आवश्यक काम करते हुए भी, समय बचाकर, निस्स्वार्थ भाव से केवल देशवासियों के उपकारार्थ, अपनी मातृभाषा की समृद्धि-वृद्धि के लिये, उपयोगी लेख लिखते अथवा पठनीय उच्च पुस्तकों का प्रणयन करते हैं, उनका नाम जातीयता के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा जाता है, अथच सर्व-साधारण में वे श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते हैं।

हमारे हिंदी-साहित्य-जगत् में यद्यपि ऐसे लेखक अभी यथेष्ट संख्या में नहीं हैं, तथापि उनका अत्यंताभाव भी नहीं। इस प्रकार के जो कतिपय लेखक राष्ट्र-भाषा के शरीर को समय-समय पर बहु-मूल्य रचना-रत्नों के आभूषणों से अलंकृत किया करते हैं, उनमें मिश्रबंधुओं का नाम सादर लिया जा सकता है। ये तीनो बंधु जैसे

सत्कुलोद्भव, सुशिक्षित और सज्जन हैं, वैसे ही बिना किसी स्वार्थ के मातृभाषा की सेवा करनेवाले भी। आप लोगों को गद्य और पद्य, दोनो में रचना करने का व्यसन है। समय-समय पर, हिंदी के पत्रों और पत्रिकाओं में, आप लोगों ने जो ऐतिहासिक और आर्थिक निबंध लिखे हैं, या समालोचनाएँ की हैं, वे महत्त्व-पूर्ण हैं। आप लोगों का यह क्रम अभी तक जारी है। इनके समकालीन कई लेखकों की लेखनी ने जहाँ संन्यास ग्रहण कर चुप्पी साध ली है, वहाँ आपकी लेखनी दूने उत्साह के साथ अपने कर्तव्य का पालन करने को उद्यत रहती है। हमारे इस कथन का प्रमाण सुधा और माधुरी में समय-समय पर प्रकाशित होनेवाले आपके सुचिंतित, सुलिखित, गवेषणा-पूर्ण निबंध हैं। आप लोगों ने केवल लेख लिखकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझ ली है, वरन् समय-समय पर बहुमूल्य और विस्तृत कई उपयोगी ग्रंथ भी लिखकर अपनी अध्ययनशीलता, गवेषणा-प्रियता और देश-प्रेम का परिचय दिया है। उनमें 'हिंदी-नवरत्न' और 'मिश्रबंधु-विनोद', ये दोनो ग्रंथ बड़े महत्त्व के हैं। पुस्तकाकार प्रकाशित 'व्यय'-नामक आप लोगों का विशालकाय निबंध भी आर्थिक दृष्टि से कम महत्त्व नहीं रखता।

अँगरेज़ी आदि अन्य भाषाओं के साहित्य में आप ऐसी अनेक पुस्तकें देखेंगे, जिनमें समस्त प्राचीन कवियों अथवा लेखकों के संबंध में विस्तृत रूप से ऐतिहासिक विवेचन किया गया है। कौन कवि किस समय, किस देश में, किस कुल में उत्पन्न हुआ; उसने कौन-कौन-से ग्रंथ लिखे; उसकी प्रकृति और रचनाओं में क्या विशेषताएँ थीं—कौन गुण थे, कौन दोष थे, इन बातों का विस्तार के साथ विशद विवेचन उन भाषाओं के लेखकों ने किया है। इसके सिवा अन्य भाषाओं के कवियों और लेखकों की संपूर्ण ग्रंथावलियों के भी सुंदर संस्करण निकले हैं, और निकलते जाते

हैं। ग्रंथावलियों में पाठांतर, कठिन शब्दों और स्थलों के अर्थ, शंका-समाधान, निष्पक्ष आलोचना आदि का समावेश भी रहता है। तुलनात्मक आलोचनाएँ भी निकली हैं। ऐसी पुस्तकों की भी कमी नहीं है, जिनमें यह दिखलाया गया है कि अमुक कवि या लेखक के विषय में अमुकामुक धुरंधर विद्वानों की क्या सम्मति है? तात्पर्य यह कि अन्य भाषाओं में—विशेषतया अँगरेज़ी में—प्राचीन कवियों और लेखकों के संबंध में सभी ज्ञातव्य विषयों से पूर्ण ग्रंथ खोज के साथ लिखे गए और प्रकाशित हुए हैं। हमारी राष्ट्र-भाषा हिंदी का यह विभाग बहुत हीन है। हमारे यहाँ ऐसे ग्रंथ प्रायः लिखे ही नहीं गए। लिखे कौन? इस प्रकार के ग्रंथ लिखने के लिये काफ़ी समय और धन के साथ ही यथेष्ट परिश्रम करने की प्रवृत्ति भी होनी चाहिए। हमारे प्राचीन कवियों और लेखकों में से अधिकांश अपने बारे में मौन हैं। इतने बड़े महाकवि कालिदास और भारवि आदि के कुल और समय का ठीक पता नहीं है! हिंदी के सूर्य तुलसी, सूर, देव, बिहारी, भूषण, मतिराम आदि के विषय में भी बहुत-सी बातें अज्ञात हैं। इस गड़बड़ का एक कारण तो हमने ऊपर लिखा है कि वे ग्रंथों में अपने बारे में अर्थंच समय के विषय में अधिकतर कुछ लिखते ही न थे। दूसरा कारण यह भी है कि उस समय छापेखाने तो थे नहीं; बहुत हुआ, तो लेखक या कवि ने अपने लिये एक प्रति ग्रंथ की लिख ली। रेल आदि यात्रा के सुगम साधन न होने के कारण ऐसे ही किसी भारी कवि का, जो राजदरबारों में घूमता था, नाम दूर तक प्रसिद्ध हो पाता था, नहीं तो आस-पास दस-बीस-पचास कोस तक—बहुत हुआ, तो ज़िले या प्रांत-भर में—वह प्रसिद्ध होकर रह जाता था। कवि के लड़के अगर अपढ़ हुए—जैसा कि प्रायः हो जाता है—तो कवि की अपनी 'प्रति' भी नष्ट हो गई। बस, उसके

शरीर के साथ उसके ग्रंथ का भी अंत हो गया। कौन जाने, इस तरह कितने बहुमूल्य ग्रंथ और कवियों के परिचय लुप्त हो गए हैं। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ऐसी हस्त-लिखित प्रतियों की खोज का उपयोगी कार्य कई वर्षों से करा रही है, और उसे बहुत-से ग्रंथ मिले भी हैं। उनसे कई कवियों के समय, कुल आदि के विषय में कुछ नई बातें भी मालूम हुई हैं। सभा का यह कार्य प्रशंसनीय है।

ऐसी स्थिति में मिश्रबंधुओं ने हिंदी-नवरत्न की रचना करके, नव प्रसिद्ध प्राचीन महाकवियों का इतिहास लिखकर, उनकी रचनाएँ उद्धृत करके एवं गुण-दोष का विवेचन करके हिंदी और हिंदी-भाषा-भाषियों का कितना बड़ा उपकार किया है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। इन महाकवियों की कविता पढ़कर काव्य-प्रेमी सज्जनों को इनके संबंध में विशेष बातें जानने का कौतूहल होना स्वाभाविक था। उस कौतूहल को शांत करने का उपाय करके मिश्र-बंधुओं ने एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है, इसमें संदेह नहीं।

ग्रंथ

आप लोगों का लिखा हिंदी-साहित्य का इतिहास 'मिश्रबंधु-विनोद' हिंदी की एक स्थायी संपत्ति है। यह 'हिंदी-नवरत्न' भी अमूल्य रत्न है। स्थायी साहित्य में उसी रचना की गणना की जा सकती है, जिसका महत्त्व और उपयोगिता केवल सामयिक न हो, बल्कि सदैव एक-सी बनी रहे। यह बात आप लोगों के 'नवरत्न' और 'विनोद', दोनो में पाई जाती है। हिंदी-नवरत्न एक दर्पण है, जिसमें हम अपने प्राचीन महाकवियों की योग्यता और इतिहास का पूरा प्रतिबिंब देख पाते हैं। 'मिश्रबंधु-विनोद' का महत्त्व इसलिये अधिक है कि आगे जो लेखक इस विषय पर विशेष विस्तार से लिखना चाहेंगे, उनके लिये यह ग्रंथ पथ-

प्रदर्शक का काम करेगा। हम बड़े हर्ष के साथ यहाँ यह सूचना देते हैं कि हिंदी-नवरत्न की तरह मिश्रबंधु-विनोद का सर्वांग-सुंदर नवीन संस्करण भी हमारे यहाँ से चार भागों में प्रकाशित हो गया है।

द्वितीय संस्करण की विशेषताएँ

हिंदी-नवरत्न का प्रथम संस्करण निकलने पर उसकी अनुकूल और प्रतिकूल, सभी तरह की आलोचनाएँ प्रायः सभी प्रसिद्ध विद्वानों ने की। मतभेद होना कुछ अस्वाभाविक नहीं। उससे किसी रचना की उपयोगिता नहीं कम होती। लेखकों ने इस संस्करण में उन आलोचनाओं पर विचार करके आवश्यक परिवर्तन और परिवर्द्धन भी किए हैं। जिन आपत्तियों को उन्होंने अग्राह्य समझा, उन पर ध्यान नहीं दिया। इस संस्करण में कवियों के विषय में इधर ज्ञात हुई बहुत-सी नई बातों का समावेश भी किया गया है। जिस-जिस विषय में लेखकों का मत बदल गया है, वहाँ निस्संकोच परिवर्तन-परिवर्द्धन कर दिया गया है। भाषा में भी सर्वप्रिय सुधार हो गए हैं। कविताओं के उद्धृत उदाहरणों की मात्रा दूनी-तिगुनी कर दी गई है, जिससे पुस्तक का कलेवर दूने के लगभग हो गया है। काग़ज़, छपाई-सफ़ाई में भी पहले की अपेक्षा उन्नति की गई है। इस बार पुस्तक की जिल्द भी, अधिक व्यय का खयाल न करके, बहुत बढ़िया बनवाई गई है। प्रूफ़ पढ़ने में भी बड़ी सावधानी रक्खी गई है, जो गंगा-पुस्तकमाला की एक सर्वजन-विदित लोकप्रिय विशेषता है। गोस्वामी तुलसीदास, बिहारीलाल और महात्मा कबीरदास के प्रामाणिक रंगीन चित्र भी प्राप्त करके दिए गए हैं। मतलब यह कि नवरत्न का यह संस्करण सर्वांग-सुंदर और सर्वप्रिय बनाने में कोई क़सर नहीं रक्खी गई, और मूल्य भी यथासंभव कम ही रक्खा गया है। आशा है, हिंदी-भाषा-भाषी जनता में

इस संस्करण का अच्छा आदर और प्रचार होगा। इस में कबीरदास को भी रत्न-कवि के लक्षणों से युक्त समझकर स्थान दिया गया है। किंतु 'रत्न' नव ही रखने के विचार से 'नवरत्न' नाम की सार्थकता बनाए रखने के लिये, मतिराम और भूषण को 'त्रिपाठी-बंधु'-शीर्षक में एकत्र स्थान दिया गया है। कबीर को क्यों स्थान दिया गया, इसका विस्तृत विवरण लेखकों की भूमिका में देखिए। इस प्रकार, इस बार, यह एक नई ही पुस्तक बन गई है।

गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय आषाढ़-सुदी पंचमी, सं० १६८१	}	दुलारेलाल भार्गव संपादक
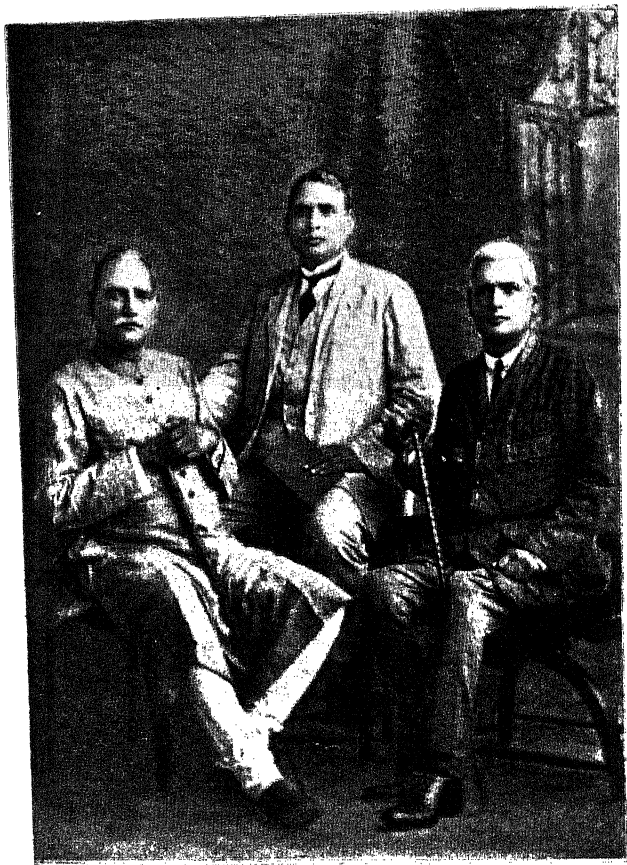
पं० गणेशविहारी, रावराजा रायबहादुर पं० श्यामविहारी
रायबहादुर पं० शुकदेवविहारी
(मिश्रबंधु)

भूमिका

हिंदी-नवरत्न का यह पाँचवाँ संस्करण निकल रहा है। प्रथम चार एक-एक करके सं० १९६७, १९८१, १९८५ तथा १९९१ में निकले। अब तक प्रत्येक की भूमिका पृथक्-पृथक् छपती थी, किंतु समय के फेर से अब उनमें से बहुतेरे कथन अनावश्यक हो गए हैं, सो एक ही रक्खी जाती है। सम्मेलन, आई० सी० एस्०, बहुतेरे भारतीय विश्वविद्यालयों, विशेष योग्यता आदि की परिक्षाओं में इसे पाठ्य पुस्तक नियत करके चिर काल से लोगों ने हमारा उत्साह बढ़ाया है। सं० १९९२ में इसका एक संक्षिप्त संस्करण भी निकल चुका है। प्रथम संस्करण हिंदी-ग्रंथ-प्रकाशक मंडली, प्रयाग से निकला, और शेष गंगा-पुस्तकमाला, लखनऊ ने निकाले। इतर पुस्तकों की भाँति इससे भी हमने कभी कोई आर्थिक लाभ नहीं उठाया, वरन् प्रकाशकों को विविध संस्करण छापने की आज्ञा केवल इसी नियम पर दे दी है कि ग्रंथ का मूल्य कम रखकर भी उसकी लोकप्रियता बढ़ाई जाय। ऐसा ही होता भी आया है। हमारे यहाँ अब तक समालोचना-विभाग संपन्न नहीं है। अँगरेज़ी में यदि अकेले शेक्सपियरवाले समालोचकों के लेखों का परिमाण जोड़ा जाय, तो वह स्वयं इस कवि की रचनाओं से पंद्रहगुना निकलेगा। इसी प्रकार अन्य साधारण कवियों तक की रचनाओं के मर्म प्रकट करने और उनके गुण-दोष परखने में अँगरेज़ी के समालोचकों ने कुछ उठा नहीं रक्खा है, और प्रायः सभी कवियों की रचनाओं के पढ़ने में साधारण पाठक और

विद्यार्थी तक इन समालोचना-ग्रंथों से उनके गुण-दोष भली भाँति समझने में समर्थ होते हैं। इस तरह समालोचना-ग्रंथों द्वारा कवियों की रचनाओं के जौहर चमकते हैं, और उत्कृष्ट एवं शिथिल ग्रंथों के भेद समझने में साधारण मनुष्य भी कृतकार्य होते हैं। इसी प्रकार संसार में श्रेष्ठ कवियों का मान बढ़ता और निकृष्ट ग्रंथों का प्रचार कम होता है। संसार में किसी भी विषय को अच्छी तरह समझनेवालों की संख्या बहुत कम होती है, और पाठकों में प्रति सैकड़े प्रायः ९५ मनुष्य ऐसे होते हैं, जो समयाभाव एवं अन्य कारणों से उस विषय के पूर्ण ज्ञाता नहीं हैं। बहुत लोगों की रुचि भी इतनी उन्नत नहीं होती कि वे सब प्रकार की रचनाओं के यथार्थ रहस्य को समझ सकें। जो लोग इस विषय में अधिक समय लगा सकते हैं, उनका कर्तव्य है कि वे ग्रंथों के ठीक-ठीक गुण-दोष बताकर ऐसे मनुष्यों की रुचियों की भी उचित उन्नति करें। इस प्रकार समालोचना केवल किसी एक कवि का हाल ही नहीं बताती, वरन् साधारण पाठक-समाज में औचित्य को भी बढ़ाती है।

फिर, प्रत्येक पाठक की रुचि भिन्न हुआ करती है, परंतु वह अपनी रुचि के अनुरूप सब ग्रंथ खोजने में सदैव समर्थ नहीं होता। समालोचना से हर एक ग्रंथ का असली रूप साधारण पाठक के सम्मुख, विना उसके पढ़े ही, उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार समालोचना से उचित एवं उपयोगी पुस्तकों के चुनाव में भी लोगों को बड़ी सहायता मिलती है। सत्य समालोचना मान्य ग्रंथ को जीवन और बल देती है। ऐसे ग्रंथों की संख्या बढ़ाने में भी समालोचना परम पटु या समर्थ है; क्योंकि जब उसके द्वारा निकृष्ट ग्रंथों का मान न होने पावेगा, तब श्रेष्ठ ग्रंथ आप ही अधिक बनेंगे। भविष्य के लेखकों और कवियों के लिये समालोचना गुरु का काम करती है, क्योंकि उन्हें वह सिखलाती है कि किस प्रकार

की रचना अच्छी है, और सभ्य-समाज में आदर पा सकती है। यदि कपूर और कपास श्वेत वर्ण-युक्त होने के कारण एक ही मूल्य पर आँके जाने लगें, तो संसार में उपयोगी पदार्थों का बहुत शीघ्र अभाव हो जाय।

इन सब बातों से स्पष्ट है कि किसी भी भाषा की उन्नति के लिये समालोचना-विभाग का पूर्ण होना परमावश्यक है, और जितना ही जिस समाज में समालोचना का ज़ोर होगा, उतने ही उपयोगी एवं उत्कृष्ट ग्रंथ उसमें बनेंगे। अँगरेज़ी की भारी उन्नति का एक बहुत बड़ा कारण समालोचनाओं का बाहुल्य है। यही सब सोच-विचारकर हम समझते हैं कि इन एक सहस्र वर्ष के कवियों की रचनाओं को जीवन-दान करने के लिये प्रत्येक लेखक का कर्तव्य है कि वह पक्षपात-रहित मान्य समालोचनाओं द्वारा हिंदी का भांडार भरे। किंतु समालोचना का लिखना भी कोई साधारण काम नहीं है। वही मनुष्य समालोचना लिख सकता है, जो ग्रंथों को भली भाँति समझ सके, और उनके विषयों से अच्छी जानकारी तथा सहृदयता रखता हो। इस योग्यता और सहृदयता के अतिरिक्त समालोचक को मूल-ग्रंथ का भली भाँति अध्ययन तथा मनन करने में यथेष्ट समय भी देना पड़ेगा। अतः प्रकट है कि अच्छे विद्वान् के सिवा कोई साधारण मनुष्य समालोचक नहीं हो सकता। इस बात पर ध्यान देने से हमें इस काम में हाथ लगाने का साहस नहीं होता था। पर अच्छे विद्वानों का इस ओर विशेष झुकाव न देखकर, उनका ध्यान आकृष्ट करने के विचार से ही, हमने इस कार्य में हाथ लगाया है। यदि हमारी शिथिल समालोचनाओं द्वारा इस ओर विद्वानों का ध्यान गया, और इस विभाग की उन्नति हो सकी, तो हमारा अभिप्राय सिद्ध हो जायगा।

हिंदी-साहित्य का इतिहास लिखने का विचार सन् १९०१ की

सरस्वती में प्रकाशित एक लेख में हमने पहलेपहल प्रकट किया। तब से हम लोग बराबर, अन्य लेखों के साथ-साथ, समय-समय पर, समालोचनाएँ भी लिखते रहे। पर साहित्य का इतिहास लिखने का कभी अवकाश नहीं मिला, और न इस ओर कुछ समय तक विशेष ध्यान ही गया। धीरे-धीरे लेख लिखते और ग्रंथ पढ़ते रहे, जिससे हम लोगों का विचार गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं पर समालोचनात्मक लेख लिखने का हुआ। इसी बीच में, सं० १९६१ के लगभग, हम लोगों ने, प्रायः तीन मास परिश्रम करके, गोस्वामीजी-कृत कविता की समालोचना के नोट लिखे; परंतु फिर भी अन्य रामायणों को भली भाँति देखे और तुलना किए विना समालोचना को यथोचित बना सकने का साहस न पड़ा, और इस प्रकार अधिक पठन-पाठन के लिये वे नोट, जैसे-के-तैसे, प्रायः तीन साल तक रक्खे रहे। समालोचना लिखने में अति विलंब देखकर हम लोगों ने सं० १९६४ में फिर परिश्रम किया। बस, हरदोई में तीनो भाइयों ने एकत्र होकर तीन दिन में ही गोस्वामीजी की कविता पर एक समालोचना लिख डाली। फिर भी उसको, ललित बनाने के विचार से, हम लोगों ने प्रकाशित नहीं कराया। वह तीन वर्ष तक इसी प्रकार रक्खी रही, पर अवकाशाभाव से विशेष ललित न बनाई जा सकी।

उधर, सं० १९६२ के लगभग, हम लोगों ने भूषण की कविता पर एक समालोचना लिखकर जयपुर के समालोचक पत्र में छपवाई। उस समय काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा अपनी ग्रंथ-माला में भूषण के ग्रंथ निकालना चाहती थी। हमारी समालोचना देखकर उसने भूषण की रचना के संपादन का भार हम लोगों ही को सौंपा। इस काम में हमें डेढ़ साल तक इतना परिश्रम करना पड़ा, जितना हमने आज तक सिवा हिंदी-साहित्य के इतिहास के और किसी भी हिंदी- पुस्तक पर नहीं किया, चाहे वह स्वयं हमारी

बनाई हो, चाहे किसी दूसरे की। भूषण-ग्रंथावली के संपादन में हमने भूषण के ग्रंथों की विविध प्रतियाँ एकत्र कीं, और यथासंभव शुद्ध और पूर्ण कविता छापने का प्रयत्न किया। इसका फल यह हुआ कि हमारे प्रकाशित शिवराज-भूषण-ग्रंथ में अन्य प्रतियों से प्रायः ड्योढ़े छंद हैं। इस प्रयत्न में हमें भूषण-कृत छंद बहुत बार पढ़ने पड़े, और तब हमें भूषण की कविता का महत्त्व जान पड़ा।

पहले हम मतिराम को भूषण से बहुत अच्छा कवि समझते थे, पर पीछे से इस विचार में शंका होने लगी। उस समय हमने भूषण और मतिराम के एक-एक छंद का मुक़ाबला किया। तब जान पड़ा कि मतिराम के प्रायः १० या १२ कवित्त तो ऐसे रुचिर हैं कि उनका सामना भूषण का कोई कवित्त नहीं कर सकता, और उनके सामने देव के सिवा और किसी के भी कवित्त ठहर नहीं सकते, पर मतिराम के शेष पद्य भूषण के अनेक पद्यों के सामने ठहर नहीं सके। इस प्रकार मतिराम और भूषण की तुलना करके हमने भूषण को श्रेष्ठ पाया। इसी प्रकार भूषण को केशवदास से मिलाया, तो भी भूषण ही की कविता में विशेष चमत्कार देख पड़ा। प्रथम तो हमें इस बात पर आश्चर्य-सा हुआ, क्योंकि हम पहले केशवदास को भूषण से बहुत अच्छा समझते थे, पर ज्यों-ज्यों अधिक मिलाते गए, त्यों-त्यों हमारी दृष्टि में भूषण का ही चमत्कार बढ़ता गया। तब हमने भूषण को बिहारीलाल से मिलाया, पर उन कवि-रत्न के सम्मुख भूषण के पद्य ठहर न सके। यह तुलना केवल पद्य पढ़कर ही नहीं की गई, वरन् प्रत्येक पद्य को नंबर देकर, मनोहर पद्यों की संख्या और प्रति सैकड़े उनका औसत लगाकर, सब बातों पर कई दिन तक ध्यान-पूर्वक विचार करने के उपरांत की गई थी।

इसी बीच में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने हमसे प्रायः २०० पृष्ठों में हिंदी-साहित्य का एक इतिहास लिखने के लिये कहा।

उस समय हम कालिदास-कृत रघुवंश का पद्यानुवाद कर रहे थे। वह ढाई सर्गों तक हो भी चुका था। हमने उसी जगह उसे छोड़ दिया, और इतिहासवाले काम के लिये समालोचनाओं का लिखा जाना आवश्यक समझकर यही काम फिर हाथ में ले लिया। तब सं० १९६४ में हमने बहुत-से कवियों पर समालोचनाएँ लिखीं। यह काम करते-करते धीरे-धीरे इसमें बुद्धि फैलने लगी, अर्थात् सब प्रकार के कवियों की उत्तमता अथवा निकृष्टता समझ पड़ने लगी। धीरे-धीरे यह विचार उठा कि पाँच परमोत्कृष्ट कवियों को लेकर, संस्कृत-कवि-पंचक की भाँति, भाषा-कवि-पंचक नाम का एक ग्रंथ हम भी लिखें। उसमें सूर, तुलसी, देव, बिहारी और केशवदास के नाम रखने का विचार हुआ। फिर भूषण की कविता का चमत्कार जब ध्यान में आया, तब उनको छोड़ देना अनुचित जान पड़ने लगा, और भाषा-कवि-षट्क लिखने का विचार उठा। पीछे से सेनापति की कविता में ऐसा अनूठापन देख पड़ा, और वह ऐसी अच्छी समझ पड़ी कि उनका भी नाम मिलाकर कवि-सप्तक बनाने का संकल्प हुआ। अनंतर भारतेंदु तथा चंद की रचनाएँ भी उत्कृष्ट तथा परम मनोहर देख पड़ीं। इस प्रकार हिंदी-नवरत्न का नाम ध्यान में आया, और इसी नाम से प्रस्तुत ग्रंथ बनाने का दृढ़ संकल्प हुआ। पीछे से जायसी की कविता बहुत बढ़िया समझ पड़ी, और सेनापति के स्थान पर उनका नाम रखने का विचार हुआ; किंतु अंत को उसे कई बार ध्यान से पढ़ने पर उसका चमत्कार कुछ फीका जँचा, और जायसी का स्थान तोष कवि की श्रेणी में समझ पड़ा। यह पद्माकर की श्रेणी के नीचे है। सबसे पहले मतिराम की श्रेणी थी, फिर दास की, और तब पद्माकर की। तोष की श्रेणी के नीचे साधारण श्रेणी है। धीरे-धीरे यह समझ पड़ा कि सेनापति की कविता परम अनूठी एवं विशद होने पर भी मतिराम-कृत रचना की समता नहीं कर

सकती। इस विचार से मतिराम की श्रेणी को सेनापति की श्रेणी बना दिया, और मतिराम को सेनापति के बदले नवरत्न में स्थान दे दिया। इस प्रकार नवरत्न में नव कवियों की स्थिति हुई। अनंतर कबीरदास को भी नवरत्न में लेना ठीक जँचा, किंतु किसी को निकाल डालना उचित न जानकर भूषण और मतिराम को त्रिपाठी-बंधु कहकर नवरत्न नाम सार्थक रक्खा।

इस ग्रंथ का साहित्य के इतिहास से बहुत घनिष्ठ संबंध है, अतः उचित समझ पड़ता है कि इस स्थान पर केवल दिग्दर्शन की तरह उसका भी थोड़ा-सा सारांश लिख दिया जाय। बंगाल और दक्षिण को छोड़कर प्रायः समस्त भारतवर्ष की मातृभाषा हिंदी है। इसके कवि सभी जगह हुए हैं, तथा सभी स्थानों पर इसका मान रहा है। कवि की पदवी भी इतनी ऊँची है कि मनुष्य महाराजाधिराज होने पर भी कवि होने से अपना गौरव समझता है। जापान के महाराज मत्सुहितो मिकाडो भी राजकाज से समय निकालकर नित्य कुछ कविता करते थे। महाराजों की कवि बननेवाली लालसा से हिंदी-साहित्य का बहुत बड़ा उपकार हुआ, और हो रहा है। कविता करनेवाले कुछ तो ऐसे होते हैं, जो शौक़िया, बचे हुए समय में, करते हैं, पर अपना प्रधान कार्य मुख्य रूप से किया करते हैं। ऐसे लोग संसार के सभ्य देशों में बहुत होते हैं; पर बहुत कुछ उत्साह रहने पर भी इन लोगों से बहुत कार्य नहीं हो सकता। दूसरे प्रकार के मनुष्य वे होते हैं, जो व्यापार की भाँति कविता ही करते हैं, और यही उनका प्रधान कार्य है। ऐसे मनुष्यों के लिये कविता ही सब कुछ है, और वे लोग बहुत अधिक काम कर सकते हैं। पर उनकी जीविका के दो ही उपाय हो सकते हैं, अर्थात् या तो वे अपने ग्रंथों की बिक्री से गुज़र करें, या किसी राजा-महाराजा का आश्रय लें। जब तक भारत में प्रेस न था,

तब तक ग्रंथों की बिक्री से जीविका चलना सर्वथा असंभव था। आज प्रेस के होने पर भी जीविका इस प्रकार नहीं चल सकती, क्योंकि भारत में इतने शिक्षित मनुष्य नहीं हैं कि किसी उत्कृष्ट ग्रंथ की भी इतनी प्रतियाँ बिक जायँ, जिससे कवि का गुज़र उसी के लाभ से हो सके *। इँगलैंड में विद्या का प्रचार बहुत दिनों से यथेष्ट है ; पर वहाँ भी ऐसा समय थोड़े ही दिनों से आया है कि कविगण ग्रंथों की बिक्री का ही भरोसा कर सकें। ऐसी दशा में, धनिकों के आश्रित होकर रचना करने के सिवा, निर्धन कवियों के लिये कोई और उपाय न पहले था, और न अब है। हर्ष की बात है कि भारत में पहले ही से धनी लोग बहुत अधिक कविता-प्रेमी रहे हैं। 'जाने सोई माने' के अनुसार अगुणज्ञ धनिक कविता की क़दर या सत्कार नहीं कर सकते थे। गुणी लोगों के आश्रय से ही हिंदी का कलेवर पुष्ट हुआ है। गुणी धनिकों में भी जो लोग स्वयं कविता करते थे, उनकी लक्ष्मी कवियों के लिये कामधेनु हो जाती थी। साहित्य का इतिहास, कवियों का हाल और चक्र देखने से विदित होगा कि महाराजा छत्रसाल और महाराजा भगवंतराय खीची के यहाँ इतने कवियों को आश्रय मिलता था, जिसका वार-पार नहीं। ये दोनो क्षत्रिय राजा कवियों के कल्पवृक्ष थे। इनके अतिरिक्त बांधव-नरेश एवं काशी-नरेश के यहाँ भी कई पुश्तों तक बहुत-से कवियों को आश्रय मिलता रहा और अब भी मिलता है। महाराजा मानसिंह अयोध्या-नरेश ने भी कवियों का अच्छा मान किया था। चित्तौर के महाराणा कुंभकर्ण कवियों के बड़े सहायक थे ; पर उनके आश्रित कवियों का

* अब कुछ लेखकों का गुज़र इस प्रकार हिंदी-पुस्तकें लिखकर भी होने लगा है।

अब पता नहीं लगता। आश्रयदाताओं के विषय में इतना लिखकर अब हम साहित्य के इतिहास का सूक्ष्म रूप से कुछ वर्णन करते हैं।

हिंदी की जननी प्राकृत है, अर्थात् वही बदलते-बदलते अपभ्रंश होती हुई, हिंदी हो गई है। इस परिवर्तन का समय स्थिर करना कठिन है, क्योंकि ऐसा अदल-बदल किसी एक समय में नहीं होता, बल्कि धीरे-धीरे शताब्दियों तक होता रहता है। यह कहना बहुत कठिन है कि किस स्थान से व्रजभाषा समाप्त होती, और पूर्वी बोली शुरू होती है, अथवा पूर्वी बोली समाप्त होती और वंग-भाषा चलती है। इन समाप्तियों और प्रचारों का कोई एक स्थान नहीं है, वरन् धीरे-धीरे ग्राम-प्रतिग्राम एक भाषा मंद पड़ती जाती है, और दूसरी का अंश कुछ-कुछ बढ़ता जाता है, यहाँ तक कि बहुत दूर चलकर एक पूर्ण रूप से मिट जाती है, और दूसरी का पूरा ज़ोर हो जाता है। समयानुसार भाषाओं के परिवर्तन और उत्थान-पतन की ठीक यही दशा है। दूसरी शताब्दी संवत् पूर्व के वैयाकरण महर्षि पतंजलि के कथनों से प्रकट है कि उस काल प्राचीन प्राकृत के स्थान पर अपभ्रंश का जन्म हो रहा था। समय के साथ धीरे-धीरे इसका प्रचार बढ़ता गया। कालिदास के विक्रमोर्वशी-ग्रंथ में विक्षिप्त पुरूरवा के कथनों में इसका आभास देखा गया है। महाराजा हर्षवर्धन के समकालीन विक्रमीय छठी शताब्दी के प्रसिद्ध गद्य-लेखक बाण भट्ट की रचना में प्राकृत के साथ देश में भाषा नाम्नी बोली का भी चलन लिखा हुआ है। भाषा-शब्द से हिंदी का प्रचार माना जा सकता है। स्थूल रूप से हिंदी का उत्पत्ति-काल उसी शताब्दी में कहा जा सकता है। उस काल से संवत् १२०० तक अब ३२ कवियों के नाम, समय, ग्रंथ, उदाहरण आदि मिल चुके हैं। इनके विवरण मिश्रबंधु-विनोद में हैं। इनमें मुख्य पुंड

(सं० ७७०), सरहपा (८००), शबरपा (८२५), लूहिपाद (८४५), भूसुक (८७०), खुमान रासोकार (८७०), देवसेन (६३३), बुद्धिसेन (दशवीं शताब्दी), राजा नंद (१०७५) आदि हैं। संवत् १२१२ में नरपतिनाह्ल ने बीसलदेव-रासो-नामक ग्रंथ बनाया, जो प्रकाशित हो चुका है। प्राचीन ग्रंथ होने से यह बहुत पूज्य दृष्टि से देखा जाता है। स्वामी रामानुजाचार्य (१०७३ से ११६३ तक), निंबार्क स्वामी (मृत्यु १२१६), स्वामी माधवाचार्य (१२५४-१३३४) और विष्णु स्वामी इस काल के प्रसिद्ध धर्मोपदेशक हो गए हैं। चंद कवि ने प्रायः संवत् १२२५ से १२४६ तक कविता की। इनके नाम पर बहुत कविता मिलती है। चंद के समकालीन जगनिक वंदीजन ने आल्हा बनाया ; पर लिखित न होने के कारण जगनिक की भाषा का भी अब आल्हा में पता नहीं है। केदार, बरवै सीता और बारदरबेणा नाम के कवियों का भी उल्लेख इसी समय के आस-पास के ग्रंथों में है, पर इनकी भी कविता अब नहीं मिलती। सं० १२४७ में मोहनलाल द्विज ने पत्तलि-ग्रंथ रचा। यह हाल ही में मिला है। गद्य के पुराने उदाहरण मिश्रबंधु-विनोद के चतुर्थ संस्करण में बहुतेरे हैं और पद्य के भी।

चंदबरदाई के अनंतर उसका पुत्र जल्हन हुआ, जिसने रासो के शेष भाग को समाप्त किया, और चंद के मरने के पीछे ग्रंथ को सुरक्षित रक्खा। १२८६ में महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध हिंदी-कवि ज्ञानेश्वर का समय है। सं० १३२६ से १३५० तक कवयित्री उमाबाई और मुक्ताबाई का समय है। संवत् १३५७ के लगभग शार्ङ्गधर नाम के एक कवि ने रणथंभौर-नरेश हम्मीरदेव के यहाँ शार्ङ्गधर-पद्धति, हम्मीर-काव्य और हम्मीर-रासो नाम के तीन ग्रंथ बनाए। यह पहला कवि है, जिसकी भाषा वर्तमान रचनाओं से मिलती है, और श्रेष्ठ भी है। यथा—

"सिंह-गमन, सुपुरुष-बचन, कदलि फरै इक बार ;
तिरिया-तेल, हमीर-हठ, चढ़ै न दूजी बार।"

उपर्युक्त समय के कुछ और भी कवि मिले हैं, जिनके कथन हमने अपने इतिहास-ग्रंथ में किए हैं।

उर्दू और फ़ारसी के प्रसिद्ध कवि अमीर ख़ुसरो का देहांत संवत् १३८२ में हुआ। इनकी कविता उर्दू से मिलती हुई हिंदी में होती थी। वह मनोहर भी है। प्रसिद्ध ग्रंथ ख़ालिक़बारी इन्हीं का बनाया हुआ है। प्रसिद्ध महात्मा गोरखनाथ का कविता-काल संवत् १४०७ के लगभग है। इन्होंने कितने ही संस्कृत के पूज्य ग्रंथ बनाए, और भाषा के तो बहुत-से ग्रंथ इन महात्मा ने भक्ति-पक्ष में रचे। इनकी कविता-शैली पुराने ढर्रे से बहुत मिलती है। इनकी रचना में छंदोभंग भी देख पड़ते हैं। जान पड़ता है, यह बात लेखकों की असावधानी से आ गई है, नहीं तो संस्कृत का इतना बड़ा पंडित भद्दे छंदोभंग कैसे कर सकता था? गोरखनाथ और ज्योतिरीश्वर ठाकुर ही ऐसे कवि हैं, जिनके गद्य-ग्रंथ भी मौजूद हैं। उनकी रचना बड़ी ज़ोरदार और मनोहर है। ज्योतिरीश्वर एक मैथिल गद्य-लेखक थे। यह रचना शुद्ध मैथिल-भाषा में संस्कृत-शब्द-गर्भित है, जो बहुत श्लाघ्य बन पड़ी है। समय प्रायः १३५४ और ग्रंथ-वर्ण या वर्णन रत्नाकर है। चित्तौर के प्रसिद्ध महाराणा कुंभकर्ण का राज्यकाल १४१६ से १४६६ तक है। इन्होंने हिंदी-कविता रची, और कवियों का मान भी बहुत किया, पर इनकी रचना अथवा इनके सम्मानित कवियों के नाम अब अप्राप्य हैं। गीतगोविंदवाली इनकी टीका मिलती है।

संवत् १४५३ में नारायणदेव ने हरिचंदपुराण कथा नाम का ग्रंथ बनाया। प्रसिद्ध महात्मा महर्षि रामानंद का समय संवत् १४५७ है। इन्होंने कुछ कविता भी की। इनके शिष्य भवानंद, रैदास, सेन नाई आदि इसी समय हुए हैं। ये लोग भी कविता करते थे।

रामानंद के प्रसिद्ध शिष्य महात्मा कबीरदास का समय संवत् १४५५ से १५७५ तक है। इन्होंने भी हिंदी के बहुत-से ग्रंथ बनाए। इनकी भाषा वर्तमान हिंदी से बहुत कुछ मिल जाती है। वह साहित्य की दृष्टि से भी प्रशंसनीय है। इन्होंने उल्टवाँसी आदि के पदों में साधारण शब्दों से बहुत गूढ़ अर्थ, बड़े ज़ोरदार छंदों में, निकाले। कमाल, भगोदास, श्रुतगोपाल और धरमदास कबीर के शिष्य थे। ये लोग भी इसी समय के लगभग रचना करते थे। इसी समय बिहार में विद्यापति ठाकुर-नामक एक बड़े ही सत्कवि हो गए हैं। इन्होंने विशेष रूप से संस्कृत की रचना की; पर इनकी हिंदी-रचना भी बहुत ही लोक-प्रिय और ज़ोरदार है। बिहार के कवि जयदेव और उमापति ने भी इसी समय छंद रचे।

बाबा नानक का जन्म संवत् १५२६ में हुआ, और १५९६ में यह महात्मा पंचत्व को प्राप्त हुए। यह महाराज सिक्ख-मत के संस्थापक थे। इन्होंने ग्रंथ-साहब का बड़ा अंश तथा अष्टांगयोग-नामक एक और भी ग्रंथ बनाया। महात्मा चरणदास ने १५३७ में ज्ञान-स्वरोदय आदि कई ग्रंथ रचे; पर यह संवत् संदिग्ध है। सेन कवि ने संवत् १५६० में रचना की। इनकी कविता वर्तमान हिंदी से बिलकुल मिलती है। अतः हमारी हिंदी चंद कवि के समय से उन्नति करते-करते सूरकाल के समय के प्रथम ही, प्रायः ३०० वर्षों में, वर्तमान हिंदी से बिलकुल मिल गई। सेन कवि के साथ-ही-साथ कुतबन शेख़ ने मृगावती नाम की एक मनोहर प्रेम-कहानी कही। इसकी रचना-शैली जायसी की-सी है, यद्यपि यह उसकी समता नहीं कर सकती। इधर संवत् १५३५ में महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य का जन्म हो चुका था। उन्होंने उत्तर-भारत में अलौकिक भक्ति का स्रोत बहाया। उधर बंगाल में महात्मा चैतन्य ने भक्ति की अखंड धारा प्रवाहित की। इस प्रकार समस्त उत्तर-भारत में इस समय भक्ति का

समुद्र-सा लहराने लगा। कविता के लिये तल्लीनता एक बहुत ही आवश्यक गुण है। यह हमारे कवियों को भक्ति से प्राप्त हो गई। अब संभव था कि यह कविता की ओर झुक पड़ती, या तपस्या की ओर झुककर ज्ञान-विज्ञान को जाग्रत् करती, अथवा कोरी तपस्या ही की ओर लगती। तल्लीनता एक भारी बल है। यह जिस ओर लग जाती, उसी ओर कुछ करके दिखला देती। हिंदी के सौभाग्य-वश महाप्रभु वल्लभाचार्य ने यह तल्लीनता कविता की ओर लगा दी। आपने स्वयं भी कविता की। उनके पुत्र महाप्रभु बिट्ठलस्वामी ने भी ऐसा ही किया। फिर क्या था, तल्लीनता ने भक्ति के सहारे पूर्ण विकास पाकर हिंदी-साहित्य का भांडार भर दिया। चैतन्य महाप्रभु की वैष्णवता से भी हिंदी-काव्य को लाभ पहुँचा। स्वामी रामानंद और उनके संप्रदाय ने सीताराम के सहारे पवित्र भक्ति का प्रसार किया। सूफ़ी भक्तों ने बंगाल और युक्तप्रांत में इस मत का अच्छा प्रचार किया, तथा जैनों ने भी प्रचुर परिश्रम किया। इस काल सं० १५६० पर्यंत हिंदी ने चार समय देखे, अर्थात् चंद से पूर्व की हिंदी, रासो-काल की हिंदी, उत्तर प्रारंभिक हिंदी और पूर्व माध्यमिक हिंदी। चंद से पूर्व के अब तक ३२ कवि मिले हैं। इस काल के कवि ऐतिहासिक दृष्टि से उत्कृष्ट हैं, किंतु न तो उनका साहित्य ही श्रेष्ठ है, न देश पर धार्मिक से इतर उनका कोई कथन-योग्य प्रभाव पड़ा। इसी समय मुसलमानी शक्ति पहले शांति-पूर्वक सिंध में स्थापित हुई, और फिर उद्दंडता के साथ उत्तर-पश्चिमी पंजाब में। धर्म पर बल-प्रयोग होने से हिंदुओं को समाज-संरक्षण बहुत आवश्यक समझ पड़ा, जिससे हमारी धर्म की तार्किक प्रगति भक्ति की ओर भी चलने लगी। चंद के प्रथमवाले कवियों ने इस विषय पर कोई कथनीय प्रभाव न डाल पाया, यद्यपि दाक्षिणात्य वैष्णवों ने बहुत कुछ कर दिखलाया। यह समय सं०

७०० से १२०० तक चलता है। रासो-काल सं० १२०० से १३४३ तक समझा गया है। इसमें अब तक १८ कवि मिले हैं जिनमें नरपतिनाल्ह, चंदबरदाई, जल्हन आदि प्रधान थे। चंद-पूर्व-काल तथा रासो-काल मिलकर पूर्व प्रारंभिक समय माने जाते हैं। उत्तर प्रारंभिक हिंदी (१३४४-१४४४) में जज्जल, अमीर खुसरो, महात्मा गोरखनाथ ज्योतिरीश्वर ठाकुर आदि मुख्य थे। इस काल हिंदी में गद्य-काव्य का प्रारंभ हुआ, और पंथ-स्थापन द्वारा समाज-संगठन की प्रणाली चली। प्रयोजन मुसलमानी धार्मिक आक्रमण से हिंदू-समाज के रक्षण का था। पूर्व माध्यमिक हिंदी (१४४५ से १५६० तक) में स्वामी रामानंद, नामदेव, कबीर, नानक, चैतन्य महाप्रभु, वल्लभाचार्य आदि ने भक्तिवाद के सहारे समाज को दृढ़ किया। मुसलमानी संतों ने भी सूफ़ी-साहित्य द्वारा प्रेम-मार्ग से हिंदुओं में मुसलमानी मत से सहानुभूति स्थापित करनी चाही। यह समय आगे आनेवाले का गुरु था। इसमें नवीन प्रणालियाँ अच्छी स्थापित हुईं, तथा सामाजिक सुधार उत्कृष्टता-पूर्वक चलाया गया। अब प्रौढ़ माध्यमिक (१५६१-१६८०) समय आता है। संवत् १५४० के लगभग महात्मा सूरदास का जन्म हुआ। उन्होंने प्रायः १५६० से रचना का आरंभ किया। उधर वल्लभ और विट्ठलजी के अन्य शिष्यों ने भी पदों की रचना में पूरा ज़ोर लगाया। इस प्रकार सैकड़ों कवियों ने इस समय उत्कृष्ट पद बनाए। यह देख विट्ठलनाथजी ने चार पिता के और चार अपने शिष्यों को सत्कवि समझकर छाँट लिया, और उस चुनी हुई कवि-समिति का नाम 'अष्टछाप' रक्खा। अष्टछाप में सूरदास, कृष्णदास, परमानंददास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, नंददास और गोविंददास के नाम थे। इस अष्टछाप में सूरदासजी तो अनुपम कवि थे ही, नंददास भी अच्छे थे। इनकी गणना पद्माकर

की श्रेणी में हुई है। नंददासजी गोस्वामी तुलसीदास के गुरु भाई थे। नंददास के अतिरिक्त, अष्टछाप में, कृष्णदास और परमानंद-दास भी सुकवि थे। इनकी गणना तोष कवि की श्रेणी में है। इसी समय महात्मा हरिदास, नरसैयाँ आदि ने भी मनोहर कविता की। सौर काल में चित्तौर की महारानी मीराबाई ने कृष्ण-संबंधी परमोत्कृष्ट कविता की, और कई ग्रंथ रचे। इस स्त्री-रत्न के चरित्र से सब छोटे-बड़े अभिज्ञ हैं। कवि-शिरोमणि कृपाराम ने, १५९८ में, हिततरंगिणी-नामक एक अलंकारों का बड़ा ही विशद दोहा-ग्रंथ रचा। इस ग्रंथ के दोहे मनोहर हैं। संवत् १५७५ से १६०० तक में मलिक मोहम्मद जायसी ने पद्मावत-नामक एक सुंदर सूफ़ी-ग्रंथ, पूर्वी भाषा में, बनाया। इनका अखरावट-ग्रंथ भी अच्छा है। इस प्रकार की प्रेम-कथाएँ, जिनका अवतारों आदि से कोई सरोकार नहीं, हिंदी में पहलेपहल बहुत करके मुसलमान-कवियों ही ने लिखीं। इनमें इस काल कुतबन और जायसी के नाम आते हैं। आगे चलकर नूरमहम्मद ने भी इंद्रावती-नामक एक ऐसा ही ग्रंथ रचा। हिंदू-कवियों ने ऐसे जितने ग्रंथ उस समय रचे, उनमें धार्मिक विचार से बहुधा देवतों, अवतारों, पौराणिक कथाओं आदि का सूत्र नहीं छोड़ा। कुतबन, जायसी, कृपाराम आदि को छोड़कर १५६० से प्रायः १६३० तक पदों के निर्माण का काल रहा, और कृष्णानंद ही में हमारे कविगण मग्न रहे। इसे हम सौर काल कह सकते हैं। इसमें अच्छी कविता बहुत बनी।

संवत् १६३० के पीछे १६८० तक तुलसीदास का कविता-काल समझना चाहिए। इस समय पद बनानेवालों का वैसा प्राधान्य नहीं रहा, और राम-चरित्र-मानस के साथ-ही-साथ विविध विषयों के वर्णन की परिपाटी पड़ने लगी। कृष्ण की सच्ची भक्ति भी सौर

काल के पीछे उतनी अधिकता से नहीं रही। अभक्त लोगों ने तुलसी-काल से ही कुछ-कुछ सिर उठाया, और भक्ति-विचार को छोड़कर शृंगार-सौंदर्य के विचार से कृष्णचंद्र को नायक बनाकर नायिकाओं की चेष्टाओं में ध्यान लगाना शुरू किया। महाकवि केशवदास ने इसी समय रसिकप्रिया ग्रंथ बनाया, जिसमें उन्होंने सब रसों के उदाहरण शृंगार-रस में ही दिए।

तुलसी-काल में एक तुलसीदास का होना ही कवियों के एक दल के बराबर है। इस एक ही कवि ने ऐसी कविता की, जैसी चार भिन्न-भिन्न प्रकार के परमोत्कृष्ट कवि करते। इनके विषय में यहाँ कुछ अधिक लिखना अनावश्यक है, क्योंकि इनका बृहत् वर्णन ग्रंथ में मिलेगा। कृपाराम के अतिरिक्त महाकवि केशवदास ने ही रीति-ग्रंथों की प्रणाली डाली। सौर काल में निपटनिरंजन और नरोत्तमदास भी अच्छे कवि हुए, और स्वयं सूरदास के पीछे गोस्वामी हितहरिवंश की कविता बहुत ही टकसाली होती थी। यह महाशय संस्कृत के कवि और एक संप्रदाय के संस्थापक थे। भाषा में इन्होंने केवल ८४ पद बनाए; पर उन्हीं में क़लम तोड़ दी।

तुलसी-काल में केशवदास के ज्येष्ठ भ्राता बलभद्र मिश्र भी श्रेष्ठ कवि हो गए हैं। इन्होंने केवल एक नख-शिख बनाया; पर उसी से यह आचार्य गिने जाते हैं। इनकी रचना बड़ी गंभीर है। रहीम, नाभादास, रसखानि और मुबारक भी इस काल में अच्छे कवि हैं। अकबर बादशाह भी इसी काल में हुए। यह स्वयं कविता करते थे। इनके यहाँ कवियों का मान भी अच्छा होता था। रहीम, बीरबल, गंग, टोडरमल, मानसिंह आदि सब अकबर ही के यहाँ कविता करते थे। इनमें से कई श्लाघ्य कवि थे। आईन-अकबरी में लिखा है कि संवत् १६५४ के लगभग सूरदास अकबर के यहाँ

गवैयों में थे। यह सूरदास प्रसिद्ध सूरदास नहीं समझ पड़ते, क्योंकि एक तो सूरदास की जीवनियों में उनका अकबर के यहाँ रहना नहीं वर्णित है, दूसरे, सूरदास का १६२० के पीछे जीना अनुमान-सिद्ध नहीं है। तुलसी-काल में ही महात्मा बिट्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ ने ८४ और २५२ वैष्णवों की वार्ता नाम के दो प्रसिद्ध गद्य-ग्रंथ लिखे। महात्मा गोरखनाथ के पीछे हिंदी में ये ही दो उत्कृष्ट गद्य-ग्रंथ मिलते हैं। ८४ वार्ता में अकबर की सूरदास से भेंट वर्णित है। जैन-कवि बनारसीदास तुलसी-काल ही में हुए। घासीराम भी इसी समय के एक प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। महात्मा तुलसीदास के राम-चरित्र-मानस का प्रभाव भाषा-साहित्य पर बहुत अधिक पड़ा, और दोहे-चौपाइयों में कथा-प्रासंगिक काव्य करने की प्रणाली-सी पड़ गई। इसी समय से रामायण लिखने का हमारे यहाँ ऐसा शौक़ बढ़ा कि सैकड़ों कवियों ने राम-यश गाया। केशवदास का भी प्रभाव कवि-समाज पर बहुत पड़ा।

गोस्वामीजी के पीछे पूर्वालंकृत-काल (१६८१-१७९०) चलता है। इसमें, थोड़े ही दिनों में, पाँच बहुत बड़े कवि हुए, अर्थात् सेनापति, बिहारी, भूषण, मतिराम और लाल। सेनापति ने अनूठापन सबसे अच्छा दिखलाया। इनका ग्रंथ संवत् १७०६ में बना। बिहारी ने १७१६ में सतसई समाप्त की। भूषण ने १७३० में शिवराज-भूषण बनाया। यही समय मतिराम की भी कविता का है। लाल कवि ने छत्रप्रकाश-नामक, छत्रसाल की जीवनी का, एक बहुत ही मनोहर ग्रंथ, केवल दोहे-चौपाइयों में, बनाया। इनकी रचना बड़ी ज़ोरदार और प्रशंसनीय है। इस ग्रंथ में छत्रसाल का, प्रायः संवत् १७६५ तक का, हाल बड़ी ही कुशलता-पूर्वक वर्णित है। देवजी का जन्म उसी संवत् (१७३०) में हुआ, जिसमें शिवराज-भूषण समाप्त हुआ। ईश्वर ने मानो ऐसे पूज्य

ग्रंथ के पुरस्कार में ही ऐसा बढ़िया कवि संसार को दिया। देव का कविता-काल प्रायः १८२४ संवत् तक है। इस भूषण और देववाले काल में अच्छे कवियों की संख्या बहुत बढ़ी, और वीर-काव्य का भी अच्छा निर्माण हुआ। जैसे सूरदास के समय में भक्ति का समुद्र उमड़ पड़ा था, वैसे ही इस काल में शौर्य की ध्वजा ऊँची हुई। चिर-विमर्दित हिंदू-राज्य का उत्थान और चिर-विजयी मुसल-मान-बल का पतन इसी काल में हुआ। ऐसे अमूल्य समय में वीर-काव्य का बाहुल्य स्वाभाविक ही था, और हुआ भी; पर इसी के साथ शृंगार-काव्य ने अधिक बल प्राप्त किया, और इसका भी सिक्का जम गया। शृंगार की ऐसी लोक-प्रियता बढ़ी कि सेनापति-जैसे ऋषि-कवि ने भी शृंगार-काव्य करने में कोई दोष न माना।

इस समय जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह ने दोहों में भाषा-भूषण नाम का एक परमोत्कृष्ट अलंकार-ग्रंथ बनाया, जो अब भी जिज्ञासुओं के काम आता है। आपके यहाँ कवियों का मान भी बहुत था। महाराजा छत्रसाल ने इसी समय कवियों का परम प्रशंस-नीय सम्मान किया। इनके यहाँ जाने-आनेवालों में भूषण, नेवाज, हरिकेश और लाल परम प्रशंसित कवि थे। नेवाज ने संयोग-शृंगार बहुत ही अच्छा कहा। शेष तीन महाकवियों ने बड़ी ही ज़ोरदार रचना की। इनके अतिरिक्त सैकड़ों कवि छत्रसाल के यहाँ जाते और मान पाते थे। इस समय भाषा की अन्य उन्नतियों के साथ आचार्यों की भी अच्छी वृद्धि हुई। देव, भूषण, मतिराम, चिंतामणि, श्रीपति, कवींद्र, सूरति मिश्र, रसलीन, कुलपति आदि सब आचार्य थे। इन सबकी रचना परम मनोहर होती थी। गोकुलनाथ के पीछे सूरति मिश्र ने भी गद्य में प्रशंसनीय रचना की। अतः इस समय तक ज्योतिरीश्वर, गोरखनाथ, गोकुलनाथ और सूरति मिश्र ही गद्य के मुख्य लेखक थे। इनके अतिरिक्त देव आदि ने भी एक-आध स्थान

पर गद्य का उदाहरण देते हुए वचनिकाएँ लिखीं, पर उनसे वे लोग गद्य-लेखक नहीं कहे जा सकते। कालिदास, घनश्याम शुक्ल, आलम, शेख, गंजन आदि प्रसिद्ध और परमोत्कृष्ट कवि इसी समय में हो गए हैं।

कविता की उन्नति इस समय अवश्य बहुत अधिक हुई, पर उसमें भक्ति-हीन शृंगार की मात्रा भी बहुत बढ़ गई। सूर एवं तुलसी के काल में अनुप्रास का उतना अधिक मान न था, पर इस काल में पद-मैत्री का हिंदी-कविता पर प्रगाढ़ अधिकार हो गया। इस प्रकार भाषा श्रुति-मधुर और सुंदर हो गई। पर बहुत-से कवियों ने शब्दाडंबर के फेर में पड़कर भाव का समुचित ध्यान रखना छोड़ दिया। इसी समय सेनापति ने षड्ऋतु पर ग्रंथ रचकर इस विषय पर पृथक् ग्रंथ बनाने की नींव डाली। देव कवि ने उसे और भी बढ़ाकर अष्टयाम-नामक ग्रंथ रचा, जिसमें एक दिन के भी प्रति पहर और प्रति घड़ी का वर्णन किया। कई अन्य वैष्णव-कवियों ने भी अष्टयाम रचे। रस-भेद, भाव-भेद आदि पर ग्रंथ बनने की प्रथा ने इस समय बहुत ज़ोर पकड़ा, और रीति-ग्रंथों का प्रचार बढ़ा। व्रज-भाषा ने इस काल में चरम उन्नति कर ली, क्योंकि इसके पीछे उसके ऐसे कवि नहीं हुए। सौर काल के प्रथम हिंदी का प्रचार तो बहुत दिनों से था, पर न तो चंद आदि तीन कवियों को छोड़कर उसमें कोई बहुत अच्छा कवि हुआ, और न गणना में कवियों की संख्या ही बहुत हुई। बहुत दिन बीत जाने के कारण कविताएँ लुप्त हो जाने से भी गणना में कमी हुई है, पर वह कमी है अवश्य। प्रायः शिथिल कवियों की ही कविता लुप्त होती है। सौर काल तथा तुलसी के समय में कवियों की संख्या एवं उत्तमता, दोनो में एकाएक बहुत बड़ी और संतोष-प्रद वृद्धि हुई। इस काल में जो ग्रंथ बने, उनमें

से बहुत-से हिंदी क्या, पृथ्वी की किसी भी भाषा का शृंगार कहे जा सकते हैं। अकबर शाह (सं० १६१२-१६६२) ने हिंदुओं से प्रेम-पूर्ण व्यवहार करके हिंदू-मुसलमानों की प्रायः साढ़े तीन शताब्दियों की सामाजिक शत्रुता हटानी चाही। देश में सत्ययुग-सा स्थापित हो गया। कवियों ने अकबर को हिंदूपति के पवित्र नाम तक से पुकारा। हिंदी-काव्य की उन्नति के साथ हिंदू-समाज भी सुखी हुआ। भारत में दक्षिण को छोड़ एकाधिपत्य स्थापित हुआ। १७२५ पर्यंत मोग़ल-प्रस्तार-विस्तार होता रहा। इसके पीछे औरंगज़ेब ने धार्मिक झगड़ा फिर से उठाया, और दक्षिणी भारत का झगड़ा बढ़कर उत्तर में भी फैल गया। हम सं० १७२५ तक मोग़ल-प्रभाव-विस्तार पाते हैं, १८७५ तक हिंदू-साम्राज्य-स्थापन और अनंतर ब्रिटिश-शासन-काल। सूर-तुलसी-काल-पर्यंत अकबरी प्रभाव से मुसलमानों के अत्याचार और तज्जन्य हिंदू-मुसलिम-वैमनस्य प्रायः पूर्णतया स्थगित रहे।

इस समय के पीछे सेनापति, भूषण और देव के समय में हिंदुओं की राजनीतिक बातों में अच्छी उन्नति हुई, यहाँ तक कि महाराष्ट्रों ने चिर-संस्थापित मुसलमान-राज्य को विध्वस्त कर एक विशाल साम्राज्य बना ही लिया, यद्यपि काल की कुटिल चाल से वह भी चिर-स्थायी न रह सका। इसी समय बुंदेलखंड, बघेलखंड, राजपूताना, पंजाब आदि प्रायः सभी स्थानों में जातीयता जग उठी। इस जागृति की झलक साहित्य में भी भली भाँति देख पड़ती है। अन्य उन्नतियों के साथ-साथ इसने भी अभूतपूर्व उन्नति की। यह महत्ता कवियों की संख्या और उत्तमता, दोनो बातों में बहुत ही संतोष-प्रद हुई। इस समय भारत में वीर पुरुष थे, और वे स्वभावतः वीर-कविता का अच्छा मान भी करते थे। इस कारण भाषा में वीर-कविता का अच्छा समावेश हुआ, पर पीछे से

कायरता की वृद्धि के कारण वे वीर-ग्रंथ जहाँ के-तहाँ पड़े रहे, और उनका अच्छा प्रचार न हो सका। इसका फल यह हुआ कि उनमें से बहुत-से लुप्त हो गए, और उनका पता तक नहीं लगता। हिंदी-प्रेमी अब धीरे-धीरे खोज-खोजकर वे ग्रंथ प्रकाशित करते जाते हैं। यही कारण है कि विविध विषयों के ग्रंथ होते हुए भी हिंदी में शृंगार-रस की प्रधानता समझ पड़ती है। यह प्रधानता अब लुप्त-प्राय हो गई है।

यद्यपि देव कवि के पीछे प्रायः पचास वर्ष तक हिंदुओं के बल और जातीयता की अच्छी उन्नति रही, पर न-जाने किस कारण दुर्भाग्य-वश हिंदी ने उस महत्त्व का एक भी कवि न उत्पन्न किया, जैसे देव, तुलसी और सूर के समय में अनेक हो गए थे। कवियों की संख्या में देव के पीछे और भी विशेष उन्नति हुई, सत्कवि भी बहुत हुए, पर बहुत ही अच्छे कवियों का एक प्रकार से अभाव ही रहा। देव के पीछे हिंदी में भिखारीदास तथा पद्माकर का समय आता है। देवकाल के कुछ ही पीछे दास, रघुनाथ और दूलह, ये तीन बड़े प्रधान आचार्य और सुकवि हुए। दूलह अलंकार के आचार्य थे और दास दशांग कविता के। रघुनाथ ने अलंकार और नायिका-भेद, दोनो बहुत स्पष्ट कहे हैं। सूदन कवि ने इसी समय सुजान-चरित्र-नामक एक बड़ा मनोहर युद्ध-ग्रंथ रचा, और गोकुल-नाथ, गोपीनाथ तथा मणिदेव ने भाषा-भारत रचकर हिंदी का अपार उपकार किया। इन तीनो कवियों ने अन्य ग्रंथ भी अच्छे बनाए, विशेषकर गोकुलनाथ ने। इनका समय संवत् १८८५ के लगभग तक है। रघुनाथ और दास का समय संवत् १८०० के इधर-उधर है। दूलह का भी १८०२ के लगभग पड़ता है। सूदन का कविता-काल १८११ के इर्द-गिर्द पड़ेगा। पद्माकर कवि ने प्रायः १८८३ तक ग्रंथ-रचना की। इन्होंने सात-आठ ग्रंथों

में केवल जगद्विनोद ही शृंगार का ग्रंथ बनाया, पर काल की गति से इनका यही ग्रंथ अधिक लोक-प्रिय हुआ। अमेठी के राजा गुरुदत्तसिंह ने भी इसी समय दोहों में परमोत्कृष्ट कविता की। सोमनाथ, ठाकुर, शंभुनाथ मिश्र, बैरीसाल, मनीराम मिश्र, बोधा, सीतल, रामचंद्र पंडित, मनियार, थान, बेनी, लल्लूलाल, सदल मिश्र, दत्त, बेनीप्रबीन, रामसहाय, प्रतापसाहि आदि बहुत-से निपुण कवि इस समय में हुए हैं। इस समय की अवधि संवत् १७६१ से १८८६ तक है।

उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त सोमनाथ, बैरीसाल, मनीराम मिश्र और प्रतापसाहि भी इस काल अच्छे आचार्य हो गए हैं। ठाकुर और बोधा प्रेमी कवि हैं। सीतल ने पहलेपहल खड़ी बोली में बहुत प्रशंसनीय कविता की। यह महाकवि खड़ी बोली के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। १८६० में लल्लूलाल और सदल मिश्र ने वर्तमान साधु-भाषा के गद्य की नींव डाली। इनके प्रथम गोरखनाथ, गोकुलनाथ, सूरति मिश्र आदि ने भी गद्य में ग्रंथ रचे थे, पर उनमें से बहुतों का गद्य साधारणी व्रजभाषा में ही लिखा गया था। उपर्युक्त दोनो कवियों तथा इनके कुछ ही पूर्ववर्ती मुंशी सदासुखलाल और इंशाअल्लाखाँ ने खड़ी बोली के गद्य की नींव डाली, जिसका प्रयोग आजकल गद्य में सर्वत्र किया जाता है। इनके प्रथम भी कुछ लोगों ने खड़ी बोली में गद्य-रचना की थी; पर उसका प्रचार नहीं हुआ। गणना में इस समय अन्य सभी समयों की अपेक्षा प्रशंसनीय कवि अधिक हुए; पर न-जाने क्यों कोई भी कवि नवरत्न के कवियों की योग्यता को न पहुँचा।

लल्लूलाल तथा सदल मिश्र के पीछे राजा लक्ष्मणसिंह तथा राजा शिवप्रसाद सितारे-हिंद अच्छे गद्य-लेखक हुए। प्रथम ने अधिकतर अनुवादों की रचना की, और द्वितीय ने पाठशालाओं के

लिये पाठ्य पुस्तकें ही विशेष बनाईं। स्वामी दयानंद सरस्वती ने आर्य-समाज चलाया, तथा इस परिवर्तन-काल में केवल आपने स्थायी ग्रंथ रचे। राजा शिवप्रसाद खिचड़ी हिंदी के प्रतिपादक थे, राजा लक्ष्मणसिंह और स्वामीजी विशुद्ध हिंदी के तथा भारतेंदु प्रचलित उर्दू-शब्द-मिश्रित शुद्ध हिंदी के। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र वर्तमान गद्य-प्रणाली के सुधारक और सुदृढ़ संस्थापक हुए। इन्होंने हिंदी का बड़ा उपकार किया। इनके प्रोत्साहन और परिश्रम से सैकड़ों मनुष्य सुलेखक बन गए, और काशी में हिंदी की जड़ बहुत ही पुष्ट होकर जम गई। इस समय बहुत-से ऐसे लेखक वर्तमान हैं, जिनका गद्य स्वयं भारतेंदु के गद्य से टक्कर ही नहीं लेता, बल्कि आगे भी निकल जाता है। इस स्थान पर हम वर्तमान गद्य-लेखकों के विषय में कुछ लिखना आवश्यक नहीं समझते।

पद्माकर के पीछे देवकाष्ठजिह्वा, नवीन, पजनेस, सेवक, सरदार, कुमारमणिभट्ट, द्विजदेव, मौन, गदाधरभट्ट, औध, लछिराम, सहजराम, लेखराज, ललित और प्रतापनारायण मिश्र सुकवि हुए। आजकल भी बहुत-से सुकवि विद्यमान हैं। अब ऐसा समय आ गया है कि प्राचीन प्रथा की पद्य-रचना भी धीरे-धीरे उठती जाती है। लोग भक्ति एवं प्रेम को छोड़कर पाश्चात्य प्रकार के विषयों पर पद्य-रचना अब अधिक पसंद करते जाते हैं। यह बात उचित भी है। हिंदी में भूत-काल के कवियों ने प्रधानतः धर्म और शृंगार पर ही ध्यान रक्खा, और इन विषयों पर मान्य ग्रंथ भी बहुत बन चुके हैं। अब इन्हीं पर रचना करके एक तो भूत-कालवाले महाकवियों के सम्मुख यश प्राप्त करना बहुत कठिन है, दूसरे, उसी चर्वित चर्वण से कोई लाभ नहीं देख पड़ता। फिर वह समयानुकूल भी नहीं है। इन कारणों से, पाश्चात्य प्रणाली से लाभ उठाकर, भाषा में सामयिक कविता करके उसकी अधिकाधिक उन्नति करनी ही उचित

है। यश:प्राप्ति के लिये यही बुद्धिमत्ता की बात भी है। अब इस प्रकार के कवि होते भी अधिकता से हैं।

सूर और तुलसी के समय तक भाषा में अनुप्रास का आदर तो था, पर उस पर बहुत अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था। बिहारी तथा सेनापति ने इस पर विशेष ध्यान दिया। उधर मतिराम ने सरल, साधु भाषा लिखकर भी यमक आदि का विशेष मान नहीं किया। सो इस काल में अनुप्रास-पूर्ण कविता के विषय में कुछ गड़-बड़-सी थी। इसी समय में महाकवि देव का जन्म हुआ, जिन्होंने पद-मैत्री से परम प्रगाढ़ मैत्री रक्खी, और उसका परमोत्कृष्ट प्रयोग किया। इसी समय से इसका संबंध भाषा-साहित्य से बहुत घनिष्ठ हो गया। पद्माकर ने तो इसे दोनो हाथों से अपनाया। पद-मैत्री से इतना लाभ तो अवश्य है कि संसार में किसी भाषा की रचना हिंदी-कविता के समान सुष्ठु और श्रुति-मधुर न होगी। श्रुति-कटु वर्णों का जितना बराव इसमें है, उतना किसी अन्य भाषा में न होगा। पद-मैत्री में इतना विचार अवश्य रखना चाहिए कि उसके लालच में भाव न बिगड़ने पावे, और अनुचित शब्दों का प्रयोग न हो। यदि ये दूषण बचाकर कोई पद-मैत्री लावे, तो वह सर्वथा प्रशंसनीय है।

बहुत दिनों से कुछ कवियों का विचार तुकांत-हीन छंद लिखने का है। आल्हा-छंद तुकांत-हीन होने पर भी ललित है। फिर भी अभी बहुतों को तुकांत-हीन छंदों में कोई ग्रंथ बनाने का साहस नहीं हुआ है। जिस दिन कुछ श्लाघ्य तुकांत-हीन ग्रंथ बन जायँगे, उसी दिन ऐसे छंद भी चल जायँगे। इनका प्रयोग बढ़ भी रहा है।

इसी स्थान पर साहित्य का यह संक्षिप्त इतिहास समाप्त होता है। इसके पढ़ने से यह प्रकट होगा कि नवरत्न के कविगण कैसे-कैसे समयों में हुए, और उनका प्रभाव साहित्य पर कैसा-कैसा पड़ा।

अँगरेज़ी या वर्तमान विचारों से कवियों की जाँच में दो मुख्य प्रश्न उठते हैं—कवि को कुछ कहना था या नहीं, और उसने उसे कैसा कहा है? संक्षिप्त रीति से कहने में पहला प्रश्न यों भी कहा जा सकता है कि उसका क्या संदेश है? इन प्रश्नों का प्रयोग हिंदी-नवरत्न के कवियों पर करने से वे कैसे उतरते हैं, सो यहाँ संक्षेप में लिखा जाता है। गोस्वामी तुलसीदास का संदेश शुद्ध भक्ति का है, और उन्होंने उसे बहुत ही अच्छा कहा है। उस काल मुसलमानी धार्मिक प्रकोप कई शताब्दियों से चला आता था, सो भक्ति के द्वारा हमारा समाज संगठित किया गया। महाकवि सूर का वही संदेश है, और उन्होंने भी उसे बहुत अच्छा कहा है, किंतु भक्ति का शृंगार से अधिक मिलाने के कारण आपका संदेश हर जगह साधारण पाठक को याद नहीं रहता। महात्मा कबीरदास ने भी सखी भाव की भक्ति की है, किंतु उन्होंने हर जगह जीवात्मा-परमात्मा का संबंध बहुत दृढ़ रक्खा, और शृंगार का वर्णन कम किया है। इसी से उनके सखी-संप्रदायवाले वर्णनों में साहित्यानंद अपर्याप्त है। इधर सूरदास ने जीवात्मा-परमात्मा के भाव को गौण रक्खा है, और शृंगार का प्रधान। इससे उनकी रचना में साहित्यानंद तो अच्छा है, किंतु उनका संदेश गौण पड़ गया है। हमारी समझ में सखी-संप्रदाय की भक्ति का वर्णन संदेश और साहित्य, दोनो को कठिनता से दृढ़ रख सकेगा। यदि संदेश सबल रहेगा, तो साहित्य गौण होकर फीका पड़ जायगा, और यदि साहित्य सबल रक्खा जाय, तो संदेश डूब जायगा। हम यह नहीं कहते कि संदेश सबल रखने पर सखी-भाव से सरस काव्य नहीं बन सकता, किंतु सूर और कबीर की रचना में कुछ ऐसा हो अवश्य गया है। तुलसी ने दास-भाव की भक्ति को कथा से मिलाकर संदेश और साहित्य, दोनो को बहुत दृढ़ रक्खा है।

इसीलिये आप मध्यकालीन सर्वोत्कृष्ट धार्मिक उपदेशक हुए, और हमारे समाज को आपने जैसा बनाया, वैसा ही वह आज भी है।

देव और बिहारी शृंगारी कवि थे। इनका कोई मुख्य संदेश नहीं है, किंतु इन्होंने कथन बड़े ही अनमोल किए हैं; कहा बहुत ही अच्छा, किंतु संदेश बिलकुल गौण हैं। देव मुख्यतया साहित्याचार्य थे। इन्होंने जो कुछ रचना की है, वह प्रधानतया काव्यांगों के उदाहरणार्थ हुई है। इनका कोई धार्मिक संदेश नहीं है, किंतु आचार्यता का होने से वह भाषा की उन्नति का माना जा सकता है। बिहारी का यह भी संदेश नहीं है, क्योंकि वह आचार्य न थे। गौण रूप से इन दोनो कविरत्नों का भी भक्ति का संदेश कहा जाता है, और उसका कुछ आभास मिलता भी है। हमारा स्वभाव सदा से आम को आम और इमली को इमली कहने का रहा है। किसी स्थान पर खींच-तान से कोई भाव स्थापित करना हम मिथ्यावाद समझते हैं। भक्ति-हीन शृंगारी वर्णनों में केवल राधा-कृष्ण का नाम जोड़ देने से हम उसे भक्ति-पूर्ण कविता नहीं कह सकते। भक्ति के लिये भाव में भी तत्संबंधी विचारों का आना आवश्यक है, जैसा कि तुलसी और कबीर की रचना में प्रत्यक्ष देख पड़ता है। अतएव देव और बिहारी की रचनाओं में हम भक्ति का संदेश नहीं पाते। यदि कुछ हो भी, तो, गौणातिगौण रूप में होने से, वह नहीं के बराबर है। साहित्योन्नति का संदेश देव और बिहारी, दोनो की रचना में माना जा सकता है।

भूषण ने जातीयता का संदेश दिया और उसे कहा भी अच्छा है। आपकी जातीयता में भारतीयता का भाव कम आता है, हिंदूपन का विशेष। फिर भी यह कहना पड़ता है कि उस समय हिंदूपन का ही संदेश एक प्रकार से भारतीयता का संदेश

था, क्योंकि मुसलमान बहुत करके विदेशी थे। केशवदास के कथन अच्छे हैं, और उनकी रचना में भक्ति का संदेश माना गया है, किंतु हमारी समझ में वह पुष्ट नहीं होता। रामचंद्रिका में भक्ति गौण रूप से है। उसमें कथा-प्रसंग तथा वर्णनोत्कर्ष की मुख्यता है, न कि भक्ति की। विज्ञान-गीता में परमोच्च विचार कम हैं। उसमें चलतू अथवा काम-काजू धर्म कहा गया है। रसिकप्रिया शृंगार-प्रधान ग्रंथ है, और कविप्रिया आचार्यता-पूर्ण। इनके शेष ग्रंथ साधारण हैं। कुल मिलाकर केशवदास का आचार्यता एवं साहित्योन्नति का संदेश कहा जा सकता है, इतर कोई नहीं। कबीरदास का संदेश ऐक्य का है। उनके मतानुसार ईश्वर एक, धर्म एक, मनुष्य की प्रतिष्ठा एक, सत्य एक और सभी संसार एक है। सभी बातों में उनका अद्वैत-विचार है। हिंदू और मुसलमानी धर्म को वह एक मानते, सब मनुष्यों की प्रतिष्ठा को समान समझते और सभी प्रकार से दाक्षिण्य-पूर्ण उपदेश देते हैं। उनका संदेश परमोच्च है, किंतु कथन उत्कृष्ट होने पर भी वैसे नहीं हैं। विचारों की अपेक्षा उनकी भाषा कुछ लची हुई है। मतिराम का संदेश साहित्योन्नति है, और उनकी भाषा बहुत ललित है। चंदबरदाई ने कथा अच्छी कही है, और उनके वर्णन भी ठीक हैं। भारतेंदु का संदेश जातीयता है, और वह सफलता-पूर्वक व्यक्त हुआ है।

लखनऊ
सं० १९९४ मिश्रबंधु

नवरत्न के कवियों का अंदाज़ी समय

नंबर	नाम	जन्म-संवत्	मृत्यु-संवत्	अवस्था	जाति	कालांतर*	कितने वर्ष कौन कवि औरों के समकालीन रहा
१	चंदबरदाई	११८३	१२५०	६७	ब्रह्मभट्ट	×	× × × ×
२	कबीरदास	१४५५	१५७५	१२०	जुलाहा	२७२	नं०२व३ = ३५
३	सूरदास	१५४०	१६२०	८०	सारस्वत ब्राह्मण	८५	नं०२व३ = ३५,नं०३व४ = ३१, नं०३व५ = ८
४	तुलसीदास	१५८९	१६८०	९१	सरयूपारीण ब्राह्मण	४९	नं०३व४ = ३१,नं०४व५ = ६२, नं०४व६ = २०
५	केशवदास	१६१२	१६७४	६२	सनाढ्य ब्राह्मण	२३	नं०५व४ = ६२,नं०५व३ = ८, नं०५व६ = १४
६	बिहारीलाल	१६६०	१७२०	६०	माथुर ब्राह्मण	४८	नं०६व४ = २०,नं० ६व५ = १४, नं० ६ व ७ (क) = २८,नं०६व७ (ख) = २४

* अर्थात् वह कवि अपने पूर्ववर्ती कवि के जन्म से कितने वर्ष पीछे उत्पन्न हुआ।

नवरत्न के कवियों का अंदाज़ी समय

नंबर	नाम	जन्म-संवत्	मृत्यु-संवत्	अवस्था	जाति	कालांतर	कितने वर्ष कौन कवि औरों के समकालीन रहा
७	(क) भूषण	१६९२	१७९७	१०५	कान्यकुब्ज ब्राह्मण	३२	नं० ७ (क) व६ = २८, नं० ७(क)व७(ख) = ७७, नं० ७ (क)व८ = ६७
	(ख) मतिराम	१६९६	१७७३	७७	कान्यकुब्ज ब्राह्मण	४	नं० ७(ख)व६ = २४, नं० ७(ख)व७(क) = ७७, नं० ७(ख)व८ = ४३
८	देवदत्त	१७३०	१८२४	९४	कान्यकुब्ज ब्राह्मण	३४	नं० ८व७(क) = ६७, नं० ८व७(ख) = ४३
९	हरिश्चंद्र	१९०७	१९४१	३४	अग्रवाल वैश्य	१७७	× × × ×
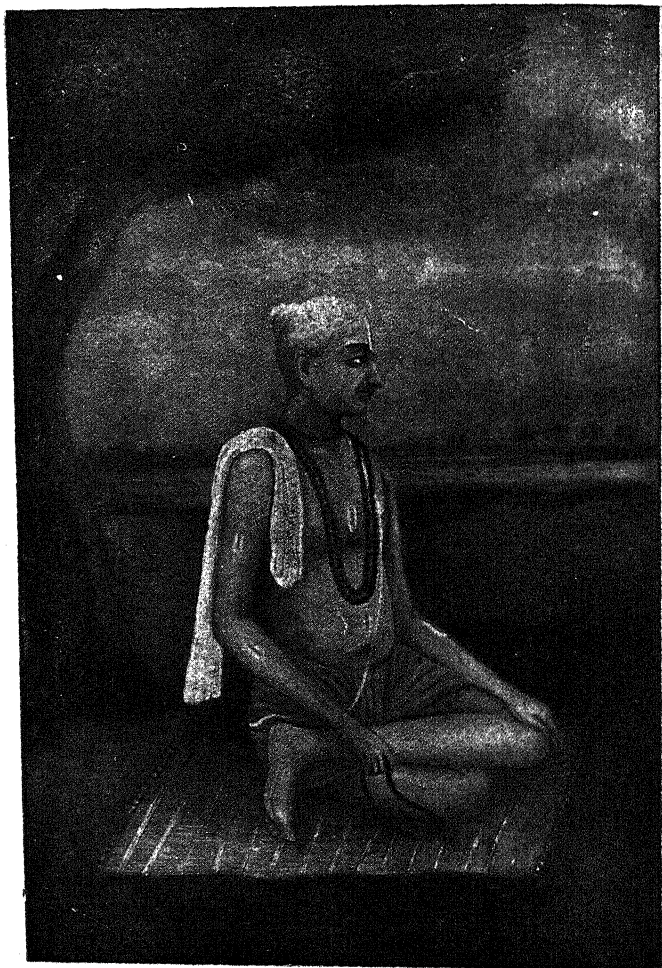
गोस्वामी तुलसीदास

प्रतिभा-प्रतिमूरति, भगत, कविता-कामिनि-कंत,
राम-नाम को जप करत तुलसी पूरन संत।

हिंदी-नवरत्न

अर्थात्

हिंदी के नव सर्वोत्कृष्ट कवि

(१)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी

"आनन्दकानने ह्यस्मिन् तुलसी जङ्गमस्तरुः ।
कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता * ॥ १ ॥"
"एक लहैं तप-पुंजन के फल, ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाईं ॥ २ ॥"
"कलि कुटिल जीव निस्तार-हित बालमीकि तुलसी भयो ॥ ३ ॥"
"कबिता-करता तीनि हैं—तुलसी, केसव, सूर ।
कबिता-खेती इन लुनी, सीला बिनत मँजूर ॥ ४ ॥"
"तुलसी, गंग, दुवौ भए सुकबिन के सरदार ॥ ५ ॥"
"राम-चरित जे सुनत अघाहीं; रस बिसेष पावा तिन नाहीं ॥६॥"

---

* जंगम तुलसी-तरु लसै आनँद-कानन-खेत;
जाकी कबिता-मंजरी, राम-भँवर रस लेत।

ऐसा कौन हिंदी-अक्षरों का ज्ञान एवं 'हिंदी, हिंदू, हिंद' से कुछ भी संबंध रखनेवाला हत-भाग्य पुरुष होगा, जो महात्मा श्रीतुलसीदासजी महाराज के नाम, यश एवं पीयूष-वर्षिणी कविता से थोड़ा-बहुत भी परिचित न हो? आज हम इन्हीं महर्षि के पवित्र चरित्र से अपनी जड़ लेखनी को पुनीत करने बैठे हैं। हिंदी के अनेकानेक सुलेखकों ने, समय-समय पर, इन महात्मा के विषय की गवेषणा में जितना श्रम किया है, उतना शायद ही हिंदी अथवा संस्कृत के किसी भी कवि के संबंध में किया गया हो। हमारी समझ में तो वेद-भगवान् और श्रीमद्भगवद्गीता को छोड़कर और किसी भी हिंदू-ग्रंथ पर इतना समय लोगों ने न व्यय किया होगा, जितना गोस्वामीजी की रामायण पर किया है।

खोज से दृढ़ अनुमान किया गया है कि गोस्वामीजी का जन्म राजापुर, तहसील और परगना मऊ, ज़िला बाँदा में, संवत् १५८९ में, हुआ था। गोस्वामीजी का जन्म-काल प्रसिद्ध रामायण-रसिक रामगुलाम द्विवेदी के कथन पर निर्धारित किया गया है, और उसे बड़े-बड़े लेखकों ने ठीक माना है। राजापुर एक अच्छा क़स्बा है। यह यमुनाजी के किनारे, करवी रेलवे-स्टेशन (जी० आई० पी०) से १९ मील पर, बसा है। यहाँ तुलसीदास की कुटी अब तक वर्तमान है। वह गोस्वामीजी के शिष्य गणपतिजी के उत्तराधिकारी ब्रजलाल चौधरी के आधिपत्य में है, और वहाँ अँगरेज़ों ने महात्माजी के स्मारक-स्वरूप संगमरमर की एक तख़्ती लगा दी है। राजापुर में डाकघर भी है, और करवी से वहाँ तक एक अच्छी कच्ची सड़क गई है। बाबू शिवनंदनसहाय का विचार है कि तारी-नामक स्थान वास्तव में गोस्वामीजी का जन्म-स्थान है, पर अभी तक लोग राजापुर ही को ठीक मानते हैं।

इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे और माता का हुलसी था।

इनका असल नाम रामबोला था, परंतु बैरागी होने पर तुलसीदास हुआ। गोस्वामी तुलसीदासजी का जीवन-चरित्र लिखने के लिये हम पहले विविध शीर्षक स्थापित करके उनका समर्थन उन्हीं के छंदों से करेंगे, जिनसे जीवन-चरित्र का बृहदंश आप-से-आप पुष्ट हो जायगा। अनंतर दूसरे लोगों के कथन उद्धृत करके शेष जीवनी पर प्रकाश डालेंगे। आगे से इन्हीं शीर्षकों के अनुसार विवरण चलता है—

(अ) जन्म और दरिद्रता के विषय में—

(१) जायो कुल मंगन, बधायो न सुनायो काहू,
भयो परिताप पाप जननी - जनक को;
बारे ते ललात बिललात द्वार - द्वार दीन,
जानत हो चारि फल चारि ही चनक को।

(क० नं० ७३, उत्तरकांड)

(२) मातु-पिता जग जाय तज्यो, बिधिहू न लिखी कछु भाग भलाई;
नीच, निरादर-भाजन, कायर, कूकर, टूकन लागि लगाई।

(क० नं० ५७, उत्तरकांड)

(आ) अब केवल दरिद्रता के संबंध में देखिए, कहीं-कहीं महत्ता भी कही गई है—

(३) कै न आया, करौं न करौंगो करतूति भली,
लिखी न बिरंचि हूँ भलाई भूलि भाल है।

(क० नं० ६५, उत्तरकांड)

(४) जाति के, सुजाति के, कुजाति के पेटागि-बस
खाए टूक सबके बिदित बात दुनी सो;
राम-नाम को प्रभाउ पाउ महिमाप्रताप,
तुलसी हू जग मानियत महामुनी सो।

(क० नं० ७२, उत्तरकांड)

(इ) महत्ता के साथ में भी दरिद्रता कहीं-कहीं मिली हुई है—

(५) नाम राम को कलपतरु कलि कल्यान-निवास ;
जो सुमिरत भे भागतें तुलसी तुलसीदास ।
(दोहावली नं० ११)

(६) घर-घर माँगे टूक पुनि भूपति पूजे पाय ;
जे तुलसी तब राम बिनु, ते अब राम सहाय ।
(दोहावली नं० १०६)

(७) राय दसरत्थ के समत्थ, तेरो नाम लिए,
तुलसी-से कूर को कहत जग राम को ।
(क० नं० १४, उत्तरकांड)

(८) केवट पषान जातुधान कपि भालु तारे,
अपनायो तुलसी जो धींग धमधूसरो ।
(क० नं० १६, उत्तरकांड)

(९) हौं तौ सदा खर को असवार, तिहारेई नाम गयंद चढ़ायो ।
(क० नं० ६०, उत्तरकांड)

(१०) तेहू तुलसी को लोग भलो-भलो कहैं,
ताको दूसरो न हेतु एक नीके कै निदानु है ;
लोक-रीति बिदित बिलोकियत जहाँ-तहाँ,
स्वामी के सनेह स्वानहू को सनमानु है ।
(क० नं० ६४, उत्तरकांड)

(११) तुलसी बनी है राम ! रावरे बनाए, न तो
धोबी कैसो कूकर न घर को, न घाट को ।
(क० नं० ६६, उत्तरकांड)

(ई) जीवन और महत्ता के विषय में गोस्वामीजी ने लिखा है—

(१२) बालपने सूधे मन राम सनमुख भयों,
राम-नाम लेत माँगि खात टूक टाक हौं ;

परयों लोक-रीति मैं पुनीत प्रीति राम राय,
मोह - बस बैठो तोरि तरकि तराक हौं।
खोंटे-खोंटे आचरन आचरत अपनायो,
अंजनीकुमार सोध्यो राम-पानि-पाक हौं;
तुलसी गोसाईं भयो, भोड़े दिन भूलि गयो,
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं।
(क० नं० ४०, उत्तरकांड)

गोस्वामीजी के विषय में यह प्रसिद्ध है कि पहले लड़कपन में आप नरहरिदास के साथ शूकरक्षेत्र में रहे, जहाँ आपने राम-कथा सुनी तथा पांडित्य प्राप्त किया। अनंतर गृहस्थ हो 'पत्नी की फटकार से क्षुब्ध होकर' विराग धारण किया। इस कथा का कुछ अंशों में इस छंद द्वारा समर्थन होता है। गुरु और उनकी कृपा के विषय के छंद आगे आवेंगे।

(उ) अब आपके पुराने नाम, संबंधियों का अभाव और बुढ़ापे से संबंध रखनेवाले छंद देखिए—

(१३) सुनिए कराल कलिकाल भूमिपाल! तुम,
जाहि घालो चाहिए कहौं धौं राखै ताहि को?
हौं तौ दीन दूबरो, बिगारो ढारो रावरो न,
मैं हूँ तैं हूँ ताहि को, सकल जग जाहि को।
काम-कोह ताइ कै देखाइयत आँखि मोहिं,
एते मान अकस कीबे को आपु आहि को?
साहेब सुजान जिन स्वानहू को पच्छ कियो,
रामबोला नाम हौं गुलाम राम राय को।
(क० नं० १००, उत्तरकांड)

(१४) जाप की न तप खप कियो न तमाइ जोग,
जाग न बिराग त्याग तीरथ न तन को;

भाई को भरोसो न खरो-सो बैर बैरिहू सों,
बल अपनो न हितू जननी न जनको।
लोक को न डर, परलोक को न सोच,
देव-सेवा न सहाय मद धाम को न जन को;
राम ही के नाम ते जो होय सोई नीको लागै,
ऐसोई सुभाव कछू तुलसी के मन को।
(क० नं० ७७, उत्तरकांड)

(१५) राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो, राम!
काम यहै नाम द्वै हौं कबहूँ कहत हौं;
लोग कहैं पोच सो न सोच न सकोच मेरे,
ब्याह न बरेखी जाति-पाँति न चहत हौं।
बूझ्यो ज्योंही कह्यो हौं हूँ चेरो ह्वै हौं रावरोजू,
मेरो कोऊ कहूँ नाहीं चरन गहत हौं;
मींजो गुरु पीठि अपनाइ गहि बाँह बोलि,
सेवक सुखद सदा बिरद बहत हौं।
(विनयपत्रिका नं० ७६)

(१६) जोर जरा जरि गात गयो, मनमानी गलानि कुबानिन मूकी।
(क० नं० ८८, उत्तरकांड)

(ऊ) समय तथा काशी में गंगा-तट-निवास का वर्णन इस प्रकार है—

(१७) संबत सोरह सै इकतीसा, करौं कथा हरि-पद धरि सीसा;
नवमी भौमबार मधुमासा, अवधपुरी यह चरित प्रकासा।
(रामचरितमानस)

(१८) अपनी बीसी आपही पुरिहि लगाए हाथ;
केहि विधि बिनती बिस्व की करौं बिस्व के नाथ।
(दोहावली नं० २४०)

(१६) बीसी बिस्वनाथ की, बिषाद बड़ो बारानसी,
बूझिए न ऐसी गति संकर-सहर की;
कैसे कहै तुलसी, बृषासुर के बरदानि!
बानि जानि सुधा तजि पियनि जहर की।
(क० नं० १७०, उत्तरकांड)

(२०) लोक-बेदहू बिदित बारानसी की बड़ाई,
बीसी नर-नारि ईस अंबिका सरूप हैं;
कालनाथ कोतवाल, दंडकारि दंडपानि,
सभासद गनप-से अमल अनूप हैं।
तहाँऊ कुचालि कलिकाल की कुरीति,
कैधौं जानत न मूढ़ इहाँ भूतनाथ भूप हैं;
फलैं फूलैं फैलैं खल, सीदैं साधु पल-पल,
खाती दीपमालिका ठठाइयत सूप हैं।
(क० नं० १७१, उत्तरकांड)

(२१) संकर-सहर सर नारि-नर वारिचर,
बिकल सकल महामारी माया भई है;
उछरत उतरात हहरात मरि जात,
भभरि भगात, जल-थल मीचुमई है।
देव न दयाल, महिपाल न कृपालु-चित,
बारानसी बाढ़ति अनीति नित नई है;
पाहि रघुराज! पाहि कपिराज रामदूत!
रामहूँ की बिगरी तुही सुधारि लई है।
(क० नं० १७६, उत्तरकांड)

(२२) एक तौ कराल कलिकाल सूल-मूल, तामैं
कोढ़ में की खाज-सी सनीचरी है मीन की;

बेद-धर्म दूरि गए, भूमि-चोर भूप भए,
साधु सीद्यमान जानि रीति पाप पीन की।
(क० नं० १७७, उत्तरकांड)

हिंदू-शास्त्रों में साठ सालों की एक कक्षा होती है। उनमें से हर-एक का एक-एक नाम है। प्रति इकसठवें साल से वे ही नाम फिर आदि से चलने लगते हैं। इन साठ सालों में बीस-बीस की तीन बीसियाँ कहलाती हैं, जो रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा के नामों से चलती हैं। शनैश्चर प्रत्येक राशि पर ढाई साल रहता है। उस काल सं० १६६५ से १६८४ तक रुद्र-बीसी थी। मीन राशि पर शनैश्चर सं० १६६६ से १६७१ तक ढाई साल रहा था। इसी समय काशी में महामारी का प्रकोप हुआ, जिसका उपर्युक्त वर्णन गोस्वामीजी ने आँखों-देखा किया है। मुसलमान-काल में वह समय बहुत ही अच्छा और शांति-पूर्ण माना जाता है, किंतु उसमें भी गोस्वामीजी भूप को 'न कृपालु-चित' तथा 'भूमि-चोर' कहते हैं, जिससे समझ पड़ता है कि हिंदू-प्रजा को उस समय भी सुख न था। आप प्रत्यक्ष ही साधुओं को सीद्यमान बतलाते हैं।

(ए) अब गंगा-तट पर गोस्वामीजी के वास-संबंधी छंद उपस्थित किए जाते हैं—

(२३) देवसरि सेवौं बामदेव द्वार रावरे ही,
नाम राम ही के माँगि उदर भरत हौं;
दीबे जोग तुलसी न लेत काहू को कछूक,
लिखी न भलाई भाल, पोच न करत हौं।
एते पर हूँ जो कोऊ रावरो ह्वै जोर करै,
ताकौं जोर देबे दीन द्वारे गुदरत हौं।
(क० नं० १६५, उत्तरकांड)

इस छंद से प्रकट है कि महादेव के किसी पुजारी आदि ने इन्हें तंग किया था।

(२४) भागीरथी जल-पान करौं अरु नाम द्वै राम के लेत नितै हौं;
मोको न लेनो न देनो कछू कलि ! भूलि न रावरी-ओर चितैहौं।
जानि कै जोर करौ परिनाम तुम्हैं पछितैहौ पै हौं न भितैहौं;
ब्राह्मन ज्यों उगिल्यो उरगारि हौं त्यों ही तिहारे हिए न हितैहौं।
(क० नं० १०२, उत्तरकांड)

इस छंद से प्रकट है कि कलि के नाम पर गोस्वामीजी किसी ऐसे को संबोधन कर रहे हैं, जो इनको इंद्रिय-सुखादि का लालच देकर लुभा रहा था। इसमें इनके जप का भी कथन है।

(२५) चेरो राम राय को सुजस सुनि तेरो हर !
पायँ तर आनि बस्यों सुरसरि-तीर हौं;
बामदेव, राम को सुभाव सील जानि जिय,
नातो नेह जानियत रघुबीर भीर हौं।
अबिभूत बेदन बिषम होति भूतनाथ !
तुलसी बिकल पाहि पचत कुपीर हौं;
मारिए तौ कासी बास अनायास खास फल,
ज्याइए तौ कृपा करि निरुज सरीर हौं।
(क० नं० १६६, उत्तरकांड)

(ऐ) स्वतंत्रता—

(२६) धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ;
काहू कि बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू कि जाति बिगार न सोऊ।
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ;
माँगि कै खैबो, मसीत को सोइबो, लेबे को एक न देबे को दोऊ।
(क० नं० १०६, उत्तरकांड)

इस छंद से प्रकट है कि जाति के कल्पित नियमों को सर्वस्व

माननेवाले बहुतेरे मूर्ख लोग इस महर्षि के स्वच्छंद आचरणों पर भी दंश देने का साहस करते थे । उपर्युक्त छंदों में गोस्वामीजी उन्हीं नीचों को फटकार रहे हैं ।

(२७) कोऊ कहै करत कुसाज दगाबाज बड़ौ ,
कोऊ कहै राम को गुलाम खरो खूब है ;
साधु जानैं महा साधु, खल जानैं महाखल,
बानी झूठी-साँची कोटि उठत हबूब है ।
चहत न काहू सों न कहत काहू की कछू,
सबकी सहत उर-अंतर न ऊब है ;
तुलसी को भलो पोच हाथ रघुनाथ ही के
राम की भगति भूमि मेरी मति दूब है ।
(क० नं० १०८, उत्तरकांड)

(ओ) भक्ति और धार्मिक विचार—

(२८) हिय फाटहु, फूटहु नयन, जरहु सो तन केहि काम ;
द्रवहिं स्रवहिं, पुलकहिं नहीं, तुलसी सुमिरत राम ।
(दोहावली ४१)

(२९) रहैं न जल भरिपूरि, राम-सुजस सुनि रावरो ;
तिन आँखिन मैं धूरि, भरि-भरि मूठी मेलिए ।
(दोहावली ४५)

(३०) हम लखि लखहि हमार लखि, हम हमार के बीच ;
तुलसी अलखहि का लखै, राम-नाम जपु नीच ।
(दोहावली १९)

(३१) तुलसी परिहरि हरि-हरहिं पामर पूजत भूत ;
अंत फजीहति होहिंगे गनिका के-से पूत ।
(दोहावली ६५)

(३२) लही आँखि कब आँधरे, बाँझ पूत कब ल्याय ;
कब कोढ़ी काया लही ? जग बहराइच जाय ।
(दोहावली ४६६)

(औ) गोस्वामीजी की स्त्री के बचन और उत्तर सुनिए—

(३३) खरिया खरी कपूर सब, उचित न पिय ! तिय-त्याग ;
कै खरिया मोंहिं मेलि, कै बिमल बिबेक बिराग ।
(दोहावली २५५)

हम तौ चाखा प्रेम-रस पतिनी के उपदेस ।

यह दोहा स्मरण है, किंतु कहाँ का है, सो अभी पता नहीं; है इन्हीं का ।

(अं) रोग तथा क्लेश ।

इन अवतरणों में जहाँ पता न लिखा हो, वहाँ उन्हें हनुमान-बाहुक से प्राप्त जानना चाहिए—

(३४) रोग-निकर, तनु जरठपनु, तुलसी संग कुलोग ;
राम कृपा करि पालिए, दीन पालिबे जोग ।
(दोहावली १७८)

(३५) तुलसी तनु सर, सुख जलज, भुज-रुज गज बरजोर ;
दलत दयानिधि देखिए, कपि-केसरी-किसोर !
(दोहावली २३४)

(३६) भुज-तरु-कोटर रोग-अहि बरबस कियो प्रबेस ;
बिहँगराज-बाहन ! तुरत काढिय, मिटै कलेस ।
(दोहावली २३५)

(३७) बाहु-बिटप सुख-बिहँग-थलु, लगी कुपीर-कुआगि ;
राम कृपा-जल सींचिए बेगि दीन-हित लागि ।
(दोहावली २३६)

(३८) ढारो बिगारो मैं काको कहा !?
केहि कारण सीदत ? हौं तौ तिहारो। (१६)

(३६) साहसी समीर के, दुलारे रघुबीरजू के,
बाँह-पीर महाबीर बेगि ही निवारिए। (२०)

(४०) बालक बिलोकि बलि बारे ते आपनो कियो,
दीनबंधु दया कीन्हीं निरुपाधि न्यारियै ;
केसरी - किसोर, रनरोर, बरजोर बीर,
बाहु-पीर-राहु मातु ज्यों पछारि मारियै। (२१)

(४१) पोषरी बिसाल बाहु, बलि, बारिचर पीर,
मकरी ज्यों पकरि कै बदन बिदारिए। (२२)

(४२) महाबीर बाँकुरे बराकी बाहु-पीर क्यों न,
लंकिनी ज्यों लात घात ही मरोरि मारिए। (२३)

(४३) बात तरुमूल, बाहु-सूल कपि-कच्छु-बेलि,
उपजी, सकेलि कपि खेल ही उपारिए। (२४)

(४४) पूतना पिसाचिनी ज्यों कपि कान्ह तुलसी की
बाहु-पीर महाबीर तेरे मारै मारैगी। (२५)

(४५) भाल की कि काल की कि रोष की त्रिदोष की है,
बेदन बिषम पाप ताप छल माहँ की ;
करमन कूट की कि जंत्र - मंत्र बूट की,
पराहि जाहि पापिनी मलीन मन माहँ की।
पैहहि सजाय, नतु कहत बजाय तोहि,
बावरी न होहि जानि बानि कपिनाहँ की ;
आन हनुमान की, दोहाई बलवान की,
सपथ महाबीर की जो रहै पीर बाहँ की। (२६)

(४६) भीर बाहँ पीर की निपट राखी महाबीर,
कौन के सकोच, तुलसी के सोच भारी है। (२७)

(४७) साम-दाम-भेद-बिधि बेदहु लबेद सिद्धि,
हाथ कपिनाथ ही के चोटी चोर साहु की ;
आलस, अनख, परिहास की सिखावन है ?
एते दिन रही पीर तुलसी के बाहु की ? (२८)

(४८) टूकन को घर-घर डोलत कँगाल बोलि,
बाल ज्यों कृपाल नतपाल पालि पोसो है ;
साँसति सहत दास, कीजै पेखि परिहास,
चींटी को मरन, खेल बालकनि को-सो है। (२९)

(४९) आपने ही पाप ते त्रिताप ते कि साप ते,
बढ़ी है बाहु-बेदन न नेकु सहि जाति है ;
ओषध अनेक जंत्र-मंत्र टोटकादि किए,
बादि भए, देवता मनाए अधिकाति है।
करतार भरतार हरतार कर्म काल
को है जग जाल जो न मानत इताति है ;
चेरो तेरो तुलसी, तु मेरो कह्यौ, रामदूत,
ढील तेरी बार मोहिं पीर ते पिराति है। (३०)

(५०) एते बड़े साहेब समत्थ को निवाजो आजु,
सीदत सुसेवक बचन - मन - काय को ;
थोरि बाहु-पीर की, बड़ी गलानि तुलसी की,
कौन पाप कोप लोप प्रगट प्रभाय को ? (३१)

(५१) तुलसी के माथे पर हाथ फेरौ कीसनाथ,
देखिए न दास दुखी तो - से कनिगर को। (३३)

(५२) भोरानाथ भोरे हौ, सरोष होत थोरे दोष,
पोषि - तोषि थापि आपने न अवडेरिए ;
बालक बिकल जानि, पाहि प्रेम पहिंचानि,
तुलसी की बाँह पर लामी लूम फेरिए। (३४)

(५३) घेरि लियो रोगनि कुलोगनि कुजोगनि ज्यों,
　　बासर जलद घन घटा धुकि धाई है;
बरषत बारि पीर जारिए जवासे जस,
　　रोत्र बिन दोष, धूल मूल मलिनाई है।
करुनानिधान हनुमान महा बलवान,
　　हेरि-हँसि हाँकि फुँकि फौजैं तैं उड़ाई है;
खायो हुतो तुलसी कुरोग राँड़ राकसिनि,
　　केसरी-किसोर राखे बीर बरियाई है। (३५)

(५४) श्रीरघुबीर निवारिए पीर,
　　रहौं दरबार परो लटि लूलो। (३६)

(५५) काल की करालता, करम-कठिनाई कैधौं
　　पाप के प्रभाव की सुभाय बाय बावरे;
बेदन कुभाँति सो सही न जाति राति-दिन,
　　सोई बाहँ गही जो गही समीर डावरे।
लायो तरु तुलसी तिहारो, सो निहारि बारि,
　　सींचिए, मलीन भो, तयो है तिहुँ तावरे;
भूतनि की, आपनी, पराई के कृपानिधान,
　　जानियत सब ही की रीति राम रावरे। (३७)

(५६) मानस-बचन-काय सरन तिहारे पाय,
　　रावरे भरोसे सुर मैं न जाने सुर कै;
कपिनाथ, रघुनाथ, भोलानाथ, भूतनाथ,
　　रोग-सिंधु क्यों न डारियत गाय खुर कै। (४३)

(५७) कहौं हनूमान सों, सुजान राम रायसों,
　　कृपानिधान संकर सों, सावधान सुनियै;
हरष बिषाद-रोग-रोष गुन दोत्रमई,
　　बिरची बिरंचि सब देखियतु दुनियै।

माया जीव काल के, करम के, सुभाय के
करैया राम, बेद कहैं, साँची मन गुनियै ;
तुमते कहा न होय हाहा सो बुझैए मोहिं,
हौंहूँ रहौं मौन ही बयो सो जानि लुनियै। (४४)

छंद-नंबर ५३ में एक बार रोग-मुक्त हो गए, किंतु जान पड़ता है, फिर रोग ने घेरा, सो फिर से बिनती की गई है।

(अ:) रोग के संबंध में मरण अंतर—

(५८) जीवे की न लालसा दयालु महादेव मोहिं,
मालुम है तोहिं मरिबेई को रहतु हौं ;
कामरिपु राम के गुलामनि को कल्पतरु,
अवलंब जगदंब सहित चहतु हौं।
रोग भयो भूत सो, कुसूत भयो तुलसी को,
भूतनाथ पाहि पद-पंकज गहतु हौं ;
ज्याइए तौ जानकी-रमन-जन जानि जिय,
मारियै तौ माँगी मीचु सूधियै चहतु हौं।
(क० नं० १६७, उत्तरकांड)

(५९) जीवौं जग जानकी - जीवन को कहाय जन,
मरिबे को बारानसी, बारि सुरसरि को ;
तुलसी के दुहू हाथ मोदक हैं ऐसे ठाउँ,
जाके जिए - मुए सोच करिहैं न लरिको।
मोको झूठो-साँचो लोग राम को कहत सब,
मेरे मन मान है न हर को न हरि को ;
भारी पीर दुसह सरीर तें बिहाल होत,
सोउ रघुबीर बिनु सकै दूरि करि को। (४२)

(६०) असन-बसन-हीन, बिषम बिषाद-लीन,
देखि दीन दूबरो करै न हाय-हाय को ;

तुलसी अनाथ, सो सनाथ रघुनाथ कियो,
दियो फल सील - सिंधु आपने सुभाय को।
नीच यहि बीच पति पाय भरुआयगो,
बिहाय प्रभु - भजन वचन-मन-काय को;
ताते तनु पेखियत घोर बरतोर मिस
फूटि-फूटि निकसत लोन राम राय को। (४१)

गोस्वामीजी अपने रोग को बरतोर समझते थे।

(क) गुरु के विषय में—

(६१) बंदौं गुरु-पद कंज, कृपा-सिंधु नर-रूप हरि। (नरहरि)
महा-मोह-तम-पुंज, जासु बचन रबिकर निकर।
बंदौं गुरु-पद-पदुम-परागा; सरस सुबास सहित अनुरागा।
अमिय मूरिमय चूरन चारू; समन सकल भव-रुज परिवारू।
सुकृत संभ तन बिमल बिभूती; मंजुल-मंगल-मोद-प्रसूती।
जन-मन-मंजु-मुकुर-मल-हरनी;किए तिलक गुन-गन बस करनी।
श्रीगुरु-पद-नख मनि-गन जोती; सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती।
दलन मोह-तम सो सुप्रकासू; बड़े-भाग उर आवहिं जासू।
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के;मिटहिं दोष-दुख भव-रजनी के।
सूझहिं राम-चरित-मनि-मानिक;गुप्त प्रकट जहँ जो जेहि खानिक।
यथा सुअंजन आँजि दृग साधक सिद्ध सुजान;
कौतुक देखहिं सैल बन, भूतल भूरि निदान।
गुरु-पद-रज मृदु मंजुल अंजन;नैन-अमिय दृग-दोष-बिभंजन।
तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन;बरनउँ रामचरित भव मोचन।

(रामच०, मा० बालकांड)

(६२) मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सुसूकर खेत;
समुझि नहीं तस बालपन, तब अति रह्यों अचेत।

तदपि कही गुरु बारहिं बारा ; समुझि परी कछु मति-अनुसारा ,
भाषा-बद्ध करब मैं सोई ; मोरे मन प्रतीति असि होई ।
(रामच० मा०, बालकांड)

उपर्युक्त छंद नंबर १९ भी देखिए । गोस्वामीजी के जीवन-चरित्रकारों ने इनके गुरु का नाम बाबा नरहरिदास लिखा है, और कहा है कि पाँच वर्ष की अवस्था में अपनी पालिका मुनिया के मरने पर गोस्वामीजी अनाथ होकर इधर-उधर भटकने लगे । तब बाबा नरहरिदास ही ने पालन करके इनको विद्वान् भी बनाया । अनंतर विवाह के पीछे अपनी स्त्री रत्नावली की फटकार से क्षुब्ध हो आप वैरागी होकर इन्हीं बाबाजी के मंत्र-शिष्य भी हो गए । जान पड़ता है, इन बाबाजी ने गोस्वामीजी पर बालपन से ही भारी कृपा की थी, क्योंकि उन्हें (गोस्वामीजी को) इनके ऊपर अगाध श्रद्धा थी । यह बाबाजी ऐसे बड़े राम-भक्त थे कि एक अबोध बालक को भी बार-बार राम-चरित्र समझाने में नहीं उकताते थे । समझ पड़ता है, इनकी भारी राम-भक्ति का प्रभाव गोस्वामीजी के कोमल चित्त पर बहुत अधिक पड़ा, जिससे छोटी ही सी गृह-कलह से आप सदा के लिये गृह-त्यागी हो गए, और स्त्री के बहुत कुछ बिनती करने तथा गिड़गिड़ाने से भी फिर घर को न पलटे । बाबा नरहरिदास रामानंद महाराज के शिष्य-संप्रदायवाले थे ।

(ख) अब गोस्वामीजी से संबंध रखनेवाले इन्हीं के तथा अन्य लोगों के कुछ और छंद दिए जाते हैं ।

हुलसी माता के संबंध में—

(६३) शंभुप्रसाद सुमति हिय हुलसी; रामचरित मानस कवि तुलसी ।
(रामच० मा०, बालकांड)

गोद लिए हुलसी फिरै तुलसी-सो सुत होय ।
(खानेखानान)

लोगों ने इनकी माता का नाम हुलसी बतलाया है। गोस्वामीजी ने रामचरितमानस में इस शब्द का प्रयोग बहुत किया है। पिता का नाम आत्माराम द्विवेदी कहा गया है। इनके विषय में गोस्वामीजी ने केवल इतना कहा है कि माता-पिता ने जन्म देकर त्याग दिया, और इन्हें न तो भाई का भरोसा था, न जननी-जनक तक इनके हितू थे। ऐसे स्थान पर भी आपने केवल गुरु की कृपा का यश गाया है। आत्माराम का कथन हमने गोस्वामीजी के ग्रंथों में नहीं पाया।

स्त्री के संबंध में—

(६४) लाज न लागत आपको दौरे आयहु साथ ;
धिक-धिक ऐसी प्रीति को कहा कहौं मैं नाथ !
अस्थि-चाममय देह मम तामैं इतनी प्रीति ,
जो होती रघुनाथ सों, तौ न होति भव-भीति ।
जितना चित्त हराम में तितना हरि में होय ;
चला जाय बैकुंठ को पल्ला गहै न कोय ।
(दूसरों के छंद)

उपर्युक्त छंद-नंबर ३३ भी देखिए। इन छंदों में कितनी तीव्रता है। जान पड़ता है, स्त्री ने इतना उग्र भाषण न किया होगा। इसमें अत्युक्ति होगी। फिर भी यदि बहुत ही कटु भाषण न होता, तो उससे खिन्न होकर गोस्वामीजी गृहस्थी छोड़ते क्यों? माता-पिता ने जन्मते ही छोड़ दिया तथा स्त्री ने भी अपने से प्रीति-त्याग का उपदेश देकर छोड़ दिया। इन्हें सबने छोड़ा, किंतु राम ने न छोड़ा। इनके पिता की अकथनीय क्रूरता एवं स्त्री की प्रचंड मूर्खता भारतवर्ष के काम आ गई। स्त्री ने सहधर्मिणी होकर भी गोस्वामी-जी को न पहचाना। उसका विचार था कि गोस्वामीजी की उसके प्रति अमोघ प्रीति केवल ऐंद्रिय सुख-जन्य थी। इसी भाव से प्रेरित

हो, मायके में पहली ही रात को पति को अनुचित प्रकार से पास आते देख मिथ्या लोक-लाज के कारण वह गड़ गई, और आपे से बाहर होकर इन्हें पत्नी-प्रीति-परित्याग का कटु उपदेश परम तीव्र शब्दों में दे बैठी। इधर गोस्वामीजी के परिवार में तो कोई था ही नहीं, और आपमें तल्लीनता की शक्ति परम अमोघ थी। अतएव स्वभा-वश: आप पूरा प्रेम स्त्री में लगा बैठे। सशक्त थे ही, सो उसने इस प्रीति को न पहचानकर इसे केवल इंद्रिय-सुख-जन्य मान लिया। बाबा नरहरिदास के पौर्वकालीन संयोग से राम-भक्ति का बीज इनमें था प्रचुर प्राबल्य से, किंतु कौटुंबिक जीवन में दबा हुआ था। कुटुंब की मूलाधार स्त्री के अनुचित तथा उद्दंड भाषण से वह उमड़ पड़ा और यह ब्रह्मर्षि सदा के लिये गृह-त्यागी हो गया, अथच संसार को एक परमोत्कृष्ट कविरत्न और अमूल्य धर्मोपदेशक प्राप्त हो गया। कहते हैं, गोस्वामीजी के श्वशुर दीनबंधु पाठक ने इनके पांडित्य पर ही रीझकर अपनी कन्या रत्नावली इन्हें ब्याही थी, किंतु वह सौंदर्य के अहंकार में इस पांडित्य से नितांत अनभिज्ञ रही। इन दोनो का एकमात्र पुत्र तारक बच्चा ही था, जब संसार से उठ गया।

(ग) मृत्यु—

(६५) राम-नाम-जस बरनि कै भयो चहत अब मोन ;
तुलसी के मुख दीजिए अबही तुलसी-सोन।
संबत सोरह सै असी असी गंग के तीर ;
सावन सुकला सत्तिमी तुलसी तज्यो सरीर!
(या सावन कृष्णा तीज दिन..........)

(दूसरों के छंद)

पहले सावन शुक्ला सप्तमी मानी जाती थी, किंतु अब सावन कृष्णा तीज अधिक मानी जाती है, क्योंकि गोस्वामीजी के अगाढ़

मित्र टोडरमल खत्री के वंशधर अब भी इस तिथि को इनके नाम पर सीधा निकालते हैं।

(घ) गोस्वामीजी के संबंध में दूसरों के कथन—

कहते हैं, बाबा बेनीमाधवदास तथा बाबा रघुवरदास दोनो स्वयं गोस्वामीजी के शिष्य थे। इन दोनो महात्माओं ने छंदों में गोस्वामीजी के दो बृहत् जीवन-चरित्र लिखे हैं, जो संपूर्ण रूप में अभी तक देखने में नहीं आए, किंतु गोसाईंचरित्र का एक अध्याय प्रकाशित हो चुका है। इसमें ग्रंथ का सारांश छंदों में दिया हुआ है। इन दोनो महात्माओं को गोस्वामीजी का शुद्ध जीवन-वृत्तांत ज्ञात अवश्य होगा, और यदि ये चाहते, तो जैसे-का-तैसा उसे लिख सकते थे, किंतु माहात्म्य-वर्द्धन या अन्य किसी कारण से इन दोनो के कथनों में पुराणादि के समान असंभव कथन आ गए हैं, जिससे इनकी प्रामाणिकता संदिग्ध हो गई है। एक स्थान पर लिखा है कि पत्थर की नंदीगणवाली भारी मूर्ति घास चरने लगी। इसी भाँति यह कहा गया है कि गोस्वामीजी द्वारा 'प्राकृत कवि' कहे जाने से प्रसिद्ध महाकवि केशवदास ने एक ही रात में प्रायः चालीस अध्यायों की भारी पुस्तक रामचंद्रिका रच डाली। इसी प्रकार कई ऐसे महापुरुषों का गोस्वामीजी से मिलना मुख्य-मुख्य संवतों में लिखा है, जिन्हें पंडितों ने इतिहास द्वारा असिद्ध प्रमाणित कर दिया है। महात्मा सूरदास शिष्यों की-सी नम्रता से गोस्वामीजी को मिलते हैं, यद्यपि वह इनसे बहुत कुछ वयोवृद्ध थे, और माहात्म्य में भी कम नहीं थे। इसी प्रकार उधर चौरासी वैष्णवों की वार्ता-नामक तत्कालीन ग्रंथ में लिख दिया गया है कि जब महात्मा विट्ठलनाथ के पुत्र ने कृष्ण का रूप तजकर धनुष-बाण लिया, और राम का रूप धारण किया, तब तुलसीदास ने शिष्यों की भाँति उनको प्रणामादि किया। "तुलसी मस्तक जब नवै धनुष-बाण लयो हाथ" वाला दोहा इसी

संबंध में यारों ने बनाकर गोस्वामीजी के मुख में रख दिया, यद्यपि इनके ग्रंथों में यह हमें नहीं देख पड़ा। इस प्रकार के अनर्गल कथन, मूर्खों में विश्वास-वृद्धि के लिये, करके जाने हुए प्रामाणिक कथनों में भी लोग संदेह डाल देते हैं। जन-श्रुति गोस्वामीजी का एक ही विवाह मानती है, किंतु चरित्रकार तीन विवाह बतलाकर एक में इनके पिता को ६०००) का दायज भी दिलाते हैं। गोस्वामी-जी अपना पुराना नाम रामबोला लिखकर कहते हैं कि मेरे कोई कहीं भी नहीं है, किंतु चरित्रकार उनका पुराना नाम तुलाराम कहकर उनके कई भाई-बहन भी बतलाते, और घराने को संपन्न-सा कहते हैं। ऐसे विवरण स्वयं गोस्वामीजी के कथनों के प्रतिकूल पड़कर अग्राह्य समझ पड़ते हैं। चरित्रकारों का यह भी कथन है कि गोस्वामीजी सदंत उत्पन्न हुए थे, और इन्होंने जन्मते ही राम-नाम लिया। कुछ लोगों का विचार है कि किसी नव-जात शिशु के दाँत होना डॉक्टरों की राय में भी असंभव नहीं है। हमको यह कथन संदिग्ध जान पड़ता है, और राम-नाम लिया जाना असंभव ही प्रतीत होता है। हमारे यहाँ बहुतेरे ऐसे लोग हैं कि महात्माओं के विषय में जब तक असंभव घटनाएँ न कही जायँ, तब तक उनको स्वाद ही नहीं आता। बेनीमाधवदास के ग्रंथ का नाम 'गोसाईं-चरित्र' है, और रघुवरदासवाले का 'तुलसी-चरित्र'।

सरोजकार का निराधार कथन यह है कि गोस्वामीजी का जन्म सं० १५८३ में हुआ था। मृत्यु-काल सभी १६८० मानते हैं। प्रसिद्ध रामायणी रामगुलाम द्विवेदी का समय सं० १८०१ माना जाता है। आपने गोस्वामीजी पर प्रचुर परिश्रम और खोज करके उनके विषय में बहुतेरे कथन किए हैं। आपके भजन 'रागसागरोद्भव' में हैं, तथा और ग्रंथ भी खोज में मिले हैं। आप जन्म-काल सं० १५८९ मानते हैं। इसी को डॉक्टर ग्रियर्सन ने भी माना है, किंतु उपर्युक्त

चरित्रकार गोस्वामीजी का जन्म-संवत् १५५४ लिखते हैं। ऐसा मानने से मृत्यु के समय आपकी अवस्था १२६ वर्षों की बैठती है, जो असंभव तो नहीं, किंतु संदिग्ध अवश्य है। जब उन महात्माओं के बहुतेरे अन्य कथन भी अग्राह्य और इतिहास-विरुद्ध हो चुके हैं, तब इस पर भी विश्वास नहीं बैठता। कहते हैं—"वेश्या बरस घटावई, जोगी बरस बढ़ाव," सो जान पड़ता है, इन दोनो महाशयों ने माहात्म्य-वर्धन के लिये ही गोस्वामीजी का जन्म-संवत् बहुत पीछे फेंका है। द्विवेदीजीवाला संवत् १५८९ मानने से भी इनकी अवस्था ९१ वर्षों की आती है। इससे अधिक बढ़ाने का प्रमाण असंदिग्ध प्रकार से नहीं मिलता। सं० १६३१ में रामचरित-मानस प्रारंभ करके गोस्वामीजी ने थोड़े ही दिनों में उसे समाप्त कर दिया। इस ग्रंथ-रत्न का लेखक संसार में पूरा मन लगाता तथा उचित स्थानों पर क्रोधादि के अच्छे विवरण देता है। यह समझ में नहीं आता कि कोई ७७ वर्ष का जरठ ऐसा अमूल्य ग्रंथ बना सकेगा। गोस्वामीजी ने अपना "गात जोर जरा" से जजा हुआ अवश्य लिखा है, किंतु प्रायः ९० वर्ष का वृद्ध ऐसा कह सकता है। यह कथन कवितावली में है, जो इनके स्फुट कवित्तों का संग्रह है। इसमें इनके सभी समयों के छंद हैं।

गोस्वामीजी सरयूपारीण द्विवेदी ब्राह्मण कहे जाते हैं। एक समय हमें इनके कान्यकुब्ज ब्राह्मण होने का संदेह राजा प्रतापसिंह-कृत 'भक्त-कल्पद्रुम' के आधार पर हो गया था, किंतु अन्य प्रमाण इन्हें सरयूपारीण सिद्ध करते हैं, और सरयूपारीण हैं कान्यकुब्ज ही। अतएव उपर्युक्त दोनो आधारों में वास्तविक भेद भी नहीं रह जाता। इनके जन्म-स्थान राजापुर ज़िला बाँदा में जाँच करने से भी यही बात निकलती है।

भक्तमालकार महात्मा नाभादासजी गोस्वामीजी को अपने भक्त-माल का सुमेरु मानते थे। उन्होंने लिखा है—

"कलि-कुटिल जीव निस्तार हित बालमीकि तुलसी भयो ।"

उनके शिष्य प्रियादास ने गोस्वामीजी के संबंध में ११ छंद कहे हैं। उनमें इनके द्वारा स्त्री-त्याग का भी कथन है। ये छंद भक्तमाल की टीका में हैं। इनके द्वारा एक हत्यारा ब्राह्मण पवित्र माना जाने से लोगों ने मान लिया कि उसकी हत्या छूट गई। उसके द्वारा राम-राम सुनने से ही गोस्वामीजी को उस पर दया आ गई थी। बाबा बेनीमाधवदास और रामगुलाम द्विवेदी गोसाईंजी को सरयूपारीण ब्राह्मण मानते हैं। हमारी स्थानीय जाँच भी यही कहती है। महाराज रघुराजसिंह रीवाँ-नरेश ने 'राम-रसिकावली' में गोसाईंजी का जीवन-चरित्र लिखा है, तथा पंडित महादेव त्रिपाठी ने 'भक्त-विलास' में। रामगुलाम द्विवेदी और बंदन पाठक ने भी गोसाईंजी की जीवनी दी है। बाबा रघुवरदास गोसाईंजी को गाना का मिश्र कहते हैं। पंडित लोग इन्हें स्मार्त वैष्णव मानते हैं, और कुछ लोगों का विचार है कि इनके अभुक्त मूल में जन्म-ग्रहण करने से ही पिता ने इन्हें छोड़ा होगा।

गृह-त्याग के पीछे गोस्वामीजी प्रायः तीर्थ-स्थानों में घूमते रहे। यह महाशय मथुरा, वृंदावन, कुरुक्षेत्र, प्रयाग, चित्रकूट, जगन्नाथपुरी, शूकरक्षेत्र (सोरों) आदि स्थानों में जाया-आया करते थे, और अयोध्या में अधिकतर रहते थे, पर इनका मुख्य वास-स्थान काशी थी। यह लोलार्क-मठ के गोस्वामी हो गए थे। लोलार्क काशी का एक मुहल्ला है। यह मठ पीछे से 'स्थान' कहलाने लगा। मठ और स्थान में भेद यह है कि स्थान केवल वैष्णवों का होता है, और मठ किसी भी संप्रदाय का हो सकता है। वहाँ बहुत-से स्थानों में अब तक इनके स्मारक वर्तमान हैं। उनमें निम्न-लिखित चार प्रसिद्ध हैं—

(१) असी पर गोस्वामीजी का घाट। यहाँ इनके स्थापित हनूमान्‌जी

और इनकी गुफा हैं। यहीं यह विशेषकर रहते थे, और इसी स्थान पर इनका शरीर-पात भी हुआ।

(२) गोपाल-मंदिर। यहाँ श्रीमुकुंदरायजी के बाग़ में इनकी एक कोठरी है, जिसमें इनकी बैठक थी। यह स्थान बिंदुमाधवजी के समीप है।

(३) प्रह्लाद-घाट।

(४) संकटमोचन हनुमान्। इन्हीं महाशय की स्थापित की हुई यह मूर्ति, नगवे के समीप, असी के नाले पर, अब तक वर्तमान है। संभवतः इसी हनुमन्मूर्ति की प्रशंसा में 'संकटमोचन' बना।

गोस्वामीजी पहले हनुमान फाटक पर रहते थे, फिर मुसलमानों के उपद्रव के कारण गोपाल-मंदिर में आए, और वहाँ वल्लभ-संप्रदायवाले गुसाइँयों से विरोध हो जाने के कारण असी-घाट पर रहने लगे। असी पर गोस्वामीजी ने अपनी रामायण के अनुसार रामलीला आरंभ कर दी थी, जो वहाँ अब तक होती है। यह लीला काशी की सब लीलाओं से पुरानी है। गोस्वामीजी कृष्ण-लीला भी कराते थे, और इनके घाट पर कार्त्तिक-कृष्णा ४ को अब तक कालिय-दमन-लीला होती है।

बनारस के खत्री टोडरमल (प्रसिद्ध मंत्री टोडरमल नहीं), ख़ानख़ाना, महाराजा मानसिंह, मधुसूदन सरस्वती और नाभादासजी से इनकी मित्रता थी। अष्ट-छाप के प्रसिद्ध कवि नंददास तुलसीदास के गुरुभाई थे। टोडरमल के कुटुंबियों में कुछ झगड़ा हुआ था, जिसमें गोस्वामीजी पंच नियत हुए। इसका फ़ैसलनामा, स्वयं इनके हाथ का लिखा, महाराजा बनारस के यहाँ अब तक सुरक्षित है। गोस्वामीजी से एक बार मलूकदास भी मिले। अवध-देश के मुक्तामणिदास की कविता को गोस्वामीजी ने बहुत पसंद किया। वह छंद बाबू शिवनंदनसहाय ने अपने ग्रंथ 'गोस्वामी तुलसीदास'

के पृष्ठ १०१ पर लिखा है। यह महाशय एक बार लखनऊ भी आए, और यहाँ से चलकर कुछ दिन मलिहाबाद में रहे। कहते हैं, वहीं एक भाट को इन्होंने अपने हाथ से एक रामायण लिख दी, जो वहाँ के महंत जनार्दनदास के पास अब तक विद्यमान है। इस पुस्तक को एक बार लगभग आध घंटे तक हमने भी देखा, परंतु हमको इसके गोस्वामीजी के हाथ की लिखी होने में संदेह है। इनका लिखा अयोध्याकांड (रामायण) अब तक राजापुर की कुटी में विद्यमान है। उसके अक्षरों का फ़ोटो हमने देखा है। उन अक्षरों से मलिहाबादवाली पुस्तक के अक्षर नहीं मिलते, और केवल आध ही घंटा तक ढूँढ़ने पर हमें उसमें गंगा-उत्पत्ति की कथावाला क्षेपक भी मिला। पंडित महादेवप्रसाद त्रिपाठी ने अपने 'भक्त-विलास' में गोस्वामीजी का जो वर्णन किया है, उसमें यह लिखा है कि गोस्वामीजी की सूरदासजी से भेंट हुई थी।

सबसे पहले खड्गविलास-प्रेस के स्वामी बाबू रामदीनसिंह ने एक भव्य भूमिका-सहित रामायण की परम शुद्ध प्रति निकाली। फिर इंडियन-प्रेस, प्रयाग के स्वामी बाबू चिंतामणि घोष ने बड़े श्रम और व्यय से रामायण की एक अतीव शुद्ध सचित्र प्रति, संवत् १९५९ में, प्रकाशित की। इसमें बहुत-सी प्राचीन प्रतियों से मिलाकर शुद्ध पाठ लिखा गया। महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी, बाबू राधाकृष्णदास, बाबू श्यामसुंदरदास, बाबू कार्त्तिकप्रसाद और बाबू अमीरसिंह ने इसका संपादन किया। इसमें ९३ पृष्ठों की बढ़िया भूमिका दी गई है। संपादकों ने इसमें रामायण के कठिन शब्दों की टिप्पणी दी है, और जो कथाएँ रामायण में उदाहरण-स्वरूप लिखी गई हैं, उनका भी संक्षेप में वर्णन कर दिया है। रामायण की ये दोनो प्रतियाँ परम प्रशंसनीय हैं।

लोग अब भी इस बात को मानते हैं, तथा सदैव मानते रहे हैं, किंतु साधारण जनता चिर काल से ब्रह्मा, विष्णु और महेश को तीन पृथक्-पृथक् देवता मानती आई है। पुराणों में भी ये देवता भाव-मात्र न माने जाकर तीन पृथक्-पृथक् व्यक्ति हो गए, यहाँ तक कि इनमें परस्पर युद्धादि भी होने लगे। इन्हीं बातों से राह भूलकर जनता इन्हें तीन देवता मानने लगी, और आदि-शक्ति को भी पृथक् देवी समझ बैठी। फल यह हुआ कि शैव, वैष्णव और शाक्त एक दूसरे को बुरा कहने लगे, यहाँ तक कि बिना एक दूसरे के मतों को गाली दिए बहुत-से शैवों, शाक्तों एवं वैष्णवों का चित्त ही प्रसन्न नहीं होता था। उधर हिंदुओं और मुसलमानों के धार्मिक विचारों में भी अच्छा-खासा झगड़ा उपस्थित था। इस प्रकार हिंदू-मुसलमानों का एक धार्मिक विभ्राट् था, और हिंदुओं में शैवों, शाक्तों तथा वैष्णवों का दूसरा। इसे मिटाने को पहले महात्मा कबीरदास का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने एकेश्वर-वाद का सच्चा उपदेश दिया, और हिंदू-मुसलमानों की एकता दिखलाई। आपने सगुणोपासना को भी हेय ठहराकर मुख्यतया निर्गुणोपासना का उपदेश दिया, वरन् उससे भी ऊँचे भाव प्रकट किए।

शुद्ध निर्गुणोपासना का प्रयोजन स्थूल रूप से इस भाँति है कि परमेश्वर शक्ति-स्वरूप है। उसके नियम दयामय हैं, किंतु नियमातिरिक्त दया वह नहीं कर सकता, या नहीं करता। यदि एक गेहूँ बोइए और उसे युक्ति से पालिए, तो समय पर ईश्वरीय नियम आपको उसके बदले पचास गेहूँ देंगे, किंतु यदि उचित उपाय न कीजिए, तो वह एक गेहूँ भी सूख जायगा। अतएव ईश्वरीय नियम दयामय हैं, किंतु उस दया से लाभ उठाने के लिये यत्न की भी आवश्यकता है, और कोरी प्रार्थना से काम नहीं चलता। बीमारी से बचने के लिये बुद्धि से काम लेकर उचित दवा करनी

होगी, केवल उपासना से रोग-शांति न होगी। इसी प्रकार के अनेकानेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

ये विचार तार्किक रीति से शुद्ध होने पर भी मनुष्य की मानसिक निर्बलता के कारण उसे पसंद कम आते हैं। इनको पसंद करनेवाले थोड़े ही से पंडित निकलेंगे, अथच साधारण जनता इनसे लाभ उठाने में नितांत असमर्थ रहेगी, क्योंकि उसे केवल तार्किक शुद्धता की ही नहीं, वरन् प्रेम करनेवाले और गज-ग्राह की सी पुकार सुननेवाले ईश्वर की भी आवश्यकता पड़ती है। यद्यपि महात्मा कबीरदास ने पूरे तौर से निर्गुण ब्रह्म का कथन न करके प्रेम-भाजन तथा पुकार सुननेवाले ईश्वर का उपदेश दिया, तथापि उनके ईश्वर में निर्गुणता का अंश विशेष था, और सगुणोपासना का थोड़ा या कुछ भी नहीं। सुतराम् उनका उपदेश साधारण जनता के लिये इतना ऊँचा था कि वह उसे प्रायः अलभ्य था। इसी प्रकार हिंदू-मुसलमानी मतों को एक मानने को भी जनता तैयार न थी। अतएव परमोच्च एवं परमोपयोगी होने पर भी महात्मा कबीरदास की शिक्षा जनता के लिये वैसी लाभदायक नहीं हुई। संसार को एक ऐसे उपदेशक की आवश्यकता थी, जो अधिक लोक-मान्य उपदेशों का प्रचार करे। महात्मा तुलसीदास कबीर साहब से प्रायः सौ वर्ष पीछे हुए। आपने हिंदू-मुसलमानों के मतों में ऐक्य उत्पन्न करने का विचार छोड़कर केवल हिंदुओं की सब शाखाओं के एकीकरण का प्रयत्न किया। हिंदुओं में एकेश्वर-वाद की जो कमी हो गई थी, उसे इन महात्मा ने पूरा किया। आपने सब देवतों पर रामचंद्र का परत्व सिखलाया, और अद्वैतवाद को पूर्णतया दृढ़ करके ईश्वरीय महत्ता को भली भाँति स्थापित किया। आपने राम को "विधि हरि बिष्णु नचावनहारे" बतलाया, और साधारण इंद्रादि देवतों को ऋषियों, मुनियों तक से कम कहकर उनकी अनीश्वरता प्रकट की (देवतों के

विषय का वर्णन देखिए) । फिर भी शैव, शाक्त, वैष्णव आदि मतों को निंद्य न कहकर आपने शक्ति, शिव, विष्णु आदि का उचित मान स्थिर रक्खा । इस प्रकार हिंदुओं के ईश्वरत्रयवाद को ध्वस्त करते हुए भी आपने त्रिमूर्ति की निंदा नहीं की, और शैवों, वैष्णवों आदि की एक दूसरे को गाली देनेवाली प्रकृति को यह सिखलाकर दूर किया कि जो भक्त इनमें से एक को बुरा कहकर अपने को दूसरे का दास मानता है, वह वास्तव में भक्त न होकर पापी है, और नरक में पड़ता है । निर्गुणोपासना को मानते हुए भी आपने सगुण ईश्वर तथा अवतार भी माने । तथापि इन्हें तर्क-हीन बतलाकर आपने प्राचीन तर्कवाद को प्रकट रूप में बिना काटे हुए ही नवीन भक्तिवाद दृढ़ किया, क्योंकि इनके समय में शंकर तथा रामानुज का तर्कवाद अपना काम पूरा कर चुकने से अनावश्यक हो गया था । इस प्रकार गोस्वामीजी ने हिंदुओं के मत-वादों का वैमनस्य दूर करके उनमें ऐक्य स्थापित किया ! जैसे गौतम बुद्ध, नानक आदि महात्माओं ने जनता तक उपदेश पहुँचाने के विचार से देश-भाषाओं ही में शिक्षा दी थी, उसी प्रकार हमारे गोस्वामीजी ने सर्व-साधारण के समझने योग्य सरल हिंदी में उपदेश दिए । महात्मा सूरदास आदि कवियों ने भी अच्छी भक्ति दिखलाई थी, किंतु कठिन भाषा और शृंगार-पूर्ण वर्णन होने के कारण उनके उपदेशों ने वैसा लाभ नहीं पहुँचाया । इधर गोस्वामीजी ने भगवान् रामचंद्र का वर्णन बहुत सजीव तथा मर्यादा-पूर्ण किया, जिससे आपके उपदेशों का प्रभाव बहुत भारी पड़ा, और सरल भाषा के कवि होने से आप उत्तर-भारत के सबसे बड़े उपदेशक और चरित्र-संशोधक हुए । शंकराचार्य के पीछे आप ही हमारे सर्वोत्कृष्ट उपदेशक थे । हिंदू-धर्म को जैसा आपने बनाया, वैसा ही वह आज है । उस काल उसका वह रूप उचित भी था । आजकल, समय के फेर से, उसकी कई बातें अनुचित

हो गई हैं, और धीरे-धीरे दूर होकर समाज की वर्तमान दशा के अनुसार हमारे आचरण बन रहे हैं।

गोस्वामीजी के नाम से निम्न-लिखित ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—

(१) रामचरित-मानस (रामायण दोहे-चौपाई में)	(१३) रामलला-नहछू
	(१४) जानकी-मंगल
(२) कवितावली-रामायण	(१५) पार्वती-मंगल
(३) गीतावली-रामायण	(१६) कृष्ण-गीतावली
(४) छंदावली-रामायण	(१७) हनुमान-बाहुक
(५) बरवै-रामायण	(१८) संकट-मोचन
(६) पदावली-रामायण	(१९) हनुमान्-चालीसा
(७) कुंडलिया-रामायण	(२०) राम-शलाका
(८) छप्पै-रामायण	(२१) राम-सतसई
(९) कड़खा-रामायण	(२२) वैराग्य-संदीपिनी
(१०) रोला-रामायण	(२३) विनय-पत्रिका
(११) झूलना-रामायण	(२४) कलि-धर्माधर्म-निरूपण
(१२) रामाज्ञा	(२५) दोहावली

रामचरित-मानस में पीछे के कवियों ने स्थान-स्थान पर नई कथाएँ लगा दी हैं, जिन्हें अब क्षेपक कहते हैं। ये कविगण ऐसे परोपकारी थे कि इन्होंने अपना नाम तक नहीं लिखा, और केवल यही इच्छा की कि इनकी कविता गोस्वामीजी के साहित्य में मिल जाय। कुछ क्षेपककारों ने रामायण में किसी कथा की कमी समझकर वह त्रुटि पूरी करने को अपनी ओर से उतनी कथा मिलाकर लगा दी, और कुछ महाशयों ने यह दिखलाने को कि वे भी गोस्वामीजी के समान काव्य कर सकते हैं, बहसा-बहसी में नई कथा बनाकर रामायण में चिपका दी होगी। केवल बाल और लंका-कांडों पर क्षेपककारों ने विशेष अनुग्रह किया है। अयोध्या-कांड में प्रायः

किसी को क्षेपक लगाने का साहस नहीं हुआ। क्षेपकों में राम-सेना-वर्णन तथा महिरावण-वध सर्वोत्कृष्ट हैं। गंगोत्पत्ति एवं सुलोचना के सती होने का वर्णन भी अच्छा है। ये क्षेपक गोस्वामीजी की रामायण में ऐसे लग गए हैं कि प्रायः राम-लीलाओं में भी खेले जाते हैं। फिर भी कहना ही पड़ता है कि ये मूल-कथा के बीच में वैसे ही अखर जाते हैं, जैसे हलुवा खाने में कंकड़ का टुकड़ा जान पड़े। गोस्वामीजी ने अपनी रामायण कबड़िए का गल्ला तो बनाया ही नहीं है कि उसमें जो रख दो, वही खप जाय। उन्होंने पूरा ग्रंथ बनाने में उसके अंग-प्रत्यंगों को अपने ग्रंथ की गुरुता के अनुसार यथायोग्य छोटा या बड़ा बनाया है। अतः जिस किसी स्थान पर कोई अंग बढ़ या घट जायगा, उसी जगह ग्रंथ का रूप बिगड़ जायगा। लोग यह समझ बैठे कि जब किसी कथा का वाल्मीकि अथवा व्यास ने उल्लेख किया, तो गोस्वामी ने उसे न लिखने में ग़लती की। कम-से-कम उसे उस स्थान पर लिख देने में कोई दोष नहीं। पर जिस आकार और प्रकार का ग्रंथ वे महात्मा बनाते थे, उसमें वे कथाएँ लिखी जा सकती थीं, किंतु गोस्वामीजी की रचना में नहीं स्थान पा सकतीं। कुछ क्षेपकों का उल्लेख यहाँ किया जाता है।

बाल-कांड

(१) रावण-दुर्दशा तीन पृष्ठों की है। इसमें जहाँ गोस्वामीजी ने रावण की विजयों का वर्णन किया है, वहाँ क्षेपककार ने उसमें त्रुटि समझकर कई युद्धों में उसकी पूरी दुर्दशा करा डाली है, यहाँ तक कि एक वृद्धा ने रावण का पैर पकड़कर "गई दूरि धरि-धरि झकझोरा; डारेसि सिंधु-मध्य अति जोरा।" गोस्वामीजी का यह प्रयोजन था कि रावण का महत्त्व और उसकी ज़बरदस्ती दिखाकर रामावतार का कारण प्रस्तुत करते, पर इस कवि ने उसका पूर्ण प्रतिकूलता करके अपनी समझदारी तथा कवित्व-शक्ति दिखा दी।

यदि रावण ऐसा निर्बल था, तो उसके लिये रामावतार की क्या आवश्यकता थी? यों इसकी कविता बुरी नहीं है।

(२) गंगावतरण आठ पृष्ठों का है। बुरा नहीं है। गोस्वामीजी राम को जल्दी से जनकपुर पहुँचानेवाले थे, इसी से विस्तृत अहल्या-कथा आदि को छोड़ते गए हैं, पर इस कवि ने उस जल्दी पर ध्यान न देकर बीच में यह राग अलाप दिया।

लंका-कांड

(३) राम-सेना का वर्णन चार पृष्ठों का है। यह उत्कृष्ट भाषा में लिखा गया है। इसमें अच्छी रचना है, अच्छा ज़ोर देख पड़ता है, और कविता की बहुत-सी बातें वर्तमान हैं। इस महाकवि ने क्या ही अच्छी-अच्छी उपमाएँ दी हैं। वाल्मीकीय रामायण पर बहुत कुछ अवलंबित होने पर भी इस क्षेपक में कोई विशेष दोष नहीं है। केवल इसका रावण से कहा जाना-भर अयोग्य है। यदि यह रामायण में मिला दिया जाय, तो उसकी शोभा बढ़ा दे। गोस्वामीजी ने भारी सेना-वर्णन कहीं नहीं किया। अतः इसके बढ़ा देने से प्रायः कोई भी दोष नहीं आता। उदाहरण—

"यह जो आवत अचल-समाना;
चौदह ताड़ ऊँच परमाना।
रक्त-कमल-दल-सम सब देहा;
जनु बिकस्यो संध्या कर मेहा।
हनै मेदिनी पूँछ भवाँई;
लंका सौंह चितव जनु खाई।
हृदय-गगन यहि के प्रभु भानू;
पंच पदुम कपि निकर पयानू।
करै बज्र बासव कर भंगा;
उदयाचल कहँ लेइ उछंगा।

पाँव धरा धरि चापै, पन्नग होय अकाज ;
सैन अग्रसर देखहु, यह अंगद युवराज।"

(४) सुलोचना सती बारह पृष्ठों का है। भाषा अच्छी है, परंतु रावण इतना अपमान कभी न सहता कि उसकी पुत्र-वधू राम से मेघनाद का सिर माँगने जाती, इसलिये खटकती है। कथा की द्रुत गति को यह क्षेपक रोकता है। गोस्वामीजी ने केवल मेघनाद और कुंभकर्ण का स्वल्प युद्ध लिखकर रावण के युद्ध का विस्तार-पूर्वक सर्वोत्कृष्ट वर्णन किया है। अतएव मेघनाद की स्त्री को स्वयं मेघनाद से अधिक स्थान नहीं मिल सकता।

(५) महिरावण-वध आठ पृष्ठों का है। कुछ-कुछ रुचिर भाषा में लिखा गया है। कवि ने तुलसीदास की रचना-शैली का अनुकरण करने में सफलता भी पाई है, पर हनुमान् के लंगूर-कोट का पता न तुलसीदास की रामायण में है, और न वाल्मीकीय में। फिर जब महिरावण राम और लक्ष्मण को लाते समय लंगूर को कूदकर निकल जा सकता था, तो कोट के अंदर जाने में उसको विभीषण का वेश बनाने की क्या आवश्यकता थी ? इसका कारण नहीं जान पड़ता कि राम और लक्ष्मण इतने शक्ति-हीन क्यों हो गए थे कि उनसे हाथ-पाँव भी नहीं डुलाए जाते थे, और विना हनुमान् की सहायता के उनका उद्धार ही असंभव था। गोस्वामीजी प्रतिदिन युद्ध की भीषणता को बढ़ाते गए हैं, यहाँ तक कि रावण-वध का वर्णन अति घोर सर्वोच्च कक्षा की ओर है। महिरावण-युद्ध के शिथिल होने से इसका क्रम-भंग हो जाता है। इन बातों को छोड़कर यह वर्णन मनोहर है।

(६) नरांतक-वध ३५ पृष्ठों का है। इससे भी उपर्युक्त युद्ध का क्रम बिगड़ता है। यह कथा मनोहर है, पर इसको इस रामायण में स्थान मिलना अनुचित है।

गोस्वामीजी के उपर्युक्त पचीस ग्रंथों में बहुत-से दूसरे लोगों के बनाए हुए हैं। उन्होंने भी, क्षेपककारों की भाँति, अपने ग्रंथ का प्रचार होने के लिये या गोस्वामीजी के समान कवित्व-शक्ति का परिचय देने ही के अर्थ तुलसीदास के नाम से उनकी रचना की होगी। कुछ ग्रंथ किन्हीं अन्य तुलसीदासों के हो सकते हैं। मिश्रबंधु-विनोद में कई तुलसीदास हैं भी। बहुतों का विचार है कि गोस्वामीजी के जितने ही ग्रंथ बढ़ें, उतनी महत्ता-वृद्धि होगी। समझदार लोग ऐसा न सोचेंगे। ठाकुर शिवसिंह ने लिखा है कि गोस्वामीजी ने सब मिलाकर ४६ कांड रामायणें बनाई हैं, और यही बात जन-समुदाय में भी प्रसिद्ध है। पर उपर्युक्त सूची में ११ रामायणों के नाम दिए गए हैं, और उनके सब कांड ७७ हो जाते हैं। अतः इनमें से चार अवश्य अन्य लोगों की रचना हैं। हमें कुछ अन्य रामायणों के भी क्षेपक होने का पूरा संदेह है। यदि केवल चार ही को कल्पित मानें, तो कड़खा, कुंडलिया, छप्पै और पदावली-रामायण को ऐसी मानना चाहिए ; क्योंकि इनमें गोस्वामीजी के काव्य के प्रायः कोई भी गुण नहीं पाए जाते, और रचना भी बड़ी शिथिल है। कड़खा-रामायण का तो थोड़े ही दिनों से नाम सुन पड़ा है। रामचरित-मानस इनका है ही। इतर ग्रंथों की जाँच मानसकार के ही विचारों से होगी। गोस्वामीजी ने रामचरित-मानस में प्रसंग-वश बहुत बार राम-कथा संक्षेप में वर्णन की है। इन संक्षिप्त वर्णनों से विदित हो जाता है कि वह किस विषय को कितना ज़रूरी समझते थे। उन्होंने इतने बड़े मानस में भी लव-कुश-चरित्र या सीता-त्याग का वर्णन कहीं भी नहीं किया, और भरत तथा अन्य लोगों की भक्ति के वर्णन को प्रधानता दी है। इस दृष्टि से देखने पर बहुत-सी रामायणें कल्पित जान पड़ेंगी। गोस्वामी-कृत दोहावली में रामायण की कथा का वर्णन नहीं है।

उसमें भक्ति, नीति इत्यादि के स्फुट दोहे कहे गए हैं। यदि इनका कोई ग्रंथ दोहावली-रामायण कहा जा सकता है, तो वह रामाज्ञा है, क्योंकि उसके दोहों में क्रम-बद्ध रामायण कही गई है, परंतु यह काव्य अत्यंत शिथिल है। इसमें परशुराम के आगमन की कथा बरात के लौटते समय कही गई है। यह तुलसीदास के रामायण में वर्णित मत के विरुद्ध है। इस ग्रंथ को भी हम कल्पित ही समझते, परंतु मिरज़ापुर-निवासी मुंशी छक्कनलाल को खुद गोस्वामीजी के हाथों की (सं० १६५५, ज्येष्ठ-सुदी दशमी रविवार की) लिखी हुई रामाज्ञा की एक प्रति मिली थी, जिसका गोस्वामिकृत होना असंदिग्ध-सा हो गया है। फिर भी रामाज्ञा के विषय में कुछ संदेह बाक़ी है। कुछ लोगों के कथनानुसार छक्कनलाल को रामाज्ञा नहीं, रामशलाका मिली थी। जो हो, रामायणों में मानस के अतिरिक्त हम केवल कवितावली और गीतावली को गोस्वामीजी-कृत समझते हैं।

'रामलला-नहछू' में यद्यपि जनकपुर का वर्णन है, तथापि उसमें नाइन, भाटिन इत्यादि के यौवन का ऐसा शृंगार-पूर्ण कथन है कि वह गोस्वामीजी की रचना नहीं हो सकती। 'उनरत जोबन देखि नृपति मन भावइ हो' में बेचारे दशरथ ३५० रानियों के होते हुए भी नायन, मालिनि आदि पर भी मुग्ध होते हैं। फिर इसमें परिहास की मात्रा बहुत बढ़ी हुई है। राम-लक्ष्मण के विषय में यहाँ तक लिख डाला गया है कि वह दशरथ के पुत्र ही नहीं हैं—

"काहे रामाजिउ साँवर लछिमन गोर हो।
कीदहुँ रानि कौसिलहिं परिगा भोर हा।
राम कहहिं दसरथ के लछिमन आनक हो।"

इसके कल्पित होने में कोई संदेह ही नहीं हो सकता। ऐसे छंद गोसाईं जी-से संत को छोड़ साधारण कवियों को भी शोभा न देंगे।

'पार्वती-मंगल' में १० पृष्ठ एवं १६४ छंद हैं। इसकी रचना संवत् १६४३ की कही जाती है। इसमें कालिदास के वर्णनानुसार पार्वतीजी को तपस्या के पीछे उनकी प्रेम-परीक्षा के लिये स्वयं महादेवजी वृद्ध ब्राह्मण का रूप रखकर गए हैं, और जिस तरह की बातचीत 'कुमारसंभव' में है, उसी तरह को बातें की हैं। इसमें महादेवजी को बरात एवं विवाह के समय का हास्य-योग्य वर्णन रामायण का-जैसा नहीं है। यह ऐसी रचना है, जिसे शिव-भक्त भी बना सकता था। यही कथा मानस में देखने और इन दोनो को मिलाने से जान पड़ता है, ये दोनो कथाएँ एक ही व्यक्ति की रचना होने में संदेह है। हम इस ग्रंथ को भी कल्पित समझते हैं। इसकी कविता न तो शिथिल है, न श्रेष्ठ। इतना तो भी कह देना चाहिए कि हमारा संदेह बहुत दृढ़ नहीं है, क्योंकि ग्रंथ जानकी-मंगल के समान है, किंतु इनसे मानसकार को गौरव नहीं मिलता।

'वैराग्य-संदीपिनी' में ४ पृष्ठ एवं ६२ दोहे हैं। इसकी कविता शिथिल है। इसमें कवि ने ज्ञान को भक्ति का भूषण मानकर कहा है कि अंतिम सुख शांति में मिलता है, न कि भक्ति में (दास को भूषण भक्ति है, भक्ति को भूषण ज्ञान)। यह मत यथार्थ हो या नहीं, पर तुलसीदासजी के प्रतिकूल है। इस कारण यह रचना उनकी नहीं समझ पड़ती।

'बरवै-रामायण' में ४ पृष्ठ एवं ६९ छंद हैं। यहाँ सीता का शृंगार-रसमय वर्णन विशेष रूप से किया गया है, पर उसके पीछे, तुलसीदास की आदत के माफ़िक़, जगत्-जननी इत्यादि विशेषणों से उसका दोष शांत नहीं किया गया। अयोध्या-कांड में भरत का और उत्तर-कांड में भक्ति का वर्णन नहीं है। यह भी रचना उनकी नहीं जान पड़ती। इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि बरवै-रामायण की रचना उत्कृष्ट है। यह ग्रंथ किसी अन्य तुलसीदास-कृत हो सकता है। इसका रचयिता सुकवि था। कहा जाता है कि बरवै-रामायण

कोई पूर्ण ग्रंथ न होकर स्फुट छंदों का संग्रह-मात्र है। इसका निम्न-लिखित छंद मानसकार का-सा नहीं है—

सिय-बियोग-दुख केहि बिधि कहउँ बखानि ;
फूल बानते मनसिज बेधत आनि।

कवितावली

कवितावली में ५४ पृष्ठ एवं ३१८ छंद हैं। इसमें सवैया, झूलना और घनाक्षरी के सिवा और छंद नहीं लिखे गए। उत्तर-कांड समस्त ग्रंथ का प्राय: अर्धांश है। शेषार्द्ध में बाक़ी छहों कांड आ गए हैं। यह ग्रंथ वास्तव में परमोत्कृष्ट है। इसमें अनेक सवैए एवं दंडक बड़े ही सुपाठ्य बन पड़े हैं। कई एक सवैयों का माधुर्य तो कुछ कहते ही नहीं बनता। इसके बहुत-से पद्य ख़ूब ज़ोरदार हैं। प्राकृतिक वर्णनों की भी इसमें कमी नहीं है। जगह-जगह हास्य की झलक भी अच्छी आ गई है। इसकी भाषा व्रजभाषा-मिश्रित है। लंका-कांड तक इसमें हनुमान् की प्रधानता है, पर उत्तर-कांड में श्रीरामचंद्रजी की ही भक्ति सर्वोपरि कर दी गई है। बाल-कांड में भी श्रीरामचंद्र ही की मुख्यता है। इसके कुछ कवितों में अपना नाम देने में कवि ने दो अक्षर बढ़ा दिए हैं, जिससे उन पदों में छंदोभंग की झलक आ जाती है। इस ग्रंथ में गोस्वामीजी ने अपने विषय की बहुत-सी बातें लिखी हैं, जिनसे उनका हाल लिखने में अच्छी सहायता मिलती है। ग्रंथ आत्मीयता-पूर्ण है।

शिष्य-परंपरा का मत है कि हनुमान्-बाहुक इसी ग्रंथ का अंग है। इन दोनो ग्रंथों की कविता अवश्य ही मिलती-जुलती है, पर इनके विषयों में बड़ा अंतर है, और ये एक ही ग्रंथ नहीं हो सकते। कवितावली में श्रीरामचंद्र की बाल-लीला, लंका-दहन, हनुमान् का युद्ध और काशी में महामारी की बीमारी के बड़े ही विशद वर्णन हुए हैं। उत्तर-कांड में, कोई २० पृष्ठों में, रामचंद्र की स्तुति

है। उसमें कहीं भी रामायण में उल्लिखित सिद्धांतों और सम्मतियों से विरोध नहीं पाया जाता, और बार-बार मानस की-सी बातों का प्रतिपादन हुआ है। हमको पहले संदेह होता था कि शायद यह ग्रंथ गोस्वामीजी का नहीं, बल्कि किसी अन्य 'तुलसी' नाम के कवि का है, क्योंकि—

(१) इसमें उनकी भाषा से पार्थक्य है।

(२) सुंदर और लंका-कांड में हनुमान् का उत्कर्ष राम से भी अधिक बढ़ा दिया गया है, यहाँ तक कि कवि ने राक्षसों से राम-लक्ष्मण के युद्ध को केवल तीन-चार छंदों में भुगता दिया, और हनुमान् के संग्राम का बड़े ही विस्तार एवं समारोह के साथ वर्णन किया है।

(३) इसकी रचना कविता-प्रणालीवाले लेखकों से अधिक मिलती है, और गोस्वामीजी-जैसे कथा-प्रणालीवाले कवियों की रीति से बिलकुल पृथक् है।

(४) इसमें भरतजी की महिमा बहुत कम कही गई है। उधर गोस्वामीजी उनके बड़े ही भक्त थे।

ध्यान देकर सब बातों पर विचार करने से हमारा उपर्युक्त संदेह जाता रहा, और हमें निश्चय हो गया कि यह ग्रंथ वास्तव में गोस्वामीजी का ही बनाया हुआ है। इसके कारण भी नीचे दिए जाते हैं—

(१) सबसे बड़ी बात तो यह है कि विनय-पत्रिका से, जो निस्संदेह इन्हीं की रचना है, इस ग्रंथ की कई बातें पूर्ण रूप से मिल जाती हैं। इसमें इन्होंने लड़कपन में अपना अत्यंत निर्धन होना लिखा है। यह बात कवितावली में भी पाई जाती है। दूसरे, इन दोनो ग्रंथों में इन्होंने स्पष्ट रूप से अपना नाम 'रामबोला' लिखा है, जिससे संदेह बहुत कुछ दूर हो जाता है। तीसरे, इन

दोनो ही ग्रंथों में कवि ने लिखा है कि उसका ऋषि के समान मान होता था। अतः यदि कवितावली किसी अन्य कवि की रची हुई मानी जाय, तो यह भी मानना पड़ेगा कि (क) इस ग्रंथ का रचयिता भी लड़कपन में वैसा ही धन-हीन था, जैसे गोस्वामीजी। (ख) पहले उसका नाम भी गोस्वामीजी की भाँति ही 'रामबोला' था, (ग) उसका भी गोस्वामीजी के समान ऋषि-सदृश सम्मान अंत को होने लगा था, और (घ) वह भी इन्हीं की भाँति काशी में रहता था। हमें किसी दूसरे तुलसीदास का हाल अब तक नहीं ज्ञात है, जिसके विषय में ये सब बातें ठीक बैठ जायँ। निस्संदेह विनय-पत्रिका और कवितावली एक ही कवि की रचनाएँ हैं, और वह कवि गोस्वामीजी के सिवा और कोई न था। विनय-पत्रिका को कोई मनुष्य तुलसी-कृत मानने में नहीं हिचकता। उसके विषय में हम आगे चलकर अपने विचार लिखेंगे।

भाषा-पार्थक्य के विषय में हमें यही ज्ञात होता है कि सवैए और दंडक प्रायः ब्रज-भाषा में ही लिखे जाते हैं। फिर तुलसीदास-जैसे प्रवीण कवि के लिये दूसरे प्रकार की भाषा में भी उत्कृष्ट कविता कर सकना कोई बड़ी बात नहीं थी।

(२) हनुमान् के प्रकांड उत्कर्ष के विषय में भी यही कहा जा सकता है कि 'राम ते अधिक राम कर दासा' के सिद्धांतानुसार यह भी कोई वैसी बात नहीं है। फिर हनुमान्‌जी को श्रीरामचंद्र का दास तो गोस्वामीजी बराबर कहते ही गए हैं।

(३) इसके विषय में १ नंबर के अंत में ऊपर जो हम लिख आए हैं, वही इस कविता और कथा-प्रणालीवाली बात पर भी ठीक उतरता है।

(४) इसमें सब बातें सांगोपांग नहीं लिखी गईं, और इसी से शायद भरत के विषय की अधिक बातें नहीं आईं।

यदि कहा जाय कि किसी कवि ने जान-बूझकर बेईमानी से तुलसीदास के नाम से ढूँढ़-ढूँढ़कर ऐसी ही बातें लिख दी हैं, जिनसे यह ग्रंथ उन्हीं महानुभाव का माना जाय, तो इसका उत्तर यह है कि एक तो ऐसा सोचने के लिये कोई प्रमाण नहीं है, दूसरे, हनुमान्-बाहुक की कविता इससे इतनी मिलती-जुलती है कि इन दोनो ग्रंथों को कोई भी भिन्न-भिन्न कवियों की रचना नहीं कह सकता। तीसरे, हनुमान्-बाहुक के रचयिता की कविताएँ और प्रार्थनाएँ इतनी सच्ची तबियत से कही गई हैं कि उसे कोई कदापि जालिया और धोखेबाज़ नहीं कह सकता। चौथे, बाहु के दर्द का हाल गोस्वामीजी ने हनुमान्-बाहुक एवं दोहावली में बार-बार बड़े ही करुणोत्पादक शब्दों में कहा है, और वही बात कवितावली के भी दो छंदों में वर्णित है। इसे देखकर कोई भी नहीं कह सकता कि यह विषय बेईमानी से वर्णित है। अतः कवितावली अवश्य गोस्वामीजी-कृत है।

पंडितों ने इसका रचना-काल संवत् १६६१ से १६७१ के बीच में स्थिर किया है। उनका यह भी मत है—और हम भी ऐसा ही मानते हैं—कि यह पुस्तक कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं, बल्कि इसमें तुलसी-कृत रामायण-विषयक छंदों का एक जगह संग्रह-मात्र कर दिया गया है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इसमें ठीक क्रम और प्रबंध से कथा नहीं वर्णित है। यथा—रामचंद्र का जन्म, कैकेयी का वरदान, शूर्पणखा का वृत्तांत, सीता-हरण, सुग्रीव-मैत्री, बालि-वध, मेघनाद-वध और राम-राजगद्दी का इसमें कुछ भी हाल नहीं है। ग्रंथ बहुत ही रोचक, गंभीर, महत्त्व-पूर्ण तथा पूज्य है। उदाहरण—

"पग नूपुर औ' पहुँची कर-कंजन, मंजु बनी मनि-माल हिए;
नव नील कलेवर, पीत भँगा झलकैं पुलकैं नृप गोद लिए।
अरबिंद-सो आनन रूप-मरंद अनंदित लोचन भृंग पिए;
मन में न बसो अस बालक जो, तुलसी जग में फल कौन जिए।

हनुमान्-बाहुक

हनुमान्-बाहुक में छप्पै, घनाचरी और सवैया-छंदों में रचना की गई है। इसमें ७ पृष्ठ एवं ४४ छंद हैं, तथा विशेष रूप से हनुमान्‌जी की स्तुति है। इसके कल्पित न होने के प्रमाण कवितावली में दिए गए हैं। यह एक बड़ा ही उत्कृष्ट ग्रंथ है। इसमें प्रत्येक स्थान पर कवि की सच्ची और आप-बीती घटनाएँ लिखी हैं। इसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। गोस्वामीजी ऐसे धर्मात्मा थे कि अपनी बाहु-पीड़ा का कारण नहीं समझ सकते थे। इसमें इन्होंने लिखा है कि मैंने पातक नहीं किए, तो फिर यह पीड़ा क्यों पाता हूँ ? वह औषधादि से स्तुति को श्रेष्ठतर समझते थे, परंतु ऐसे प्रगाढ़ भक्त को भी दो-एक जगह साधारण देवतों पर अश्रद्धा-सी होती जान पड़ती है। इस ग्रंथ के उदाहरण गोस्वामीजी की जीवनी में मिलेंगे। भाषा आदि में यह कवितावली से मिलता है, परंतु साहित्य-प्रौढ़ता में उससे कुछ विशेष है।

संकट-मोचन

संकट-मोचन में केवल ८ घनाक्षरियों द्वारा हनुमान्‌जी की साधारणतः अच्छी स्तुति की गई है। इसमें महिरावण का भी हाल दिया हुआ है। यह एक छोटा-सा बढ़िया स्तोत्र है, और जान पड़ता है कि हनुमान्-बाहुक से पहले बना है। कारण, इसमें यह माँगा गया है कि मेरे जो कुछ संकट हों, उन्हें हनुमान्‌जी दूर करें। बाहु-पीड़ा उठने के पहले यह बना था, ऐसा अनुमान होता है। इसके किसी छंद में गोस्वामीजी का नाम नहीं आया; केवल अंत में यह दोहा दिया है—

> यह अष्टक हनुमान को विरचित तुलसीदास ;
> गंगादास जु प्रेम सों पढ़ै होय दुख नास।

गंगादास ने किसी समय इसका संपादन किया होगा।

हनुमान्-चालीसा

हनुमान्-चालीसा में दो-दो पदों की एक-एक चौपाई गिनने से चालीस चौपाइयाँ होती हैं। इसमें हनुमान्‌जी की अच्छी स्तुति है, और प्रायः नित्य-प्रति बहुत लोग इसे स्तोत्र की भाँति पढ़ते हैं। रामशलाका में मानस की कुछ चौपाइयाँ ही शकुन विचारने को हैं। यह कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है।

गीतावली-रामायण

गीतावली-रामायण ११२ पृष्ठ एवं ३३० पदों की एक बहुत ही अपूर्व रामायण है। इसकी रचना क्रम-बद्ध की गई है। हिंडोले तथा होली आदि का वर्णन इसमें अच्छा किया गया है। विशेषता यह है कि भाषा की आधुनिक प्रणाली की भाँति इन महाकवि ने किसी स्थान पर शृंगार-वर्णन में भी कोई अश्लील या अनुचित उक्ति नहीं कही है। इसकी कथा रामायण की भाँति है, भेद केवल इतना ही है कि गुह ने अयोध्या को एक पत्र भेजा कि रामचंद्रजी विराध को मारकर नर्मदा और विंध्याचल के बीच में बसे हैं, और उत्तर-कांड में रामचंद्र की दिनचर्या, जानकी-त्याग और लव-कुश-जन्म का भी वर्णन किया गया है, पर उनके युद्ध को इन्होंने नहीं लिखा। किष्किंधा-कांड में बालि-मरण या सुग्रीव के राजतिलक का वर्णन कवि ने नहीं किया, उन्हें केवल राजा की तरह माना है। सुंदर-कांड में हनुमान्‌जी के समक्ष सीता और रावण की बातचीत नहीं कराई गई है। इसके वर्णन बड़े ही अच्छे और ज़ोरदार हैं। भाषा बड़ी ही मधुर, गंभीर और प्रशंसनीय है। इसमें युद्ध का वर्णन कम किया गया है। दो पद्य उदाहरणार्थ दिए जाते हैं—

जब रघुबीर पयानो कीन्हों।

छुभित सिंधु, डगमगत महीधर, सजि सारँग कर लीन्हो।

सुनि कठोर टंकोर घोर अति चौंके बिधि त्रिपुरारि ;
जटा-पटल ते चली सुरसरी, सकत न संभु सँभारि ।
भए बिकल दिगपाल सकल, भय-भरे भुवन दसचारि ;
खरभर लंक, ससंक दसानन, गर्भ स्रवहिं अरि-नारि ।
पवन पंगु, पावक, पतंग, ससि दुरि गए, थके बिमान ;
गए पूरि सर धूरि, भूरि भय, अग, थल, जलधि समान ।
चली चमू, चहुँ ओर सोर, कछु बनै न बरनत भीर ;
किलकिलात, कसमसत, कुलाहल होत नीरनिधि-तीर ।

जब रघुपति सँग सीय चली ।
बिकल बियोग लोग, पुर-तिय कहैं अति अनियाव अली ।
कोउ कह, मनिगन तजत काँच लगि, करत न भूप भली ;
कोउ कह, कटु-कुबेलि कैकेयी दुख-बिष-फलनि फली ।
एक कहैं, बन-जोग जानकी ! बिधि बड़ बिषम बली ;
तुलसी कुलिसहु की कठोरता तेहि दिन दलकि दली ।

गीतावली की रचना बहुत अच्छी है । इसमें लालित्य और माधुर्य भरा हुआ है ।

छंदावली-रामायण

छंदावली-रामायण १७ पृष्ठों का एक छोटा-सा ग्रंथ है । इसमें विविध छंदों में कथा कही गई है । इसकी कविता साधारणी है । हमने इसकी कोई मुद्रित प्रति नहीं देखी । इसकी एक हस्त-लिखित प्रति हमारे पुस्तकालय में है ।

उदाहरण—

सुभ सगुन अवध जनाय तेहि छिन होत मुद-मंगल महा ;
सीतल सुगंध सुमंद मारुत, अमल जल सरजू बहा ।
सुभ अंग फरकत, भरत के हिय हुलसि सुभ आनँद लहा ;
तेहि काल श्रीहनुमान प्रभु को आय संदेसो कहा ।

पदावली-रामायण

पदावली-रामायण पचास पृष्ठों का एक बृहत् ग्रंथ है, और इसकी रचना विशेषकर पदों में की गई है। राम-जन्म इसमें कुछ विस्तार से कहा गया है, और कुछ अच्छा भी है, पर कुल मिलाकर यह ग्रंथ शिथिल है। इसकी कोई मुद्रित प्रति हमारे देखने में नहीं आई, हाँ, एक हस्त-लिखित प्रति हमारे पुस्तकालय में है।

उदाहरण—

भरतजू, कपि ते उरिन हम नाहीं।
सौ जोजन मरजाद सिंधु की, कूदि गयो छिन माहीं;
बन बिध्वंसि, जारि गढ़, खल हति, सिय सुधि दिय हम काहीं।
लाय सजीवनि लखन जिआए, जे मम दाहिन बाहीं;
तुलसिदास बलि बल हनुमत को श्रीमुख जाहि सिहाहीं।

जानकी-मंगल

इसमें १२ पृष्ठ एव २१६ छंद हैं। परशुराम का संवाद इसमें बरात लौटते समय कराया गया ह। मानस तथा इसकी रचना में इतना ही अंतर है। इसमें जानकीजी के विवाह का वर्णन बढ़िया रीति और छंदों में किया गया है। इसकी रचना प्रशंसनीय और मानस से मिलती हुई है। उदाहरण देखिए—

मंगल-बिटप, मंजुल बिपुल दधि, दूब अच्छत, रोचना;
भरि थार आरति सजहिं सब सारंग-सावक-लोचना।
देत पाँवड़े अरघ चलीं लै सादर;
उमगि चलेउ आनंद भवन, भुँइ, बादर।

यद्यपि पार्वती-मंगल की रचना भी इससे मिलती है, तथापि हम उसे कल्पित समझते हैं। मानस में गोस्वामीजी ने ये दोनो विवाह कहे हैं, परंतु पार्वती-विवाह की दुरवस्था और जानकी-विवाह की उत्तमता तथा लोक-प्रियता दिखाकर अपने मुख्य उपास्य

देव रामचंद्र की प्रच्छन्न रूप से महिमा तथा प्रभाव प्रदर्शित किया है। यदि गोस्वामीजी ने पार्वती-मंगल भी बनाया होता, तो वही बात यहाँ भी होती। जानकी-मंगल की रचना ऐसी अच्छी नहीं है कि कोई दूसरा कवि वैसी न कर सके। अतः इन दोनो की रचनाओं की समता हमारे इस मत में बाधक नहीं समझ पड़ती। दोनो ही पुस्तकें कल्पित अथवा तुलसी-कृत हो सकती हैं।

कृष्ण-गीतावली

इसमें १४ पृष्ठ एवं ६१ पद हैं, जिनमें श्रीकृष्णचंद्र की बहुत-सी लीलाओं का वर्णन किया गया है। इसकी रचना ख़ास व्रज-भाषा में की गई है। इसमें दो छंदों में बाल-लीला, फिर कई पदों द्वारा उराहना, ऊखल-बंधन (जिसमें लकुटिया का वर्णन ख़ूब है), गोवर्धन-धारण (बहुत ही मनोहर), कृष्ण-रूप-वर्णन (इसमें खंडिता के वर्णन में भी घृणित शृंगारी रचना नहीं की गई), कृष्णजी का मथुरा-गमन और गोपी-विरह-वर्णन (उत्कृष्ट वर्णन किया गया है), उद्धव-संवाद (२६ पदों में विस्तार-पूर्वक और बड़ा ही मनोहर एवं हृदयग्राही वर्णन है) एवं दो पदों द्वारा द्रौपदी-चीर-हरण कहा गया है।

गोस्वामीजी ने यह ग्रंथ ठेठ व्रज-भाषा में लिखा है, और वर्णन-शैली भी कृष्ण-गुण-गान करनेवालों ही के समान है। फिर भी उन्होंने दिखला दिया है कि सुकवि शृंगार-विषय के वर्णन को भी अनुचित प्रेम-वर्णन से अलग रखकर बढ़िया ढंग से कह सकता है। यह ग्रंथ बड़ा ही सुंदर है, और गोस्वामीजी की सब विषयों के उत्तम रीति से वर्णन करने की शक्ति को प्रमाणित करता है। इस छोटे-से ग्रंथ में अच्छे वर्णनों और रुचिर छंदों की संख्या बहुत अधिक है। इसमें प्रेम-वर्णन भी बहुत अच्छे ढंग से किया गया है।

इन्होंने साधारण नायक-नायिकाओं के घृणित प्रेम को छोड़कर ऊँचे दर्जे के प्रेम का वर्णन किया है।

उदाहरण—

वह अति ललित मनोहर आनन कौने जतन बिसारौं ;
जोग, जुगुति अरु मुकुति बिबिध बिधि वा मुरली पर वारौं।
नहिं तुम ब्रज बसि नंदलाल को बाल-विनोद निहारो ;
नाहिंन रास-रसिक-रस चाख्यो ताते डेल सो मारो।
ब्रज पर घन घमंड करि आए।
अति अपमान बिचारि आपनो कोपि सुरेस पठाए।
दमकति दुसह दसौ दिसि दामिनि, भो तम सघन गँभीर ;
गरजत घोर बारिधर धावत, प्रेरित प्रबल समीर।
बार-बार पबिपात, उपल घन बरखत बूँद बिसाल ;
सीत सभीत पुकारत आरत गोसुत गोपी ग्वाल।

सतसई या राम-सतसई

इसमें ७४० दोहे हैं। अधिकतर दोहों में राम-भक्ति अथवा भक्ति करने के उपदेश का वर्णन है। इसमें सात सर्ग हैं। इसकी कविता अधिकतर बढ़िया नहीं है, परंतु कुछ दोहे अच्छे भी हैं। कुछ पंडितों का विचार है कि इन सात सर्गों में क्रमशः प्रेमाभक्ति, पराभक्ति, उपासना, आत्मज्ञान, कर्म-सिद्धांत, ज्ञान-सिद्धांत तथा राजनीति का दार्शनिक मतानुसार उपदेश है।

उदाहरण—

का भाषा, का संस्कृत, बिभव चाहिए साँच ;
काम तौ आवै कामरी, का लै करै कमाँच॥ १॥
तुलसी मीठे बचन ते सुख उपजत चहुँ ओर ;
बसीकरन यक मंत्र है, परिहरु बचन कठोर॥ २॥

ह्वै अधीन जाँचत नहीं, सीस नवाय न लेइ ;
ऐसे मानी माँगनहिं को बारिद बिन देइ ॥ ३ ॥
तुलसी सब छल छाँड़ि कै कीजै राम-सनेह ;
अंतर पति सों है कहा, जिन देखी सब देह ॥ ४ ॥
राम काम-तरु परिहरत, सेवत कलि-तरु ठूँठ ;
स्वारथ परमारथ चहत, सकल मनोरथ झूँठ ॥ ५ ॥

दोहावली

इसमें ५७३ दोहे हैं, परंतु उनमें से अधिकतर रामचरित-मानस एवं अन्य तुलसी-कृत ग्रंथों के हैं। कितने ही सतसई के भी हैं। विशेषकर यह ग्रंथ एक संग्रह-मात्र है, और इसके दोहों का संग्रह गोस्वामीजी ही के ग्रंथों से हुआ है। संभव है, इसमें कुछ दोहे नवीन भी हों। कहते हैं, यह संग्रह टोडरमल के अनुरोध से गोस्वामीजी ने किया। यह टोडरमल महाराजा नहीं समझ पड़ते, वरन् गोस्वामीजी के मित्र टोडरमल होंगे। इस ग्रंथ की रचना प्रशंसनीय है, और रामचरित-मानस के जो दोहे इसमें हैं, वे अधिकतर अच्छे हैं। इसमें भी सतसई की भाँति भक्ति का ही वर्णन हुआ है। भक्ति-पक्ष के प्रतिपादन में ऐसे-ऐसे छंद इन महात्मा ने लिखे हैं, और उसे पुष्ट करने में ऐसे-ऐसे प्रमाण दिए हैं कि कुछ कहते नहीं बनता।

उदाहरण—

मुख मीठे, मानस मलिन, कोकिल, मोर, चकोर ;
सुजस-धवल चातक नवल रह्यो भुवन भरि तोर ॥ १ ॥
तुलसी जो पै राम सों नाहिंन सहज सनेह ;
मूड़ मुड़ायो बादि ही, भाँड़ भयो तजि गेह ॥ २ ॥
राम-नाम मनि-दीप धरु जीह-देहरी द्वार ;
तुलसी भीतर-बाहिरहु जो चाहसि उजियार ॥ ३ ॥

विनय-पत्रिका

इसमें ६६ पृष्ठ एवं २८० पद हैं। कवि ने गणेशजी की वंदना से इसका आरंभ किया है, और फिर शिव, देवी, गंगा, यमुना, काशी, हनुमान्, अन्नपूर्णा आदि की स्तुति में बहुत-से उत्कृष्ट, मनोहर तथा गंभीर पद लिखे हैं। बिंदुमाधवजी का नख-शिख तथा काशी-कामधेनु के रूपक पढ़ने ही योग्य हैं। इसके पश्चात् आनंद-कंद श्रीरामचंद्र की स्तुति के पद कहे गए हैं। स्तुतियों में बहुधा बड़े-बड़े विशेषणों से काम लिया गया है। इस ग्रंथ में रूपकों का बाहुल्य है। जप, भक्ति तथा नाम-माहात्म्य का इसमें विशेष वर्णन है, और अंत में सब प्रकार से नाम पर भरोसा रक्खा गया है। आपने अपने कुकर्मों पर भी बड़ा ज़ोर दिया है, और उद्धार के लिये इतनी विनती और किसी ग्रंथ में नहीं की है।

इसमें गोस्वामीजी ने अपने विषय में भी इधर-उधर कुछ बातें लिखी हैं। अपना ब्राह्मण होना एवं लड़कपन से माता-पिता का वियोग वर्णित है। आपने इसमें अपना पहला नाम और शिष्य होने के समय का भी हाल लिखा है। गोस्वामीजी ने इस ग्रंथ को एक प्रकार से अर्ज़ी की भाँति लिखा है, और अंत में कहा है कि लक्ष्मणजी ने रामचंद्रजी से इसको मंज़ूर करा दिया। इसमें गोस्वामीजी ने व्रज-भाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया है; परंतु संस्कृत-मिश्रित भाषा का प्राधान्य है। कई स्थानों पर संस्कृत की संधियाँ आ गई हैं, और मिलित वर्णों का भी प्रयोग हुआ है। फिर भी भाषा में माधुर्य का अभाव नहीं है। विनय में बढ़िया पदों का बाहुल्य अवश्य है, परंतु फिर भी यह सब स्थानों पर रोचक नहीं है। प्रायः एक ही प्रकार के भाव बार-बार आ जाने से एकदम पढ़ने से इसमें वैसा मनोविनोद नहीं होता।

फिर भी यह गोस्वामीजी के उत्तम ग्रंथों में से एक है। इसमें इनकी आत्मीयता प्रायः सब स्थानों पर वर्तमान है।

उदाहरण—

सेइय सहित सनेह देह धरि कामधेनु कलि कासी ;
समनि सोक, संताप, पाप, रुज, सकल सुमंगल-रासी।
मरजादा चहुँ ओर चरन बर सेवत सुरपुर-बासी ;
तीरथ सब सुभ अंग, रोम सिवलिंग अमित अबिनासी ॥१॥

अब चित चेति चित्रकूटहि चलु।
कोपित कलि, लोपित मंगल-मग, बिलसत बढ़त मोह-माया-मलु ;
भूमि बिलोकि राम-पद-अंकित, बन बिलोकि रघुबर-बिहार-थलु।
शैल-शृंग भव-भंग-हेतु लखु, दलन कपट, पाखंड, दंभ-दलु ;
न करु बिलंब, बिचारु चारु मति, बरष पाछिले सम अगिलेहु पलु ॥२॥

विद्वानों ने विनय-पत्रिका के विषय को इन सात भागों में विभक्त किया है—दीनता, मानमर्षण, भय-दर्शन, भर्त्सन, आश्वासन, मनोराज्य और विचार।

विनय-पत्रिका में बहुतेरे देवतों की स्तुति की गई है, और इसके भाव सच्चे तथा मनोहर हैं। बहुत-से पंडितों का मत है कि यह गोस्वामीजी के ग्रंथों में श्रेष्ठ है। हम भी इस ग्रंथ को प्रशंसनीय समझते हैं। विनय-संबंधी ऐसा अद्भुत और भाव-पूर्ण ग्रंथ हमने अब तक किसी भी भाषा में नहीं देखा। वेद भगवान् के पीछे सर्वोत्कृष्ट विनय-ग्रंथ यही जँचता है।

कलि-धर्माधर्म-निरूपण

इसमें १० पृष्ठों द्वारा दोहे-चौपाइयों में कलि-धर्म कहा गया है। इसकी रचना और भाषा रामायण से बहुत मिलती-जुलती है। यह एक मनोहर और प्रशंसनीय ग्रंथ है। इसके तुलसी-कृत होने में कोई संदेह नहीं है।

शिष्य - परंपरा आदि

शिष्य-परंपरा में रामगुलाम द्विवेदी और पं० शेषदत्त स्वयं गोस्वामीजी से संबंध रखते थे। कोदोराम शेषदत्तात्मज के शिष्य थे। इन महाशयों ने गोस्वामीजी के ग्रंथों पर विचार किया है, तथा भक्तमाल, हरिभक्ति-प्रकाशिका एवं भक्त-कल्पद्रुम में भी ऐसा ही हुआ है। बाबू शिवनंदनसहाय ने इन तथा अन्य आधारों पर विचार करके तथा हमारे हिंदी-नवरत्न पर भी ध्यान देकर गोस्वामीजी के असली ग्रंथों का निर्णय किया है। उनके निर्णय हमारे इस विषय के उपर्युक्त विचारों से प्रायः पूरे-पूरे मिल जाते हैं। खोज में गोस्वामीजी-कृत ज्ञानकोपरिकरण, मंगल-रामायण, गीता-भाष्य, राम-मुक्तावली, ज्ञानदीपिका, अंकावली, ध्रुव-प्रश्नावली, बानी, सूर्य-पुराण, नामगीता-स्वयंवर और कृष्ण-चरित्र, ये ग्रंथ और मिले हैं; पर हमने इन्हें देखा नहीं। तुलसी - त्रिशतजयंती (श्रावण-शुक्ला ७ संवत् १९८०) के अवसर पर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने गोस्वामीजी के १२ ग्रंथों को प्रकाशित किया।

रामचरित-मानस को छोड़कर गोस्वामीजी के ३९ ग्रंथ और कहे जाते हैं, जिनमें से कतिपय इसी नामवाले अन्य कवियों के हो सकते हैं। जैसा कि ग्रंथ में लिखा जा चुका है, आपकी शिष्य-परंपरा में कई महाशय स्वयं आप ही से संबंध रखते थे। इस परंपरा ने गोस्वामीजी-कृत ग्रंथों पर विचार करके मानस के अतिरिक्त रामलला-नहछू, वैराग्य-संदीपिनी, बरवै-रामायण, पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल, रामाज्ञा, दोहावली, गीतावली-रामायण, कवितावली-रामायण, कृष्ण-गीतावली और विनय-पत्रिका को तुलसी-कृत माना है। परंपरा के विचारों को दृढ़ मानना ठीक ही था; किंतु उनके असल माने हुए कुछ ग्रंथ ऐसे हैं, जिनमें कथित विचार रामचरित-मानस के कुछ दृढ़ विचारों के प्रतिकूल पड़ते हैं। जैसे वैराग्य-संदीपिनी

में लिखा है कि ज्ञान भक्ति का भूषण है, और अंतिम सुख शांति से मिलता है, न कि भक्ति से। ये विचार शुद्ध हों अथवा अशुद्ध, किंतु मानसकार के विचारों से पूर्णतया अनभिज्ञ हैं। हमारी धारणा है कि ये विचार महात्मा तुलसीदास के नहीं हो सकते। इसी प्रकार रामलला-नहछू में नायन, भाटिन आदि के यौवन का ऐसा शृंगार-पूर्ण वर्णन है, जो गोस्वामीजी की लेखनी से नहीं निकल सकता था। इसमें परिहास की मात्रा इतनी बढ़ी हुई है कि राम-लक्ष्मण महाराजा दशरथ के पुत्र ही नहीं हैं, ऐसा भी कह डाला गया है। हमें इन दोनो शिथिल ग्रंथों को तुलसी-कृत मानने में पूर्ण संकोच है। यदि शिष्य-परंपरा द्वारा असली मानी हुई ग्रंथावली में एक बार कुछ भी घटाव-बढ़ाव हो जाय, तो शेष ग्रंथों पर भी स्वतंत्र विचार करना ही पड़ता है।

शिष्य-परंपरा द्वारा माने हुए ग्रंथों में से हमें उपर्युक्त दो के अतिरिक्त बरवै-रामायण, पार्वती-मंगल तथा रामाज्ञा-प्रश्न भी कल्पित जँचते हैं। बरवै-रामायण के कई छंद ऐसे उत्कृष्ट हैं, जो किसी भी कवि के यश को वर्द्धित कर सकते हैं। फिर भी इस ग्रंथ की रचना-प्रणाली कई स्थानों में गोस्वामीजी की प्रणाली से प्रतिकूल दिखलाई पड़ती है। इस छोटे-से ग्रंथ में सीताजी का शृंगार-पूर्ण वर्णन कई स्थानों पर है, किंतु गोस्वामीजी की आदत के अनुसार जगत्-जननी आदि कहकर दोष-शांति प्रायः कहीं भी नहीं कराई गई है। हनुमान्जी सीताराम को माता-पिता के समान मानते थे। बरवै-रामायण में एक स्थान पर उन्होंने राम से सीताजी के विषय में जैसे विचार कहे हैं, वैसे कोई पुत्र पिता से माता के विषय में नहीं कह सकता। यह ग्रंथ किसी सत्कवि द्वारा रचित अवश्य है, किंतु वह कवि कोई दूसरा तुलसीदास होगा। मानस में गोस्वामीजी ने पार्वती के विवाह की दुरवस्था तथा सीताजी के

विवाह की उत्तमता दिखलाकर एक प्रकार से अपने इष्टदेव की महत्ता प्रकट की है। यह बात पार्वती-मंगल में नहीं है, और केवल इतनी ही कमी इस ग्रंथ में शैथिल्य के अतिरिक्त है भी। हम इसे कल्पित अवश्य मानते हैं, किंतु बहुत दृढ़ता-पूर्वक नहीं। इसकी रचना-शैली जानकी-मंगल से बहुत कुछ मिलती है, किंतु दोनो ग्रंथ शिथिल हैं, और इनसे गोस्वामीजी की महत्ता नहीं बढ़ सकती। रामाज्ञा-प्रश्न में गोस्वामीजी के-से विचार अवश्य हैं, किंतु इसकी रचना ऐसी शिथिल है कि इसे गोस्वामीजी-कृत कहने को जी नहीं चाहता। उपर्युक्त छ ग्रंथ मानसकार को दीप्ति भी नहीं देते।

शिष्य-परंपरा द्वारा असली माने हुए शेष ग्रंथों में दोहावली और कृष्ण-गीतावली अच्छे हैं। गीतावली इनसे भी श्रेष्ठ है, और विनय-पत्रिका तथा कवितावली परमोत्कृष्ट हैं। हनुमान्-बाहुक शिष्य-परंपरा में कवितावली का अंग माना गया है, किंतु हमें यह पृथक् ग्रंथ समझ पड़ता है। साहित्यिक प्रौढ़ता में यह उससे भी बढ़ा-चढ़ा जान पड़ता है। विनय-पत्रिका में हमें प्राय: ५० पद परमोत्कृष्ट देख पड़ते हैं, गीतावली में प्रायः ७५ और कवितावली में प्राय: ५०। इनमें उत्कृष्ट छंद कुछ और भी हैं, किंतु परमोत्कृष्ट इतने ही समझ पड़ते हैं। जान पड़ता है, गोस्वामीजी श्रीराम के पीछे हनुमान्जी को ही मुख्य मानते थे। यह बात मानस में तो अति प्रकट नहीं है, किंतु इतर ग्रंथों में स्पष्ट है। आपका रामशलाका-नामक एक और ग्रंथ है, जो स्वतंत्र न होकर मानस से चुने गए चौपाई-छंदों का संग्रह है, जिनसे प्रश्न उठाए जाते हैं। कष्टमोचन ग्रंथ को आपके मित्र गंगादास ने आपके छंदों से संकलित किया। हनुमान्-चालीसा एक प्रकार का सुंदर स्तोत्र है।

मानस को छोड़कर गोस्वामीजी-कृत शेष ग्रंथों से उत्कृष्ट छंद

छाँटकर यदि तुलसी-सुधा अथवा अन्य नाम से कोई संग्रह बनाया जाय, तो सौ-सवा सौ पृष्ठों का एक परमोत्कृष्ट ग्रंथ बन सकता है। अभी मानस के अतिरिक्त आपके ग्रंथों का विस्तार प्रायः ७०० पृष्ठों का है, जिनमें हर स्थान पर राम-भक्ति का आनंद तो मिलता है, किंतु तादृश साहित्य-गौरव प्रत्येक पृष्ठ पर नहीं है। मानस को पढ़कर गोस्वामीजी-कृत साहित्य-विषयक जो उच्च विचार उठते हैं, वे इनके अन्य ग्रंथों से पूर्णरूपेण दृढ़ नहीं होते। यदि उपर्युक्त संग्रह-ग्रंथ बनाया जाय, तो वह मानसकार को भी गौरव प्रदान कर सकता है। फिर भी आपकी साहित्यिक महत्ता मानस पर ही निर्भर है, और इनके शेष ग्रंथ निकाल डालने से भी इनका नंबर साहित्य-गौरव में अटल रहेगा, किंतु मानस के निकल जाने से अन्य सब ग्रंथ मिलकर भी शायद इन्हें हिंदी-नवरत्न में स्थान न दिला सकें। ऐसे कथन में मतभेद संभव है, किंतु हमारे अपने विचार इसी प्रकार के हैं।

रामचरित-मानस (तुलसी-कृत रामायण)

राम-कथा कलि कामद गाई; सुजन सजीवन-मूरि सुहाई।
सोइ बसुधा-तल सुधा-तरंगिनि; भय-भंजनि भ्रम-भेक-भुअंगिनि।
बुध-बिसराम, सकल जन-रंजनि; राम-कथा कलि-कलुष-बिभंजनि।
असुर-सेन-सम नरक-निकंदिनि; साधु बिबुध-कुल हित गिरिनंदिनि।
संत-समाज-पयोधि रमा-सी; विश्व-भार-धर अचल छमा-सी।
राम-कथा सुंदर करतारी; संसय-बिहँग उड़ावनहारी।
राम-चरित चिंतामनि चारू; संत-सुमति-तिय सुभग सिंगारू।
राम-चरित जे सुनत अघाहीं; रस बिसेख पावा तिन नाहीं।

इस संसार-साहित्य के मुकुट की रचना का श्रीगणेश संवत् १६३१ विक्रमीय, राम-नवमी, भौमवार को हुआ। गोस्वामीजी ने इसके आदि में संस्कृत के छ श्लोकों द्वारा वाणी, विनायक, भवानी, शंकर, गुरु, कवीश्वर, कपीश्वर, सीता और मायाधीश राम-नामधारी

ईश्वर हरि (रामाख्यमीशं हरिम्) की वंदना की है, और फिर सप्तम श्लोक में अपने ग्रंथ के आधार और रचना का कारण लिखा है। यह महाशय वाल्मीकीय रामायण में कथित, नाना-पुराण-निगमागम-सम्मत तथा अन्यत्र की बातों को अपना आधार मानते और अपने अंतःकरण की प्रसन्नता के अर्थ राम-कथा कहते हैं। हिंदी में गोस्वामीजी ने पाँच सोरठों द्वारा गणेश, परमेश्वर (राम), विष्णु, शिव और गुरु नरहरिदास की वंदना की है। फिर २८ पृष्ठों तक यह वंदनाएँ ही लिखते चले गए हैं। यही रामायणांतर्गत बाल-कांड की जगद्विख्यात वंदना है। इसमें कवि ने क्रम से गुरु, संत-समाज, सत्संगति, खलगण और जीव-मात्र की स्तुति करके रामायण और कविता का कुछ हाल कहा है। इन्होंने स्वयं अपनी प्रचंड बुराइयाँ कहकर औरों से निंदा न करने का अनुरोध किया। फिर व्यास आदि पुराने तथा कलि के कविगण, नारद, सुर-सरिता, महेश, भवानी, वाल्मीकिजी इत्यादि एवं प्रायः सभी देवता, दैत्य आदि की स्तुति की है। उसमें स्थान-स्थान पर दुर्जनों और कुपात्रों की व्यंग्य द्वारा ख़ूब ही निंदा की है। उसके बाद यह लिख दिया है—

सियाराम-मय सब जग जानी, करौं प्रनाम सप्रेम सुबानी।

गोस्वामीजी ने राम, नाम, कथा आदि का भी अच्छा माहात्म्य कहा है। अंत में रामायण का एक बहुत बड़ा रूपक—मान-सरोवर के रूप में—बाँधा गया, और उसमें रामचरित-मानस की मानस से प्रायः सभी बातों में समता दिखाई गई है।

गोस्वामीजी ने अपनी कथा, पुराणों की भाँति, अन्य महाशयों के वार्तालाप के रूप में कही है। ऐसा करने से तुकांत रखने और छंदों के ख़ाली भागों के भरने का सुबीता रहता है। यह रामायण याज्ञवल्क्य और भरद्वाज, शिव और पार्वती तथा काकभुशुंड और

गरुड़ के संवाद-रूप में है। कुछ पंडितों ने शिव-पार्वती-संवाद को ज्ञान-घाट, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद को कर्मकांड-घाट, काकभुशुंड-गरुड़-संवाद को उपासना-घाट तथा गोस्वामीजी और मनु के संवाद को दैन्य-घाट माना है। ये संवाद मिलाने को गोस्वामीजी ने सती-मोह, दक्ष-यज्ञ और पार्वती-विवाह के वर्णन कुछ विस्तार के साथ किए हैं। अंतिम वर्णन में मदन-दहन भी आ जाता है।

बाबू सुखदेवलाल ने दोहा, चौपाई, छंद आदि के विषय में रामायण - महामाला दिखाने का बहुत बड़ा प्रयत्न किया है, और यह दिखलाया है कि प्रत्येक स्थान पर आठ-आठ अर्द्ध-चौपाइयों के पीछे दोहे और इसी प्रकार गणनानुसार अन्य छंद हैं। यह मत २१वें तथा २२वें पृष्ठ की चौपाइयाँ देखने एवं अन्य कितने ही स्थानों पर इस गणना के टूटने से खंडित हो जाता है। उन्होंने अपना मत पुष्ट करने को जहाँ कहीं चौपाइयाँ अधिक हो गई हैं, वहाँ उन्हें छोड़ दिया है, और जहाँ कम हो गई हैं, वहाँ दोहों में हेर-फेर कर दिया है। उनका मत समर्थनीय नहीं है। मानस के संबंध में लोग प्रायः अर्द्ध-चौपाई को ही चौपाई मानते हैं। यद्यपि दोहा, सोरठा और चौपाई भी छंद ही हैं, तथापि गोस्वामीजी ने इनसे भिन्न छंदों को ही छंद करके लिखा है। अतः हम भी इस प्रबंध में ऐसा ही करते हैं। पृष्ठों की संख्या जहाँ लिखी हो, वहाँ इंडियन-प्रेस में छपी हुई रामायण की बड़ी साँची के पृष्ठ समझने चाहिए। ६८ पृष्ठों तक गोस्वामीजी ने एक प्रकार से रामायण की भूमिका लिखी है। उसके बाल-कांड का अंश होने पर भी हम वास्तविक बाल-कांड का प्रारंभ ६८वें पृष्ठ से समझते हैं, जहाँ से राम-जन्म के कारणों का वर्णन शुरू हुआ है।

गोस्वामीजी ने अपने ग्रंथ का नाम रामचरित-मानस रक्खा, और उसके विभागों को सोपान लिखा है, परंतु लोगों में रामायण और

कांड के नाम से उनका अधिक प्रचार हुआ। अतः इस लेख में जहाँ मानस अथवा रामायण नाम आए हों या आवें, वहाँ यदि प्रसंग से दूसरा ग्रंथ न निकले, तो इसी ग्रंथ से प्रयोजन समझना चाहिए। मानस के कांडों का वर्णन करने के प्रथम हम गोस्वामीजी के विषय में दो-चार बातें लिखना चाहते हैं।

गोस्वामीजी राजा को ईश्वर का अंश समझते थे—

साधु, सुजान, सुसील नृपाला; ईस-अंसभव, परम कृपाला।

यद्यपि कथा की रचना 'स्वान्तःसुखाय' करते थे, फिर भी इनकी राय थी कि जिस कविता का आदर बुधजन न करें, वह वृथा है—

जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं; सो स्रम बादि बालकबि करहीं।

इन्होंने पुरानी कथाओं की प्रतिकूल घटनाओं और पौराणिक अन्य विरोधों का इस प्रकार समर्थन किया है कि हर कल्प में प्रभु का अवतार होता है, और वह विविध प्रकार की लीलाएँ करते हैं। इसलिये विरोधों को कल्प-भेद के कारण यथार्थ मानना चाहिए। यह कथन ऐतिहासिक दृष्टि से अग्राह्य है ही, किंतु पंडित लोग ऐसा कहा अवश्य करते हैं। इन्होंने ऐसा निरभिमान-भाव या नम्रता दिखाई कि कोरे काग़ज़ पर लिख दिया कि मुझको भाव-भेदादि नहीं ज्ञात हैं। आप सरयू-नदी को मानस-नंदिनी कहते हैं। जान पड़ता है, इन्होंने सरयू के उद्गम-स्थान को देखा था। सरयूजी पहले कौड़ियाली नाम धारण कर मानस से निकलती हैं।

निर्जीव पदार्थों की सजीवतावाली चरम सीमा उस स्थान पर पहुँच गई है, जहाँ हिमाचल ने सब वन, सागर, नदी और तालाबों को न्योता भेजा, और वे सब काम-रूप, सुंदर शरीर रखकर वहाँ जा पहुँचे। गोस्वामीजी 'रोदति, बदति' बहुत लिखते हैं—

रोदति बदति बहु भाँति करुना करति संकर पहँ गई।

विवाह के अवसर की गालियाँ केशवदास ने अच्छी लिखी हैं।

गोस्वामीजी अपनी कथाओं के सुनने का फल बहुधा कह देते हैं, और कथाएँ कहकर प्राय: उनका प्रभाव श्रोताओं के प्रति वर्णन करते हैं।

यथा—

संभु-चरित सुनि सहज सुहावा ; भरद्वाज मुनि अति सुख पावा।
बहु लालसा कथा पर बाढ़ी ; नैन नीर, रोमावलि ठाढ़ी।
प्रेम-बिबस मुख आव न बानी ; दसा देखि हरषे मुनि ज्ञानी।

जब भुशुंडी ने कथा समाप्त की, तब गरुड़ की भी यही दशा हुई—

सादर खगपति पंख फुलाए।

अवतार का कारण इन्होंने यह कहा है कि जब-जब धर्म की हानि होती है, और ब्राह्मणों आदि को दुःख होता है, तभी ईश्वर अवतार लेते हैं। यही गीता का भी मत है। अन्य कवियों की भाँति यह भी नाम कहने में मुख्य नाम न कहकर उनका कभी-कभी अर्थ-मात्र कह देते हैं। यथा—हिरण्यकशिपु के स्थान पर कनककशिपु, हिरण्याक्ष के स्थान पर हाटकलोचन। यदि कोई महाशय भूमिका को 'कुका' अथवा 'सागरांबराका' कहें, तो पता लगना कठिन हो जाय, परंतु नामों के विषय में यह रीति भाषा और संस्कृत, दोनो में प्रचलित है। क्षत्रियों और राजों को यह कुटिल तथा अविश्वास-पात्र समझते थे—

बैरी, पुनि छत्री, पुनि राजा ; छल-बल कीन्ह चहै निज काजा।

इन्होंने ब्राह्मणों को मांसाहारी कहा, और यह भी लिखा कि वे क्षत्रियों का परोसा खाते थे—

बिबिध मृगन कर आमिष राँधा ;

× × ×

परसन लाग जबै महिपाला ;

गोस्वामीजी इतने बड़े भक्त थे कि श्रेष्ठ मनुष्यों की कौन कहे, राक्षसों तक को रामचंद्रजी के सम्मुख लाकर दर्शन के आनंद में

मग्न कर देते थे। मारीच, विभीषण और कुंभकर्ण की राम से भेंट करने के समय की दशा देखिए। यह प्रायः सगुन-असगुन का ध्यान रखते थे। इसमें केवल राम-सीता का वनवास होने के प्रथम सगुन दिखाने में, देखने-भर को, विरोध देख पड़ता है, परंतु शायद यह उनकी वन-यात्रा मांगलिक समझते थे, अतः सगुन दिखाना अनुचित न था।

संकर-चाप जहाज, सागर रघुबर-बाहु-बल ;
बूड़े सकल समाज, चढ़े जु प्रथमहि मोह-बस।

इस सोरठे के विषय में कुछ लोग यह कहते हैं कि जब गोस्वामी-जी 'बूड़े सकल समाज' यह लिख गए, तो उनकी लेखनी रुक गई—वह आगे कुछ न लिख सके ; क्योंकि सब समाज में तो जनक, विश्वामित्र और स्वयं राम भी थे। इस पर महावीरजी ने 'चढ़े जु प्रथमहि मोह-बस' बनाकर सोरठा ठीक कर दिया। परंतु यह बात बिलकुल उपहासास्पद है, क्योंकि यह पद लिखने के लिये गोस्वामी-जी पहले ही से चार चौपाइयों में 'डूबनेवालों का समाज' बना चुके थे, जो 'सबकर संसय अरु अज्ञानू' से 'चहत पार नहिं कोउ कनहारा' तक लिखा है। तब उनकी लेखनी क्यों रुकती, और 'चढ़े जु प्रथमहि मोह-बस' लिखने के लिये हनुमानजी को क्यों कष्ट उठाना पड़ता? आपने रावण और बाण को धनुष-यज्ञ में इस कारण नहीं उपस्थित किया कि उन्हें परशुराम द्वारा सब राजों को भय-विह्वल बनाना इष्ट था, और उन्होंने संभवतः रावण और बाण की ऐसी दुर्दशा करानी उचित नहीं समझा होगा। गोस्वामीजी की चौपाइयाँ प्रायः दीर्घांत होती हैं, इसी कारण हज़ारों स्थानों पर इनको ह्रस्वांत शब्द दीर्घांत करने पड़े हैं।

बाल-कांड

इन्होंने रामावतार होने के कुछ कारण दिए हैं, जिनको हमने

बाल-कांड का आदिम भाग माना है। यथा—सबसे प्रथम जय और विजय का शाप; द्वितीय, जलंधर-युद्ध-संबंधी उसकी स्त्री का शाप; तृतीय, नारद-मोह और उनका विष्णु को शाप; चतुर्थ, स्वायंभुव मनु और शतरूपा रानी का तप करना; पंचम, राजा भानुप्रताप को विप्र-शाप होना। इसमें नारद-मोह, मनु-तपस्या और भानुप्रताप की कथाएँ बहुत ही ललित रीति से कही गई हैं। आपने लिखा है कि उपर्युक्त भानुप्रताप, उसका भाई अरिमर्दन और सचिव धर्मरुचि क्रम से रावण, कुंभकर्ण और विभीषण हुए। रावण और उसके कुटुंबियों के प्रभाव एवं दिग्विजय आदि का वर्णन गोस्वामीजी ने बहुत ही ज़ोरदार और प्रशंसनीय किया है। आपने उसको यहाँ तक कहा कि—

ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनु-धारी; दसमुख-बसबर्ती नर-नारी।

तत्पश्चात् निशाचर लोग बहुत ही अनीति करने और ऋषियों को सताने लगे, यहाँ तक कि—

अतिसय देखि धरम कइ हानी; परम सभीत धरा अकुलानी।

तब तो उसकी बिनती सुन परब्रह्म परमेश्वर ने रामचंद्र के रूप में अवतार लेने की प्रतिज्ञा की। इधर अयोध्याधिपति महाराज दशरथ का चौथापन आ चुका था; तथापि अपने कोई पुत्र न देख उन्हें चिंता उत्पन्न हुई। अंत को वशिष्ठजी के परामर्श से इन्होंने शृंगी ऋषि द्वारा पुत्रेष्टि यज्ञ कराया। इस यज्ञ का चरु रानियों को इस प्रकार बाँटा गया कि कौशल्या को आधा भाग और कैकेयी को चतुर्थांश दिया गया, शेष के दो भाग करके कौशल्या और कैकेयी द्वारा सुमित्रा को दिए गए। यथासमय रानियों के पुत्र उत्पन्न हुए। वाल्मीकिजी ने $\frac{1}{4}$ में लक्ष्मण को तथा $\frac{1}{8}$ में भरत और शत्रुघ्न को रक्खा है; परंतु आप तो शूरता के सामने भक्ति को प्रधान मानते थे, अतः इन्होंने भक्त-शिरोमणि भरतजी को मुख्य

रक्खा । इन्होंने बाल-लीला का अच्छा कथन किया है, पर यह कहना ही पड़ता है कि सूरदास का यह वर्णन इनसे कहीं अच्छा है। तुलसीदास ने श्रीरामचंद्र का यश कहा है, और सूरदास ने श्रीकृष्णचंद्र का। गोस्वामीजी को ईश्वरत्व प्रदर्शित करने का बड़ा शौक़ था, परंतु दुर्भाग्य-वश उनके नायक श्रीरामचंद्रजी ने स्वयं ईश्वरत्व का दावा बहुत ही कम किया। उधर सूरदास को इसका वर्णन बहुत नहीं रुचता था ; पर श्रीकृष्णचंद्र का वह शौक़ बढ़ा-चढ़ा हुआ था—वह प्रायः अपना ईश्वरत्व दिखलाया ही करते थे। इस प्रकार नायक को कवि और कवि को नायक अच्छे मिल गए थे, और लेखा-ड्यौढ़ा मिलाने से ईश्वरत्व की मात्रा किसी में कहीं अणु-मात्र भी कम नहीं पड़ने पाई है। इतने ही में विश्वामित्र राम और लक्ष्मण को माँगने आए। पहले दशरथ ने उनके साथ राजकुमारों को भेजना अस्वीकार कर दिया। ऋषिवर इससे अप्रसन्न नहीं हुए। वह तो क्रोध न करने की प्रतिज्ञा ही कर चुके थे। केशवदास का इस अवसर पर यह लिखना कि "जान्यो विश्वामित्र के क्रोध बढ़्यो उर आय।" अनुचित है। ताड़का और सुबाहु को मार, विश्वामित्र का यज्ञ पूर्ण कर और अहल्या को तारकर श्रीरामचंद्रजी सीता-स्वयंवर देखने को मिथिलापुरी में जा पहुँचे। जनकपुरी में कुछ रामचंद्र ही प्रधान न थे, तो भी गोस्वामीजी ने उन्हीं की मुख्यता सभी बातों में सभी जगह रक्खी है, यहाँ तक कि कथन तो जनकपुरी का करने चले, पर वहाँ भी राम ही का वर्णन होता रहा। जनकपुर कैसा था, और उसके निवासी कैसे थे, इस वर्णन को प्रधानता नहीं दी गई, वरन् यह लिखा गया कि मिथिलापुरी के लोग रामचंद्र को यों देखते और उनके विषय में यों बातें करते थे—इत्यादि। बस, जहाँ देखिए, वहाँ राम-ही-राम हैं। क्या विश्वामित्र और जनक का संवाद, क्या धनुष-यज्ञ का वर्णन, क्या

राम की वन-यात्रा और ऋषियों के आश्रमों का वर्णन, सर्वत्र राम ही की बात प्रधान है। मुख्य विषय की मुख्यता बहुत कम है। राम जहाँ-जहाँ जाते थे, उन स्थानों का वर्णन गोस्वामीजी को अन्य कवियों की भाँति अभीष्ट नहीं। वह हमारी समझ में तो सदैव सर्वत्र उन स्थानों और पदार्थों के सहारे राम ही का वर्णन करेंगे। यदि कोई ग्रंथ पूर्ण रूप से 'रामायण' कहाने के योग्य है, तो यही है।

'फुलवारी-वर्णन' से शृंगार-रस के कथन में भी इन महाराज की अनुपम कवित्व-शक्ति और प्रौढ़ता प्रकट होती है। रामचंद्र जब से धनुष तोड़ने उठे, और जब तक उन्होंने उसे तोड़ा, इस बीच में इन कविवर ने अपनी सारी कवित्व-शक्ति ख़र्च कर दी है। अन्य कवियों ने सभा-भंग होने के पश्चात् श्रीराम से धनुष तुड़वाया है, मगर आपने ऐसा करना उचित नहीं समझा, और भरी सभा में ही राम का यश बढ़ाना ठीक माना। रामचंद्र का नख-शिख भी इन महाकवि ने कई जगह लिखा, जो प्रायः सभी कहीं सुंदर बन पड़ा है। कई स्थानों पर तो इन वर्णनों की छटा अनिर्वचनीय है। रामचंद्र का यश बढ़ाने और अन्य राजों का झगड़ा मिटाने के विचार से ही आपने परशुराम को भी भरी सभा में ही बुलाया, और उनसे बातें कराने में रामचंद्र का गांभीर्य एवं गौरव भी ख़ूब ही निबाहा; हाँ, लक्ष्मण-परशुराम-संवाद अवश्य ही अच्छा नहीं जान पड़ता। इस पर आगे लिखा जायगा। विवाह की रीतियाँ इन्होंने ख़ूब ही सांगोपांग लिखी हैं।

बाल-कांड में १८९ पृष्ठ हैं। उनमें से ६८ पृष्ठों में भूमिका एवं शेष में कथा वर्णित है। यों तो समस्त बाल-कांड की रचना परमोत्कृष्ट है, तथापि उसमें भी वंदना, मदन-दहन- नारद-मोह, प्रतापभानु का उपाख्यान, पृथ्वी तथा अहल्या की स्तुति,

राम-जन्म के छंद, फुलवारी-वर्णन और धनुष-यज्ञ, ये स्थल बहुत ही सुंदर हैं। इस कांड के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

बंदउँ गुरु-पद पदुम-परागा ; सुरुचि-सुबास, सरस अनुरागा।
अमिय-मूरि-मय चूरनु चारू ; समन सकल भव-रुज-परिवारू।
सुकृत-संभु-तन बिमल-बिभूती ; मंजुल मंगल मोद-प्रसूती।
जन-मन मंजु मुकुर मल-हरनी ; किए तिलकु गुन-गन-बस-करनी।
गुरु-पद-रज मृदु मंजुल अंजन ; नयन अमिय दृग-दोष-बिभंजन।
तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन ; बरनउँ राम-चरित भव-मोचन।

* * *

जनम सिंधु, पुनि-बंधु बिष, दिन मलीन, सकलंकु ;
सिय-मुख समता पाव किमि चंद-बापुरो रंकु ?
घटइ, बढ़इ बिरहिनि-दुखदाई ; ग्रसइ राहु निज संधिहि पाई।
कोक-सोक-प्रद पंकज-दोही ; अवगुन बहुत चंद्रमा, तोही।

* * *

नृप सब नखत करहिं उजियारी ; टारि न सकहिं चाप-तम भारी।
उयउ भानु बिनु स्रम तम नासा ; दुरे नखत, जग तेज प्रकासा।
रबि निज उदय-ब्याज रघुराया ; प्रभु-प्रताप सब नृपन दिखाया।
तब भुज-बल-महिमा उदघाटी ; प्रगटी धनु-बिघटन परिपाटी।

* * *

सुरन कही निज बिपति सब, सुनि मन कीन्ह बिचार ;
संभु-बिरोध न कुसल मोहिं, बिहँसि कह्यो अस मार।
तदपि करब मैं काज तुम्हारा ; स्रुति कह परम धरम उपकारा।
पर-हित लागि तजइ जो देही ; संतत संत प्रसंसहि तेही।
अस कहि चलेउ सबहिं सिर नाई ; सुमन-धनुष कर सहित सहाई।
तब आपन प्रभाव बिसतारा ; निज बस कीन्ह सकल संसारा।

अयोध्या-कांड

इस कांड की रचना अन्यों से इतनी अच्छी है कि इसकी प्रशंसा करने के लिये कोष में शब्द नहीं मिलते। जिस प्रकार की कथा जितनी उत्तमता से इस ग्रंथ-रत्न के इस अंश में पाई जाती है, उसकी आधी भी अन्यत्र नहीं मिलती। अयोध्या-कांड की रचना केवल भाषा-साहित्य में ही नहीं, संसार-भर के साहित्य में अपना सानी नहीं रखती। इस कांड के पृष्ठ उलटते ही पाठक आनंद-सागर में निमग्न-सा हो जाता है। अलौकिक आनंद देनेवाली और सुंदर काव्य की इतनी बढ़िया और प्रचुर सामग्री दो-चार को छोड़कर शेष ग्रंथों में नहीं मिलती। इसकी कथा यों है—विवाह के बाद रामचंद्र बहुत दिनों तक अवध में रहे। तदनंतर राजा दशरथ ने उन्हें युवराज बनाना चाहा। इस समय भरत अपने ननिहाल में थे। राजा की तीसरी पटरानी कैकेयी ने, मंथरा की सलाह से, राजा से वर माँगकर, भरत को युवराज और रामचंद्र को चौदह वर्ष के लिये वनवासी बना दिया। रामचंद्र के साथ लक्ष्मण और सीताजी भी चली गईं। इस स्थान पर कैकेयी-मंथरा-संवाद तथा कैकेयी-दशरथ-संवाद में कवित्व-शक्ति पराकाष्ठा को पहुँचा दी गई है। राम-लक्ष्मण और राम-सीता की बातचीत भी वैसी ही है। कौशल्या के व्याख्यान से जान पड़ता है कि पुत्र-वधू का कैसा सम्मान होना चाहिए। रामचंद्र निषादपति गुह से मिलकर चित्रकूट चले गए। इधर उनके विरह में दशरथ ने शरीर त्याग दिया।

भरत के आने पर सबने उनसे राज्य ग्रहण करने का आग्रह किया, परंतु वह राज़ी नहीं हुए, और सपरिवार, सेना-सहित, मुख्य पुरवासियों के साथ रामचंद्र को बुला लाने के लिये वन को गए। यहाँ पर भरत के व्याख्यान देखने ही योग्य हैं। मार्ग में उनके प्रेम के वर्णन में कवि ने अपनी कवित्व-शक्ति ख़र्च कर डाली

भी साधारण या विशेषता से ख़ाली नहीं है। यह सब स्थानों पर एक-रस, परम मनोहर और औवल दर्जे का है। गोस्वामीजी दर्शकों का भी परस्पर वार्तालाप बड़ा ही विशद करवाते थे। इसके उदाहरण जनकपुर के लोगों और राम तथा भरत की वन-यात्रा-संबंधी मार्गस्थ जनों के कथनों में देख पड़ेंगे। उदाहरण—

मैं पुनि पुत्र-बधू प्रिय पाई ; रूप-रासि, गुन सील सुहाई।
नयन-पुतरि करि प्रीति बढ़ाई ; राखउँ प्रान जानकिहि लाई।
कलप-बेलि जिमि बहु बिधि लाली ; सींचि सनेह-सलिल प्रतिपाली।
फूलत-फलत भयउ बिधि बामा ; जानि न जाइ काह परिनामा।
पलँग-पीठ, तजि गोद हिंडोरा ; सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा।
जिवन-मूरि जिमि जुगवत रहऊँ ; दीप-बाति नहिं टारन कहऊँ।
सोइ सिय चलन चहति बन साथा ; आयसु काह होइ रघुनाथा ?
चंद-किरनि-रस-रसिक चकोरी ; रबि-रुख नैन सकइ किमि जोरी ?
मानस-सलिल-सुधा-प्रतिपाली ; जिअइ कि लवन-पयोधि मराली ?
सुर-सर सुभग बनज-बनचारी ; डाबर-जोग कि हंसकुमारी ?

* * *

कानन कठिन, भयंकरु भारी ; घोर घाम, हिम, बारि, बयारी।
कुस, कंटक, मग कंकर नाना ; चलब पयादेहिं बिनु पद-त्राना।
कंकर, खोह, नदी, नद, नारे ; अगम अगाध न जाहिं निहारे।
भालु, बाघ, बृक, केहरि, नागा ; करहिं नाद, सुनि धीरज भागा।
डरपहिं धीर गहन सुधि आए ; मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाए।
नव-रसाल-बन-बिहरन-सीला ; सोह कि कोकिल बिपिन करीला।

* * *

जे पुर गाँउँ बसहिं मग माहीं ; तिनहिं नाग-सुर-नगर सिहाहीं।
केहि सुकृती, केहि घरी बसाए ; धन्य पुन्यमय, परम सुहाए।

जहँ-जहँ राम-चरन चलि जाहीं ; तहँ समान अमरावति नाहीं।
परसि राम-पद - पदुम - परागा ; मानति भूरि भूमि निज भागा।

* * *

सनमुख लोह भरत सन लेऊँ ; जियत न सुर-सरि उतरन देऊँ।
समर-मरन, पुनि सुरसरि-तीरा ; राम-काजु, छन-भंगु सरीरा।
भरत भाय नृप, मैं जन नीचू ; बड़े भाग अस पाइय मीचू।
स्वामिकाज करिहौं रन रारी ; जस धवलिहौं भुवन दस-चारी।

* * *

कुटिल कुबंधु कुऔसर ताकी ; जानि राम बनबासु यकाकी।
करि कुमंत्र मन, साजि समाजू ; आए करन अकंटक राजू।
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई ; आए दल बटोरि दोउ भाई।
जो जिंय होति न कपट कुचाली ; केहि सोहाति रथ-बाजि-गजाली ?
उठि कर जोरि रजायसु माँगा ; मनहुँ बीर-रस सोवत जागा।
बाँधि जटा सिर, कसि कटि भाथा ; साजि सरासन, सायक हाथा।
आजु राम-सेवक जसु लेऊँ ; भरतहिं समर सिखावन देऊँ।
राम-निरादर कर फल पाई ; सोवहु समर-सेज दोउ भाई।
जिमि करि-निकर दलइ मृगराजू ; लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू।
तैसेइ भरतहिं सेन - समेता ; सानुज निदरि निपातउँ खेता।

* * *

तिमिर तरुन तरनिहि सकु गिलई ; गगन मगन मकु मेघहि मिलई।
गोपद - जल बूड़हिँ घटजोनी ; सहज छमा बरु छाँड़इ छोनी।
मसक फूँक सकु मेरु उड़ाई ; होइ न नृप-मद भरतहिं भाई।
लखन तुम्हारि सपथ पितु आना ; सुचि, सुबंधु नहिं भरत-समाना।

* * *

तुम तौ देउ सरल सिख सोई ; जो आचरत मोर हित होई।
जद्यपि यह समुझत हौं नीके ; तदपि होत परितोष न जी के।

बादि बसन बिनु भूषन-भारू ; बादि बिरति बिनु बरम्ह-बिचारू ।
सरुज सरीर बादि बहु भोगा ; बिनु हरि-भगति जाइ जप, जोगा ।
जाइ जीव बिनु देह सुहाई ; बादि मोर सब बिनु रघुराई ।
मोहिं समान को पाप-निवासी ; जेहि लगि राम-सीय बन-बासी ?
केकइ-सुवन जोगि जग जोई ; चतुर बिरंचि रचा मोहिं सोई ।
दसरथ-तनै, राम लघु भाई ; दीन्हि मोहिं बिधि बादि बड़ाई ।
डरु न मोहिं जगु कहइ कि पोचू ; परलोकहु कर नाहिंन सोचू ।
एकइ उर बस दुसह दवारी ; मोहिं लगि भे सिय-राम दुखारी ।

'जे पुर गाँउँ' आदि जो दो चौपाइयाँ उद्धृत की गई हैं, उनमें साहित्य का सार कूट-कूटकर भरा है । इनके गुणों का वर्णन हमने मिश्रबंधु-विनोद की भूमिका में किया है ; वहीं देखा जाय । अँगरेज़ी के सुप्रसिद्ध कवि शेक्सपियर-कृत जूलियस-सीज़र नाम के नाटक में एंटोनी का एक व्याख्यान दिया हुआ है । उसके समान समस्त अँगरेज़ी-साहित्य में दूसरा व्याख्यान नहीं माना जाता । अयोध्या-कांड के व्याख्यानों के सामने उसका भी मान-मर्दन हो जाता है ।

आरण्य-कांड

इसमें शूर्पणखा को कुरूप करने की, खर, दूषण और त्रिशिरा के मारे जाने की और सीता-हरण की कथाएँ ४२ पृष्ठों में वर्णित हैं । जान पड़ता है, बदचलन स्त्रियों की नाक काटने की रीति रामचंद्र ही की चलाई हुई है । शूर्पणखा-विरूपकरण भगवान् का असमर्थनीय कार्य था । इसमें खर-दूषण-युद्ध और सीता-हरण की कथाएँ अच्छी हैं । अंत में नारद और रामचंद्र के वार्तालाप में संतों के लक्षण कहे गए हैं । उदाहरण—

तब चले बान कराल; फुंकरत जनु बहु ब्याल ।
कोपेउ समर श्रीराम; चले बिसिख निसित निकाम ।

अवलोकि खरतर तीर ; मुरि चले निसिचर बीर ।
भे क्रुद्ध तीनिउ भाय ; जो भाजि रन ते जाय ।
तेहि बधब हम निज पानि; फिरे मरन मन महँ ठानि ।
आयुध अनेक प्रकार ; सनमुख ते करहिं प्रहार ।
चिक्करत लागत बान ; धर परत कुधर-समान ।
नभ उड़त बहु भुज, मुंड ; बिनु मौलि धावत रुंड ।

* * *

दसमुख गयउ जहाँ मारीचा ; नाय माथ स्वारथ-रत, नीचा ।
नवनि नीच कइ अति दुखदाई ; जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई ।

किष्किंधा-कांड

इसमें हनुमान् द्वारा राम-सुग्रीव की मित्रता हुई, और राम ने वानरराज बालि का वध करके सुग्रीव को किष्किंधा का राजा कर दिया । उधर सुग्रीव राज्य करने लगे, और इधर रामचंद्र वर्षा-भर प्रवर्षण-पर्वत पर रहे । इस स्थान पर वर्षा तथा शरद्-ऋतु का बड़ा ही अच्छा और शिक्षा-प्रद वर्णन है, परंतु उसका अधिकांश मसाला श्रीमद्भागवत से लिया गया है । शरद्-ऋतु में सुग्रीव ने सीता के खोजने को कपिगण भेजे । इस कांड में केवल १८ पृष्ठ हैं, तथापि इसकी कविता परम प्रशंसनीय है । प्रायः लोग 'मास दिवस तहँ रहेउँ खरारी' का अर्थ एक महीना नहीं मानते, अतः हम बाल-कांड से एक प्रमाण दिए देते हैं—

कौतुक देखि पतंग भुलाना ; एक मास तेहि जात न जाना ।
मास दिवस का दिवस भा, मरमु न जानै कोय ।

गोस्वामीजी इस बात पर प्रायः ज़ोर दिया करते हैं कि राम बड़े ही कृपालु हैं, और फिर भी यदि लोग उन्हें न भजें, तो वे क्यों दुखारी न हों ? इसमें मित्रता के विषय में पूज्य विचार कहे गए हैं । पंडितों का सिद्धांत है कि इस कांड से गोस्वामीजी ने काशीजी

में रचना आरंभ की, क्योंकि इसकी वंदना में काशीजी की स्तुति पहले की गई है। इसके आगे के भी सब कांड काशी ही में बने, ऐसा ख़याल है। बालि-वध आड़ से क्यों हुआ, इसका कोई समुचित उत्तर प्राचीन ग्रंथों में नहीं है। शायद वानर बालि के भाग जाने का भय हो। परम प्राचीन घटना होने एवं पूर्ण वर्णन के अभाव में इसके औचित्य पर युक्ति-पूर्ण कथन नहीं हो सकता।
उदाहरण—

जे न मीत-दुख होहिं दुखारी ; तिनहिं बिलोकत पातक भारी।
निज दुख गिरि-सम रज करि जाना ; मीत के दुख रज मेरु-समाना।
जिनके असि मति सहज न आई ; ते सठ हठि कत करत मिताई।
बिपति काल कर सतगुन नेहा ; स्रुति कह संत मीत-गुन एहा।

* * *

घन घमंड नभ गरजत घोरा ; प्रिया-हीन डरपइ मन मोरा।
दामिनि दमकि रहन घन माहीं ; खल कइ प्रीति जथा थिर नाहीं।
बरषहिं जलद भूमि नियराए ; जथा नवहिं बुध बिद्या पाए।
सिमिटि-सिमिटि जल भरइ तलावा ; जिमि सतगुन सज्जन पहँ आवा।
खोजत कतहुँ मिलइ नहिं धूरी ; करइ क्रोध जिमि धरमहिं दूरी।
ऊसर बरषइ तिनु नहिं जामा ; जिमि हरिजन हिय उपज न कामा।

* * *

पंक न रेनु सोह असि धरनी ; नीति-निपुन नृप कइ जसि करनी।
जल-संकोच बिकल भइ मीना ; अबुध कुटुंबी जिमि धन-हीना।
सुखी मीन जहँ नीर अगाधा ; जिमि हरि-सरन न एकउ बाधा।
गुंजत मधुकर मुखर अनूपा ; सुंदर खगरव नाना-रूपा।

* * *

राम-काज लगि तव अवतारा ; सुनि कपि भयउ परबताकारा।
सिंह-नाद करि बारहिं बारा ; लीलहि नाघौं जलधि अपारा।

सुंदर-कांड

इसमें हनुमान् समुद्र फाँदकर लंका को गए, और वहाँ सीता से मिल, अक्षयकुमार आदि को मारकर मेघनाद द्वारा पकड़े गए। फिर लंका-दहन करके उन्होंने रामचंद्र से सब हाल कहा। भगवान् सब सेना लेकर समुद्र के किनारे आए। यहीं विभीषण राम से मिले। गोस्वामीजी खास हनुमान् के भक्त न थे, नहीं तो उनके समुद्र लाँघने पर यह लिखकर कि—

उमा न कछु कपि की अधिकाई ; प्रभु-प्रताप जो कालहि खाई।

उनके समस्त यश पर पानी क्यों फेर देते ? इनका तो यह सिद्धांत था—

पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते ; मानिय सकल राम के नाते।

सो जिसका राम से जितना अधिक संबंध होता है, उसको यह उतना ही अधिक पूजनीय मानते हैं। गोस्वामी ने मंदोदरी के सम्मुख सीता से रावण की बातचीत कराई है ? फिर भी सीता के प्रति रावण से यह कहला दिया कि "अगर तू एक बार मेरी ओर देख ले, तो मंदोदरी आदि रानियों को तेरी दासी बना दूँ।" ये बातें हमें अनुचित जान पड़ती हैं। इस कांड में लंका-वर्णन कुछ-कुछ श्रेष्ठ है। इसमें २२ पृष्ठ हैं।

उदाहरण—

हैं सुत सब कपि तुमहि समाना ; जातुधान भट अति बलवाना।
मोरे हृदय परम संदेहा ; सुनि कपि प्रकट कीन्हि निज देहा।
कनकभूधराकार सरीरा ; समर-भयंकर, अतिबल बीरा।
सीता-मन भरोस तब भयऊ ; पुनि लघु रूप पवन-सुत लयऊ।

सुनु माता, साखामृगहि नहिं बल, बुद्धि बिसाल ;
प्रभु-प्रताप ते गरुड़ हि खाय परम लघु ब्याल।

* * *

देह बिसाल परम हरुआई ; मंदिर ते मंदिर चढ़ि जाई ।
जह नगर, भे लोग बिहाला ; लपट-झपट बहु कोटि कराला ।

लंका-कांड

इस कांड में सेतु-रचना, अंगद की बसीठी, मेघनाद, कुंभकर्ण और रावण के युद्ध तथा पतन, सीता के अग्नि-प्रवेश और विभीषण के सिंहासनारूढ़ होने के वर्णन हैं। इसकी वंदना उत्कृष्ट है, और एक स्थान पर रामचंद्र का ध्यान भी अच्छा लिखा गया है। चंद्रमा पर उक्तियाँ और उनमें आप-बीती के वर्णन भी अच्छे हैं। अंगद-पैज में राजसभा के गांभीर्य का ध्यान नहीं रक्खा गया। गोस्वामीजी का युद्ध-वर्णन प्रतिदिन घोर से भी घोरतर होता गया है। अंत में रावण ने लक्ष्मण तक को पराजित कर दिया है। गोस्वामीजी ने उत्तरोत्तर युद्धोत्कर्ष बढ़ाने के विचार से मेघनाद के युद्ध में उतनी उद्दंडता नहीं दिखाई, जितनी रावण के रण में। वाल्मीकीय रामायण देखने से जान पड़ता है कि मेघनाद ने दो बार राम-लक्ष्मण-समेत सारी सेना को जीत लिया था, और जब सब प्रधान पुरुष अचेत हो गए, तब, उस दशा में, उनको मारना युद्ध-नियम के विरुद्ध समझकर वह विजयी हो लंका को चला गया। गोस्वामीजी ने नाग-पाश के वर्णन में केवल इतना ही कह दिया है कि "नागपास-बस भए खरारी", परंतु वाल्मीकिजी ने कहा है कि उसने सब पुरुष-प्रधानों के अंग-प्रत्यंग बाणों से इस तरह छेद डाले थे कि किसी में हिलने की भी शक्ति नहीं रही थी। किंतु वाल्मीकीय रामायण में युद्ध का दिनोंदिन वह उत्कर्ष नहीं दिखाया गया, जो गोस्वामीजी को अभीष्ट था। यही गुण ग्रीस के प्रसिद्ध कवि होमर में पाया जाता है, जिसके कारण योरप के साहित्य में उसकी बड़ी प्रशंसा है। गोस्वामीजी ने रावण द्वारा एक ही समय में क्रमशः रामचंद्र को मूर्च्छित और विभीषण, हनुमान् तथा वानर-सेना को पराजित

करा दिया है। इसी प्रकार एक बार रामचंद्र के सिवा शेष सेना को पराजित और मूर्च्छित करा दिया है। इतना करने पर भी गोस्वामीजी ने लंका के किसी भी वीर को पूर्ण रूप से विजयी होकर कभी नहीं जाने दिया ; या तो किसी से उसे हरा दिया, या दुर्दशा करा डाली। एक बार मेघनाद और दूसरी बार रावण ने जब राम-समेत समस्त सेना को पराजित किया, तब भी वे प्रसन्नता-पूर्वक लंका नहीं जाने पाए, बल्कि दोनो ही को जांबवान् के प्रहार से मूर्च्छित होना पड़ा। इसी भाँति जब कुंभकर्ण कपि-सेना को पराजित कर लंका जा रहा था, और अपने भाई के अपमान का बदला चुकाने को बालि के भाई को काँख में दाबे था, तब निर्बल सुग्रीव द्वारा उसकी नाक-कान कटवा लिए गए। गोस्वामीजी ने कुंभकर्ण और रावण के युद्ध बड़े ही भयंकर और प्रभाव डालनेवाले लिखे हैं, तथा रावण का युद्ध भी बड़ी ही उत्तमता से कहा है।

यह महाशय राम-भक्त होने के कारण रावण तथा अन्य निशाचरों को दुष्ट, खल इत्यादि की उपाधियों से सदैव भूषित किया करते थे। इन महाकवि ने लंका और उत्तर-कांड में विविध व्यक्तियों द्वारा श्रीरामचंद्र की स्तुति या बहुत ही प्रशंसा कराई है। प्रत्येक स्तुति में निराला ही आनंद प्राप्त होता है। समस्त रामायण में इस प्रकार की स्तुतियाँ पचास-साठ से कम न होंगी। इसी प्रकार रामचंद्र के शिख-नख-वर्णनों का बाहुल्य है। इन दोनो विषयों की रचना में इन महाकवि ने अपनी अलौकिक कवित्व-शक्ति और पांडित्य का चमत्कार दिखलाया है।

लंका-कांड में बहुत लोगों ने कई स्थानों पर कई बार रावण को युद्ध न करने के वास्ते समझाया, और मंदोदरी ने तो अनेक बार ऐसा किया, परंतु क्या मारीच, क्या विभीषण, क्या माल्यवान्, क्या मंदोदरी और क्या कुंभकर्ण, सभी ने रामचंद्र को परमेश्वर

मानकर उसे उपदेश दिया है। इसमें काल-विरुद्ध दूषण है, क्योंकि उस काल तक अवतार का विचार भारत में उठा ही न था। मंत्र-दाताओं में केवल प्रहस्त ने रामचंद्र की ईश्वरता नहीं दिखलाई। उसका उपदेश भी बहुत ही प्रभाव-पूर्ण और गंभीर है। उससे प्रहस्त के पांडित्य और नीतिज्ञता का परिचय प्राप्त होता है। यथा—

प्रथम बसीठि पठाइय नीती ; सीतहिं देइ करिय पुनि प्रीती।
नारि पाइ फिरि जाहिं जो, तौ न बढ़ाइय रारि ;
नाहिं त सनमुख समर महँ तात करिय हठि मारि।
यह मत जो प्रभु मानहु मोरा ; उभय प्रकार सुजसु जग तोरा।

केवल मेघनाद ने रावण को कभी शिक्षा नहीं दी। उसे गोस्वामी-जी ने बड़ा ही पितृभक्त, आज्ञाकारी, कार्य-कुशल तथा शूर माना है। जब माल्यवान् के शांति-उपदेश से रावण क्रोधित हो रहा था, तब मेघनाद ने केवल इतना कहा कि—

कौतुक प्रात देखियहु मोरा ; करिहौं बहुत, कहत हौं थोरा।

और, उसके इतने ही कथन पर रावण को पूर्ण विश्वास आ गया। मंत्रदाताओं से वादों में अथवा अन्यत्र भी रावण का पक्ष पूर्ण योग्यता से नहीं कहा गया। उसका राम ने भगिनी-विरूप-करण द्वारा पहले अपमान किया, और तब सीता-हरण द्वारा उसने भी अपमान का बदला अपमान से लिया। तो भी सीता को विरूप न किया, न कोई ज़बरदस्ती की। वह चक्रवर्ती भूपाल था। यदि राम से दब जाता, तो मांडलिक नरेश-मात्र रह जाता। कहाँ भारतवर्ष-भर पर प्रभाव, और कहाँ लंका-भर का छोटा-सा राज्य! रावण के लड़कर मरने में शौर्य था और दबने में कादर-पन। ऐसे विचारों पर गोस्वामीजी ने भक्ति के कारण ज़ोर नहीं दिया है। रामचंद्र ने अयोध्या लौटती समय पहले प्रयाग और अयोध्या का दर्शन करके फिर त्रिवेणी में स्नान किया। इसमें

कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि विमान ऊँचा उठने के कारण प्रयाग से अयोध्या देख पड़ना असंभव नहीं। उदाहरण—

इहाँ सुबेल-सैल रघुबीरा ; उतरे सेन-सहित अति भीरा।
सैल-सृंग यक सुंदर देखी ; अति उतंग, सम, सुभ्र बिसेखी।
तहँ तरु-किसलय, सुमन सुहाए; लछिमन रचि निज हाथ डसाए।
तापर रुचिर,मृदुल मृगछाला ; तेहि आसन आसीन कृपाला।
प्रभु कृत सीस कपीस-उछंगा ; बाम, दहिन दिसि चाप निखंगा।
दुहुँ कर-कमल सुधारत बाना ; कह लंकेस मंत्र लगि काना।
बड़भागी अंगद, हनुमाना ; चरन-कमल चापत बिधि नाना।
प्रभु पाछे लछिमन बीरासन ; कटि निखंग, कर बान सरासन।
यहि बिधि करुना-सीव, गुन-धाम राम आसीन ;
ते नर धन्य, जु ध्यान यहि रहत सदा लवलीन।

* * *

पूरब दिसि गिरि-गुहा-निवासी ; परम प्रताप - तेज - बल - रासी।
मत्त-नाग - तम - कुंभ बिदारी ; ससि केसरी गगन - बनचारी।
बिथुरे नभ मुकुताहल तारा ; निसि - सुंदरी केर सिंगारा।
बिष-संजुत कर-निकर पसारी ; जारत बिरहवंत नर - नारी।

* * *

देखु बिभीषन, दच्छिन आसा ; घन-घमंड, दामिनी - प्रकासा।
मधुर-मधुर गरजइ घन घोरा ; होइ बृष्टि जनु उपल कठोरा।
कहइ बिभीषनु सुनहु कृपाला ; होइ न तड़ित, न बारिद-माला।
लंका-सिखर रुचिर आगारा ; तहँ दसकंधर केर अखारा।
छत्र मेघ-डंबर सिर धारी ; सोइ जनु जलद-घटा अतिकारी।
मंदोदरी - स्रवन - ताटंका ; सोइ प्रभु जनु दामिनी दमंका।

* * *

जरत बिलोकेउँ जबहिं कपाला ; बिधि के लिखे अंक निज भाला।

नर के कर आपन बध बाँची ; हँसेउँ जानि बिधि-गिरा असाँची ।
सो मन समुझि त्रास नहिं मोरे ; लिखा बिरंचि जरठ मति-भोरे ।

* * *

मेघनाद सुनि स्रवन अस गढ़ पुनि छेंका आइ ;
उतरि दुर्ग ते बीरबर सनमुख चलेउ बजाइ ।
कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता ; धन्वी, सकल लोक-बिख्याता ?
कहँ नल, नील, दुबिद, सुग्रीवाँ ; कहँ अंगद, हनुमत बल-सींवाँ ?
कहाँ बिभीषनु भ्राता - द्रोही ; आजु सठहि हठि मारउँ ओही !
अस कहि कठिन बान संधाने ; अतिसय क्रोध स्रवन लगि ताने ।
सर-समूह सो छाँड़इ लागा ; जनु सपच्छ धावहिं बहु नागा ।
जहँ-तहँ परत देखियहि बानर ; सनमुख होइ न सके तेहि अवसर ।
भागे भय-ब्याकुल कपि, रिच्छा ; बिसरी सबहि जुद्ध की इच्छा ।
सो कपि भालु न रन-महि देखा ; कीन्हेसि जेहि न प्रान-अवसेखा ।
मारेसि दस-दस बिसिख, सब परे धरनि कपि बीर;
सिंह-नाद गरजत भयउ मेघनाद रन-धीर ।

* * *

नभ चढ़ि बरखइ बिपुल अँगारा ; महि ते प्रकट होहिं जल-धारा ।
नाना भाँति पिसाच, पिसाची ; मारु-काटु धुनि बोलहिं, नाची ।
बरखि धूरि कीन्हेसि अँधियारा ; सूझ न आपन हाथ पसारा ।

* * *

भए क्रुद्ध जुद्ध बिरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे ;
कोदंड-धुनि अति चंड सुनि मनुजाद भय-मारुत-ग्रसे ।
मंदोदरी उर-कंप कंपति कमठ, भू, भूधर त्रसे ;
चिक्करहिं दिग्गज दसन गहि महि, देखि कौतुक सुर हँसे ।

इस कांड में ८० पृष्ठ हैं, और इसकी कविता श्रेष्ठ है ।

उत्तर-कांड

इसमें रामचंद्र का अयोध्या-गमन, रामाभिषेक, राम-राज्य, देवतों की की हुई राम-स्तुति, संत-महिमा, राम का अपनी प्रजा को उपदेश, काकभुशुंडि के पूर्व-जन्म का वृत्तांत और मोह, ज्ञान-भक्ति-भेद और राम-कथा-माहात्म्य के वर्णन हैं। काकभुशुंडि के पूर्व-जन्म में गुरु-माहात्म्य पर ज़ोर दिया गया है। कलि-वर्णन भी है। भुशुंडि-मोह में राम-बाल-लीला का अच्छा कथन हुआ है। ज्ञान-भक्ति-भेद में ज्ञान-दीपक के परम परिश्रम से जलाए जाने और परम सुगमता से बुझ जाने का कथन कुछ उपहासास्पद हो गया है। गोस्वामीजी ने भक्ति को प्रधान रक्खा है। इन्होंने निम्न-लिखित दोहे में नानक, कबीर, दादू आदि के पंथों की निंदा की है—

> कलि-मल गसेउ धरम सब, गुपुत भए सदग्रंथ ;
> दंभिन निज मत कल्प करि प्रकट कीन्ह बहु पंथ।

जिस प्रकार गोस्वामीजी ने कलि-धर्म के विषय में भविष्यद्वाणी-सी कही है, उसी प्रकार भारतेंदुजी ने भी किया है। इन वर्णनों से इन कवि-रत्नों की पैनी दृष्टि तथा संसार-चक्र की गति परखने की शक्ति प्रकट होती है। कुछ महाशयों का मत है कि उत्तर-कांड रामायण के कांडों में सर्वोत्कृष्ट है। हमारे मत में, इस कांड में गोस्वामीजी ने अपने सिद्धांतों का वर्णन अवश्य किया है, परंतु काव्य की दृष्टि से हम इसे ऐसा नहीं मान सकते। इसमें बिनती, कलि-धर्म, भुशुंडि-कथा और ज्ञान-दीपक के वर्णन अच्छे हैं। रामचंद्र के आने के समय भरत की उत्कंठा भी ख़ूब दिखाई गई है।

काव्योत्कृष्टता की दृष्टि से हम सातो कांडों को इस तरह क्रम-बद्ध करेंगे—

अयोध्या, बाल, उत्तर, लंका, किष्किंधा, सुंदर, आरण्य।

रावण के विषय में इन महाकवि ने लिखा है—

बीस पयोधि अगाध अपारा ; को अस बीर, जु पावै पारा।

इसी प्रकार गोस्वामीजी के सातों कांडों के विषय में कहा जा सकता है कि—

सात पयोधि अगाध अपारा ; को अस सुकबि, जु पावै पारा।

उत्तर-कांड में ८२ पृष्ठ हैं। इसकी कविता सर्वथा प्रशंसनीय है। उदाहरण—

जय सगुन-निरगुन रूप राम अनूप भूप-सिरोमने ;
दसकंधरादि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुज-बल हने।
अवतार नर संसार-भार बिभंजि दारुन दुख दहे ;
जय प्रनतपाल, दयालु, प्रभु, संजुक्त सक्ति नमामहे।
जे चरन सिव-अज-पूज्य रज सुभ परसि मुनि-पतिनी तरी ;
नख-निर्गता, सुर-बंदिता, त्रैलोक्य-पावनि सुरसरी।
ध्वज-कुलिस-अंकुस-कंज-जुत, बन फिरत कंटक जिन लहे ;
पद-कंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे।

* * *

जो कछु झूँठ, मसखरी जाना ; कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना।
निराचार जो स्रुति-पथ-त्यागी ; कलिजुग सोइ ग्यानी बैरागी।
जाके नख अरु जटा बिसाला ; सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला।
मारग सोइ, जाकहँ जोइ भावा ; पंडित सोइ, जोइ गाल बजावा।
नारि बिबस नर सकल गोसाईं ; नाचहिं नट - मरकट की नाईं।
गुन मंदिर, सुंदर पति त्यागी ; भजहिं नारि पर-पुरुष अभागी।
पर - तिय - लंपट, कपट-सयाने ; लोभ - मोह - ममता-लपटाने।
नारि मुई, घर संपति नासी ; मूड़ मुड़ाय भए संन्यासी।

* * *

बहु दाम सँवारहिं धाम जती ; बिषया हरि लीन्ह गई बिरती।
तपसी धनवंत, दरिद्र गृही ; कलि-कौतुक तात, न जात कही।

धनवंत कुलीन मलीन अपी ; दुज-चिह्न जनेउ उघार तपी ।
कलि बारहिंबार दुकाल परै ; बिन अन्न दुखी सब लोक मरै ।
अबला कच भूषन, भूरि छुधा ; धनहीन, दुखी, ममता बहुधा ।
सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता ; मति थोरि, कठोरि, न कोमलता ।
नर पीड़ित रोग, न भोग कहीं ; अभिमान, बिरोध अकारनहीं ।
लघु जीवन संबत पंचदसा ; कलपांत न नास, गुमान असा ।

* * *

जय राम रमा-रमनं समनम् ; भवताप-भयाकुल पाहि जनम् ।
मद, मोह, महाममता रजनी ; तम-पुंज दिवाकर तेज अनी ।
बहु रोग बियोगनि लोग हए ; भवदंघ्रि-निरादर के फल ये ।
भव-सिंधु अगाध परे नर ते ; पद-पंकज प्रेम न जे करते ।
अति दीन, मलीन, दुखी नितहीं ; जिनके पद-पंकज प्रीति नहीं ।
अवलंब भवंत कथा जिनके ; भव-भीति कदापि नहीं तिनके ।
नहिं राग, न रोष, न मान मदा ; तिनके सम बैभव वा बिपदा ।
सम मान, निरादर, आदर ही ; सोइ संत सुखी बिचरंत मही ।

* * *

जोबन-जुर केहि नहिं बलकावा ; ममता केहिकर जस न नसावा ?
चिंता-साँपिनि काहि न खाया ; को अस, जाहि न ब्यापी माया ?
कीट मनोरथ, दारु सरीरा ; जेहि न लाग घुन, को अस बीरा ?
यह सब माया कर परिवारा ; प्रबल अमित को बरनइ पारा ?
सो प्रभु-भ्रू-बिलास खगराजा ; नाच नटी इव सहित समाजा ।
सोइ सरबग्य गुनी बर ग्याता ; सोइ महि-मंडन पंडित दाता ।
धरम-परायन, सोइ कुल-त्राता ; राम-चरन जा कर मन राता ।
नीति-निपुन सोइ परम सयाना ; स्रुति-सिद्धांत नीक सोइ जाना ।
सोइ कबि-कोबिद, सोइ रनधीरा ; जोइ छल छाँड़ि भजइ रघुबीरा ।
साधक, सिद्ध, बिमुक्त उदासी ; कबि, कोबिद, बिरक्त, संन्यासी ।

जोगी, सुर अरु तापस, ग्यानी ; धरम - निरत, पंडित, बिग्यानी ।
तरहिं न बिनु सेये मम स्वामी ; राम नमामि नमामि नमामी ।

वह न-जाने कौन पवित्र घड़ी थी, जब महात्मा तुलसीदास ने राम-चरित-मानस का निर्माण करने के लिये अपनी लेखनी संचालित की थी। हिंदुओं को ऐसा शुभ मुहूर्त बहुत बार नहीं मिला। इस ग्रंथ-रत्न की २४ कोटि हिंदुओं में जो महिमा है, उसका उल्लेख करना हमारी निर्बल लेखनी की शक्ति से बाहर है। आज यह पुस्तक संख्या में समस्त भूमंडल के सप्तांश मानव-जाति का वेद, बाइबिल, ज़ेंदावस्ता, क़ुरान, या जो कुछ कहिए, हो रही है। इसका आधिपत्य हम लोगों पर जितना प्रबल है, उतना शायद बाइबिल का ईसाइयों पर भी न होगा। जिस समय यह कवि-कुल-चूड़ामणि लेखनी हाथ में ले अपनी पीयूष-वर्षिणी कविता द्वारा संसार को आप्यायित करने लगते होंगे, उस समय अवश्य ही स्वर्गीय कविवरों की आत्माएँ आनंद-सागर की तरंगों में हिलोरें लेने लगती होंगी! यह ग्रंथ-रत्न जितना सर्वप्रिय है, उतना अन्य कोई भी ग्रंथ नहीं हो सका है। केवल अक्षर-ज्ञान रखनेवालों से लेकर वेदांती तक समान रूप से इसका आदर करते हैं, और "निज पौरुष परमान ज्यों मसक उड़ाहिं अकास" के अनुसार इसकी प्रशंसा करते हैं। इसकी कविता में ऐसी कुछ मोहिनी शक्ति है, और इसमें भिन्न-भिन्न रुचिवाले मनुष्यों के लिये उपयोगी इतनी बातें मिलती हैं कि सभी श्रेणियों के मनुष्यों को इससे आनंद मिलता है।

दुर्भाग्य-वश हमारे यहाँ अभी पठन-पाठन की प्रथा पूर्ण रूप से प्रचलित नहीं होने पाई है। फिर अच्छे-से-अच्छे ग्रंथों को भी मुद्रण का सौभाग्य ही बहुधा नहीं प्राप्त होता ; यदि हुआ भी, तो दो-तीन संस्करणों के आगे बढ़ना बहुत ही कठिन है। ऐसी दशा में भी इस ग्रंथ-रत्न के हज़ारों ही संस्करण हो गए और होते

जाते हैं। अधिकांश संस्करणों में हज़ारों से कम प्रतियाँ नहीं होतीं। प्रेसवालों के वास्ते तो वास्तव में महात्मा तुलसीदास कल्पवृक्ष ही हो गए हैं। जब उनके पास कोई काम न हुआ, तब झट रामायण की दस-पाँच हज़ार प्रतियाँ छाप डालीं, और उससे लाभ उठाने लगे। रोचकता में भी यह ग्रंथ अद्वितीय है। ग्राउस साहब ने अँगरेज़ी-गद्य में और मुंशी द्वारकाप्रसाद उफ़ुक़ ने उर्दू-पद्य में इसका अनुवाद किया है। कोई भी सुकवि इतना बड़ा भक्त नहीं हुआ, और इसी कारण इतना भक्ति-भाव-पूर्ण काव्य करने में कोई भी नहीं समर्थ हुआ। हज़ारों मनुष्य नित्य इसकी पूजा और पाठ करते हैं। इसका आद्योपांत पाठ करने की प्रथा बहुत प्रचलित है। एक बार एक मुंशीजी से हमने कहा कि हम तो रामायण का सदैव इस क्रम से पाठ करते हैं कि श्रीगणेश से इति श्री तक करके फिर प्रारंभ से ही लग्गा लगा दिया। इस पर मुंशीजी गद्गद होकर तुरंत ही बोल उठे—"जनाब, यह तो क़ायदा ही है। यह क्या कि आज यहाँ, कल वहाँ, मेंढक की तरह उछलता फिरे।"

अनेक स्थानों पर रामायण-समाज स्थापित हैं, और जगह-जगह बाजे के साथ इसका गान किया जाता है। पुराणों की भाँति इसका पाठ भी होता है, जिसे सुनने को सहस्रों नर-नारी एकत्र होते हैं। यह सौभाग्य आज तक हिंदी के किसी भी अन्य ग्रंथ को नहीं प्राप्त हुआ। इसकी पुस्तकें देवालयों में रक्खी रहती हैं, और उनकी देवतों की भाँति पूजा होती है। लोग यंत्र में मढ़कर इसके गुटके गले और बाहु में बाँधते हैं। कहाँ तक कहा जाय, गीता की भाँति यह ग्रंथ-रत्न भी हिंदू-धर्म में इतना मिल गया कि उसका एक अंग हो गया है। इस ६०० पृष्ठों के बृहद् ग्रंथ में अनेकानेक विषय आ गए हैं। गोस्वामीजी ने प्रत्येक कांड के प्रारंभ में संस्कृत के श्लोकों और भाषा के छंदों द्वारा देवतों की स्तुतियाँ की हैं। उत्तर-

कांड में आठ श्लोकों का एक रुद्राष्टक बना है। बहुत-से कवियों ने इस ग्रंथ की स्तुति, आरती, श्लोक आदि बनाए हैं।

कविता का परिचय

राम-बाम दिसि जानकी, लखन दाहिनी ओर ;
ध्यान सकल कल्यान-कर, सुर-तरु तुलसी तोर।

गोस्वामीजी के ग्रंथों के विषय में जो कुछ हमें कहना था, ऊपर कह चुके। अब उनके ग्रंथों—विशेषकर रामायण—के आधार पर उनके गुण-दोषों का कुछ भाग, यथाशक्ति, यहाँ दिखलाने का प्रयत्न करते हैं। शेष वर्णन आगे यथास्थान मिलेगा।

गुण-कथन

(१) गोस्वामीजी कथा-वर्णन में कोई बात एकबारगी नहीं कह देते, बल्कि आनेवाली बड़ी-बड़ी घटनाओं की पहले से सूचना दे देते हैं, जिससे पाठक को उनका दिग्दर्शन प्रथम से हो रहे। इसी प्रकार औचित्य और अनौचित्य के विषय में भी जगह-जगह पर कुछ लिखते रहते हैं, जिसमें पाठक उनसे सहमत हो जाय।

दच्छ न कछु पूँछी कुसलाता ; सतिहि बिलोकि जरे सब गाता।

यहाँ कवि दक्ष के प्रतिकूल पाठकों का क्रोध भड़का रहा है।

तुलसी जसि भवितव्यता, तइसिय मिलइ सहाइ ;
आपु न आवै ताहि पै, ताहि तहाँ लइ जाइ।

यहाँ भानुप्रताप पर आनेवाली विपत्ति का दिग्दर्शन कराया गया है, यद्यपि अभी उसका कहीं पता भी नहीं है।

देखि राम-छबि कोउ अस कहई ; जोगि जानकी यह बर अहई।
असि प्रतीति तिनके मन माहीं ; राम चाप तोरब, सक नाहीं।

बाल-कांड से ही राम के विषय में—

प्रीति पुनीत भरत कइ देखी ; सकल सभा सुख लहेउ बिसेखी।

पुर-नारि सकल पसारि अंचल बिधिहि बचन सुनावहीं ;
ब्याहिय सु चारिउ भाइ यहि पुर, हम सुमंगल गावहीं।
(बाल-कांड)

सबके उर अभिलाख असि, कहहिं मनाइ महेस ;
आपु अछत जुवराज-पद रामहिं देइँ नरेस।
सुबस बसिहि पुनि अवध सुहाई ; सब गुन-धाम राम-प्रभुताई।
तोर कलंक, मोर पछिताऊ ; मुयहु मेटि जाइहि नहिं काऊ।
सीय कि पिय-सँग परिहरिहिं, लखन कि रहिहहिं धाम ;
भरत कि भोगब राज-पद, नृप कि जियहिं बिनु राम ?

* * *

भोरेहु भरत न पेलिहहिं मन महँ राम रजाइ ;
करिय न सोच सनेह-बस कहेउ राउ बिलखाइ।
(अयोध्या-कांड)

जब भरत राम को मनाने गए थे, तब ये वाक्य जनक ने अपनी रानी से कहे।

निसिचर-हीन करौं महि, भुज उठाय पन कीन।

यह रामचंद्र ने सीता-हरण के प्रथम किया था।

यहि लागि तुलसीदास इनकी कथा संक्षेपहि कही,
रघुबीर-सर-तीरथ-सरित तन त्यागि गति पैहैं सही।
(सुंदर-कांड)

त्रिजटा का स्वप्न भी इसका प्रमाण है।

जो तेहि आजु बधे बिनु आवों ; तो रघुपति-सेवक न कहावों।

* * *

कह त्रिजटा सुनु राजकुमारी ; उर सर लागत मरिहि सुरारी।
(लंका-कांड)

(२) यह महाशय अपने को तुरंत मुख्य कथा पर पहुँचा

देते हैं, और रोचकता-रहित तैयारियों में समय नष्ट नहीं कराते ।

तापस नृपहिं बहुत परितोखी ; चला महाकपटी, अतिरोखी ।
नृप हरखे पहिंचानि गुरु, भ्रमबस रहा न चेत ;
बरे तुरत सत-सहस बर बिप्र कुटुंब - समेत ।
(बाल-कांड)

इनको रावण का कथन शीघ्रता से करना था, अतः केवल तीन चौपाइयों में उस राजा भानुप्रताप का नाश कह दिया, जिसकी कथा आठ पृष्ठों से कहते चले आते थे ।

खर-दूषन पहँ गइ बिलखाता ; धिक-धिक तव पौरुष, बल भ्राता ।
तेहि पूछा, सब कहेसि बुझाई ; जातुधान सुनि सैन सजाई ।
(आरण्य-कांड)

(३) गोस्वामीजी अमुक उवाच कहाए बिना बात कहा देते हैं, परंतु यह विदित हो जाता है कि किसने बात कही । इसका उदाहरण उपर्युक्त छंद भी है !

अतिसै देखि धरम कइ हानी ; परम सभीत धरा अकुलानी ।
गिरि-सरि-सिंधु-भार नहिं मोही ; जस मोहिं गरुअ एक पर-दोही ।
भगति-सहित मुनि आहुति दीन्हें ; प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हे ।
जो बसिष्ठ कछु हृदय बिचारा ; सकल काज भा सिद्ध तुम्हारा ।
(बाल-कांड)

तब सुग्रीव बिकल होइ भागा ; मुष्टि-प्रहार बज्र-सम लागा ।
मैं जु कहा रघुबीर कृपाला ; बंधु न होइ मोर यह काला ।
(किष्किंधा-कांड)

निसिचर मारि तुम्हैं लै जैहैं ; तिहुँ पुर नारदादि जस गैहैं ।
हैं सुत, सब कपि तुमहि समाना ; जातुधान भट अति बलवाना ।
(सुंदर-कांड)

(४) बड़ी-बड़ी घटनाओं में गोस्वामीजी आकाश-वाणी करवा दिया करते थे ।

महादेव मन में जब सती-त्याग का निश्चय करके चले, तब—

चलत गगन भइ गिरा सुहाई ; जय महेस, भलि भगति दृढ़ाई ।

पार्वती की तपस्या समाप्त होने पर जो 'गगन-गिरा' हुई, वह कुछ आवश्यकता से अधिक लंबी है ।

मनु और शतरूपा जब तपस्या करती थीं, तब ब्रह्मा, विष्णु और महेश उनके पास आए, और बोले कि वर माँगो, परंतु वे नहीं बोले; इस पर ईश्वर ने उन्हें अनन्य भक्त समझा, और—

माँगु-माँगु बर, भइ नभ-बानी ; परम गँभीर कृपामृत-सानी ।

तब उन्होंने परमेश्वर के दर्शन की अभिलाषा प्रकट की, और इन्होंने दर्शन देकर उनके यहाँ अवतार लेना भी स्वीकार किया । इससे विदित होता है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश का गगन-गिरा से कोई संबंध नहीं था । राजा भानुप्रताप के यहाँ गगन-गिरा बहुत छोटी होकर भ्रामक हो गई, और राजा को शाप दिया जा चुकने पर निर्दोष होने के बारे में उसे फिर सफ़ाई देनी पड़ी । राम-जन्म-संबंधी गिरा कुछ भ्रामक है । उसमें कहा गया है कि मैं कश्यप और अदिति को वरदान दे चुका हूँ । वे ही इस जन्म में दशरथ और कौशल्या हैं । उनके यहाँ अवतार लेकर मैं नारद के वचन सत्य करूँगा । मेरा अवतार परमशक्ति-समेत होगा । यह वाणी ब्रह्माजी-सहित सब देवतों ने सुनी । इसके विषय में लिखा है—

गगन ब्रह्म-बानी सुनि काना ; तुरत फिरे सुर, हृदय जुड़ाना ।

अतः यह वाणी स्वयं परमात्मा की थी । गोस्वामीजी ने रामचंद्र को परमेश्वर मानकर उन्हें "बिधि, हर, बिष्णु नचावनहारे ।" कहा भी है । फिर नारद-वचन सत्य कैसे हुआ ? उन्होंने तो विष्णु को शाप दिया था । बात यह है कि यद्यपि गोस्वामीजी

परब्रह्म को विष्णु से पृथक् तथा बड़ा समझते तथा राम को उन्हीं का अवतार मानते थे, तथापि कभी-कभी उनको परब्रह्म और विष्णु के बारे में भ्रम हो जाता था। इस गिरा में मनु तथा शतरूपा के स्थान पर कश्यप और अदिति का नाम भ्रम-वश ही आ गया है, क्योंकि मनु और शतरूपा की तपस्या के कथा-प्रसंग में कह दिया गया है कि वे ही दशरथ और कौशल्या होंगे। एक बार भरत के विषय में लक्ष्मण का संदेह निवृत्त करने को और दूसरी बार भुशुंडि-विषयक लोमश का आशीर्वाद सत्य करने को गगन-गिरा हुई। रामायण में कुल आठ बार गगन-गिरा है।

(५) गोस्वामीजी निंद्य मनुष्यों पर, कथा-वर्णन में, सदैव बड़ा क्रोध प्रकट करते हैं।

देखा सु-बस करम-मन-बानी; तब बोला तापस बक-ध्यानी।
एवमस्तु कहि कपट-मुनि बोला कुटिल बहोरि।
तापस नृपहिं बहुत परितोषी; चला महाकपटी अतिरोषी।
बड़ कुघात करि पातकिनि कहेसि कोप-गृह जाहु।
यह सुनि, मन गुनि सपथ बड़ि बिहँसि उठी मतिमंद।
यहि पापिनिहिं बूझि का परेऊ; छाइ भवन पर पावक धरेऊ।
कुटिल, कठोर, कुबुद्धि, अभागी; भइ रघुबंस-बेनु-बन-आगी।
सुरपति-सुत धरि बायस-भेखा, सठ चाहत रघुपति-बल देखा।
अति कृपाल रघुनायक, सदा दीन पर नेह;
ता सन आइ कीन्ह छल मूरुख अवगुन-गेह।

इसी भाँति निशाचरों को बात-बात पर गालियाँ दी गई हैं।

(६) गोस्वामीजी ने रामायण की कथा में अपनी ओर से कुछ बढ़ा-घटा देने के विषय में स्वयं लिख दिया है—

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।

इसी से इनकी कथा कहीं-कहीं वाल्मीकिजी से पृथक् हो जाती

है। इन्होंने स्वयंवर के समय सीता को छोटी कन्या की भाँति नहीं दिखलाया। रामचंद्र से धनुष सभा में ही तुड़वाया है, सभा-विसर्जन हो जाने के पीछे एकांत में नहीं। जनक का प्रण केवल धनुष उठाने और चढ़ाने का था, न कि उसे तोड़ने का, परंतु रामचंद्र ने उसे चढ़ाया, और वह टूट भी गया। अतः राम के ऊपर स्वल्प-मात्र भी लांछन न लगने देने के अभिप्राय से इन्होंने जनक से धनुष तोड़ने ही का प्रण कराया। इन्होंने रामचंद्र का प्रभाव बढ़ाने के अभिप्राय से परशुराम को सभा में बुलाया; किंतु अन्य रामायणों में बरात लौटती समय रास्ते में परशुराम का आना कहा गया है। गोस्वामीजी ने यह नहीं लिखा कि परशुराम का तेज भी रामचंद्र ने ग्रहण किया। इसका कारण यह है कि यह रामचंद्र को परमेश्वर और परशुराम को विष्णु का अवतार मानते थे। अतः परमेश्वर में वैष्णव तेज का होना कैसे लिखते? जयंत ने काग होकर सीता के चरण में चोंच नहीं लगाई थी, वरन् कामोन्माद-वश उन्हें वस्त्र-हीन करने का प्रयत्न किया था। गोस्वामीजी ने अपनी भक्ति के कारण उसकी प्रेमासक्ति न लिखकर चरण में चोंच मारना-भर लिख दिया है।

(७) इन्होंने समय और स्थान का परिमाण कहीं-कहीं बहुत बढ़ाकर लिखा है—

बीते संबत सहस सतासी; तजी समाधि संभु अबिनासी।
कह मुनि तात भयो अँधियारा; जोजन सत्तरि नगर तुम्हारा।

यह भी संभव है कि कपटी मुनि ने ७० योजन दूर नगर का होना झूठ कहा, ऐसा प्रकट करना कवि को अभीष्ट हो *।

मास दिवस का दिवस भा, मरमु न जानइ कोइ।

(८) युद्ध-वर्णन में इन महाशय ने प्रथम दिन हनुमान् और

* यह सत्तर योजन भानुप्रताप एक ही दिन के शिकार में चले गए थे।

अंगद की प्रधानता रक्खी है, और एक ही दिन के युद्ध में "आधा कटक कपिन संहारा।" द्वितीय दिन मेघनाद की प्रधानता रही, परंतु यह विजयी निशाचरों को भी किसी-न-किसी प्रकार नीचा दिखा दिया करते थे। मेघनाद ने जब लक्ष्मण को मूर्च्छित कर दिया, तब वह उन्हें उठा ही न सका। इसी प्रकार उन्हें मूर्च्छित करके रावण भी नहीं उठा सका, और हनुमान् का घूँसा लगने से आप ही गिर पड़ा। ऐसी ही कई और घटनाएँ कही गई हैं, जिनका उल्लेख हम लंका-कांड की समालोचना में कर चुके हैं। जान पड़ता है, गोस्वामीजी की भक्ति उन्हें निशाचरों की प्रसन्नता में कुछ-न-कुछ दुःख मिला देने के लिये विवश करती थी। तीसरे दिन कुंभ-कर्ण ने समस्त वानर-सेना को परास्त कर दिया, और रामचंद्र को घोर युद्ध करके उसका वध करना पड़ा। रामचंद्रवाली दूसरे दिन की लड़ाई बहुत थोड़ी है। चौथे दिन मेघनाद ने समस्त सेना को बहुत व्याकुल किया, और लक्ष्मण को मोहित करके रामचंद्र को भी नाग-पाश से बाँध लिया। मेघनाद-वध के पश्चात् पाँचवें दिन स्वयं रावण युद्ध के लिये आया। इस अवसर पर उसके पराक्रम को कुंभकर्ण और मेघनाद के पराक्रम से अधिक दिखलाने के अभिप्राय से इन्होंने पहले विभीषण से यह विचार कराया कि रथी रावण से राम पैदल न लड़ सकेंगे, और फिर इंद्र से भी यही सोच-विचार कराकर रथ भिजवा दिया। कुंभकर्ण और मेघनाद के युद्ध में कभी इसका विचार भी किसी को नहीं हुआ था। केशवदास ने भी कुछ यही समझकर लिखा है—

चढ़ि हनूमंत पर रामचंद्र तब रावण रोक्यो जाई।

वाल्मीकि ने रावण की चलाई शक्ति लक्ष्मण के लगने पर द्रोणाचल मँगवाया है। गोस्वामीजी ने यह महत्त्व इस कारण मेघनाद को दिया कि रावण का गुरुत्व वह भली भाँति स्थापित

करनेवाले थे ही, अतः मेघनाद को कुछ भी बड़ाई न मिलने पर उसका वीरत्व बिलकुल फीका पड़ जाता। छठे दिन रावण के यज्ञ का विध्वंस किया गया, और वह बड़े क्रोध से युद्ध करने को आया। इसी दिन पहलेपहल राम-रावण-युद्ध हुआ। इस दिन रावण ने एक बार राम के सारथी और दूसरी बार घोड़ों को गिरा दिया, और दोनो बार उन्हें स्वयं राम ही ने उठाया। इससे जान पड़ता है कि युद्ध इतना विकराल हो रहा था कि किसी दूसरे को बीच में आने का साहस नहीं हुआ। प्रथम तीन दिन की लड़ाइयों में वानरों ने राम की ओर से युद्ध आरंभ किया, परंतु अंतिम दिनों में निशाचरों ही की तरफ़ से लड़ाई शुरू हुई। सातवें दिन रावण ने बड़ा प्रचंड युद्ध करके रामचंद्र के अतिरिक्त समस्त सेना को पराजित और मूर्च्छित कर दिया। फिर बड़े ही क्रोध और उद्दंडता के साथ राम-रावण का लोमहर्षण युद्ध शुरू हुआ। इस युद्ध को गोस्वामीजी ने बड़ी उत्कृष्ट और प्रभावशाली भाषा में बड़ी अच्छी रीति से वर्णन किया है। यही दशा रावण के पहले दो दिनों के युद्धों की भी रही थी। अंत को बहुत-से अपशकुन होने के बाद रावण का वध हुआ। सात दिन के युद्ध में एक दिन स्फुट, एक दिन कुंभकर्ण से, दो दिन मेघनाद से और तीन दिन रावण से युद्ध हुआ है। कुछ लोगों का मत है कि गोसाईं-जी का युद्ध-वर्णन शिथिल है, परंतु हमारी समझ में उसमें शैथिल्य का नाम तक नहीं है; हाँ, उन्होंने युद्ध का बहुत विस्तार नहीं किया।

भवभूति ने अपने महावीर-चरित्र में लिखा है कि रावण ने धनुष-भंग होने पर परशुराम को राम के विरुद्ध भेजा, जिसमें कुछ करना न पड़े, और शत्रु-नाश हो जाय। इसी तरह ताड़का, सुबाहु, मारीच, खर, दूषण, त्रिशिरा, विराध, कबंध आदि सब रावण के ही भेजे हुए गए थे, परंतु तुलसीदास ने ये बातें नहीं लिखी हैं।

एक प्राचीन तामिल रामायण में बालि, सुग्रीव तथा हनुमान् रावण के वैवाहिक संबंधी कहे गए हैं, और कई अन्य भी विचित्र कथन उसमें हैं।

(६) गोस्वामीजी ने अपने नायक तथा उपनायकों का शील-गुण आद्योपांत एकरस निबाह दिया है। शील का कथन करने में इन महाकवि ने पूरा ध्यान दिया है, और उसमें इन्हें सफलता भी प्राप्त हुई है।

(क) रामचंद्र को गोस्वामीजी ने सब गुणों का आकर माना है। जो कोई देखता था, वह इनके रूप को देखते ही मोह जाता था। विश्वामित्र, परशुराम, जनक, जनकपुर-वासी, गुह, मार्ग के ग्रामवासी, शूर्पणखा और खर-दूषण तक इनका रूप देखकर मोहित हो गए। निरभिमान इतने थे कि विश्वामित्र के पैर तक दबाते, और सरल-स्वभाव इतने कि इन्होंने सीता को देखने और उन पर एक प्रकार से मोहित होने तक का हाल विश्वामित्र से कह दिया। गंभीरता इतनी थी कि विश्वामित्र की आज्ञा पाते ही बेधड़क धनुषभंग के वास्ते खड़े हो गए। इसी प्रकार, परशुराम को देखकर सब लोग डर गए थे, परंतु इनको कुछ भी हर्ष-विषाद नहीं हुआ। ब्राह्मणों को इतना मानते थे कि परशुराम के बहुतेरे दुर्वाक्य सुनाने पर भी इनको क्रोध न आया। इनकी सर्वप्रियता अभिषेक का विचार सुनते ही दशरथ के प्रधान कृपा-पात्र सुमंत के हर्ष-गद्गद हो जाने से विदित होती है। भरत का सबसे बढ़कर प्यार करते थे। लक्ष्मण को भी इतना चाहते थे कि उनके पीछे नारी-हानि तक सहना स्वीकार था। गुरु-महिमा तो इनसे कोई सीख सकता है। आत्मत्याग इतना अधिक था कि इन्हें जान पड़ा—

बिमल बंस यह अनुचित एका ; अनुज बिहाइ बड़ेहि अभिषेका।

प्रजाओं का इतना प्यार था कि इनके वियोग में उनको जीना भी

भारू था। जो कोई देखता था, वही सेवा करने को उद्यत हो जाता था। सच्चे प्रेम के इतने वश थे कि अनार्य-जाति की शबरी के जूठे बेर तक खाए। भक्तवत्सल बहुत बड़े थे—

सुनु सुरेस रघुनाथ-सुभाऊ ; निज अपराध रिसाइँ न काऊ।
जो अपराध भगत कर करई ; राम - रोष-पावक सो जरई।

भरत के आगमन पर इतने प्रेम-गद्गद हो गए—

उठे राम अति प्रेम अधीरा ; कहुँ धनु, कहुँ निखंग, कहुँ तीरा।

गोस्वामीजी ने इनके शील, संकोच और दयालुता की बार-बार प्रशंसा की है। मुनियों का कष्ट देखकर निशिचर-हीन मही करने की प्रतिज्ञा की। सुग्रीव की विपत्ति देखकर भुजाएँ फड़क उठीं। यह महाराज बड़े ही दृढ़-प्रतिज्ञ थे, यहाँ तक कि जब कभी लंका-विजय में संदेह होता था, तो सीता के न मिलने का या अपनी बदनामी का उतना शोक नहीं करते थे, जितना विभीषण को लंका न दे सकने का। आज्ञा-पालक इतने थे कि स्वयं दशरथ की अनिच्छा होने पर भी उनकी आज्ञा का पालन किया। शूर्पणखा का विरूपकरण-मात्र इनका एक ऐसा कार्य है, जिसका समर्थन नहीं किया जा सकता। शूद्रमुनि का वध गोस्वामीजी ने नहीं लिखा है, और न किसी मान्य ग्रंथ में उसका कथन है। बालि को ओट से मारने का कारण यह जान पड़ता है कि बड़े शत्रु को छल से भी मारने में दोष नहीं है, यह प्रमाणित करना इन्हें अभीष्ट था। शायद उस वानर के भागने का भी भय हो। इस घटना के पूरे कारण प्राचीन ग्रंथों में अकथित हैं। राम का सामर्थ्य मानते हुए यह छल-कार्य पूर्णतया समझ में नहीं आता। बालि के अनुचित आचरण के कारण उससे क्रुद्ध थे, परंतु उसने ज्यों ही दीन वाक्य कहे कि इनका सब क्रोध तुरंत शांत हो गया। इतने दयालु होने पर भी इन्हें उचित क्रोध आता था—

सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी ; पावा राज, कोष, पुर, नारी ।
जेहि सायक मैं मारा बाली ; तेहि सर हतउँ मूढ़ कहँ काली ।

चित्त में कृतज्ञता इतनी अधिक थी कि इन्होंने हनुमान् से कहा—

प्रतिउपकार करउँ का तोरा ; सनमुख ह्वइ न सकत मुख मोरा ।

इनका यह प्रण था—

कोटि विप्र अघ लागइ जेही ; आए सरन न त्यागउँ तेही ।

इनकी शूरता, पांडित्य आदि के उदाहरण रामायण-भर में भरे पड़े हैं । गोस्वामीजी रामचंद्र को परब्रह्म का अवतार मानते थे ।

(ख) श्रीसीताजी को गोस्वामीजी ने आदि-शक्ति का अवतार माना है । इनके शील-गुण में कवि ने पति-प्रेम और सभय-प्रकृति को प्रधान रक्खा है । रामचंद्र के वन जाने पर वियोग सहा नहीं गया, और यह उनके साथ ही चली गईं । स्वयंवर में राजों का उपद्रव और परशुराम का आगमन होने पर बहुत डर गईं । मारीच की पुकार को रामचंद्र की आवाज़ समझ, भय-विह्वल होकर इन्होंने मर्म-भेदी वचन तक कह डाले, और लछमण को राम के पास भेज ही दिया । रावण ने एक महीने में वध करने की धमकी-भर दी थी, परंतु इनको सचमुच डर मालूम हुआ—

मास दिवस बीते मोहिं मारिहि निसिचर पोच ।

इतनी भीरु होने पर भी इन्होंने रावण की अनुचित बातचीत पर उसे ख़ूब फटकारा । अति रूपवती होने के कारण ही बहुधा इन्हें क्लेश सहना पड़ा । इनकी प्रकृति का सार निम्न-लिखित छंदों द्वारा विदित होता है—

तब रावन निज रूप दिखावा ; भइ सभीत जब नाम सुनावा ।
कह सीता धरि धीरज गाढ़ा ; आइ गए प्रभु, खल रहु ठाढ़ा ।

जेहि बिधि कपट-कुरंग सँग धाइ चले श्रीराम ;
सोइ छबि सीता राखि उर रटति रहति हरि-नाम ।

(ग) भरत में रामचंद्र का अलौकिक प्रेम बहुत ही विशेष था, और यह बात सब लोगों को भले प्रकार विदित भी थी, जैसा स्वयं दशरथ ने कैकेयी से कहा—

चहत न भरत भूप-पद भोरे ; बिधि-बस कुमति बसी जिय तोरे ।

प्रजा-वर्ग में भी यदि कहीं कोई भ्रम-वश कह देता था कि भरत भी माता के कुमंत्र में शरीक हैं, तो दूसरे तुरंत ही उसकी बात का खंडन कर देते थे । भरत का प्रेम गोस्वामीजी ने उस चरम सीमा तक पहुँचा दिया है, जिससे विशेष वर्णन करना प्रायः असंभव है । उसको कवि ने यहाँ तक कहा है—

अगम सनेह भरत, रघुबर को; जहँ न जाइ मन बिधि, हरि, हर को ।

बड़े गंभीर होने पर भी अपनी माता की कुटिलता देखकर उन्हें बुरा-भला कहा, जो अनुचित भी नहीं है । इतनी अधिक अपराधिनी होने पर भी मंथरा को जब शत्रुघ्न मारने लगे, तो इन्होंने छुड़ा दिया । गोस्वामीजी ने इनकी बुद्धिमत्ता और वक्तृत्व-शक्ति के भी अच्छे उदाहरण दिखलाए हैं । स्वार्थ-त्याग की मात्रा बहुत अधिक थी । जिस राज्य के लिये राजों में प्रतिदिन झगड़े-बखेड़े होते हैं, और जिसके कारण भाई-भाई और बाप-बेटों तक में युद्ध हुआ करते हैं, उसी राज्य को पाकर भी छोड़ देना इन्हीं के समान महानुभाव का काम था । स्वार्थ-त्याग के इससे बढ़कर उदाहरण इस स्वार्थी संसार में कम मिलेंगे । जब अपने पुरुषार्थ से भी इन्होंने तक्षशिला और पुष्कर-क्षेत्र जीते, तब भी स्वयं राज्य न करके उन स्थानों पर अपने तक्ष और पुष्कर-नामक पुत्रों को स्थापित करके आप अयोध्या लौट गए । इससे इनका भ्रातृप्रेम भी प्रकट है । अपने उत्तरदायित्व को इतना समझते थे कि अंत में जब रामचंद्र ने वनवास या अयोध्या के लौटने का निर्णय इन्हीं पर छोड़ दिया, तब इन्होंने लौटने के लिये हठ नहीं किया, क्योंकि पिता की

आज्ञा का उल्लंघन करना घोर पाप था। पराक्रम भी असीम था। इनके एक ही विना फल (गाँसी) के बाण से हनुमान्-जैसे वीर भी गिर पड़े, जिस पर इन्होंने उनसे कहा—

चढ़ु मम सायक सैल-समेता ; पठवउँ तोहिं जहँ कृपानिकेता।

गोस्वामीजी को इनके पराक्रम-वर्णन का अवसर कभी नहीं मिला, अतः उन्होंने इस स्थान पर इन्हीं दो-चार छंदों द्वारा वह भली भाँति दिखला दिया। रूप रामचंद्र से इतना मिलता-जुलता था कि इन्हें तथा रामचंद्र के पहचानने में लोग धोका खा जाया करते थे। यद्यपि समस्त अयोध्या-कांड में भी रामचंद्र की प्रधानता वर्तमान है, तथापि इसके उत्तरार्द्ध के वास्तविक नायक महात्मा भरत ही हैं। हम इन्हीं के साथ अयोध्या में जाते, फिर जाकर रामचंद्र से मिलते और वन का परिभ्रमण करके ससैन्य अयोध्या को लौट आते हैं। अयोध्या-कांड के द्वितीयार्द्ध में यही कथन है। उसमें राम का वर्णन उतना ही है, जितना वह भरत से संबंध रखता है। अंत में गोस्वामीजी कहते हैं—

भरत-चरित करि नेम तुलसी जे सादर सुनहिं ;
सीय-राम-पद-प्रेम अवसि होइ भवरस-बिरति।

पूरन भरत-प्रीति मैं गाई ; मति-अनुरूप अनूप सुहाई।
अब प्रभु-चरित सुनहु अति पावन; करत जो बन सुर-नर-मुनि-भावन।

गोस्वामीजी ने भरत को ईश्वर का चतुर्थांश माना है। सरस्वती ने इंद्र से भरत के विषय में कहा—

मोसन कहहु भरत-मति फेरू ; लोचन सहस न सूझ सुमेरू।

इस वाक्य से कवि ने यह भी स्पष्टता-पूर्वक कह दिया कि बुराई का प्रभाव दुर्बल-चित्त मनुष्यों पर ही पड़ता है, न कि दृढ़-चित्त महानुभावों पर। वास्तव में रामायण ने सब बातों में भरत को

राम का प्रतिबिंब माना है। भरत के विषय में श्रीराम स्वयं लक्ष्मण से कहते हैं—

तात तुम्हारि सपथ, पितु-आना; सुचि सुबंधु नहिं भरत-समाना।

(घ) लक्ष्मण में रामचंद्र की आज्ञा पालन और स्नेह के भाव खूब ही मिल गए थे। इन्होंने राम के लिये माता-पिता, भाई, स्त्री, राज्य-सुख आदि सभी कुछ छोड़ दिया। जिस समय राम के साथ वन को जानेवाले थे, और इन्हें भय था कि वह ले जायँ या न ले जायँ, वहाँ यह—

कहि न सकत कछु, चितवत ठाढ़े; दीन मीन जनु जल ते काढ़े।

इनको अधिक बातचीत करना पसंद न था। यह वाक्य-शूर न होकर कर्म-शूर थे। जब राम ने समुद्र से रास्ता माँगा, तब इन्हें बुरा लगा, और जब उसे धमकाने को धनुष-बाण उठाया, तब यह प्रसन्न हुए। कर्म-शूरता और युद्ध-शूरता के साथ-ही-साथ इनमें क्रोध की मात्रा भी अधिक थी, यहाँ तक कि यह दासियों तक को पीटा करते थे—

हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे; दीन्हि लषन सिष अस मन मोरे।

जब स्वयंवर में जनक ने पृथ्वी को वीर-विहीन कह दिया, तब इन्हें अमर्ष हो आया। इसी प्रकार राजों की युद्ध-चेष्टा को देखकर भी इन्हें क्रोध आया। राम के वनवास से इन्हें दशरथ, कैकेयी और भरत पर अत्यंत क्रोध था, यहाँ तक कि स्वयं सुमंत के सम्मुख इन्होंने दशरथ के प्रतिकूल कटु वाक्य कह दिया। और भी—

कहँ लगि सहिय, रहिय मन मारे; नाथ साथ, धनु हाथ हमारे।
आइ बना भल सकल समाजू; प्रकट करौं रिस पाछिलि आजू।
केकयि कहँ पुनि-पुनि मिले जिय कर छोभ न जाय।

इनमें चपलता की मात्रा भी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। परशुराम से राम के सामने ही लड़े पड़ते थे। इसी प्रकार राम को थोड़ा-सा

भी क्रोधित देखकर यह सुग्रीव को मार डालने के लिये उद्यत हो गए। साहसी इतने थे कि कोई कैसा भी बली क्यों न हो, उससे लड़ने को प्रस्तुत हो जाते थे। इन्होंने यहाँ तक कह डाला कि यदि शंकर भी सहाय करें, तो भरत को और वैसे ही मेघनाद को मार डालूँगा। मेघनाद को इन्हीं ने मारा।

(ङ) हनुमान् अनुपम भक्त, बली और साहसी थे। इनको राम-काज जितना प्रिय था, उतना जीवन भी न था। इन्होंने सुरसा से कहा कि मैं सीता की सुधि राम को सुनाकर तेरा आहार बनने का तुझे वचन देता हूँ, परंतु तू मुझे अभी जाने दे। जानकी से अजर, अमर और बल-निधि होने का वर पाकर उतने प्रसन्न नहीं हुए, जितने यह सुनकर कि राम तुम पर कृपा करेंगे। सुग्रीव के राम-काज भुला देने पर इन्हीं ने उन्हें सचेत किया। जामवंत से अपने बल की प्रशंसा सुनकर इतना साहस बढ़ा कि यह पर्वताकार हो गए। रामचंद्र को इन्हीं पर अधिक भरोसा था, अतः जब सब वानर, भालु जानकी को खोजने जा रहे थे, तब उन्होंने इन्हीं को मुद्रिका दी। कठिन कार्य के करने को सदा इन्हीं की नियुक्ति होती थी—यथा, समुद्र-पार जाना, लंका से सुषेण वैद्य को लाना, लक्ष्मण के वास्ते रात-भर में ही द्रोणाचल से औषध लाना आदि। बलवान् इतने थे कि द्रोणाचल को उठा लिया, और एक-ही-एक मुष्टिक मारकर मेघनाद, कुंभकर्ण, रावण आदि वीर भटों तक को गिरा दिया। जहाँ कठिन कार्यों के लिये भेजे जाते थे, वहाँ आनंद के कार्यों पर भी जाने का इन्हीं का हक़ समझा जाता था। लंका में विजय-वार्ता सुनाने को जानकी के पास और नंदिग्राम में रामागमन की ख़बर सुनाने को भरत के पास यही भेजे गए। यह सौभाग्य इन्हीं को प्राप्त हुआ कि भरत, लक्ष्मण आदि के होते हुए भी अयोध्या में यही पूजित हुए, और वहाँ हनुमानगढ़ी आज

तक वर्तमान है। गोस्वामीजी ने लिखा है कि हनुमान् का नाम लेते ही भूत-प्रेत निकट नहीं आते। बाहु-पीड़ा-निवारणार्थ उन्होंने इन्हीं की स्तुति की है।

(च) अंगद भी रामचंद्र के सच्चे भक्त थे। बालि मरते समय रामचंद्र को इनकी बाँह पकड़ा गया था। इनके चातुर्य और बल पर सबको भरोसा था। जिस समय संपाति से डरकर सब वानरों के प्राण सूखे जाते थे, और किसी को कोई उपाय नहीं सूझता था, उस काल इन्हीं ने जटायु का हाल कहकर सबके प्राण बचाए। रावण के यहाँ राम-दूत होकर जाने का सम्मान सर्व-सम्मति से इन्हीं को प्राप्त हुआ, और राम ने इनकी बुद्धि पर भरोसा करके कहा—

बहुत बुझाय तुमहिं का कहऊँ; परम चतुर मैं जानत अहऊँ।
काज हमार, तासु हित होई; रिपु सन किहेहु बतकही सोई।

अतः रामचंद्र ने इनके विचारों की कोई भी सीमा नहीं रक्खी थी, और पूरा अधिकार देकर इन्हें लंका भेजा। रावण की बातों का बरजस्ता उत्तर देना इनकी चतुरता को प्रकट करता है। जब इन्होंने पाँव रोपा, और वह किसी से न उठा, तब स्वयं रावण उसे उठाने को चला। उस समय इन्होंने बड़ी ही चतुरता से पैर हटाकर उसको यह मुँह-तोड़ उत्तर दिया—

मम पद गहे न तोर उबारा।
गहसि न राम-चरण सठ जाई।

गोस्वामीजी ने इनको हनुमान् के समान दिखाने के अभिप्राय से इनके हाथ से भी लंका में रावण के एक पुत्र का वध कराया है। एक बार इन्होंने रावण को भी गिरा दिया। गोस्वामीजी ने इनका युद्ध हनुमान् के समान ही वर्णन किया है, केवल समुद्र के उल्लंघन में कहला दिया—

अंगद कहा, जाउँ मैं पारा ; जिय संसय कछु फिरती बारा।

इनको राम ने किष्किंधा का युवराज नियत किया। इनका शील-गुण भी हनुमान्‌जी की छाया-सा था।

(छ) राम ने बालि-वध करके सुग्रीव को राजा बना दिया था। यद्यपि स्वभाव से यह साधु थे, तथापि राज्य पाने पर कुछ विषय-वश हो गए। पीछे हनुमान् के समझाने से तुरंत सँभल गए, और इन्होंने जानकीजी की खोज करने को चारो ओर वानर भेजे। यहाँ तक कहा—

विषय मोर हरि लीन्हेसि ज्ञाना।

राम के भक्तों में सुग्रीव ही ऐसे थे, जिन्होंने उनसे लाभ उतना नहीं पाया, जितनी सहायता की। राम ने इनके लिये केवल एक बाण चलाया, और इन्होंने कई मास-पर्यंत अपनी सारी सेना राम-काज में नियोजित की। अंत में उन्हीं के साथ गुप्तार घाट में गुप्त हो गए।

(ज) विभीषण को गोस्वामीजी ने राम का बड़ा भारी भक्त माना है। इन्होंने रावण से बिगड़कर राम का आश्रय ग्रहण किया, और फिर निशाचरों का संहार कराने में पूरा योग दिया। इनका भाई-भतीजों के मारे जाने की युक्तियाँ बताना हमको अच्छा नहीं लगा। इनको अनार्य-जाति की जातीयता का बिलकुल ध्यान न था। रावण से बिगड़कर जब रामचंद्र के पास चले गए, उसके बाद तो चाहे इनके बचाव में कुछ कहा भी जा सके, पर सुंदर-कांड में जो हनुमान् को इन्होंने सीता का पता दे दिया, और फिर उन्हें मारे जाने से बचाकर उनकी पूँछ जलाने-भर की सलाह दी, उससे यह अवश्य राजद्रोह और विश्वासघात के दोषी हुए। इनका चरित्र भक्ति के अतिरिक्त बड़ा निंद्य है। हमने केशवदास की समालोचना में इनके चरित्र की आलोचना की है। विशेष वहीं

देखिए। रावण के शत्रु और विमात्र भाई कुबेर के विभीषण सेनापति भी थे। इससे समझ पड़ता है कि रावण से इनका पहले भी बिगाड़ होगा। यह बात मानस*के बाहर की है।

(झ) जामवंत ऋक्षराज थे। वृद्धावस्था और बुद्धि की प्रखरता के कारण राम ने इन्हें मंत्री बनाया। सब कामों में इनका मत माना जाता था। परमवृद्ध होने पर भी पराक्रम ऐसा था कि इन्होंने मेघनाद को मूर्च्छित कर दिया, और इनकी लात खाकर रावण भी अर्द्ध-रात्रि-पर्यंत अचेत पड़ा रहा। इन्हीं ने प्रोत्साहित करके हनुमान् को लंका भेजा, और अंगद को यह कहकर रोक लिया—

किमि पठवउँ सब ही कर नायक।

(ञ) रावण लंका का राजा और रामचंद्र का प्रधान शत्रु था। इसने सीता-हरण करके उन्हें अपार दुःख दिया। यह ब्राह्मणों का नहीं, बल्कि देवतों का ही शत्रु था। ब्राह्मणों को केवल इसी कारण सताता था कि उनके यज्ञादि न कर सकने से देवगण दीन, हीन होकर आप ही पस्त हो जायँगे। रामचंद्र से यह इसी विचार से लड़ा था कि यदि वह परमेश्वर हों, तो उनके हाथ से मरकर समर में अमर-गति प्राप्त करे, और यदि कोई मनुष्य ही हों, तो दोनो भाइयों को जीतकर उनकी स्त्री हर ले। इस पुरुष-रत्न में शौर्य, पराक्रम, आत्म निर्भरता, अभिमान और राजनीतिज्ञता कूट-कूटकर भरी थी। इसका साहस अतुलनीय था। सूझ भी प्रथम श्रेणी की थी, यहाँ तक कि बात का समुचित उत्तर तत्काल ही दे देता था। विवाद में इसकी बुद्धि बड़ी ही पैनी थी। राजनीतिज्ञता तो यहाँ तक बढ़ी-चढ़ी थी कि अपने मतलब के लिये मारीच-जैसे छोटे आदमी से भी प्रणाम करके मिला, और उसके गड़बड़ करते ही साम-दाम की बात एकदम किनारे रखकर

उस भयंकर अस्त्र का प्रयोग कर बैठा, जिससे मारीच को फिर ज़बान हिलाने की भी हिम्मत नहीं हुई। रामचंद्र का पत्र इसने बाएँ हाथ से लिया, और चारो वेदों तक का पूर्ण पंडित होने पर भी उसे स्वयं न पढ़ मंत्री से ही बँचवाया। राजनीति के मामले में अनुचित-उचित का वैसा अधिक विचार नहीं करता था, और राम-लक्ष्मण की अनुपस्थिति में ही इसने सीता-हरण कर डाला। संभव है, रावण ने यह सोचकर ऐसा किया हो कि उसकी मान-हानि तो शूर्पणखा के नाक-कान कटने से हो ही चुकी थी, अतः वह भी अवश्य शत्रु का अपमान कर ले; कारण, यदि शत्रु प्रबल हुआ, तो खुले तौर पर ऐसा हो सकना असंभव था।

शूरता इतनी अधिक थी कि रामचंद्र से युद्ध करते हुए भी इसने उनकी समस्त सेना को कई बार पराजित कर दिया। बाण-विद्या में श्रीराम से और मल्ल-युद्ध में हनुमान् से सरबर करता था, यहाँ तक कि इससे लड़ने में अंजनीकुमार का भी दम उखड़ गया और उनके लिये 'संकट' आ पड़ा। आत्मनिर्भरता का यह हाल था कि यों भी 'सहज अशंक' कहलाता था। श्रीराम की चढ़ाई का हाल जानकर भी नृत्य देखता रहा, और सबके मर जाने पर बोला—

निज भुज-बल मैं बैर बढ़ावा; देहौं उतर, जो रिपु चढ़ि आवा।

मरते-मरते भी कहता रहा—

कहाँ राम, रन हतौं प्रचारी।

मंदोदरी के रोने-गाने और समझाने-बुझाने को इतना तुच्छ समझता था कि उसे सिवा हँसकर टाल देने के इसने कभी ध्यान देने लायक़ ही न समझा। मेघनाद और कुंभकर्ण के मरने पर अवश्य रोया, पर स्त्रियों को रोते देखते ही रोना बंद कर उन्हें समझाने लगा। अभिमान की मात्रा इतनी अधिक थी कि अपने

मस्तक में ब्रह्मा का यह लेख बाँचकर कि 'मैं मनुष्य के हाथ से मारा जाऊँगा,' यह हँस पड़ा, और ब्रह्मा को इसने सठिया गया समझ लिया। जटायु को देखकर सोचा—

मम कर-तीरथ छाँड़िहि देहा।

वैसे ही विभीषण के विषय में यही कहता था—

"करत राज लंका सठ त्यागा ; होइहि जव कर कीट अभागा।"

रामचंद्र को सिवा 'तपसी', 'तापस' आदि के कभी और कुछ नहीं कहा। शौर्य, आत्मनिर्भरता और अभिमान के कारण कभी किसी की सलाह या उपदेश नहीं मानता था, यहाँ तक कि इसने मारीच, विभीषण, प्रहस्त, शुक, मंदोदरी, कुंभकर्ण, माल्यवान् एवं कालनेमि-जैसे हितुओं की सलाह पर भी कभी ध्यान नहीं दिया। इसने एक काम बहुत ही बेजा किया कि विभीषण के लात मार दी। वाल्मीकि का वर्णन पढ़ने से विभीषण का और भी अधिक दोष सिद्ध होता है, क्योंकि वहाँ लात इत्यादि का कोई कथन नहीं है, और केवल साधारण बातचीत में वह बिगड़ पड़े। हनुमान् की सुंदर-कांडवाली भारी वक्तृता के उत्तर में रावण ने क्या ही चतुरता से कहा—

मिला हमहिं कपि गुरु बड़ ज्ञानी।

राजमुकुट गिर पड़ने पर जब सभासद्गण घबराए, तब कैसी चतुरता से बोला—

सिरहु गिरे संतत सुभ जाही ; मुकुट गिरे कस असगुन ताही ?

इसने रामचंद्र की बहुत-सी बातें सुन यही कहा—

बैर करत तब नहिं डरे, अब लागत प्रिय प्रान।

निदान तुलसीदास रावण को, राम का वैरी होने के कारण, जा-बेजा तो सदा ही कहा करते थे, पर इसका शील-गुण उन्होंने बहुत ही अच्छा निबाहा है।

(ट) मंदोदरी के चरित्र में भय और अहिवात की रक्षा ही प्रधान हैं। भय और स्नेह के मारे यह रावण को बहुत कड़ी-कड़ी बातें तक, समझाते-समझाते, कह बैठती थी; पर उसने इसकी बातों पर कभी यथेष्ट ध्यान नहीं दिया।

(ठ) शूर्पणखा का चरित्र ऐसा बुरा न था, जैसा साधारण लोग समझते हैं। वह रामचंद्र से व्यभिचार करने नहीं गई थी, वरन् नियम-पूर्वक विवाह चाहती थी। अपना विधवा होना प्रकट न करना उसका आदिम अपराध था। लक्ष्मण से भी विवाह करने पर झट से राज़ी हो जाना कुछ अनुचित कहा जा सकता है, किंतु वह भी एक शूर और सुपात्र थे, और जब उनके बड़े भाई ने इसका विचार मानकर इसे उनके पास भेजा, तब इसका मान जाना अनुचित भी न था। इसके साथ भगवान् का व्यवहार योग्य नहीं कहा जा सकता। कुल मिलाकर इसी का अपमान हुआ, सो भी अनुचित। वैवाहिक संबंध में स्त्री-पुरुष दोनों की ओर से अनुचित हठ हुआ ही करता है। सीता को खाने दौड़ना इसकी बेजाइयत थी, किंतु नाक-कान काटे बिना ही यदि भगा दी जाती, तो उचित होता। भारी अपमान बेजा था, विशेषतया ऐसी कुलवती का, जो शास्त्ररीत्या विवाह चाहती थी। विधवापन में कभी इसका अनुचित व्यवहार नहीं लिखा हुआ है।

(ड) कुंभकर्ण रावण का छोटा भाई था। रावण इसकी बड़ी इज़्ज़त करता था, यहाँ तक कि इनके 'शठ' कह देने पर भी वह कुछ न बोला। यह बड़ा ही प्रबल वीर था। रावण को इसका बड़ा भरोसा था। इसमें अकेले ही एक सेना के बराबर शक्ति थी। तभी तो रामचंद्र और उनकी समस्त सेना से लड़ने को निहत्था और अकेला ही चल खड़ा हुआ।

(ढ) मेघनाद में अद्वितीय पितृभक्ति और शूरता, ये प्रधान

जो पितु-मातु कहैं बन जाना।

दशरथ का स्वर्गवास हो जाने पर भी जब भरत आए, तो यह उनसे मिलने के वास्ते उठकर दौड़ीं। दशरथ के साथ सती हो जाना चाहती थीं, पर भरत के कहने तथा राम के दर्शन की अभिलाषा से रह गईं। इन्होंने भरत से राज्य स्वीकार करने के लिये बहुत हठ किया। इससे इनका महत्त्व प्रकट होता है। निम्न-लिखित दोहे से यह जान पड़ता है कि इन्हें भरत के आत्महत्या कर लेने का भय था—

लखन, राम, सिय जाहिं बन, भल परिनाम न पोच ;
गहबरि हिय कह कौसिला, मोहिं भरत कर सोच।

पुत्र-वधू से इनका व्यवहार अनुकरणीय था। इन्होंने कभी किसी को कोई अनुचित बात नहीं कही। धैर्य की मात्रा इनमें बहुत अधिक थी।

(थ) कैकेयी पहले राम को बहुत चाहतीं और उनका प्यार पुत्रवत् करती थीं, पर शायद उनके चित्त में कुछ संदेह भी कभी था, क्योंकि यह उनकी 'प्रीति-परिच्छा' ले चुकी थीं। चित्त ऐसा अभिमानी था कि यह कहती थीं—

नैहर जन्म भरब बरु जाई ; जियत न करब सवति-सेवकाई।

यह हृदय की बुरी न थीं, क्योंकि इन्होंने—

अपने चलत न आजु लगि अनभल काहुक कीन।

सौतिया-डाह तो इन्हें बिलकुल न था, यहाँ तक कि रामचंद्र के युवराज होने के विषय में दशरथ ने इनकी सम्मति लेने की कुछ भी आवश्यकता नहीं समझी। इन्होंने पहले यह ख़बर सुनकर आनंद मनाया, और कहा—

रामहि तिलक साँचु जो काली ; माँगु, देहुँ मनभावतआली।

अंत में इनके द्वारा रामचंद्र को कष्ट उठाना पड़ा। इस कारण

गोस्वामीजी से इन्हें गाली दिए बिना नहीं रहा जाता ; साथ ही, भरत की माता होने के कारण, बचाव भी करना ही पड़ता है, और इसके लिये शारदा द्वारा मति पलटने की एवं भावी इत्यादि की बातें लानी पड़ती हैं। तो भी कहना ही पड़ता है कि गोस्वामी से, राम-भक्ति के मारे, इनका शील-गुण ठीक-ठीक नहीं दिखलाते बना। उन्होंने इन्हें पहले देवी-सी कहकर अंत को पूरी पिशाची बना दिया, और महाअनुचित बातें इनके मुँह से कहलाईं। वाल्मीकीय रामायण में आया है कि कैकेयी का दशरथ से विवाह इसी नियम से हुआ था कि उन्हीं का पुत्र राजा हो। यह बात गोस्वामीजी ने नहीं कही है।

(द) सुमंत का इतना सम्मान था कि रामचंद्र इनको पिता के समान मानते थे। यह महाशय जाति के सूत थे। शायद् इसी कारण गोस्वामीजी ने इनके कुल का परिचय नहीं दिया। राम से इतना सच्चा स्नेह रखते थे कि उनके वनवास पर इनको वास्तव में बड़ा ही क्लेश हुआ। घर के बड़े-बूढ़ों के समान इनका मान होता था।

(ध) निषाद-पति गुह को रामचंद्र से ऐसा सच्चा स्नेह था कि उनके वास्ते यह भरत से लड़कर मरने को तैयार हो गया था, और भरत के साथ मार्ग में चलने में इतना प्रेम-मग्न हो गया था कि चलते-चलते रास्ता भूल गया।

(न) शिव रामचंद्र के अनन्य दृढ़ भक्त थे, यहाँ तक कि इन्होंने सती-सी स्त्री को इसी अपराध पर त्याग दिया कि उन्होंने सीता का रूप धारण करके राम की परीक्षा ली थी। इस परीक्षा में कामासक्ति की भी दुर्गंधि आ सकती थी। इसी से महादेव को सती का त्याग करना पड़ा। यह रामचंद्र के बाल-रूप के भक्त थे। प्रभाव में आप राम से कम, परंतु और सबसे बड़े थे।

रामचंद्र का ध्यान करते ही शिव प्रेमोन्मत्त हो जाते थे। यह अपना अपमान सह लेते थे, परंतु और किसी माननीय को न मानने का अपराध क्षमा नहीं कर सकते थे।

(९) काकभुशुंडि भी राम के बाल-रूप के अनन्य भक्त थे। जब गरुड़ का भ्रम किसी से दूर न हो सका, तब महादेव ने उनको इनके पास भेजा। वहाँ जाने पर उनका संदेह पूर्णतया निवृत्त हो गया।

शिव, काकभुशुंडि और गोस्वामीजी की भक्ति में कोई भेद नहीं था। इन तीनो की उपासना सब तरह समान थी।

(१०) गोस्वामीजी ने विप्रगण की महिमा का सदा गान किया, और यह कहा कि गुणी अथवा गुण-हीन, सब प्रकार के ब्राह्मण पूज्य हैं। इन्होंने अन्य कवियों की भाँति द्विज-शब्द से ब्राह्मण का बोध कराया है, यद्यपि वास्तव में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, ये तीनो द्विज हैं। यह कहते हैं कि विप्र-कोप से कोई भी नहीं बचा सकता, और कुल-भर का नाश हो जाता है। अंतिम बात पर इन्होंने बड़ा ज़ोर दिया है। विवाह के समय महादेव और राम ने पहले ब्राह्मणों को प्रणाम करके तब कुछ किया। युद्ध करने के प्रथम राम ने—

बिप्र-चरन-पंकज सिर नावा।

यह कहते हैं—

मंगल-मूल बिप्र-परितोषू ; दहै कोटि कुल भूसुर-रोषू।
सापत, ताड़त, परुष कहंता ; बिप्र पूज्य अस गावहिं संता।
पूजिय बिप्र सील-गुन-हीना ; नहिन सूद्र गुन-ज्ञान-प्रबीना।
सब द्विज देहु हरषि अनुसासन ; रामचंद्र बैठहिं सिंहासन।
पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा ; मन-क्रम-बचन बिप्र-पद-पूजा।
सानुकूल तेहि पर सब देवा ; जो तजि कपट करइ दुज-सेवा।
सुनु मम बचन सत्य अब भाई ; हरि-तोषक ब्रत दुज-सेवकाई।

अब जनि करसि बिप्र-अपमाना ; जानसि बरम्ह अनंत समाना ।
इंद्र-कुलिस, मम सूल बिसाला ; काल-डंड, हरि-चक्र कराला ।
जो इन कर मारा नहिं मरई ; बिप्र-रोष-पावक सोउ जरई ।
द्विज-निंदक बहु नरक-भोग करि ; जग जनमइ बायस-सरीर धरि ।

(११) गोस्वामीजी ने इंद्र तक देवतों को मनुष्यों से कुछ ही बड़ा और ऋषि-मुनियों से बहुत कम माना है। नारद ने जब काम को जीतने का हाल इंद्र की सभा में कहा, तब उनके इस महत्त्व पर सब देवतों को बड़ा आश्चर्य हुआ। देवता बड़े स्वार्थी और कभी-कभी कपटी भी हो जाते हैं। इनको राक्षसों से इतना भय था कि यद्यपि यह राम को परमेश्वर जानते थे, तथापि निशाचरों के युद्ध में इन्हें राम-पराजय का भय उपस्थित हो जाता था, यहाँ तक कि दो-एक बार मारे ये भय के भागे, और ऋषि-मुनि ऐसे अवसरों पर भी स्थिर रहे। यथा—

देव, दनुज, नर, किन्नर, ब्याला ; प्रेत, पिसाच, भूत, बैताला ।
तिनकी दसा न कह्यों बखानी ; सदा काम के चेरे जानी ।
सिद्ध, बिरक्त, महामुनि, जोगी ; तेऽपि काम-बस भए बियोगी ।

* * *

सकल कहहिं, कब होइहि काली ; बिघन मनावहिं देव कुचाली ।
ऊँच निवास, नीचि करतूती ; सकहिं न देखि पराइ बिभूती ।
बार-बार गहि चरन सकोची ; चली बिचारि बिबुध-मति पोची ।

* * *

कपट-कुचालि-सीवँ सुर-राजू ; पर अकाज प्रिय आपन काजू ।
काक-समान पाकरिपु - रीती ; छली, मलीन, न कतहुँ प्रतीती ।
लखि, हँसि हिय, कह कृपानिधानू ; सरिस स्वान मघवा निज बानू ।

इन वर्णनों को वेद की वंदनाओं से मिलाने पर कैसा आश्चर्य होता है ? वास्तव में हिंदू-समाज भगवान् वेद को भूल

चुका है, नहीं तो गोस्वामीजी-सा प्रतिनिधि कवि ऐसे कथन कैसे करता ?

(१२) गोस्वामीजी अन्य सभी देवतों का पूजन केवल इसी मतलब से करते थे कि उनके सहारे श्रीराम की भक्ति प्राप्त और दृढ़ हो, यहाँ तक कि शिव की भी वंदना इन्होंने कभी किसी अन्य कारण से नहीं की। यथा—

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ;
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम्।

* * *

सिव-सेवा कर फल सुत सोई ; अबिचल भक्ति राम-पद होई।

विनय-पत्रिका में गणेश, सूर्य, शिव और अन्य सभी देवतों की स्तुति करने में गोस्वामीजी केवल राम-भक्ति का वर माँगते थे, और कुछ नहीं। राम-भक्त का आप यह एक लक्षण मानते थे—

बिन छल बिस्वनाथ-पद नेहू।

इसके अनेक उदाहरण हैं।

बाल-कांड के प्रारंभ में कवि ने महादेव की इतनी बड़ी कथा इस कारण से लिखी कि श्रोता की राम-कथा सुनने की पात्रता विदित हो जाय। यथा—

प्रथम कह्यौं मैं सिव-चरित, बूझा मरम तुम्हार ;
सुचि सेवक तुम राम के रहित समस्त बिकार।

इनका यह विचार था कि—

पूजनीय, प्रिय परम जहाँ ते ; मानिय सकल राम के नाते।

इसी कारण यह शिव, भरत, कौशल्या, दशरथ, हनुमान् आदि को इतना मानते थे ; और, क्या कहें, सीता भी इसके परे न जा सकीं—

सुमिरत रामहिँ तजहिँ जन तिनु-सम बिषय-बिलासु ;
राम-प्रिया, जग-जननि सिय कछु न आचरज तासु।

देवतों में यह शिव को राम का सबसे बड़ा भक्त मानते थे, और इसी से उन्हें सबसे बड़ा देवता कहते हैं, यहाँ तक कि विष्णु से भी बढ़ा दिया है। जिस समय सब देवता विष्णु के साथ शिव से ब्याह करने की प्रार्थना करने आए, तब शिव ने उनको अन्य देवतों से पृथक् भी न माना। वह यही बोले—

कहहु अमर, आयहु केहि हेतू ?

फिर विष्णु को उनसे बात करने तक की हिम्मत न हुई, और सबकी ओर से ब्रह्मा ने कहा कि देवगण शिव का विवाह देखने को उत्सुक थे। इस स्थान पर विष्णु शिव से बहुत ही छोटे दिखलाए गए हैं। इसके पहले परब्रह्म श्रीराम शिव को विवाह करने का आदेश कर गए थे, और उनसे शिव ने कहा था—

नाथ-बचन पुनि मेटि न जाहीं।

और—

सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा ; परम धरम यह नाथ हमारा।

इसी से तो ब्रह्मा, विष्णु और अन्य देवतों की विनती सुनकर महादेव ने—

× × × समुझि प्रभु बानी; ऐसोइ होउ कहा सुख मानी।

तुलसीदास राम और विष्णु में इतना बड़ा अंतर समझते थे कि शिव राम के दास थे, और विष्णु भी शिव के वैसे ही दास थे। विष्णु अर्थात् हरि और शिववाला अंतर विनय-पत्रिका में यों दिखलाया गया है—

जोग कोटि करि जो गति हरि सों मुनि माँगत सकुचाहीं;
बेद-बिदित तेहि पद पुरारि-पुर कीट, पतंग समाहीं।

एवं—

सिद्ध-सनकादि-योगींद्र-बृंदारका-विष्णु-बिधि-बंद्य-चरणारबिंदम्।

यह शिव हैं। इधर राम का यह हाल है कि—

जो संपति सिव रावनहिं दीन्हि दिए दस माथ;
सो संपदा बिभीषनहिं सकुचि दीन्हि रघुनाथ।

शिव, काकभुशुंडि एवं गोस्वामीजी के प्रभु और कोई नहीं, 'दशरथ-अजिर-विहारी' राम ही थे। यथा—

पुरुष प्रसिद्ध प्रकास-निधि, प्रकट परावर नाथ;
रघुकुल-मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायउ माथ।

(१३) निर्गुण और सगुण ब्रह्म। गोस्वामीजी सगुण ब्रह्म के उपासक थे। इनका मत था कि निर्गुण ब्रह्म ध्यान-गम्य नहीं है, और सगुण ब्रह्म का ध्यान करना सहज है। जितने भक्त महानुभावों का वर्णन इन्होंने किया है, उन सभी को सगुणोपासक ही रक्खा है। यथा—शिव, काकभुशुंडि, शरभंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि। भगवान् वेद को भी इन्होंने सगुणवादी माना है। निर्गुण-सगुण का कुछ सविस्तर वर्णन इस ग्रंथ में कबीरदासवाले लेख में आवेगा। वेदों में अवतार का कथन तो है नहीं, किंतु परमेश्वर का है। इनके मत से सगुणोपासक मोक्ष नहीं चाहते, और न ईश्वर में लीन होते हैं—

ताते मुनि हरि-लीन न भयऊ; प्रथमहिं राम-भगति बर लयऊ।

वेदा ऊचुः—

जे ब्रह्म, अज, अद्वैत, अनुभव-गम्य मन पर ध्यावहीं;
ते कहहु जानहु नाथ, हम तव सगुन जस नित गावहीं।
सगुन - उपासक परम हित निरत नीति दृढ़ नेम;
ते नर प्रान दु समान मोहिं, जिनके दिज-पद-प्रेम।

(१४) गोस्वामीजी ने रामचंद्र को परब्रह्म ज्योतिःस्वरूप माना है। उनको ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि का स्रष्टा और शासन-कर्ता कहा है, तथा सर्वव्यापी, अनीह, अनाम, अरूप परब्रह्म का अवतार वर्णन किया है। इन्होंने सती तथा काकभुशुंडि के मोह में

ब्रह्मा, विष्णु और महेश के अनेक रूप वर्णन किए हैं, परंतु राम का रूप कहीं भी दूसरा नहीं कहा। इन्होंने जगत् को प्रकाश्य और राम को उसका प्रकाशक, अनीह, अनंत, अज और अद्वैत माना है, परंतु परब्रह्म का रूप वही वर्णन किया है, जो विष्णु का है। मनु और शतरूपा रानी की कथा देखिए। इसी प्रकार सीताजी को इन्होंने आदि-शक्ति का अवतार माना है। राम और सीता के इन सब गुणों को सैकड़ों स्थानों पर कहा है; परंतु फिर भी इस बात पर ज़ोर देते गए हैं कि वह दशरथ-अजिर-विहारी राम का वर्णन कर रहे हैं। इन सब बातों के होते हुए भी इन्होंने कहीं-कहीं राम को विष्णु और सीता को लक्ष्मी का अवतार भी कह दिया है—

अति हरख मन, तन पुलक, लोचन सजल पुनि-पुनि कह रमा।
नख-निर्गता, सुरबंदिता, त्रयलोक - पावनि सुर-सरी।

इन स्थानों पर कवि ने सीता-राम को लक्ष्मी-नारायण माना है। नारद-मोह के संबंध में भी इन्हें ऐसा ही भ्रम हो गया था। शेष स्थानों पर राम तथा सीता को परब्रह्म और आदि-शक्ति माना है—

आदि सकति, जेहि जग उपजाया; सो अवतरिहि मोरि यह माया।
उमा, रमा, ब्रह्मानि - बंदिता; जगदंबा, संतत अनिंदिता।
एक, अनीह, अरूप, अनामा; अज, सच्चिदानंद, परधामा।
व्यापक, बिस्व-रूप भगवाना; तेइ धरि देह चरित कृत नाना।
आदि, अंत कोउ जासु न पावा; मति-अनुमान निगम अस गावा।
बिनु पग चलइ, सुनइ बिनु काना; कर बिनु करम करइ बिधि नाना।
आनन-रहित सकल रस-भोगी; बिनु बानी बकता, बड़ जोगी।
तनु बिनु परस, नयन बिनु देखा; गहइ घ्रान बिनु बास असेखा।
जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान;
सोइ दसरथ-सुत भगत-हित कोसल - पति भगवान।

जगत प्रकास्य, प्रकासक रामू ; मायाधीस, ज्ञान - गुन - धामू ।
संभु, बिरंचि, बिष्णु भगवाना ; उपजहिं जासु अंस ते नाना ।
ऐसो प्रभु सेवक-बस अहई ; भगत-हेतु लीला-तनु गहई ।
सुनि सेवक सुर-तरु सुर-धेनू ; बिधि-हरि-हर - बंदित पद-रेनू ।
सारद कोटि अमित चतुराई ; बिधि सत कोटि अमित निपुनाई ।
बिष्णु कोटि सम पालन-करता ; रुद्र कोटि सत-सम संहरता ।
निरवधि, निरूपम राम-सम नहिं आन निगमागम कहैं ;
जिमि कोटि सत खद्योत रबि कहँ कहत अति लघुता लहैं ।

(१९) रामचंद्र के विषय में इनके बहुत ऊँचे विचार थे ही, सो जब उनके विषय में यह कोई साधारण मनुष्यों के समान घटना का वर्णन करते थे, तब दो-एक सिफ़ारिशी बातें अवश्य लिख देते थे । ऐसे छंद रामायण में स्थान-स्थान पर भरे पड़े हैं—

जाकी सहज स्वास स्रुति चारी ; सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी ।
लव-निमेख महँ भुवन-निकाया ; रचइ जासु अनुसासन माया ।
भगत-हेतु सोइ दीनदयाला ; चितवत चकित धनुष-मख-साला ।
जासु त्रास डर कहँ डर होई ; भजन-प्रभाव देखावत सोई ।
सुमिरत जाहि मिटइ भव-भारू ; तेहि स्रम यह लौकिक व्यवहारू ।
निगम नेति सिव ध्यान न पावा ; माया-मृग पीछे सोइ धावा ।

अपने यहाँ अवतार का विचार बहुत पीछे उठा है । ऋग्वेद में शक्ति केवल ईश्वर में है, अन्य देवतों में नहीं । यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में शिव ईश्वर हैं । उपनिषदों में भी है ऐसा ही, किंतु कहीं-कहीं विष्णु के रूप नारायण ईश्वर के पुत्र या ईश्वर हैं । उपनिषत् निर्गुण ब्रह्म को ठीक तथा सगुण को अशुद्ध मानते हैं । अनंतर बृहस्पतिवाले चार्वाक मत के भारी प्रचार के प्रभाववश कपिल, जैमिन और गौतमबुद्ध की शिक्षा से निर्गुण के साथ ही

ईश्वरवाद भी लुप्त होने लगा। बौद्ध और जैन-मतों से निर्गुणेश्वर वाद को और भी आघात पहुँचा। तब भगवान् बादरायण व्यास ने भगवद्गीता द्वारा प्रतीकोपासना के सहारे पहलेपहल सगुणवाद तथा वैष्णव अवतार का प्रतिपादन किया। गीता के पूर्व शतपथ ब्राह्मण में प्रजापति मत्स्य, कच्छ और वराह थे। यही कथन विष्णु-पुराण का है। तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्रजापति वराह थे। शतपथ ब्राह्मण और मनु में ब्रह्मा नारायण हैं। वाल्मीकीय रामायण और लिंगपुराण में ब्रह्मा वराह हैं। विष्णु ऋग्वेद में इंद्र से कम हैं। यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में शिव की उन्नति हुई, किंतु विष्णु की नहीं। उपनिषदों में विष्णु देवतों में तो सर्वोच्च हुए, किंतु ईश्वर नहीं। शतपथ ब्राह्मण में वामन लेटे-लेटे सारी पृथ्वी पर फैलकर उसे जीतते हैं, डगों से नहीं। मैत्रेय उपनिषत् में भोजन विष्णु का रूप है। कठोपनिषत् में मानुष-उन्नति का चरमोत्कर्ष विष्णु का परमपद पाना है। परमपद विष्णु का ऋग्वेद में भी है। शतपथ में नारायण परमात्मा से उत्पन्न हैं। तैत्तिरीय आरण्यक में नारायण परमात्मा हैं। महाभारत में वह पंचरात्र का मत निकालते हैं, जिसमें वासुदेव की महिमा है। बौद्ध-मत-प्रसार के पीछे हमारे यहाँ गीता में पहलेपहल श्रीकृष्ण विष्णु के अवतार कहे गए। यह पाँचवीं शताब्दी संवत् पूर्व की बात है। इससे प्रायः सौ वर्ष पूर्व पाणिनि वासुदेव को पूज्य देवता मानते हैं। अनंतर पौराणिक ग्रंथों में राम, कृष्ण आदि अवतार हुए। अवतार का विचार सबसे पहले कृष्ण से चला, और उन्हीं का पूजन हुआ। वाल्मीकीय रामायण के प्राचीन भाग में रामचंद्र अवतारी नहीं हैं, किंतु नवीन में हैं, जहाँ लक्ष्मणादि भी अवतार हैं। यह व्यूह-पूजन है, जिसका सबसे पुराना कथन चौथी शताब्दी संवत् पूर्व के बौद्ध-ग्रंथ निद्देश में है। इसके पीछे श्रीकृष्ण-पूजन के तो अनेक

ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं, किंतु पुराणों के अनिश्चित कालवाले कथनों से इतर राम के नहीं मिलते। अमरकोष तथा पतंजलि में भी राम-नाम नहीं है। इधर आकर सं० १०७० का जैन-ग्रंथ धर्म-परीक्षा राम तथा गौतमबुद्ध को अवतार कहता है। आगे चलकर माधवाचार्य ने सीताराम की मूर्ति का पूजन किया, ऐसा लिखा है। यह सं० १३२१ की घटना है। कालिदास पाँचवीं शताब्दी के समझे जाते हैं। आपने राम को अवतार माना है। तेरहवीं शताब्दी के दाक्षिणात्य मंत्री हेमाद्रि ने रामनवमी का व्रत व्रतखंड में लिखा है। हरिवंश, महाभारत, श्रीभागवत, वायु-पुराण आदि में राम अवतार हैं, किंतु पौराणिक ग्रंथ गुप्त-काल में नव-संपादन के साथ पूर्ण किए गए, जिससे उनका कोई विशेष कथन गुप्त-काल से पुराना नहीं माना जाता है। इलोरा की मूर्तियाँ तीसरी से नवीं शताब्दी तक की हैं। उनमें रावण के चित्र हैं। खजराहो और जगन्नाथजी के मंदिरों में भी राम तथा दशावतार की पाषाण-मूर्तियाँ हैं। इनका समय दसवीं से बारहवीं शताब्दी तक का है। वाल्मीकीय रामायण सातवीं शताब्दी संवत् पूर्व का ग्रंथ सबसे पुराना अवतार शून्य राम का कथन करता है। बौद्ध जातकों में तीन, राम का वर्णन करते हैं। ऋग्वेद में एक यज्ञकर्ता राम लिखे हैं, किंतु रावणारि नहीं। अतः प्रकट है कि श्रीकृष्ण पाँचवीं शताब्दी संवत् पूर्व से अवतार माने गए तथा राम संवत् की चौथी-पाँचवीं शताब्दी से।

(१६) ज्ञान, भक्ति। गोस्वामीजी ने भक्ति का दर्जा सबसे ऊँचा रक्खा है। इस विषय पर रामायण-भर में आपने जगह-जगह पर बहुत कुछ लिखा है। आरण्य और उत्तर-कांडों में तो अपना मत साफ़-साफ़ प्रकट रूप से कहा है। यह महापुरुष अनन्य भक्त थे। भगवान् व्यास ने श्रीमद्भगवद्गीता में ज्ञान-भक्ति के विषय में

बहुत कुछ कहा है। गीता में राम शस्त्रभृत का कथन भी है। यह वर्णन परशुराम, रामचंद्र या बलराम में से किसी एक का होने से निश्चय-पूर्वक राम से संबद्ध नहीं माना जा सकता। व्यासदेव एवं हिंदू-दर्शन-शास्त्रों का मत है कि मोक्ष-पद बिना ज्ञान के नहीं मिल सकता, और भक्ति-ज्ञान दृढ़ करने का, एक भारी साधन है। गोस्वामीजी ने इस मत को पूर्ण रूप से खुले-खुले नहीं ग्रहण किया, यद्यपि वास्तव में इसे माना अवश्य है।

यह कहते हैं, ज्ञान से केवल मोक्ष-पदवी प्राप्त हो सकती है, पर ज्ञान का होना इतना कठिन है कि उसका मिलना वस्तुतः असंभव है। वह केवल घुणाक्षर-न्याय से मिल सकता है, अथच यदि कहीं मिल भी गया, तो बिना भक्ति के स्थिर नहीं रह सकता। केवल भक्ति से भी मोक्ष मिलती है, परंतु भक्ति मोक्ष का साधन-मात्र नहीं है, वरन्—

राम-भगति सोइ मुकुति गोसाईं ; अनइच्छित आवै बरियाईं।
भगति करत बिनु जतन प्रयासा ; संसृति-मूल अबिद्या नासा।
भोजन करिय तृप्ति हित लागी ; जिमि सुअसन पचवइ जठरागी।
असि हरि-भगति सुगम सुखदाई ; को अस मूढ़, न जाहि सुहाई ?

कुछ लोग गोस्वामीजी को अद्वैतवादी समझते हैं। यही हमें भी समझ पड़ता है। कुछ महाशय रामानंदी होने से इन्हें विशिष्टाद्वैत-वादी भी मानते हैं। इस विषय पर बहुत-से विद्वानों ने अन्य ग्रंथों में प्रचुर परिश्रम करके गोस्वामीजी का अद्वैतवादी होना सिद्ध कर दिया है *। यहाँ इस पर विशेष विस्तार करने से ग्रंथ का आकार बढ़ जाना संभव है, अतः सूक्ष्मतया गोस्वामीजी का मत लिखा जाता है।

---

* इसका विशेष विवरण काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के गोस्वामीजी-वाले ग्रंथों के भूमिका-भाग में है।

इनका मत है कि क्रोध विना द्वैतभाव के हो नहीं सकता, क्योंकि जब जीव-मात्र ईश्वरमय अर्थात् एक हैं, तो क्रोध किस पर करे ? और, जब द्वैत-मत हुआ, तो अज्ञान आ ही गया। जब मनुष्य की द्वैत-बुद्धि छूट जाती है, तब वह परमेश्वर के बराबर हो जाता है। ऐसा होना वस्तुतः असंभव है, अतः ज्ञानी होना भी असंभव है।

क्रोध कि द्वैतक बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान ;
माया-बस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान।

ज्ञान पुरुष-रूपी है, और भक्ति एवं माया स्त्री-रूपिणी। स्त्री और पुरुष में जल्दी प्रेम हो जाता है, परंतु स्त्री के रूप पर स्त्री नहीं रीझती। अतः ज्ञान पर माया का प्रभाव शीघ्र हो जाता है, और भक्ति पर उसका असर नहीं होता। फिर ईश्वर भक्ति के अनुकूल है, अतः भक्ति से माया डरती है, और उसके पास नहीं आती। इधर दैववशात् पूरा परिश्रम सध जाने और ज्ञान-दीपक के जल जाने पर भी स्त्री-रूपिणी माया अंचल-वायु से उस दीपक को बुझा देती है। जब मनुष्य पूरा विरक्त हो जाय, तभी उसे भक्त समझना चाहिए। गोस्वामीजी का यह मत समझ पड़ता है कि पूर्ण भक्ति प्राप्त हो जाने पर अविद्या-जनित अंधकार दूर हो जाता है, भक्त को विना चाहे हुए पूर्ण ज्ञान एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है, और भक्ति द्वारा इतनी दृढ़ता हो जाती है कि माया उसके पास नहीं फटक सकती है। उधर भक्ति-हीन ज्ञान एक तो हो ही नहीं सकता, और यदि होता भी है, तो इतना अस्थिर रहता है कि वह थोड़े ही में माया के फंदे में पड़ जाता है। अतः ज्ञान बड़ा ही कठिन और दुष्प्राप्य है, एवं भक्ति बहुत ही सुगमता से प्राप्त हो सकती है। रामचंद्र कहते हैं, भक्त और ज्ञानी, दोनो मेरे पुत्र के समान हैं परंतु मैं ज्ञानी को प्रौढ़ और भक्त को बालक के समान समझता हूँ। अतः जिस प्रकार माता छोटे बालक की सँभाल रखती है, वैसे

ही मैं भक्त की हर समय रक्षा किया करता हूँ। आपके पूर्ववर्ती शंकराचार्य तथा रामानुजाचार्य ने तर्कवाद द्वारा बौद्ध और जैन पंडितों का पराभव करके लोक में पौराणिक मत की महत्ता स्थापित की। समय पर जब इस मत का कोई तर्क से सामना करनेवाला न रहा, तब परमेश्वर और नारायण के उच्च भावों का कथन-बाहुल्य छोड़कर गोस्वामीजी ने अधिक लोक-प्रिय भक्तिवाद चलाया, अथच तर्कवाद एवं ज्ञानवाद को कठिन बतलाकर भक्तिवाद के आगे उसकी हेयता दिखलाई। इतना सब होते हुए भी आपने यह भी कह दिया है कि सगुण-अवतारवाद तर्कवाद से पूर्णतया समर्थित नहीं होता, क्योंकि इसके लिये विश्वासात्मिका भक्ति की भी आवश्यकता है। आपने मुसलमानी धार्मिक दबाव से आक्रांत हिंदू-समाज का दृढ़ संगठन भक्ति के पुष्ट उपदेश से किया। भक्ति सगुणोपासना से प्राप्त होती है। उसके नाम-जप और चरित्र-गान—ये दो मुख्य साधन हैं, जो सत्संग से मिल सकते हैं। इसी कारण नामोपासना और ईश्वर-गुन-गान से परमेश्वर की प्रसन्नता होती है। ईश्वर की प्रसन्नता प्राप्त करना ही भक्त की अंतिम इच्छा है, यद्यपि ऐसा करने में उसे ज्ञान और मोक्ष बिना चाहे ही प्राप्त हो जाते हैं। गोस्वामीजी ने नवधा भक्ति कही है। यथा—(१) संतों का संग, (२) राम-कथा-श्रवण, (३) गुरु-पद-सेवा, (४) निष्कपट होकर राम-गुण-गान, (५) राम पर दृढ़ विश्वास रखकर नाम का जप, (६) दम, शील, विरति, सज्जनानुमोदित धर्म इत्यादि, (७) जगत् को राममय देखना, और राम से संतों को अधिक मानना (इसका प्रथमार्द्ध अनन्य भक्ति है। यथा—"सो अनन्य असि जाहि की मति न टरै हनुमंत ; मैं सेवक सचराचर रूप-रासि भगवंत।"), (८) संतोष करना, पर-दोष न देखना और (९) छल-हीन होकर, हर्ष-विषाद छोड़ राम का भरोसा रखना। इनमें से जिसके

एक भी हो, वह ईश्वर का प्रिय है। गोस्वामीजी के हृदय में नवधा भक्ति थी।

गोस्वामीजी ने लिखा है कि राम-भक्त चार प्रकार के होते हैं, और चारो को नाम का आधार है। इनमें ज्ञानी परमेश्वर को विशेष प्यारा है। गोस्वामीजी ने भक्ति-हीन ज्ञान का पद भक्ति से बहुत नीचा रक्खा है, और यह भी लिखा है कि भक्ति बहुत कम मनुष्यों में है। अतः इनकी रुचिवाले मनुष्यों ने और स्वयं इन्होंने जहाँ कहीं वरदान माँगा, वहाँ भक्ति ही माँगी है। इन्होंने श्रेष्ठ मनुष्यों की इस प्रकार श्रेणियाँ बाँधी हैं, जिनका माहात्म्य उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है—धर्म-व्रत-धारी, विषय-विरक्त, सम्यक् ज्ञानी, जीवन्मुक्त, ब्रह्म-निरत, विज्ञानी और भक्त।

जे ज्ञान-मान-बिमत्त तव भव-हरनि भक्ति न आदरी;
ते पाय सुर-दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी।
सरुज सरीर बादि बहु भोगा; बिनु हरि-भजन बादि जप-जोगा।
सोह न राम-प्रेम बिनु ज्ञाना; करनधार बिनु जिमि जलजाना।
रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निरबान;
ज्ञानवंत अपि सोपि नर पसु बिनु पूँछ, बिषान।
भगति-हीन गुन सुख सब ऐसे, लवन बिना बहु बिंजन जैसे।

उपर्युक्त कारणों से यह महाशय राम-नाम को रामचंद्र से भी अधिक मानते हैं। यथा—

करहुँ कहाँ लगि नाम-बड़ाई, राम न सकहिं नाम-गुन गाई।

गोस्वामीजी की भक्ति उनके रचित ग्रंथों में प्रत्येक स्थान पर झलकती है। भले मनुष्यों का तो कहना ही क्या, वह दुष्ट राक्षसों तक को भी भक्त ही कहते हैं, और यह बात प्रायः हरएक के मरते समय कह देते हैं कि—"मरती बार कपट सब त्यागा।" यही दशा मारीच, कालनेमि, मेघनाद, कुंभकर्ण, रावण इत्यादि

सभी के विषय में देख पड़ती है, यद्यपि मारीच ने मरते समय भी ज़ोर से लक्ष्मण का नाम लेकर धोका ही दिया, और उसी धोके में आकर सीता ने लक्ष्मण को ज़बरदस्ती राम के पास भेजा, और वह स्वयं रावण के फंदे में पड़ीं।

सत्संग के बिना भक्ति, विवेक और मोह-हानि नहीं हो सकती। नव प्रकार की भक्तियों में एक सत्संग भी है, परंतु राम-कृपा के बिना सत्संग भी नहीं प्राप्त हो सकता। सत्संग से कौन बड़ा नहीं होता, और कुसंग से कौन नहीं बिगड़ता ?—

को न कुसंगति पाइ नसावा ? केहि न सुसंग बड़प्पन पावा ?
भगति सुतंत्र सकल सुख खानी ; बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी।
बरु भल बास नरक कर ताता ; दुष्ट-संग जनि देइ बिधाता।
राम-कथा के ते अधिकारी ; जिनके सतसंगति अति प्यारी।

तात सरग-अपवरग-सुख धरहु तुला यक अंग ;
तुलइ न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव-सतसंग।
बिनु सतसंग न हरि-कृपा, तेहि बिनु मोह न भाग ;
मोह गए बिनु राम-पद, होइ न दृढ़ अनुराग।

(१७) माया गोस्वामीजी ने दो प्रकार की कही है—एक राक्षसों की, दूसरी परमेश्वर की। राक्षसों की माया केवल युद्धादि में काम आती थी। उससे युद्ध करनेवालों को मोहित एवं विस्मित किया जाता था—उन पर अस्त्र, जल, अग्नि, पवन इत्यादि का उत्पात किया जा सकता था, और वह प्रभावशाली अस्त्रों से निवृत्त भी हो सकती थी। परमेश्वर की माया जगत् को नचाती है, यहाँ तक कि "नारद, सिव, बिरंचि, सनकादी" भी उसके फंदे में फँस जाते हैं। जीव उस माया के वश में रहता है, परंतु माया स्वयं राम के वश में है, और इसी कारण भक्ति करनेवाले को नहीं व्यापती। वह दो प्रकार की है—विद्या और अविद्या—

मैं अरु मोर-तोर यह माया ; जेहि बस कीन्हें देव-निकाया।
गो-गोचर जहँ लगि मनु जाई ; सो सब माया जानेउ भाई।
तेहि कर भेद सुनउ तुम सोऊ ; बिद्या अपर अबिद्या दोऊ।
एक रचै जग गुन बस जाके ; प्रभु-प्रेरित, नहिं निज बल ताके।
एक दुष्ट अतिसय दुख-रूपा ; जा बस जीव परा भव-कूपा।
सो प्रभु-भ्रुव-बिलास खगराजा ; नाच नटी इव सहित समाजा।

उत्तर-कांड की समालोचना के उदाहरण में भी माया का वर्णन है। यह शांकर माया के समान है। वर्तमान तार्किक सिद्धांतों से प्रकृति के अज्ञेयवाद एवं अन्य विचारों से मायावाद अनावश्यक हो गया है। इसका कुछ विस्तृत विवरण हमने अपने ग्रंथ 'धर्म-तत्त्व पर आर्ष विचार' में किया है।

इन दोनो मायाओं के अतिरिक्त एक देवतों की भी माया है, जो साधारणतः मनुष्यों को मोहित कर सकती है। उसी ने मंथरा और कैकेयी को मोह-वश किया था। अवधवासी जब भरत के साथ राम को बुलाने वन को गए, तब वे भी उसी से मोहित किए गए थे, पर वह स्वयं भरत को नहीं मोहित कर सकी। कुंभकरण की मति वर माँगने के समय भी उसी से फेरी गई थी। उसका प्रयोग प्रायः शारदा को प्रेरित करके किया जाता था।

(१८) तपस्या को भी तुलसीदास ने बड़ा पद दिया है—

तप-बल रचइ प्रपंच बिधाता ; तप-बल बिष्णु सकल जग-त्राता।
तप-बल संभु करइँ संहारा ; तप-बल सेष धरइँ महि-भारा।
तप-अधार सब सृष्टि भवानी ; करहु जाइ तप अस जिय जानी।

छांदोग्य उपनिषत् में ईश्वरीय तप से जगदुत्पत्ति कथित है। यह तप शायद शक्ति का स्फुरण हो।

(१९) गोस्वामीजी ने स्त्रियों की हर जगह निंदा की है। यद्यपि उन्होंने सीता, कौशल्या इत्यादि की स्तुति भी की है, तथापि वह

स्तुति रामचंद्र से संबंध रहने के कारण की गई है। गोस्वामीजी ने स्त्रियों को सहज जड़, सहज अपावन, अनधिकारिणी, अज्ञ आदि कहकर नारी-चरित्र को गंभीर समुद्र कहा और लिखा कि स्वतंत्र होकर ये बिगड़ जाती हैं।

उत्तम के अस बस मन माहीं ; सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं।
मध्यम पर-पति देखहिं कैसे ; भ्राता, पिता, पुत्र निज जैसे।
धरम बिचारि समुझि कुल रहहीं ; ते निकृष्ट तिय, स्रुति अस कहहीं।
बिनु अवसर भय ते रह जोई ; जानेहु अधम नारि जग सोई।

इन्होंने स्त्री-संबंधी आँच की कसौटी बड़ी कड़ी रक्खी है। इसी से विदित होता है कि यह उनसे असंतुष्ट रहते थे।

भ्राता, पिता, पुत्र उरगारी ; पुरुष मनोहर निरखति नारी।
राखिय नारि जदपि उर माहीं ; शास्त्र, नृपति, जुवती बस नाहीं।
पाप-उलूक - निकर - सुखकारी ; नारि निबिड़ रजनी अँधियारी।
अवगुन-मूल, सूल-प्रद प्रमदा सब दुख - खानि।
ढोल गवाँर सूद पसु नारी ; इन्हैं ताड़ना की अधिकारी।
नारि सुभाव साँच कबि कहहीं ; अवगुन आठ सदा उर रहहीं।
साहस, अनृत, चपलता, माया ; भय, अबिबेक, असौच, अदाया।
साँचु कहइँ कबि नारि-सुभाऊ ; सब बिधि अगम, अगाध दुराऊ।
निज प्रतिबिंब मुकुर गहि जाई ; जानि न जाइ नारि-गति भाई।
का नहिं पावक जरि सकइ, का न समुद्र समाइ ;
का न कर अबला प्रबल, केहि जग काल नखाइ ?

गोस्वामीजी की माता इनकी बाल्यावस्था में मर गई थीं, और अपनी स्त्री से यह अप्रसन्न हो गए थे। इनके बैरागी होने के कारण उच्च श्रेणी की स्त्रियाँ इनसे नहीं मिलती थीं, और केवल निम्न श्रेणी की स्त्रियों को यह इधर-उधर देखते होंगे, अतः स्त्रियों के विषय में इनका अनुभव अच्छा न था। शायद यही कारण है कि

इन्होंने उनकी निंदा की है। फिर भी हम तो यही कहेंगे कि ऐसे महात्मा और महाकवि को विना सोचे इतनी प्रचंड निंदा न करनी चाहिए थी। उस काल के अन्य कविगण भी बहुधा इस महादोष के दोषी हैं। कबीरदास तक ने भी ऐसा ही लिखा है। स्त्री के पद पर ऐतिहासिक विचार करने से विदित होता है कि भारत में यह उच्च था, किंतु मुसलमानी आगमन से बिगड़ गया। योरप में यह सोलहवीं शताब्दी से बढ़ा है।

(२०) गोस्वामीजी भाग्य पर विश्वास रखते थे, क्योंकि उन्होंने यह कहलवाया है—

होइहि सोइ, जु राम रचि राखा।

जोगी, जटिल, अकाम तनु, नगन, अमंगल-बेख ;

अस स्वामी यहि कहँ मिलिहि, परी हस्त असि रेख।

सिय, रघुबीर कि कानन-जोगू ; करम प्रधान साँच कह लोगू।

कोउ न काहु दुख-सुखकर दाता ; निज कृत करम भोग सब भ्राता।

करम प्रधान बिस्व रचि राखा ; जो जस करइ, सो तस फल चाखा।

परंतु यह महाशय प्रायः विपत्ति-पीड़ित आदमियों को समझाने के लिये धार्मिक सिद्धांतों द्वारा उन्हें आश्वासन देते थे। कार्य-कुशलता को यह कर्मों के आसरे नहीं रोकना चाहते थे। यथा—

कादर मन कर एक अधारा ; दैव-दैव आलसी पुकारा।

सो परंतु दुख पावई, सिर धुनि-धुनि पछताइ ;

कालहि, कर्महि, ईसुरहि मिथ्या दोष लगाइ।

इन्होंने यह भी लिखा है कि राम और शिव की कृपा से कर्म के लेख मिट भी सकते हैं। यथा—

रामचरित चिंतामनि चारू ; संत सुमति-तिय सुभग सिंगारू।

मंत्र महामनि बिषय-ब्याल के ; मेटत कठिन कुअंक भाल के।

जो तप करइ कुमारि तुम्हारी ; भविहु मेटि सकैं त्रिपुरारी।

बावरो रावरो नाह भवानी ;
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी सुख की नहीं निसानी ;
तिन रंकन को नाक सँवारत, हौं आयों नकबानी।

(२१) यद्यपि गोस्वामीजी ने हर तरह से दीनता प्रकट की, और निरभिमान भाव भी ख़ूब ही दिखाया है, तथापि उनको यह अवश्य विश्वास था कि उनकी रचना परमोत्तम होती है, और सिवा खलों के और कोई उनका उपहास न करेगा। तुलसीदास को समालोचकों से बड़ा भय था, और उन्होंने होनहार तथा वर्तमान समालोचकों से बड़ी बिनती करते हुए, तर्क छोड़कर, कथा सुनने का अनुरोध किया है। ऐसा कहने से बेचारे गोस्वामीजी अपने कुछ कथनों को तर्क-हीन मानकर मानो उनके प्रतिकूल शिक्षा दे गए। फिर भी उनका प्रयोजन ऐसा न था।

चरित राम के सगुन भवानी ; तरकि न जाइँ बुद्धि-बल-बानी।
अस बिचारि जे परम बिरागी ; रामहिं भजइँ तरक सब त्यागी।
पुनि सबही बिनवौं कर जोरी ; करत कथा जेहि लागु न खोरी।
छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई ; सुनिहहिं बाल-बचन चितु लाई।
समुझि बिबिध बिधि बिनती मोरी ; कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी।
एतेहु पर करिहहिं जे संका ; मोहिं ते अधम ते जड़मति रंका।
हँसिहँहिं कूर, कुटिल, कुबिचारी ; जे पर - दूषन - भूषन-धारी।
खल-परिहास होइ हित मोरा ; काक कहहिं कलकंठ कठोरा।
हँसिहँहिं बक दादुर चातकही ; हँसहिं मलिन खल बिमल-बतकही।

गोस्वामीजी की कविता का उपहास तो किसी ने नहीं किया, परंतु बहुत लोग इनके छंदों के इतने अधिक अर्थ करते हैं कि वे उपहासास्पद हो जाते हैं। बहुत महाशयों ने ऐसे भी अर्थ निकाले हैं, जो प्रशंसनीय हैं; परंतु कहना ही पड़ता है कि शब्दों को तोड़-मरोड़कर अर्थ निकालना कवि की आत्मा को क्लेश देना

है। हम इस स्थान पर एक प्रशंसनीय और एक उपहास-योग्य अर्थ का नमूना नीचे लिखते हैं।

मुक्ति-जनममहि जानि, ज्ञान-खानि अघ - हानि-कर;
जहँ बस संभु-भवानि, सो कासी सेइय कस न?
जरत सकल सुर-बृंद, बिखम गरल जेहि पान किय;
तेहि न भजसि मतिमंद, को कृपालु संकर - सरिस?

महि = म अक्षर को। अघहानिकर = अघ-हानिक र = र अक्षर अघ-हानि करनेवाला है। जहँ = र और म अक्षरों में। सो कासी = सोक असी = शोक के लिये तलवार। ज रत = जिसमें रत हैं। शंकर = कल्याण करनेवाला।

इस प्रकार अर्थ लगाने से उपर्युक्त दोहे काशी और शिव की स्तुति के वाचक न रहकर राम-नाम की स्तुति के वाचक हो जाते हैं। म को मुक्ति का जन्म जानो, और र को ज्ञान-खानि तथा पाप-हानि करनेवाला जानो, जिस र और म में शंभु-भवानी वास करते हैं, उस शोक की तलवार को क्यों न सेवे! जिस राम में विषम गरल पान करनेवाला (शिव) एवं सब सुर-वृंद रत हैं, हे मतिमंद, उसको क्यों नहीं भजता? उस कल्याणकर के समान कृपालु कौन है?

बिनय-प्रेम-बस भई भवानी; खसी माल, मूरति मुसकानी।
बिनय-प्रेम-बस, भई भवानी!(लाना तो)खसी-माल। मूरति मुसकानी।

सीता ने कहा—विनय-प्रेम हो चुका, भई भवानी हो! लाना तो बकरों का समूह। इस पर तो मूर्ति भी मुस्किराई कि अब अच्छा बलिदान मिलेगा।

दोष-कथन

(१) गोस्वामीजी पात्रों से बातचीत कराने में कभी-कभी उसको उचित से अधिक बढ़ा देते थे।

जेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनउ तुम्हार;
सोइ हम करब, न आन कछु, बचन न मृषा हमार।
कुपथ माँगु रुज-ब्याकुल रोगी ; बैद न देइ, सुनहु मुनि जोगी।

यह भगवान् ने उस समय, जब नारद ने राज-कन्या को ब्याहने के वास्ते उनसे रूप माँगा था, नारद से कहा। इसमें दोहा-भर कह देना उचित था, परंतु चौपाई कह देने से उनकी भविष्य की कुटिलता ऐसी प्रकट हो गई कि उसे कोई पागल भी समझ जाता।

धुआँ देखि खर, दूषन केरा ; सूपनखइँ तब रावन प्रेरा।
बोली बचन क्रोध करि भारी ; देस-कोस कइ सुरति बिसारी।
करसि पान, सोवसि दिन-राती ; सुधि न तोहिं सिर पर आराती।
राज नीति बिनु, धन बिनु धरमा ; हरिहिं समरपे बिनु सतकरमा।
बिद्या बिनु बिबेक उपजाए ; स्रम फल किए पढ़े अरु पाए।
संग ते जती, कुमंत्र ते राजा ; मन ते ज्ञान, ज्ञान ते लाजा।
प्रीति प्रनय बिनु, मद ते गुनी ; नासहिं बेगि, नीति असि सुनी।
रिपु, रुज, पावक, पाप प्रभु इन गनिय न छोट करि ;
अस कहि बिबिध बिलाप करि लागी रोदन करन।

यहाँ नाक-कान कटने पर सूपनखा को नीति और धर्म-शास्त्र के सिद्धांतों का उपदेश देने का कोई इतनी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, जितनी अपने दुःख एवं अपमान की बात कहने की। समझ पड़ता है, महर्षि वाल्मीकि का अनुकरण करके ही गोस्वामीजी इस भूल में पड़े।

बाल-कांड

(२) रामचंद्र की महिमा बढ़ाने को गोस्वामीजी ने अन्य देवतों की प्राय: निंदा कर दी है। सती-मोह इस कथन का प्रमाण है। सती-मोह में उनके कामोद्दीपन का भी भ्रम हो जाता है, नहीं

तो वह राम के पास सीता का रूप धरकर क्यों जातीं ? यह कथन बहुत ही अनुचित है, यद्यपि कई पुराणों में भी आया है। तुलसीदास को उन व्यासों से विशेष ज्ञान दिखाना चाहिए था। सती-मोह में विधि, हरि, हर इत्यादि के अनेक रूप देख पड़े, परंतु रामचंद्र, लक्ष्मण और सीता के दूसरे रूप नहीं देख पड़े। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि लक्ष्मण भी विधि, हरि और हर से बड़े थे। यह विचार व्यूह-पूजन के अनुकूल भी है।

जाना राम सती दुख पावा ; निज प्रभाव कछु प्रगट देखावा।

यह तो वही मसल हुई कि "मरे पर सौ दुरें।" रामचंद्र से ऐसा कराना बहुत ही अनुचित हुआ। जब कोई दुःखित हो, तो उस समय उसे और दुःखित करना कौन-सी महानुभावता है ? सती से झूठ बुलाना भी अनुचित हुआ। गोस्वामीजी ने सती की दुर्दशा का तो सविस्तर वर्णन किया है, परंतु दक्ष-यज्ञ-विध्वंस तीन ही चौपाइयों में कह डाला।

सती मरत हरि सन बर माँगा ; जनम-जनम सिव-पद-अनुरागा।

यहाँ पर हरि से वर मँगवाना भी बेजा है। महादेव के विवाह में इन्होंने परछन तक न होने दी, और महादेव का रूप देखते ही मैना मारे डर के भागकर घर में घुस गई, तथा पार्वती को लेकर रोने लगी—

जेहि बिधि तुम्हें रूप अस दीन्हा ; तेहिं जड़ बर बाउर कस कीन्हा ?

सारे रनिवास में हाहाकार मच गया। इसका कोई कारण नहीं जान पड़ता। मैना तो प्रथम से ही जानती थी कि पार्वती को कैसा वर मिलेगा, और उसी के वास्ते पार्वती ने तप ही किया था, तब फिर यह हाहाकार क्यों कराया गया ? साधारण स्त्रियों की भाँति मैना अत्यंत अस्थिर मति की कैसे हो सकती थी ? संभवतः महादेव का विवाह इस कारण बिगाड़ा गया, जिसमें रामचंद्र के विवाह की

शोभा बढ़ जाय। इन महाकवि की रामायण ही के आधार पर जहाँ कहीं बड़ी गड़बड़ या ख़राबी होती है, तो लोग प्रायः यह कहते हैं कि "महादेव की बरात है।" कुमारसंभव और शिवपुराण में महादेव के विवाह का बड़ा ही उत्कृष्ट वर्णन है।

(३) गोस्वामीजो ने महादेवजी से कहलाया है—

अनुज-जानकी-सहित निरंतर ; बसहु राम प्रभु, मम उर अंतर।

सो क्या महादेव लक्ष्मण का भी ध्यान करते थे? अस्तु। गोस्वामीजी ने ध्यान की मूर्ति के साथ वानरों और रीछों को नहीं रक्खा, यही उनकी बड़ी कृपा हुई।

(४) इसी प्रकार परशुराम से यह कहला दिया कि—

छमहु छमा-मंदिर दोउ भ्राता।

लक्ष्मण-संबंधी ऐसे कथन व्यूह-पूजन से संबद्ध होने से एक प्रकार से क्षम्य कहे जा सकते हैं, यद्यपि अशोभित अवश्य जान पड़ते हैं।

(५) उत्तर-कांड में गोस्वामीजो ने माया का वर्णन करते हुए "नारद, सिव, बिरंचि, सनकादी" को लोभ, मोह, काम आदि सभी दुर्वासनाओं का शिकार बना दिया है। यहाँ पर शिव, विरंचि आदि में ईश्वरीय भाव का निराकरण करके आपने एक ईश्वरवाद पर बल दिया है। फिर भी यह कथन अच्छा नहीं लगता।

(६)

जो संपति सिव रावनहिं दीन्हि दिए दस माथ ;
सो संपदा बिभीषनहिं सकुचि दीन्हि रघुनाथ।

इससे भी इनकी निंदा की प्रवृत्ति कुछ-कुछ प्रकट होती है। कहाँ रावण का महत्त्व, कहाँ विभीषण का छोटे-से लंका का राज्य! और वह भी दूसरे का दिया हुआ तथा उसके आश्रित। ऐसे ओछे कथन गोस्वामीजी के सहज गांभीर्य को शोभा नहीं देते।

(७) दो-चार स्थानों पर गोस्वामीजी ने वाक्य-रचना अशुद्ध की है—

देखि उमहिं तप-खिन्न सरीरा ; ब्रह्म-गिरा भइ गगन गँभीरा ।
प्रभु सरबज्ञ दास निज जानी ; माँगु-माँगु बर भइ नभ बानी ।

इन दोनो स्थानों पर 'भइ' के स्थान पर 'किय' कर देने से दुष्प्रबंध ठीक हो सकता था ।

जो कछु आयसु ब्रह्मैं दीन्हा ; हरखे देव, बिलंब न कीन्हा ।

इसमें जो के पीछे 'सो किया गया' यह नहीं लिखा, इतनी कमी है ।

परंतु इन दो-एक व्याकरण-संबंधी क्षुद्र त्रुटियों को कोई भी दोष नहीं कह सकता । इन्हें आर्ष प्रयोग समझना चाहिए । साधारणतया आजकल के भी लेखक ऐसे प्रयोग करते हैं ।

(८) इन महाकवि ने परशुराम और लक्ष्मण का संवाद ऐसा उपहास-योग्य लिखा है कि वैसी रचना करने में शायद क्षुद्र कवि को भी लज्जा आती । इन्होंने परशुराम और लक्ष्मण को ऐसा दिखलाया है, जैसे एक ओर महाक्रोधी, निर्बल, अभिमानी और चिढ़नेवाला बुड्ढा खड़ा हो, और दूसरी ओर एक बड़ा ही नटखट, बिगड़ा हुआ, ठठोल छोकरा, जिसको बड़े-छोटे का कुछ भी लिहाज़ न हो । यह वर्णन गोस्वामीजी के सहज गांभीर्य के बिलकुल ही विरुद्ध है । परशुराम के ये वाक्य—

उतरु देत छाँड़ौं बिनु मारे ; केवल कौसिक सील तुम्हारे ।
बोले रामहिं देइ निहोरा ; बचइ बिचारि बंधु लघु तोरा ।

साफ़ ज़ाहिर करते हैं कि वह अपने मन में जानते थे कि युद्ध में उनसे कुछ भी किया न होगा, अतः लक्ष्मण को क्षमा करने के बहाने ढूँढ़ते थे, यहाँ तक कि राम को भी मन में विचारना पड़ा—

गुनहु लखन कर हम पर रोखू ; कतहुँ सुधाइउ ते बड़ दोखू ।

टेढ़ जानि संका सब काहू ; बक्र चंद्रमहिं ग्रसइ न राहू ।

यदि कहिए कि वह "बहै न हाथ, दहै रिस छाती" के कारण विवश थे, तो उन्होंने राम और लक्ष्मण को इस प्रकार क्यों ललकारा—

देखु जनक, हठि बालक एहू ; कीन्ह चहत जड़ जमपुर गेहू ।
छल तजि करउ समर सिव-द्रोही ; बंधु-सहित नतु मारउँ तोही ।

परशुराम के मुख से रामचंद्र के प्रति नीचे लिखे दो वाक्य कहलाने में गोस्वामीजी ने परशुराम की पूरी नीचता दिखा दी है—

संभु-सरासन तोरि सठ करसि हमार प्रबोध ।
बंधु कहै कटु सम्मत तोरे ; तू छल-बिनय करसि कर जोरे ।
मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े ; दुज-देउता घरहि के बाढ़े ।

लक्ष्मण से ये वाक्य कहलाकर स्वयं गोस्वामीजी को सब लोगों से यह कहलाना पड़ा कि—

अनुचित कहि सब लोग पुकारे ।

नीचे के वाक्यों से जान पड़ता है, मानो परशुराम बेवक़ूफ़ बनाए जा रहे थे—

मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया ; परिहरि कोप, करिय अब दाया ।
टूट चाप नहिं जुरइ रिसाने ; बैठिय, होइहैं पाँय पिराने ।
जौ अति प्रिय, तौ करिय उपाई ; जोरिय कोउ बड़ गुनिय बुलाई ।

किसी शूर से निम्न-लिखित बात कहलाकर भी युद्ध न कराना गोस्वामीजी का ही काम था—

बिहँसे लखन, कहा मुनि पाहीं ; मूँदिय आँखि कतहुँ कोउ नाहीं ।

द्वापर के अंत में भगवान् वेदव्यास ने भीष्म और परशुराम के युद्ध-समय जो बातचीत कराई है, उससे परशुराम का गांभीर्य पूर्ण रूप से प्रकट होता है । जिस समय भीष्म ने बहुत ही अहंकार-

पूर्ण बातचीत की, और कहा कि जब आपने पृथ्वी क्षत्रिय-हीन की थी, तब भीष्म नहीं था, अब मैं आपको मारकर क्षत्रियों का बदला लूँगा, उस समय इन्होंने केवल यही कहा—

कहा भयो बोलत इबिधि, काल-बिबस ह्वै बीर।

अयोध्या-कांड

(९) भरत के चित्रकूट जाने में गोस्वामीजी ने कहा है कि राम से मिलने के बाद वशिष्ठ तथा अयोध्यावासी लोगों ने गुह निषाद से भेंट की। यह भेंट व्यर्थ थी। जब वह शृंगवेरपुर से भरत के साथ आ रहा था, तो फिर इस दुबारा भेंट की क्यों आवश्यकता पड़ी ?

आरण्य-कांड

(१०) दो-चार स्थानों पर १५ मात्राओं की चौपाई लिखकर छंद-परिवर्तन या छंद के नियम का उल्लंघन किया गया है। यथा—

तब खिसियानि राम पहिं गई।

सस्त्री, मरमी, प्रभु, सठ, धनी।

परंतु ऐसी चौपाइयाँ बहुत कम हैं।

(११) जटायु ने रामचंद्र से कह दिया था कि—

नाथ, दसानन यह गति कीन्ही ; तेहि सठ जनकसुता हरि लीन्ही।
लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं ; बिलपति अति कुररी की नाईं।

इतना जानने पर भी राम ने न-जाने क्यों बंदरों को सीता के खोजने के लिये सब ओर भेजा, और उनसे यह न कह दिया कि सीता लंका में हैं ? इसी प्रकार किष्किंधा-कांड में एक दफ़े कहा—

एक बार कैसेहु सुधि पाओं ; कालहु जीति निमिख महँ लाओं।

(१२) गोस्वामीजी अकारण भी रामचंद्र की दयालुता के गीत गाया करते थे। जब जटायु ने रामचंद्र के वास्ते जान तक दे दी, तो इस विषय में यदि कुछ प्रशंसा हो सकती थी, तो उसी की, परंतु यह महाशय उस जगह भी राम ही की बड़ाई का डंका पीटते हैं—

कोमल-चित अति दीनदयाला ; कारन बिनु रघुनाथ कृपाला।
गीध अधम, खग, आमिखभोगी ; गति तेहि दीन्हि, जो जाचत जोगी।

शबरी में नवधा भक्ति वर्तमान थी, तब भी यह कहते हैं—

जाति-हीन अघ जनममय, मुकुत कीन्हि असि नारि ;
महामंद मन, सुख चहसि ऐसे प्रभुहिं बिसारि।

किष्किंधा-कांड

बालि-त्रास ब्याकुल दिन-राती ; तन बिबरन, चिंता जरु छाती।
सो सुगरीव कीन्ह कपिराऊ ; अति कोमल रघुबीर-सुभाऊ।

इसमें कोमलता और दयालुता की कोई बात नहीं देख पड़ती, रामचंद्र और सुग्रीव में यही शर्त हुई थी। राम ने बालि को मारा, और सुग्रीव ने लंका में ससैन्य जाकर उनके लिये लड़ाई की। इस स्थान पर हमारे किसी समालोचक महाशय ने एक बार इस शर्त के होने में संदेह प्रकट किया था। उन्हें ये चौपाइयाँ देखनी चाहिए—

तेहि सन नाथ मइत्री कीजै ; दीन जानि तेहि अभय करीजै।
सो सीता कर खोज कराइहि ; जहँ-तहँ मरकट कोटि पठाइहि।

इनके पीछे की भी चौपाइयाँ यही भाव पुष्ट करती हैं।

लंका-कांड

(१२) रावण और अंगद की बातचीत जो गोसाईं जी ने कराई है, वह स्वाभाविक नहीं है। यद्यपि रचना वहाँ की अच्छी है, तथापि यह कहना ही पड़ता है कि महाराजों की सभा में कोई दूत इस तरह अयोग्य एवं उद्धत बातचीत नहीं कर सकता। इस संवाद में बहुत-सी चित्ताकर्षक और मज़ाक़ की बातें हैं, जिससे पढ़ने में आनंद आता है, किंतु यदि ये ही बातें किसी अन्य रीति से लिखी जातीं, तो ऊपर लिखा हुआ दोष भी न आने पाता। इन्हें कितने ही हिंदी-कवियों ने हनुमन्नाटक के आधार पर लिख दिया है।

(१४) मंदोदरी का रावण को समझाना भी कहीं-कहीं अनौचित्य की सीमा तक पहुँच गया है। यथा—

बान-प्रतापु जानु मारीचा ; तासु कहा नहिं मान्यो नीचा ।
निकट काल जेहि आवत साईं ; तेहि भ्रम होय तुम्हारिहिं नाईं ।

ऐसे वाक्य कदाचित् कोई भी अच्छी स्त्री नहीं कह सकती ।

फिर मंदोदरी का रावण के मरने पर विलाप भी इन्होंने बिगाड़ दिया है—

राम-बिमुख अस हाल तुम्हारा ; रहा न कुल कोउ रोवनहारा ।
अब तव सिर-भुज जंबुक खाहीं ; राम-बिमुख यह अनुचित नाहीं ।
अहह नाथ ! रघुनाथ-सम कृपा-सिंधु को आन ;
मुनि-दुरलभ जो परम गति तुम्हैं दीन्हि भगवान ।

ऐसे-ऐसे वाक्य मंदोदरी के मुख से कदापि नहीं निकल सकते थे । हमें आश्चर्य होता है कि गोस्वामीजी-सरीखे सत्कवि की लेखनी से ये वाक्य इस तरह कैसे निकले ! अवश्य ही उनकी अपार भक्ति ने ही कहीं-कहीं ऐसी त्रुटियाँ करा दी हैं, और प्रायः रचना को सर्वोत्कृष्ट भी कर दिया है । गोस्वामीजी की अलौकिक भक्ति के कारण जैसे उनकी लेखनी से ऐसे-ऐसे उत्तम वर्णन निकले हैं, जिनके सामने संसार की किसी भी भाषा के ऐसे परमोत्कृष्ट वर्णन तक शायद फीके जँचने लगेंगे, वैसे ही वही अनन्य भक्ति, इनसे बेमौक़े भी सभी जगह, रामचंद्र की प्रशंसा कराए बिना नहीं छोड़ती । जो बातें इन्होंने मंदोदरी के मुख से कहाईं, उन्हें यदि यह स्वयं कह देते, तो कोई बात न थी ।

उत्तर-कांड

(१५) इसमें राजगद्दी के पश्चात् और काकभुशुंड की कथा के पूर्व जो कथांश है, वह रुचिकर नहीं जँचता । भुशुंडि की कथा आरंभ होने के पीछे का भाग नायक-हीन न समझना चाहिए । यद्यपि उसमें

स्वयं राम की कथा नहीं कही गई, तथापि प्रधानता प्रत्येक छंद में राम ही की है। यह भाग रामायण का परिशिष्ट समझना चाहिए। जैसे प्रारंभ में वंदनामयी भूमिका है, वैसे ही अंत में यह भाग जानना चाहिए। ज्ञान-दीपकवाला वर्णन पहले कुछ बुरा-सा प्रतीत होता है, पर अंत में इस झगड़े का दोषोद्धार कर दिया गया है, और गोस्वामीजी के मत का गीता से कोई वास्तविक विरोध नहीं रह गया है।

(१६) गोस्वामीजी को वेद का प्रमाण प्रायः सभी जगह दे देना अच्छा लगता है, चाहे वह बात वेद में हो, या न हो। यथा—

त्रिबिध समीर सु सीतल छाया ; सिव-बिसराम-बिटप स्तुति गाया।
उपरोहित जेवनार बनाई ; छ रस चारि बिधि, जसि स्तुति गाई।
अवधपुरी रघुकुल-मनि राऊ ; बेद-बिदित तेहि दसरथ नाऊ।
तात तुम्हार बिमल जस गाई ; पाइहि लोकहु बेद बड़ाई।

यहाँ सारे वैदिक साहित्य को वेद मान लेने से दोष-शांति हो सकती है।

गोस्वामीजी के मत

(१) तुलसीदास का मत था कि कविता टेढ़ी एवं निंद्य है, पर यदि उसमें राम-कथा गाई जाय, तो सत्संग से वह भी पावन हो जाती है। इसी कारण यह नर-काव्य के विरोधी थे। यथा—

भगत हेतु बिधि-भवन बिहाई ; सुमिरत सारद आवति धाई।
रामचरित-सर बिनु अन्हवाए ; सो स्रम जाय न कोटि उपाए।
कीन्हे प्राकृतजन - गुन - गाना ; सिर धुनि गिरा लगति पछिताना।
कबि-कोबिद अस हृदय बिचारी ; गावहिं हरि-गुन कलि-मलहारी।
भनित बिचित्र सुकबि-कृत जोऊ ; राम-नाम बिन सोह न सोऊ।
भनित भदेस, बस्तु भलि बरनी ; राम - कथा मुद-मंगल-करनी।

इन्हीं कारणों से गोस्वामीजी ने कभी नर-काव्य नहीं किया, यदि कभी दो पंक्तियाँ लिख दीं, तो वह केवल मित्रता-वश टोडर-नामक एक भाग्यशाली व्यक्ति के विषय में ही, किंतु टोडर भी

राम-भक्त था, और उसके विषय के केवल चार दोहों में भी महात्माजी ने दो बार राम-नाम लाकर रख ही तो दिया।

चारि गाँव को ठाकुरो, मन को महा महीप ;
तुलसी या संसार में अथयो टोडर-दीप ॥ १ ॥
तुलसी राम-सनेह को सिर पर भारी भारु ;
टोडर काँधा ना दियो, सब कहि रहे उतारु ॥ २ ॥
तुलसी-उर थाला बिमल, टोडर-गुन-गन बाग ;
ये दोउ नैननि सींचिहौं समुझि-समुझि अनुराग ॥ ३ ॥
राम-धाम टोडर गए, तुलसी भए असोच ;
जियबो मीत पुनीत बिनु, यहै जानि संकोच ॥ ४ ॥

धन्य टोडर ! तुम्हारे लिये हिंदी के सूर्य स्वयं महात्मा तुलसीदास ने अपना दृढ़ सिद्धांत छोड़कर नर-काव्य किया ! धन्य !

(२) इनकी दृष्टि इतनी पैनी थी कि कोई बात इनके देखने और मनन करने से नहीं छूटती थी। सास का महादेव के पैरों पर पड़ जाना, पार्वती का बिदा के समय अपनी माता को दुबारा लिपटकर रोना, कौशल्या के दौड़ाने पर बालक रामचंद्र का 'ठुमुकि-ठुमुकि' भागना और दूध-भात मुँह में लगाए दशरथ के चौके से 'किलकात' भाग चलना, 'टिट्टिभ खग' का 'उताने' सोना, जुरी की 'कुलह' छूटनी, 'पय-फेनु' से 'पवि टाँकी' फूटना, रावण द्वारा विभीषण को "होइहि जब कर कीट अभागा" कहा जाना, 'नौकारूढ़' मनुष्य को संसार चलता हुआ दिखाई देना, गरुड़ का प्रसन्नता में 'पंख फुलाना' और स्त्रियों का दीपक को 'अंचल' से बुझाना इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

(३) यह महानुभाव लोगों का वार्तालाप बड़ी ही उत्तमता से वर्णन करते हैं। भरद्वाज और याज्ञवल्क्य, सप्तर्षि और गौरी (यह वार्ता ऐसी है, जो पुरुषों और स्त्रियों के बीच ही हो सकती है), ब्रह्मा

और शिव (विवाह-विषयक), दशरथ और वशिष्ठ (रामाभिषेक-विषयक), कैकेयी और मंथरा, दशरथ और कैकेयी, राम और सुमंत, राम और सीता (वन-गमन-विषयक), भरत और वशिष्ठ, भरत और राम (वन में) इत्यादि के संवाद बहुत ही अच्छे ढंग से लिखे गए हैं। अन्य लोगों की आपस में बातचीत एवं ऊपर लिखी हुई वार्ताएँ ऐसी अच्छी हैं कि उनकी जोड़ी हिंदी-साहित्य में तो है ही नहीं, शायद और किसी भाषा में भी नहीं मिलेगी।

(४) गोस्वामीजी अपने नायकों के गुण दिखलाने के लिये उपनायकों की त्रुटियाँ ख़ूब ही दिखला देते हैं। सती-मोह में लक्ष्मण की अज्ञता, राम-विवाह की श्रेष्ठता के लिये शिव-विवाह की त्रुटियाँ, रामचंद्र की योग्यता और शूरता दिखाने को लक्ष्मण एवं सब सेना का रावणादि की माया को न समझ सकना आदि इस बात के उदाहरण हैं।

(५) तुलसीदास बहुत बड़े-बड़े एवं बड़े ही सुंदर रूपक कह सकते थे। इन्होंने बहुत-से परमोत्कृष्ट रूपक कहे हैं। यथा—वंदना में मानस का रूपक, धनुष-यज्ञ में चाप-जहाज़ एवं राम-सूर्यवाले रूपक (बाल-कांड), कैकेयी का नदीवाला रूपक (अयोध्या-कांड), भरत का नदीवाला रूपक (चित्रकूट पर श्रीराम से मिलने में), वसंत-ऋतु का फ़ौज की चढ़ाईवाला रूपक (आरण्य-कांड), रामचंद्र के गुणों का रथवाला रूपक (लंका-कांड), रावण के युद्ध में सेना का वर्षा-ऋतुवाला रूपक (लंका-कांड), राम-प्रताप का सूर्य-वाला रूपक (उत्तर-कांड), ज्ञान-दीपकवाला प्रसिद्ध रूपक एवं विनय-पत्रिका के बहुतेरे रूपक। और भी बहुतेरे रूपक हैं।

(६) इन्होंने श्रीरामचंद्र के न-जाने कितने 'नख-शिख' कहे हैं, और वे एक-से-एक बढ़िया हैं।

(७) गोस्वामीजी की उमंग (Enthusiasm) बड़ी ही

प्रबल थी। रामचंद्र के विषय में जो कोई भूल कर भी कभी अनुचित बात का संदेह तक कर दे, उसको पूर्ण रूप से फटकारे विना यह नहीं मानते।

पार्वती ने कहीं पूछ दिया कि रामचंद्र परब्रह्म ज्योतिःस्वरूप ही थे, या कोई और? इतने ही पर शिव ने उन्हें इतना फटकारा कि बस, हद कर दी! "एक बात नहिं मोहिं सोहानी" इत्यादि देखिए।

केवट द्वारा श्रीराम के चरण धोए जाने में यह क्या ही विमल पड़े—

अति आनंद उमँग अनुरागा; चरन-सरोज पखारन लागा।

यदि काई अन्य व्यक्ति—मित्र हो या शत्रु—श्रीराम से मिलने चलता था, तो भी यह अपनी उमंग में आकर उसे राम-दरश-लालसा-उछाह में उन्मत्त-सा कर देते थे। यथा—सुतीक्ष्ण, विश्वामित्र, मारीच, विभीषण एवं कुंभकर्ण के उत्साह। इसी कारण इनका जो मत था, उसे यह बार-बार लिखते थे। जिसकी प्रशंसा करते, उसे सातवें आसमान पर चढ़ा देते थे, और जिसकी निंदा करने लगते, उसे पाताल तक पहुँचा दिए विना न मानते थे। योगी, यती, तपी, विज्ञानी आदि के विषय में इन्होंने क्या ही ज़ोरों पर लिखा है कि ये सब—

तरैं न बिनु सेए मम स्वामी; राम, नमामि नमामि नमामी।

मानो श्रीराम "बिला शिरकत ग़ैरे व बिला मुसाहिमत दीगरे" केवल इन्हीं के स्वामी थे। ये सब बातें इनकी प्रबल उमंग के प्रमाण हैं।

(८) यद्यपि गोस्वामीजी को हँसी पसंद न थी, तो भी कहीं-कहीं प्रच्छन्न प्रहसन को इन्होंने जगह दे ही दी है। नारद-मोह-वर्णन में गुप्त हँसी की मात्रा विशेष पाई जाती है। यथा—

जेहि बिधि होइहि परम हित नारद, सुनहु तुम्हार;
सोइ हम करब, न आन कछु, बचन न मृखा हमार।

नारद से हर के गणों ने कहा—

रीझिहि राजकुँवरि छबि देखी; इनहि बरिहि हरि जानि बिसेखी।

रामचंद्र का वचन केवट से—

सोइ करउ, जेहि नाव न जाई।

लक्ष्मण का सूपनखा से कहना—

प्रभु समरथ कोसलपुर-राजा; जो कछु करइँ उनहिं सब छाजा।
जो जेहि मत भावै, सो लेहीं; मनि मुख मेलि डारि कपि देहीं।

सप्तर्षियों ने पार्वती से कहा—

गिरि-संभव तव देह—

महादेव की बरात में विष्णु ने कहा—

बिलग-बिलग ह्वै चलहु सब निज-निज सहित समाज।

(९) इन महात्मा के सैकड़ों ही पद कहावत के रूप में प्रचलित हो गए हैं। उदाहरण देना व्यर्थ है, क्योंकि थोड़ी भी रामायण पढ़ने से सभी जगह इसके दस-पाँच प्रमाण मिल सकते हैं।

(१०) गोस्वामीजी ने कई प्रकार की भाषाओं में सफलता-पूर्वक कविता की है। प्रथम तो इन्होंने संस्कृत में भी श्लोक बनाए। इनके श्लोक बड़े ही रुचिर हैं, और हिंदी जाननेवाले भी उन्हें अधिकांश समझ सकते हैं। इन श्लोकों में गोस्वामीजी ने विशेषणों का अच्छा प्रयोग किया है। विद्वानों का मत है कि ये संस्कृत के अच्छे ज्ञाता न थे। यह बात विशेषणों के अधिक प्रयोग एवं एक स्थान पर व्याकरण की एक अशुद्धि आ जाने से ठीक प्रतीत होती है—

सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्।

इस पद को थोड़ी-सी संस्कृत जाननेवाला भी बना सकता था। गोस्वामीजी के अधिकांश श्लोक ऐसे हैं।

रामचरित-मानस में इन्होंने थोड़े-से छंदों को छोड़कर बैसवाड़ी और अवधी-भाषा का प्रयोग किया है। यह भाषा कथा-प्रासंगिक ग्रंथों की भाषा हो गई है। इसी भाषा का प्रयोग अपने छोटे छंदोंवाले अन्य ग्रंथों में इन्होंने किया है, परंतु कवितावली, हनुमान्-बाहुक एवं संकटमोचन में इस भाषा के साथ ब्रज-भाषा का भी मेल कर दिया है। गीतावली-रामायण और कृष्ण-गीतावली में शुद्ध ब्रज-भाषा ही काम में लाई गई है। विनय-पत्रिका में उपर्युक्त सभी भाषाओं को लेकर उनमें संस्कृतवत् भाषा का भी मिश्रण कर दिया गया है। इतनी भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषाओं में ऐसी उत्कृष्ट रचना करना इन्हीं महाराज का काम था। तभी तो दासजी ने कहा है—

तुलसी, गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार ;
इनके काव्यन मैं मिली भाषा बिबिध प्रकार।

हिंदी-साहित्य में विविध भाषाओं का सफल प्रयोग करनेवाला ऐसा भारी आचार्य दूसरा नहीं हुआ।

(११) स्थान और विषय के अनुसार समुचित शब्दों का प्रयोग तो कोई इन महाकवि से सीख ले। यथा—

सिवहिं बिलोकि ससंक्यो मारू।
रुद्रहिं देखि मदन भय माना ; दुराधर्ष, दुर्गम, भगवाना।
बिकसे सरनि बहु कंज, गुंजत पुंज मंजुल मधुकरा।

इसमें भौंरों की गुंजार शब्दों ही में सुन लीजिए।

सीता-स्वयंवर में—

सिमिटे सुभट एक-ते-एका।

इसी प्रकार 'पतियानि', 'दलकि उठी', 'धुआँ देखि खर-दूषन केरा' आदि हैं।

(१२) गोस्वामीजी अनुप्रास को बहुत आदर नहीं देते थे, उसका स्वल्प प्रयोग ही करते थे। इन्होंने यमक का बहुत कम प्रयोग किया है। इनकी भाषा में बह्माडंबर नहीं होता था। फिर भी वह बहुत ही सराहनीय है।

(१३) इन्होंने बहुत स्वतंत्रता के साथ सब प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है। फ़ारसी, अरबी, संस्कृत और ठेठ ग्राम्य भाषाओं तक के शब्द इनकी रचना में बहुत-से पाए जाते हैं, परंतु ग्राम्य शब्दों का व्यवहार इन्होंने ऐसी योग्यता से किया है कि उन प्रयोगों से इनकी भाषा की रोचकता और भी बढ़ गई है। हम इनके ग्रंथों से कुछ असाधारण शब्द नीचे देते हैं। विस्तार-भय से वे छंद या पद नहीं दिए जा सकते, जिनमें इनका प्रयोग किया गया है। इन शब्दों के सामने कोष्ठक में नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ में जून, सन् १८९१ ई०, की मुद्रित पुस्तक की पृष्ठ-संख्या दी हुई है—

भुईं (१६९), कोहाब (१७२), माहुर (४), गनी (१५), गरीब (१५); गरीबनेवाज़ू (गयउ बहोरि गरीबनेवाज़ू), साहेब (सरल सबल साहेब रघुराजू), गाई (१६), बाउ (बाउ कृपामूरति अनुकूला), अवडेरि (२६), मरायल (३६), खटाहिं (३६), दुइ, भीतर, अर्थ (३८), सुनखत (४१), जिनिसि, सुअर, सयाने (४१), जहिया तहिया (६०), चौपट (७६), झँगुलिया, हलरावैं (८७), जानबी (१४५), बाट परै (१९८), कठौता (१९९), देबा, लेबा (१९९), कतहुँ, ठाहर, ठाटू (२१०), साउजु (२११), मुठभेरी (२१०), बेड़ा (२१२), बिढ़इ (२२१), थन (२२४), डोरिआए (२२७), बारहबाट (२२४), बियानी (नतरु बाँझ भलि बादि बियानी), ढरके, खँभारू (२४६), पनहीं (२४९), गुदरत, गाँढ़र (२५१), नेवाजा, बेहू (२५९),

कुटीर (२८२), अकसर (३०५), डाबर (३२७), निरावहिं (३२८), डबरिहलि (३५६), ठकुरसोहाती (३६६), घायल (४६६), फराक (४३७), हरहाई (५०१), पन्हाई (५३८), भटभेरे (५४१), गरिसा, डहरुआ, नहरुआ (५४२) इत्यादि ।

(१४) गोस्वामीजी उमंग या हर्ष के समय प्रायः छंद लिखते थे, परंतु इनके छंद प्रायः दोहे-चौपाइयों से शिथिल हैं । कुछ छंद मनोहर भी हैं । जब यह उमंग में आकर छंद लिखते हैं, तो बहुधा उस दोहे या चौपाई का अंतिम शब्द, जिसके बाद छंद होता है, छंद के आदि में लिख देते हैं । यह बिनती, युद्ध, विवाह, उत्सव आदि की कथा में प्राय: छंद लिखते थे । अयोध्या-कांड में इन बातों का अभाव-सा है, अतः उसमें छंद भी बहुत ही कम हैं । लंका-कांड और बाल-कांड में छंद बहुत हैं । उत्तर-कांड और आरण्य-कांड में भी स्तुति-विषयक छंद विशेषता से हैं । इनसे प्रयोजन दोहा-चौपाई से इतर छंदों का है ।

(१५) महात्मा तुलसीदास-सरीखे महाकवि के गुणों का समुचित वर्णन करना हमारी शिथिल लेखनी और स्वल्प शक्ति से परे है । इनकी रचनाओं के प्रतिपृष्ठ, प्रतिपंक्ति, बल्कि प्रतिशब्द में अद्वितीय चमत्कार देख पड़ता है । हम इनकी कविता में ऊपर जो दो-चार त्रुटियाँ दिखला आए हैं, उन्हें पाठक केवल त्रुटि न समझ बैठें । वे वास्तव में ऐसी नहीं हैं । यदि मान भी लिया जाय कि वे वास्तविक त्रुटियाँ हैं, तो भी हम बेखटके कह सकते हैं कि उनमें से अधिकांश एक प्रकार का गुण भी समझी जा सकती हैं । यदि वे गोस्वामीजी की रचना से अलग कर दी जायँ, तो कदाचित् इनकी ख्याति इतनी विस्तृत न रहे, जितनी इस समय है । हमने लक्ष्मण और परशुराम का एवं रावण तथा अंगद का संवाद दूषित

इत्यादि कहने लगा, जिसमें राजा को किसी अन्य अज्ञात विषय का प्रश्न करने को अवसर ही न मिले। इसी विचार से वह राजा को तुरंत वरदान देने को तैयार हो गया।

(५) इसी कथा में कपटी मुनि को भानुप्रताप की राजधानी में आना अवश्य अभीष्ट था, और उधर एकांतवासी योगी बने रहने की भी प्रबल इच्छा वह प्रकट करना चाहता था, अतः राजा को, ख़ुशामद करके उसे अपने यहाँ बुला ले जाने को बाध्य-सा करने के लिये उसने क्या ही युक्ति से कहा कि—

आजु लगे अरु जब ते भयऊँ ; काहू के गृह-ग्राम न गयऊँ।
जो न जाउँ, तव होइ अकाजू ; बना आइ असमंजस आजू।

(६) भानुप्रताप के सो जाने पर कालकेतु का आना एवं उसका कपटी मुनि से वार्तालाप बड़े ही मनोहर प्रकार से वर्णन किया गया है। उसमें नाटक का-सा आनंद (Dramatic effect) आता है। यह पूरा उपाख्यान वंदना एवं मदन-दहन की भाँति बड़ा ही उत्कृष्ट है।

(७) जनकपुरी में विश्वामित्र और जनक की बातचीत हो चुकने के पश्चात् गोस्वामीजी रामचंद्र को उस स्थान पर लाए। यदि श्रीराम पहले ही से वहाँ उपस्थित होते, तो गोस्वामीजी के हिसाब से इसमें उनकी कुछ हेठी अवश्य होती, कारण, जनक अवश्य ही पहले विश्वामित्र से वार्तालाप करते, और जनक के सम्मानार्थ राम को उठना भी पड़ता।

(८)—

स्याम गौर किमि कहउँ बखानी ; गिरा अनैन, नैन बिनु बानी।

इस छंद में क्या ही बढ़िया भाव, कितने कम शब्दों में व्यक्त किया गया है! नंददास ने भी यही भाव कहा है।

यथा—

नैनन के नहिं बैन, बैन के नैन नहीं हैं।

(९)—

लोचन-मगु रामहिं उर आनी ; दीन्हेउ पलक-कपाट सयानी।

इसमें क्या ही उत्कृष्ट भाव है! फुलवारी के वर्णन में इन महाकवि ने बहुत-से श्लाघ्य भाव कहे हैं; परंतु यहाँ हम स्थानाभाव से उन सबको नहीं दिखा सकते।

(१०) मंथरा और कैकेयी की वार्ता में दासी ने रानी की एक-एक बात का पूर्ण उत्तर प्रायः रानी के ही शब्दों में दे दिया है।

यथा—

हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे।

का उत्तर—

गाल करब केहि कर बल पाई।

दीन लखन सिख अस मन मोरे।

का उत्तर—

कत सिख देइ हमहि कोउ माई।

सभय रानि कह कहसि किन कुसल राम महिपाल?

का उत्तर—

रामहिं छाँड़ि कुसल को आजू?

पुनि अस कबहुँ कहसि घर-फोरी; तौ गहि जीह कढ़ावहुँ तोरी।

का उत्तर—

एकहि बार आस सब पूजी; अब कछु कहब जीह करि दूजी।

पुनः—

धरेउ मोर घर-फोरी नाऊँ।

काने, खोरे, कूबरे, कुटिल, कुचाली जानि;
तिय, बिसेखि पुनि चेरि, कहि भरत-मातु मुसुकानि।

का उत्तर—

करि कुरूप बिधि परबस कीन्हा।
चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी?

(११)—

केकयसुता सुनत कटु बानी;
कहि न सकी कछु, सहमि सकानी।
तन पसेउ, केदलि जिमि काँपी।

इन थोड़े ही शब्दों में बड़ा रोमांच-जनक भाव दिखलाया गया है।

(१२) गोस्वामीजी के वर्णन ऐसे पूर्ण होते हैं कि उनसे कथित विषय का चित्र ही सम्मुख उपस्थित हो जाता है। यथा—

भूमि सयन, पट मोट, पुराना; दिए डारि तन भूषन नाना।
माथे हाथ, मूँदि दोउ लोचन; तनु धरि सोच लाग जनु सोचन।

(१३)—

बहुरि बच्छ कहि लाल कहि, रघुपति, रघुबर, तात;
कबहुँ बोलाइ, लगाइ उर, हरखि निरखिहौं गात।

इस दोहे में कितना वात्सल्य-भाव भरा हुआ है!

(१४) भरत जब कौशल्या के पास गए, तो अपना दुख रोते हुए कौशल्या ने क्या ही अच्छा कहा है कि—

पितु आयसु भूषन-बसन तात तजेउ रघुबीर;
बिसमय, हरष न हृदय कछु, पहिरे बलकल-चीर।

इस दोहे की प्रशंसा हम कहाँ तक करें। इसकी छटा पूरा प्रसंग पढ़ने से जान पड़ती है।

(१५) भरत के वन जाते समय निषादपति की बातों में गँवारू शब्द क्या ही उत्तमता से रक्खे गए हैं। जैसी बातचीत उस श्रेणी के लोग करते हैं, उसका चित्र अंकित कर दिया गया है।

हथबासहु, बोरहु तरनि, कीजै घाटारोहु।
बेगिहिं भाय सजहु संजोऊ।
सुमिरि राम-पद-पंकज-पनहीं ; भाथा बाँधि चढ़ावहिं धनुहीं।
अँगुरी पहिरि कूँड़ि सिर धरहीं।

अयोध्या-कांड के गुणों का वर्णन कहाँ तक किया जाय। यदि इनका कथन किया जाय, या इसके चटकीले छंद उद्धृत किए जायँ, तो एक बड़ा ग्रंथ तैयार हो सकता है। गोस्वामीजी ने इसमें प्रेम, भक्ति, उत्साह, वर्णन-चातुरी आदि की परा काष्ठा कर दी है। करुण-रस का तो यह ख़ज़ाना ही है।

(१६) सूपनखा जब रावण के पास गई, तो गोस्वामीजी ने उसका क्रोध बढ़ाने के लिये उससे झूठ ही यह बात कहला दी—

तासु अनुज काटी स्रुति-नासा ; सुनि तव भगिनी करि परिहासा।

(१७) सुंदर-कांड में हनुमान् के सम्मुख सीता और रावण की बातचीत कराकर गोस्वामीजी ने यह प्रमाणित कर दिया कि सीता में किसी प्रकार का लांछन न था, और उनको रावण कितना तंग किया करता था। त्रिजटावाले संवाद से यह भी दिखा दिया कि वह राम के विरह में कितनी कातर थीं।

(१८) लंका-कांड में युद्धारंभ के पूर्व क्या ही शांत तथा मनोहर दृश्य दिखलाए गए हैं! सुबेल-शैल, रात्रि-वर्णन, रावण के अखाड़े का दृश्य आदि देखिए। इनमें तूफ़ान से पहले की शांति का-सा मज़ा मिलता है।

(१९) चंद्र-मंडल में स्थित कलंक के विषय में प्रत्येक व्यक्ति ने मानो अपना ही हाल कह दिया। यथा—सुग्रीव राजा हुए थे, अतः उन्हें उसमें भूमि की छाया प्रतीत हुई। अंगद का राज्य छिन गया था, इस कारण उनको यह जान पड़ा कि ब्रह्मा ने चंद्रमा का सार-भाग हर लिया, अतः उसकी छाती में छेद हो गया। उधर

विभीषण रावण की लात सह चुके थे, सो उन्हें यही जान पड़ा कि चंद्रमा को किसी ने मारा है, जिसकी श्यामता है। राम को भाइयों से बड़ा स्नेह था, तथा वह विरही थे, इसलिये उन्हें यह प्रतीत हुआ कि—

कह प्रभु, गरल बंधु ससि केरा ; अति प्रिय निज उर दीन्ह बसेरा।
बिष-संजुत कर-निकर पसारी ; जारत बिरहवंत नर-नारी।

तब हनुमान् अपना दास-भाव क्यों छोड़ने लगे ? उन्होंने अंत में चट यही कह दिया—

कहेउ पवनसुत सुनहु प्रभु, ससि तुम्हार प्रिय दास ;
तव मूरति तेहि उर बसति, सोई स्यामता भास।

रामचंद्र ने अपने भाव से भी अधिक इस कथन का आदर किया।

(२०) लक्ष्मण के शक्ति लगने पर श्रीराम ने जो विलाप किया है, उसमें तीन बड़ी-बड़ी भूलें जान-बूझकर कराई गई हैं। एक यह कि—"मिलइ न जगत सहोदर भ्राता", दूसरी—"निज जननी के एक कुमारा", तीसरी—"सौंपेउ मोहिं तुमहिं गहि पानी।" ये भूलें इस कारण कराई गई हैं कि गोस्वामीजी को रामचंद्र की व्याकुलता एवं शोक प्रदर्शित करना अभीष्ट था। इस बात को न विचारकर कुछ लोग इसमें सैकड़ों झगड़े पैदा करते और भूलें हटाने के विचार से भाँति-भाँति के अर्थ ला जोड़ते हैं। हमारी समझ में तो गोस्वामीजी ने ऐसी स्पष्ट भूलें दिखलाकर अपनी भारी कवित्व-शक्ति एवं मानुषी प्रकृति का अपार ज्ञान प्रदर्शित किया है। क्लिष्ट-कल्पनावाले अर्थ यहाँ पर लिखने की कोई आवश्यकता नहीं। यह भी हम अवश्य कहेंगे कि वे अर्थ कदापि ठीक नहीं बैठते।

(२१) युद्ध-यात्रा के समय मार्ग में कुंभकर्ण से विभीषण को मिलाना बहुत ही उचित हुआ है। विभीषण ने राम से अपने

मिल जाने का कारण कहकर मानो बड़े भाई को अपनी सफ़ाई दी है। कुंभकर्ण का उत्तर कुछ अस्वाभाविक हो गया है।

(२२) तुलसीदास ने सीता-त्याग एवं लव-कुश की कथा जान-बूझकर इसलिये उड़ा दी कि उससे श्रीराम की निंदा हो सकती थी।

(२३) गोस्वामीजी की उपमाएँ, उत्प्रेक्षा, दृष्टांतादि बड़े ही चुभते हुए होते हैं—

दलकि उठी सुनि बचन कठोरा ; जनु छुइ गयउ पाक बरतोरा।
देखि लाग मधु कुटिल किराती ; जनु गवँ तकइ, लेउँ केहि भाती।
यह सुनि मन गुनि सपथ बड़ि बिहँसि उठी मतिमंद ;
भूषन सजति बिलोकि मृग मनहुँ किरातिन फंद।

किष्किंधा-कांड के अंतर्गत वर्षा एवं शरद् के वर्णन में बहुत ही अच्छी उपमाएँ दी गई हैं। उनका उल्लेख यहाँ कहाँ तक करें।

(२४) राजा भानुप्रताप की कथा पर समालोचनात्मक विचार मिश्रबंधु-विनोद की भूमिका में हमने लिखे हैं। उन्हें वहीं देखना चाहिए। कुछ लोगों का मत है कि मुसलमानों को शेख़ सादी और हिंदुओं को तुलसीदास ने बिगाड़ा, पर ऐसा कहना नितांत भ्रम-मूलक है। अवश्य ही कतिपय अवांछित बातों के भी समर्थन में कुछ प्रमाण गोस्वामीजी की रचनाओं से मिल जाते हैं, पर ऐसे प्रमाण बहुत ही कम पाए जायँगे। वास्तविक बुरे कामों का समर्थन तो इनके काव्य से हो ही नहीं सकता। गोस्वामीजी के विरुद्ध अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि इनके कतिपय वाक्य आलसी लोगों को अकर्मण्यता के सहायक हो सकते हैं। यथा—

होइहि सोइ, जो राम रचि राखा ; को करि तर्क बढ़ावइ साखा ?

पर जैसा हम इस विषय में ऊपर लिख आए हैं, इन्होंने वास्तव में अकर्मण्यता को सहारा कभी नहीं दिया। श्रीरामचंद्र

के अनन्य भक्त होने पर भी जो महानुभाव ऐसा वाक्य कह सकते हैं कि—

कादर मन कर एक अधारा ; दैव-दैव आलसी पुकारा।

उन्हें कोई निरुद्योग का सहायक कैसे मान सकता है ? यों तो जैसे समुद्र में रत्न, मकर और विष, सभी होते हैं, वैसे ही इन महात्मा के काव्य-महासागर में भी दो-चार दोष यदि ढूँढ़ने से कहीं निकल आवें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? परंतु, वास्तव में, इस समय हिंदू-जाति का वास्तविक अवलंब जितना तुलसी-कृत रामायण तथा उनके अन्य ग्रंथ हो रहे हैं, उतना सहारा आकाश-पाताल ढूँढ़ने पर भी और कहीं नहीं मिल सकेगा। साधारण कवियों के गंदे और विषय-वासना-पूर्ण काव्य पढ़ने से चाहे अच्छा भले ही क्यों न लगे, परंतु चित्त में विकार उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। मगर जितनी देर तक इन महात्मा के ग्रंथ-रत्नों का परिशीलन किया जाता है, उतने समय के लिये पाठक मानो इस संसार की तुच्छ बातों के परे होकर उच्च विचारों, उच्च कर्मों और उच्च अभिलाषाओं का पात्र बन जाता है। ऐसे कवि-कुल-चूड़ामणि पर उक्त प्रकार के लांछन लगाना कृतघ्नता की परा काष्ठा समझनी चाहिए। एक यह भी बात है कि तुलसीदास अपने समय के प्रतिनिधि कवि थे, सो हिंदुओं में उस काल जैसे विचार प्रचलित थे, उनकी छाया इनकी रचनाओं में भी स्वाभाविक थी। इनका साहित्य उच्च हिंदू-विचारों का दर्पण है। वास्तव में हिंदू-समाज का पूर्ण संगठन उस काल जैसे विचारों से संभव था, वैसे ही आपने कहे हैं। हिंदू-समाज को आपने जैसा बनाया, वैसा ही वह आज है। इसमें इनका नहीं, वरन् पीछे के सुधारकों का दोष है, जो अपने-अपने समयानुसार समाज को उन्नत न कर सके।

ऊपर लिखा जा चुका है कि गोस्वामीजी की रचना कई प्रकार की हुई है। रामचरित-मानस, जानकी-मंगल, कलि-धर्माधर्म-निरूपण एवं हनुमान्-चालीसा की शैली एक भाँति की है, तथा कवितावली, हनुमान्-बाहुक और संकट-मोचन की दूसरे प्रकार की। राम-गीतावली और कृष्ण-गीतावली की तीसरी ही शैली है। दोहावली और सतसई चौथी रीति पर बनी हैं। विनय-पत्रिका का ढंग एक पाँचवें ही कैंडे का है। भिन्न-भिन्न प्रकार के ग्रंथों में कविता-शैली बराबर बदलती गई है, पर उनकी विशेषता की छाप सब पर दूर से ही दृष्टि-गोचर होती है। इनके जो विचार और सिद्धांत हैं, वे इनके सभी ग्रंथों में, स्पष्ट रूप से, सौ-सौ, पचास-पचास बार दोहरा-दोहरा-कर, कई प्रकार से, कहे गए हैं। हमको कई ग्रंथों के विषय में, जो इनके रचे प्रसिद्ध हैं, संदेह हुआ करता था कि शायद उन्हें किसी अन्य कवि अथवा कवियों ने इनके नाम से बना डाला हो। इस कारण हमने अत्यंत प्रामाणिक ग्रंथों को छोड़ और सभी पुस्तकों की जाँच बड़ी ही कड़ाई से की। अंत में हमें अधिकांश के विषय में पूर्ण विश्वास हो गया कि वे अवश्य इन्हीं महात्मा तुलसीदास के रचे हुए हैं। यह हाल ब्यौरेवार अन्यत्र लिखा जा चुका है।

निदान सब बातों पर विचार करने से विदित होता है कि इस महाकवि का काव्य हिंदी में अद्वितीय है। यदि कोई भी हिंदी-कवि इनके समीप उपस्थित किया जा सकता है, तो वे महात्मा सूरदास और देव ही हो सकते हैं। यों तो हिंदी-साहित्य में नव-दस कवि ऐसे हैं, जिन्हें हम सर्वोच्च कक्षा (Reserved Class) में रखते हैं ; जैसे (१) तुलसीदास, (२) सूरदास, (३) देव, (४) बिहारी, (५) त्रिपाठी-बंधु (भूषण और मतिराम), (६) केशवदास, (७) कबीरदास, (८) चंद और (९) हरिश्चंद्र;

परंतु जैसे विष्णु भगवान् के दशावतारों में से राम और कृष्ण ही की पूर्ण महिमा है, वैसे हिंदी-साहित्य के इस 'नवरत्न' में से तुलसीदास एवं सूरदास ही सूर्य और चंद्र की भाँति महिमा एवं कवित्व-शक्ति में सबसे बड़े हुए देख पड़ेंगे। इन दोनो में भी अब हम तुलसीदास को ही प्रथम स्थान देते हैं। अधिक क्या कहें, हमारी स्वल्प बुद्धि के अनुसार महात्मा तुलसीदास से बढ़कर कोई कवि, हमारी जानकारी में, कभी, किसी भी भाषा में, संसार-भर में, कहीं नहीं हुआ। इनमें एक तो कोई दोष है ही नहीं, और जो दो-चार हैं भी, वे एक प्रकार से गुण ही कहे जा सकते हैं। जब तक हिंदू-जाति पृथ्वी-मंडल पर वर्तमान है, तब तक महात्मा तुलसीदास का नाम सदा अमर रहेगा। इनकी रचना तथा भक्ति से चरित्र की शुद्धि जितनी हो सकती है, उतनी अन्य कवि की कविता से होनी कठिन है। गोस्वामीजी की रचना के उदाहरण कुछ विस्तार के साथ आगे दिए जाते हैं।

उदाहरण—

मंगल-करनि, कलि-मल-हरनि, तुलसी कथा रघुनाथ की ;
गति कूर-कविता-सरस की ज्यों परम पावन पाथ की।
प्रभु सुजस संगति भनित भलि होइहि सुजन-मनभावनी ;
भव भूति अंग मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी ॥ १ ॥

गीतावली

आइ रहे जब ते दोउ भाई।
तब ते चित्रकूट-कानन-छबि दिन-दिन अधिक-अधिक अधिकाई।
सीता-राम-लखन-पद-अंकित अवनि सुहावनि, बरनि न जाई ;
मंदाकिनि मज्जत, अवलोकत त्रिबिधपाप, त्रयताप नसाई।
उकठेउ हरित भए जल-थलरुह नित नूतन राजीव सुहाई ;
फूलत, फलत, पल्लवित, पलुहत बिटप-बेलि अभिमत सुखदाई।

सरित-सरनि सरसीरुह-संकुल सदन सँवारि रमा जनु छाई ;
कूजत बिहँग, मंजु गुंजत अलि, जात पथिक जनु लेत बुलाई ॥१॥

कृष्ण-गीतावली

कोउ सखि नई चाह सुनि आई ।
यह ब्रज-भूमि सकल सुरपति सों मदन मिलिक करि पाई ।
घन धावन, बग पाँति पटो सिर, बैरख तड़ित सोहाई ;
बोलत पिक नकीब गरजनि मिस मानहुँ फिरति दोहाई ।
चातक, मोर, चकोर, मधुप, सुक, सुमन, समीर सुहाई ;
चाहत कियौ बास बृंदाबन, बिधि सों कछु न बसाई ।
सीवँ न चापि सको कोउ तब, जब हुते स्याम दोउ भाई ;
अब तुलसी गिरिधर बिनु गोकुल कौन करिहि ठकुराई ॥ १ ॥

दोहावली

बरषा-ऋतु रघुपति-भगति, तुलसी सालि सु दास ;
राम-नाम बर बरन जुग सावन-भादौं-मास ॥ १ ॥
राम-नाम नरकेसरी, कनककसिपु कलिकाल ;
जापक जन प्रह्लाद जिमि पालहिं दलि सुर साल ॥ २ ॥
रसना साँपिनि, बदन बिल, जो न जपहिं हरि-नाम ;
तुलसी प्रेम न राम सों, ताहि बिधाता बाम ॥ ३ ॥
तुलसी जो पै राम सों नाहिन सहज सनेह ;
मूड़ मुड़ायो बादि ही, भाँड़ भयो तजि गेह ॥ ४ ॥
सपने होय भिखारि नृप, रंक नाकपति होय ;
जागे लाभ न हानि कछु, तिमि प्रपंच जिय जोय ॥ ५ ॥
दीप-सिखा-सम जुवति-तन, मन, जनि होसि पतंग ;
भजहि राम तजि काम, मद, करहि सदा सतसंग ॥ ६ ॥
ताहि कि संपति सकुन सुभ, सपनेहु मन बिसराम ;
भूत-द्रोह-रत, मोह-बस, राम-बिमुख, रत काम ॥ ७ ॥

नीच निरादर ही सुखद, आदर सुखद बिसाल ;
कदली बदली बिटप गति, पेखहु पनस रसाल ॥ ८ ॥
होत भले के अनभले, होइ दानि के सूम ;
होइ कुपूत सपूत के, ज्यों पावक में धूम ॥ ९ ॥
बरखि बिस्व हरखित करत, हरत ताप, अघ प्यास ;
तुलसी दोष न जलद को, जो जल जरै जवास ॥ १० ॥
सारदूल को स्वाँग करि, कूकर की करतूति ;
तुलसी तापर चाहिए कीरति, बिजय, बिभूति ॥ ११ ॥
लोक-रीति फूटी सहै, आँजी सहै न कोइ ;
तुलसी जो आँजी सहै, सो आँधरो न होइ ॥ १२ ॥
सचिव, बैद, गुरु तीनि जहँ प्रिय बोलहिं भय-आस ;
राज, देह अरु धरम को होय बेगि ही नास ॥ १३ ॥
सरनागत कहँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि ;
ते नर पामर पापमय, तिन्हैं बिलोकत हानि ॥ १४ ॥

कवित्त-रामायण

अवधेस के द्वार सकार गई सुत गोद मैं भूपति लै निकसे ;
अवलोकिहौं सोच-बिमोचन को ठगि-सी रहि, जे न ठगे, धिक-से ।
तुलसी मन-रंजन रंजित अंजन नैन सु खंजन - जातिक-से ;
सजनी ससि मैं समसील उभै नव-नील सरोरुह-से बिकसे ॥ १ ॥
पग नूपुर औ पहुँची कर-कंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिए ;
नवनील कलेवर पीत झँगा झलकैं, पुलकैं नृप गोद लिए ।
अरबिंद-सों आनन रूप मरंद अनंदित लोचन-भृंग पिए ;
मन में न बस्यो अस बालक जो, तुलसी जग में फल कौन जिए ॥ २ ॥
तन की दुति स्याम सरोरुह, लोचन कंज की मंजुलताई हरैं ;
अति सुंदर सोहत धूरि-भरे, छबि भूरि अनंग की दूरि धरैं ।

दमकैं दँतियाँ दुति दामिनि ज्यों, किलकैं कल बाल-बिनोद करैं ;
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी मन-मंदिर में बिहरैं ॥ ३ ॥
रावरे दोषु न पाँयन को, पग-धूरि को भूरि प्रभाउ महा है ;
पाहन ते बरु बाहन काठ को कोमल है, जल खाइ रहा है।
पावन पाँव पखारिकैं नाव चढ़ाइहौं, आयसु होत कहा है ?
तुलसी सुनि केवट के बर बैन, हँसे प्रभु जानकी ओर हहा है ॥ ४ ॥

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल-जाल मनो
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है ;
कैधौं ब्योम-बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीर-रस बीर तरवारि-सी उघारी है।
तुलसी सुरेस-चाप, कैधौं दामिनी - कलाप,
कैधौं चली मेरु ते कृसानु-सरि भारी है ;
देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहैं,
कानन उजारयो अब नगर पजारी है ॥ ५ ॥

कानन, भूधर, बारि, बयारि, महाबिष, ब्याधि, दवा अति घेरे ;
संकट कोटि जहाँ तुलसी सुत, मातु, पिता, हित, बंधु न नेरे।
राखि है राम कृपालु तहाँ, हनुमान-से सेवक हैं जिहि केरे ;
नाक, रसातल, भूतल में रघुनायक एक सहायक मेरे ॥ ६ ॥
लागि दवारि पहारि ढही, लहकी कपि लंक यथा खर-खोकी ;
चारु चुआ चहुँ ओर चली, लपटैं झपटैं सो तमीचर तोकी।
क्यों कहि जात महासुखमा, उपमा तकि ताकत हैं कबि कोकी ;
मानो लसी तुलसी हनुमान- हिए जग जीति जराय की चोकी ॥ ७ ॥

विनय-पत्रिका

मेरो मन हरिजू, हठ न तजै।
निसि-दिन नाथ देउँ सिख बहु बिधि, करत सुभाउ निजै।

ज्यों जुवती अनुभवति-प्रसव अति दारुन दुख उपजै ;
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहि भजै।
लोलुप भ्रम गृहपसु ज्यों जहँ-तहँ, सिर पदत्रान बजै ;
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग, कबहूँ न मूढ़ लजै।
हौं हार्‌यो करि जतन बिबिध बिधि अतिसय प्रबल अजै !
तुलसिदास बस होइ तबहिं, जब प्रेरक प्रभु बरजै ॥ १ ॥

ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि राम-भगति सुर-सरिता, आस करत ओसकन की।
धूम-समूह निरखि चातक ज्यों तृषित जानि मति घन की ;
नहिं तहँ सीतलता, न बारि, पुनि हानि होति लोचन की।
ज्यों गच काँच बिलोकि स्वान जड़ छाँह आपने तन की ;
टूटत अति आतुर अहार-बस, छति बिसारि आनन की।
कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि, जानत हौ गति जन की ;
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की ॥२॥

अबलौं नसानी, अब ना नसैहौं।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं।
पायो नाम चारु चिंतामनि, उर कर ते न खसैहौं ;
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी, चित-कंचनहि कसैहौं।
परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निजबस ह्वै न हँसैहौं ;
मन-मधुकर पन करि तुलसी, प्रभु-पद-कमल बसैहौं ॥३॥

केसव, कहि न जाय, का कहिए ?
देखत तव रचना बिचित्र अति, समुझि मन-हि-मन रहिए।
सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे ;
धोए मिटै न मरै भीति, दुख पाइय यहि तनु हेरे।
रबिकर नीर, बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं ;
बदन-हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं।

कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि माने ;
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम, सो आपन पहिचाने ॥४॥

जाके प्रिय न राम-बैदेही ।
सो छाँड़िए कोटि बैरी सम जद्यपि परमसनेही ।
तज्यो पिता प्रह्लाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी ;
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रजबनितनि, भे सब मंगल-कारी ।
नाते नेह राम के मनियत, सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं ;
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं ।
तुलसी सो सब भाँति परमहित पूज्य प्रान ते प्यारो ;
जासों होइ सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो ॥५॥

मन पछितैहै अवसर बीते ।
दुरलभ देह पाइ हरि-पद भजु, कर्म, बचन अरु ही ते ।
सहसबाहु, दसबदन आदि नृप बचे न काल बली ते ;
हम-हम करि धन-धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते ।
सुत-बनितादि जानि स्वारथ-रत, न करु नेह सब ही ते ;
अंतहुँ तोहिं तजैंगे पामर, तू न तजै अब ही ते ।
अब नाथहिं अनुरागु, जागु जड़, त्यागु दुरासा जी ते ;
बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ बिषय-भोग बहु घी ते ॥६॥

ऐसेहि जनम-समूह सिराने ।
प्राननाथ रघुपति-से प्रभु तजि सेवत चरन बिराने ।
जे जड़ जीव, कुटिल, कायर, खल, केवल कलि-मल-साने ;
सूखत बदन प्रसंसत तिन्ह कहँ हरि ते अधिक करि माने ।
सुख-हित कोटि उपाय निरंतर करत न पाँय पिराने ;
सदा मलीन पंथ के जल ज्यों, कबहुँ न हृदय थिराने ।
यह दीनता दूरि करिबे को अमित जतन उर आने ;
तुलसी चित चिंता न मिटै बिनु चिंतामनि पहिचाने ॥७॥

हनुमान्-बाहुक

स्वर्ण-सैल-संकास, कोटिरबितरुन तेज घन;
उर बिसाल, भुजदंड चंड, नख बज्र, बज्र तन।
पिंग नयन, भ्रुकुटी कराल रसना दसनानन;
कपिस केस, करकस लँगूर, खल-दल-बल-भानन।
कह तुलसिदास बस जासु उर मारुतसुत-मूरति बिकट;
संताप, पाप तिहि पुरुष के सपनेहुँ नहिं आवत निकट ॥१॥

सिंधु तरे, बड़े बीर दले, खलजाल हैं लंक-पे बंक मवासे;
तैं रन केहरि केहरि के बिदले अरि कुंजर छैल छवा-से।
तोसों समत्थ सुसाहिब सेइ सहै तुलसी दुख दोष दवा-से;
बानर-बाज बढ़े खल खेचर, लीजत क्यों न लपेटि लवा-से ॥२॥

हनुमान्-अष्टक

रावन जुद्ध अजान कियो, तब नाग कि पास सबै सिर डारो;
श्रीरघुनाथ-समेत सबै दल मोहे, भयो तब संकट भारो।
आनि खगेस तबै हनुमानजु बंधन काटि कुत्रास निवारो;
को नहिं जानत है जग में, प्रभु संकट-मोचन नाम तुम्हारो ॥१॥

राम-चरित-मानस (रामायण)

सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ ;
वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ ॥ १ ॥
उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ;
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥ २ ॥
कुंद-इंदु-सम देह, उमा-रमन करुना-अयन ;
जाहि दीन पर नेह, करउ कृपा मर्दन-मयन ॥ ३ ॥
बंदउँ गुरु-पद-कंज, कृपा-सिंधु नर-रूप हरि;
महामोह-तम-पुंज, जासु बचन रबि-कर-निकर ॥४॥

बंदउँ गुरु-पद - पदुम - परागा ; सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।
अमियमूरिमय चूरन चारू ; समन सकल भव-रुज-परिवारू।
सुकृत संभुतन बिमल बिभूती ; मंजुल मंगल - मोद - प्रसूती।
जन-मन मंजु मुकुर मल-हरनी ; किए तिलक गुन-गन-बस-करनी।
श्रीगुरु-पद-नख-मनि-गन-जोती ; सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती।
दलन मोह-तम सोसुप्रकासू ; बड़े भाग उर आवइँ जासू।
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के ; मिटहिं दोष-दुख भव-रजनी के।
सूझहिं राम-चरित-मनि-मानिक ; गुपित प्रगट जहँ जो जेहि खानिक।

जथा सुअंजन आँजि दृग साधक सिद्ध सुजान ;
कौतुक देखहिं सैल बन, भूतल भूरि निधान।

गुरु-पद-रज मृदु मंजुल अंजन ; नयन-अमिय-दृग-दोष - बिभंजन।
तेहि कर बिमल बिबेक बिलोचन ; बरनउँ राम-चरित भव-मोचन।
बंदउँ प्रथम महीसुर - चरना ; मोह-जनित संसय सब हरना।
सुजन-समाज सकल गुन-खानी ; करउँ प्रनाम सप्रेम सुबानी।
साधु-चरित सुभ सरिस कपासू ; निरस, बिसद, गुनमय फल जासू।
जो सहि दुख पर-छिद्र दुरावा ; बंदनीय जेहि जग जसु पावा।
मुद - मंगलमय संत - समाजू ; जो जग जंगम तीरथ - राजू।
राम-भगति जहँ सुर-सरि-धारा ; सरसइ ब्रह्म - बिचार - प्रचारा।
बिधि-निषेधमय कलि-मल-हरनी ; करम-कथा रबि-नंदिनि बरनी।
हरि-हर - कथा बिराजति बेनी ; सुनत सकल मुद-मंगल देनी।
बट-बिस्वासु अचल निज धर्मा ; तीरथराज समाज सुकर्मा।
सबहि सुलभ सब दिन सब देसा ; सेवत सादर समन कलेसा।
अकथ, अलौकिक तीरथराऊ ; देइ सद्य फल प्रगट - प्रभाऊ।

सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग ;
लहहिं चारि फल अछत-तनु साधु-समाज प्रयाग।

बालमीकि, नारद, घटजोनी ; निज-निज मुखनि कही निज होनी।

जलचर, थलचर, नभचर नाना ; जे जड़-चेतन जीव जहाना ।
मति, कीरति, गति, भूति भलाई ; जब, जेहि जतन, जहाँ जेहि पाई ।
सो जानब सतसंग - प्रभाऊ ; लोकहु-बेद न आन उपाऊ ।
बिनु सतसंग बिबेक न होई , राम-कृपा बिनु सुलभ न सोई ।
सतसंगति मुद-मंगल-मूला ; सोइ फल सिधि, सब साधन फूला ।
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई ; पारस परसि कुधातु सोहाई ।
बिधि-बस सुजन कुसंगति परहीं ; फनिमनि सम निज गुन अनुसरहीं ।
बिधि-हरि-हर-कबि-कोबिद-बानी; कहत साधु-महिमा सकुचानी ।
सो मोसन कहि जात न कैसे ; साक-बनिक मनि-गन-गुन जैसे ।

बंदउँ संत समान चित, हित-अनहित नहिं कोउ ;
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोउ ।
संत सरल-चित जगत-हित जानि सुभाव सनेहु ;
बाल-बिनय सुनि, करि कृपा राम-चरन-रति देहु ।

बहुरि बंदि खलगन सतिभाए ; जे बिन काज दाहिनेहु बाँए ।
पर-हित-हानि-लाभ जिन्ह केरे ; उजरे हरष, बिषाद बसेरे ।
हरि-हर - जस - राकेस-राहु - से ; पर-अकाज भट सहसबाहु-से ।
जे पर-दोष लखहिं सहसाखी ; पर-हित घृत जिनके मन माखी ।
तेज कृसानु, रोष महिषेसा ; अघ-अवगुन-धन-धनी धनेसा ।
उदय केतु-सम हित सब ही के ; कुंभकरन-सम सोवत नीके ।
पर-अकाजु लगि तनु परिहरहीं ; जिमि हिम-उपल कृषी दलि गरहीं ।
बंदउँ खल, जस सेष सरोषा ; सहसबदन बरनइ पर-दोषा ।
पुनि प्रनवउँ पृथुराज-समाना ; पर-अघ सुनइ सहसदस काना ।
बहुरि सक्र-सम बिनवउँ तेही ; संतत सुरानीक हित जेही ।
बचन-बज्र जेहि सदा पियारा ; सहस-नयन पर-दोष निहारा ।

उदासीन-अरि-मीत-हित, सुनत जरहिं खल रीति ;
जानु पानि जुग जोरि जन, बिनती करउँ सप्रीति ।

मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा ; तिन्ह निज ओर न लाउब भोरा ।
बायस पलिअहि अति अनुरागा ; होहि निरामिष कबहुँ कि कागा ।
बंदउँ संत - असज्जन - चरना ; दुख-प्रद उभय, बीच कछु बरना ।
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं ; मिलत एक दारुन दुख देहीं ।
उपजहिं एक संग जल माहीं ; जलज, जोंक जिमि, गुन बिलगाहीं ।
सुधा-सुरा - सम साधु-असाधू ; जनक एक जग जलधि अगाधू ।
भल, अनभल निज-निज करतूती ; लहत सुजस, अपलोक बिभूती ।
सुधा, सुधाकर, सुरसरि साधू ; गरल, अनल, कलिमल, सरि, ब्याधू ।
गुन-अवगुन जानत सब कोई ; जो जेहि भाव, नीक तेहि सोई ।

भलो भलाई पै लहइ, लहइ निचाइहि नीचु ;
सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीचु ।

खल अघ अगुन, साधु गुन गाहा ; उभय अपार उदधि अवगाहा ।
तेहि ते कछु गुन-दोष बखाने ; संग्रह-त्याग न बिनु पहिचाने ।
भलेउ पोच सब बिधि उपजाए ; गनि गुन-दोष बेद बिलगाए ।
कहहिं बेद, इतिहास, पुराना ; बिधि-प्रपंच गुन-अवगुन-साना ।
दुख-सुख, पाप-पुन्य, दिन-राती ; साधु-असाधु, सुजाति-कुजाती ।
दानव-देव, ऊँच अरु नीचू ; अमिय सजीवनि, माहुर मीचू ।
माया-ब्रह्म, जीव - जगदीसा ; लच्छि-अलच्छि-रंक-अवनीसा ।
कासी - मग,-सुरसरि - क्रमनासा ; मरु-मालव, महिदेव - गवासा ।
सरग - नरक, अनुराग - बिरागा ; निगम-अगम-गुन-दोष-बिभागा ।

जड़-चेतन गुन-दोषमय बिस्व कीन्ह करतार ;
संत-हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि-बिकार ।

खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू ; मिटइ न मलिन सुभाव अभंगू ।
लखि सुबेष जग-बंचक जेऊ ; बेष-प्रताप पूजिअहि तेऊ ।
उघरहिं अंत, न होइ निबाहू ; कालनेमि जिमि रावन राहू ।
कियहु कुबेषु साधु-सनमानू ; जिमि जग जामवंत, हनुमानू ।

हानि कुसंग, सुसंगति लाहू ; लोकहु बेद बिदित सब काहू ।
गगन चढ़इ रज पवन-प्रसंगा ; कीचहिं मिलइ नीच जल संगा ।
साधु-असाधु-सदन सुक-सारी ; सुमिरहिं राम, देहिं गनि गारी ।
धूम कुसंगति कारिख होई ; लिखिय पुरान मंजु मसि सोई ।
सोइ जल - अनल-अनिल-संघाता ; होइ जलद जग-जीवन-दाता ।

ग्रह, भेषज, जल, पवन, पट, पाइ कुजोग, सुजोग ;
होहिं कुबस्तु सुबस्तु जग, लखहिं सुलच्छन लोग ।
सम प्रकास तम पाख दुहुँ, नाम-भेद बिधि कीन्ह ;
ससि-पोषक, सोषक समुझि जगजस-अपजस दीन्ह ।

सीय-राममय सब जग जानी ; करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ।
जानि कृपा करि किंकर मोहू ; सबमिलि करहु,छाँड़िछल-छोहू ।
निज बुधि-बल-भरोस मोहिं नाहीं ; ताते बिनय करउँ सब पाहीं ।
करन चहउँ रघुपति-गुन-गाहा ; लघु मति मोरि,चरित अवगाहा ।
सूझ न एकउ अंग उपाऊ ; मम मति रंक, मनोरथ राऊ ।
मति अति नीचि, ऊँचि रुचि आछी ; चहिय अमिय जग जुरइ न छाछी ।
छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई ; सुनिहहिं बाल-बचन मन लाई ।

भनित मोरि सब गुन-रहित, बिस्व-बिदित गुन एक ;
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति, जिन्हके बिमल बिबेक ।

यहि महँ रघुपति-नाम उदारा ; अति पावन, पुरान-स्रुति-सारा ।
मंगल - भवन, अमंगलहारी ; उमा-सहित जेहि जपत पुरारी ।
भनित बिचित्र सुकबि-कृत जोऊ ; राम-नाम बिनु सोह न सोऊ ।
बिधु-बदनी सब भाँति सँवारी ; सोह न बसन बिना बर नारी ।
सब गुन-रहित कुकबि-कृत बानी ; राम-नाम-जस-अंकित जानी ।
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही ; मधुकर-सरिस संत गुन-ग्राही ।
जदपि कबित-रस एकउ नाहीं ; राम-प्रताप प्रगट यहि माहीं ।
सोइ भरोस मोरे मन आवा ; केहि न सुसंग बड़प्पन पावा ।

धूमउ तजइ सहज-करुआई ; अगरु-प्रसंग सुगंध बसाई ।
भनित भदेस, बस्तु भलि बरनी ; राम - कथा जग मंगल-करनी ।

स्याम सुरभि, पय बिसद अति, गुनद करहिं सब पान ;
गिरा ग्राम्य, सिय-राम-जस गावहिं-सुनहिं सुजान ।

मनि-मानिक-मुकुता - छबि जैसी ; अहि-गिरि-गज-सिर सोह न तैसी ।
नृप-किरीट, तरुनी-तनु पाई ; लहहिं सकल सोभा अधिकाई ।
तैसेहि सुकबि कबित बुध कहहीं ; उपजहिं अनत, अनत छबि लहहीं।
भगत-हेतु बिधि-भवन बिहाई ; सुमिरत सारद आवति धाई ।
राम-चरित-सर बिनु अन्हवाए ; सो स्रम जाइ न कोटि उपाए ।
कबि-कोबिद अस हृदय बिचारी ; गावहि हरि-जस कलि-मल-हारी ।
कीन्हे प्राकृत - जन-गुन - गाना ; सिर धुनि गिरा लागि पछिताना ।
हृदय सिंधु मति सीपि-समाना ; स्वाती सारद कहहिं सुजाना ।
जो बरसइ बर-बारि बिचारू ; होहिं कबित मुकुता-मनि चारू ।

जुगुति बेधि पुनि पोहियहि रामचरित बर-ताग ;
पहिरहिं सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग ।

जे जनमे कलिकाल कराला ; करतब बायस, बेष मराला ।
चलत कुपंथ बेद-मग छाँड़े ; कपट-कलेवर कलि-मल-भाँड़े ।
बंचक भगत कहाइ राम के ; किंकर कंचन, कोह, काम के ।
तिन महँ प्रथम रेख जग मोरी ; धिग धरमध्वज, धँधरक धोरी ।

बंदउँ मुनि-पद-कंजु, रामायन जेहि निरमयउ ;
सखर, सकोमल मंजु, दोष-रहित, दूषन-सहित ।

बंदउँ कौसल्या दिसि-प्राची ; कीरति जासु सकल जग माची ।
प्रगटेउ जहँ रघुपति-ससि चारू ; बिस्व-सुखद, खल-कमल-तुसारू ।

गिरा-अरथ, जल-बीचि-सम, कहियत भिन्न, न भिन्न ;
बंदउँ सीता-राम-पद, जिन्हहिं परमप्रिय खिन्न ।

बंदउँ राम-नाम रघुबर को ; हेतु कृसानु, भानु, हिमकर को ।

बिधि-हरि-हरमय बेद-प्रान सो ; अगुन, अनूपम, गुन-निधान सो ।
महामंत्र जोइ जपत महेसू ; कासी मुकुति हेतु उपदेसू ।
महिमा जासु जान गनराऊ ; प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ ।
जान आदि कबि नाम-प्रतापू ; भयउ सुद्ध करि उलटा जापू ।
नाम-प्रभाउ जान सिव नीको ; कालकूट फल दीन्ह अमी को ।

बरषा-रितु रघुपति-भगति, तुलसी सालि सु दास ;
राम-नाम बर बरन जुग सावन-भादवँ मास ।

सुमिरत सुलभ, सुखद सब काहू ; लोक लाहु, परलोक निबाहू ।
बरनत बरन प्रीति बिलगाती ; ब्रह्म-जीव - सम सहज सँघाती ।
नर - नारायन - सरिस सुभ्राता ; जग पालक बिसेषि जनि त्राता ।
भगति सुतिय कल करन-बिभूषन ; जग-हित हेतु बिमल बिधु-पूषन ।
स्वाद-तोष-सम सुगति सुधा के ; कमठ-सेष-सम धर बसुधा के ।
जन-मन मंजु कंज मधुकर - से ; जीह - जसोमति-हरि हलधर-से ।

एक छत्र, इक मुकुट-मनि, सब बरननि पर जोउ ;
तुलसी रघुबर-नाम के बरन बिराजत दोउ ।
यहि बिधि निज गुन-दोष कहि, सबहिं बहुरि सिर नाय ;
बरनउँ रघुबर बिसद जसु, सुनि कलि-कलुष नसाइ ।

निज संदेह - मोह-भ्रम - हरनी ; करउँ कथा भव-सरिता-तरनी ।
बुध-बिसराम, सकल जन-रंजनि ; राम-कथा कलि-कलुष - बिभंजनि ।
राम-कथा कलि-पन्नग भरनी ; पुनि बिबेक-पावक कहँ अरनी ।
राम-कथा कलि कामद - गाई ; सुजन - सजीवनिमूरि सोहाई ।
सोइ बसुधातल सुधा-तरंगिनि ; भय-भंजनि, भ्रम - भेक-भुअंगिनि ।
असुरसेन-सम नरक - निकंदिनि ; साधु-बिबुध-कुलहित गिरि-नंदिनि ।
संत-समाज - पयोधि रमा - सी ; बिस्व - भार-धर अचल छमा-सी ।
जमगन-मुँह-मसि जग जमुना-सी ; जीवन-मुकुति - हेतु जनु कासी ।
रामहिं प्रिय पावनि तुलसी-सी ; तुलसिदास-हित हिय हुलसी-सी ।

सिव प्रिय मेकल-सैल-सुता - सी ; सकल सिद्धि-सुख संपति - रासी ।
सद्गुन - सुरगन अंब अदिति-सी ; रघुबर-भगति प्रेम-परमिति-सी ।

राम - कथा मंदाकिनी , चित्रकूट चित चारु ;
तुलसी सुभग सनेह बन सिय-रघुबीर-बिहारु ।

राम - चरित - चिंतामनि चारू ; संत-सुमति-तिय सुभग सिंगारू ।
जग - मंगल गुन-ग्राम राम के ; दानि मुकुति,धन,धरम, धाम के ।
सद्गुरु ज्ञान बिराग जोग के ; बिबुध बैद भव भीम रोग के ।
जननि-जनक सिय-राम-प्रेम के ; बीज सकल व्रत, धरम, नेम के ।
समन पाप, संताप, सोक के ; प्रिय पालक परलोक, लोक के ।
काम-कोह-कलिमल-करिगन के ; केहरि-सावक जन-मन-बन के ।
अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के ; कामद - घन दारिद-दवारि के ।
मंत्र महामनि बिषय-ब्याल के ; मेटत कठिन कुअंक भाल के ।
हरन मोह-तम दिनकर-कर-से ; सेवक - सालिपाल जलधर से ।
अभिमत-दानि देव-तरुबर - से ; सेवत सुलभ सुखद हरि-हर-से ।
सुकबि सरद, नभ मन उडुगन-से ; रामभगत जन जीवनधन-से ।
सेवक-मन मानस मराल-से ; पावन गंग-तरंग-माल - से ।

× × ×

संवत सोरह सै इकतीसा ; करउँ कथा हरि-पद धरि सीसा ।
नौमी, भौमबार, मधु-मासा ; अवधपुरी यह चरित प्रकासा ।

× × ×

जिन हरि-कथा सुनी नहिं काना ; स्रवन-रंध्र अहि-भवन-समाना ।
नयनन्हि संत दरस नहिं देखा ; लोचन मोरपंख कर लेखा ।
ते सिर कटु-तुंबरि-सम तूला ; जे न नमत हरि-गुरु-पद-मूला ।
जिन्ह हरि-भगति हृदय नहिं आनी ; जीवत सब-समान तेइ प्रानी ।
जो नहिं करइ राम-गुन-गाना ; जीह सो दादुर-जीह समाना ।
कुलिस-कठोर निठुर सोइ छाती ; सुनि हरि-चरित न जो हरषाती ।

राम-कथा सुर-धेनु-सम सेवत सब सुखदानि ;
सतसमाज सुरलोक सब को न सुनइ अस जानि ?

राम - कथा सुंदर कर-तारी ; संसय - बिहग उड़ावनहारी ।
राम-कथा कलि-बिटप-कुठारी ; सादर सुनु गिरिराजकुमारी ।

× × ×

भगतबछल प्रभु कृपानिधाना ; बिस्व बास प्रगटे भगवाना ।

नील सरोरुह, नील मनि, नील नीरधर स्याम ;
लाजहिं तनु-सोभा निरखि कोटि-कोटि-सत काम ।

सरद-मयंक बदन छबि-सीवाँ ; चारु कपोल, चिबुक, बर ग्रीवाँ ।
अधर-अरुन, रद सुंदर नासा ; बिधु-कर-निकर-बिनिंदक हासा ।
नव - अंबुज अंबक-छबि नीकी ; चितवनि ललित भावती जी की ।
भ्रुकुटि मनोज-चाप-छबि-हारी ; तिलक ललाट-पटल-दुतिकारी ।
कुंडल-मकर मुकुट सिर भ्राजा ; कुटिल केस जनु मधुप-समाजा ।
उर श्रीबत्स, रुचिर बनमाला ; पदिक-हार, भूषन मनि-जाला ।
केहरि कंधर चारु जनेऊ ; बाहु बिभूषन सुंदर तेऊ ।
करि-कर-सरिस सुभग भुज-दंडा ; कटि निषंग, कर सर-कोदंडा ।

तड़ित-बिनिंदक पीत पट, उदर रेख बर तीनि ;
नाभि मनोहर लेति जनु जमुन-भवँर-छबि छीनि ।

पद-राजीव बरनि नहिं जाहीं ; मुनि-मन-मधुप बसहिं जिन्ह-माहीं ।
बाम भाग सोभित अनुकूला ; आदि-सकति, छबि-निधि, जगमूला ।
जासु अंस उपजहिं गुन-खानी ; अगनित लच्छि, उमा, ब्रह्मानी ।
भ्रुकुटि-बिलास जासु जग होई ; राम-बाम दिसि सीता सोई ।
छबि-समुद्र हरि-रूप बिलोकी ; इकटक रहे नयन पट रोकी ।
चितवहिं सादर रूप अनूपा ; तृप्ति न मानहिं मनु-सतरूपा ।

× × ×

भूप बाग बर देखेउ जाई ; जहँ बसंत-रितु रही लुभाई ।
लागे बिटपि मनोहर नाना ; बरन-बरन बर बेलि-बिताना ।
नव पल्लव, फल, सुमन सुहाए ; निज संपति सुर-रूख लजाए ।
चातक, कोकिल, कीर, चकोरा ; कूजत बिहँग, नटत कल मोरा ।
मध्यबाग सर सोह सुहावा ; मनि-सोपान बिचित्र बनावा ।
बिमल सलिल, सरसिज बहुरंगा ; जल-खग कूजत, गुंजत भृंगा ।
बाग-तड़ाग बिलोकि प्रभु हरषे बंधु-समेत ;
परम रम्य आराम यह, जो रामहिं सुख देत ।

× × ×

कंकन-किंकिनि-नूपुर-धुनि सुनि ; कहत लषन सन राम हृदय गुनि ।
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही ; मनसा बिस्व-बिजय कहँ कीन्ही ।
अस कहि फिरि चितए तिहि ओरा ; सिय-मुख-ससि भे नयन चकोरा ।
भए बिलोचन चारु अचंचल ; मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल ।
देखि सीय-सोभा सुख पावा ; हृदय सराहत बचनु न आवा ।
जनु बिरंचि सब निज निपुनाई ; बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई ।
सुंदरता कहँ सुंदर करई ; छबि-गृह दीप-सिखा जनु बरई ।
सब उपमा कबि रहे जुठारी ; केहि पटतरउँ बिदेहकुमारी ?

× × ×

सोभा-सींव सुभग दोउ बीरा ; नील-पीत-जलजाभ-सरीरा ।
मोर-पंख सिर सोहत नीके ; गुच्छा बिच-बिच कुसुम-कली के ।
भाल तिलक, स्रम-बिंदु सुहाए ; स्रवन सुभग भूषन छबि छाए ।
बिकट भृकुटि, कच घूँघरवारे ; नव-सरोज-लोचन रतनारे ।
चारु चिबुक, नासिका, कपोला ; हास-बिलास लेत मन मोला ।
मुख-छबि कहि न जाइ मोहिं पाहीं ; जो बिलोकि बहु काम लजाहीं ।
उर मनि-माल, कंबु-कल ग्रीवाँ ; काम-कलभ-कर भुज-बल-सीवाँ ।
सुमन-समेत बाम कर दोना ; साँवर कुँवर सखी सुठि लोना ।

केहरि कटि पट पीत-धर, सुखमा-सील-निधान ;
देखि भानु-कुल-भूषनहिं बिसरा सखिन्ह अपान ।

× × ×

उएउ अरुन अवलोकहु ताता ; पंकज - लोक - कोक - सुख - दाता ।
बोले लषन जोरि जुग पानी ; प्रभु - प्रभाव - सूचक मृदु बानी ।
अरुन-उदय सकुचे कुमुद, उडुगन-जोति मलीन ;
तिमि तुम्हार आगमन सुनि भए नृपति बल-हीन ।
नृप सब नखत करहिं उजियारी ; टारि न सकहिं चाप-तम-भारी ।
कमल, कोक, मधुकर, खग नाना ; हरषे सकल निसा-अवसाना ।
ऐसेहि प्रभु सब भगत तुम्हारे ; होइहहिं टूटे धनुष सुखारे ।
उएउ भानु, बिनु स्रम तम-नासा ; दुरे नखत, जग तेज प्रकासा ।
रबि निज उदय-ब्याज रघुराया ; प्रभु-प्रताप सब नृपन्ह दिखाया ।
तव भुज-बल महिमा उदघाटी ; प्रगटी धनु-बिघटन-परिपाटी ।

× × ×

पुनि मुनि-बृंद-समेत कृपाला ; देखन चले धनुष-मख-साला ।
रंगभूमि आए दोउ भाई ; असि सुधि सब पुरबासिन्ह पाई ।
चले सकल गृह-काज बिसारी ; बाल, जुवान, जरठ, नर-नारी ।
देखी जनक भीर भइ भारी ; सुचि सेवक सब लिए हँकारी ।
तुरत सकल लोगन्ह पहिं जाहू ; आसन उचित देहु सब काहू ।
कहि मृदु बचन बिनीत तिन्ह बैठारे नर-नारि ;
उत्तम, मध्यम, नीच, लघु, निज-निज थल अनुहारि ।
राजकुँअर तेहि अवसर आए ; मनहुँ मनोहरता तन छाए ।
गुन-सागर, नागर बर-बीरा ; सुंदर, स्यामल-गौर सरीरा ।
राज-समाज बिराजत रूरे ; उडुगन महँ जनु जुग बिधु पूरे ।
जिन्हकै रही भावना जैसी ; प्रभु-मूरति देखी तिन्ह तैसी ।
देखहिं भूप महारन-धीरा ; मनहुँ बीर-रस धरे सरीरा ।

डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी ; मनहुँ भयानक मूरति भारी ।
रहे असुर छल-छोनिप-बेखा ; तिन्ह प्रभु प्रगट काल-सम देखा ।
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई ; नर-भूषन लोचन-सुखदाई ।
नारि बिलोकहिं हरषि हिय निज-निज रुचि अनुरूप ;
जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप ।
बिदुषन प्रभु बिराटमय दीसा ; बहुमुख, कर पग, लोचन, सीसा ।
जनक जाति अवलोकहिं कैसे ; सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे ।
सहित बिदेह बिलोकहिं रानी ; सिसु-सम, प्रीति न जाइ बखानी ।
जोगिन्ह परमतत्त्वमय भासा ; सांत, सुद्ध, सम, सहज-प्रकासा ।
हरि-भगतन देखे दोउ भ्राता ; इष्टदेव इव सब सुखदाता ।
रामहिं चितव भाव जेहि सीया ; सो सनेह सुख नहिं कथनीया ।
उर अनुभवति, न कहि सक सोऊ ; कवन प्रकार कहइ कबि कोऊ ?
यहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ ; तेहि तस देखेउ कोसलराऊ ।
राजत राज-समाज महँ कोसल-राज-किसोर ;
सुंदर, स्यामल-गौर-तनु, बिस्व बिलोचन-चोर ।
सहज मनोहर मूरति दोऊ ; कोटि काम उपमा लघु सोऊ ।
सरद-चंद-निंदक मुख नीके ; नीरज-नयन भावते जीके ।
चितवनि चारु मार-मद-हरनी ; भावति हृदय, जाति नहिं बरनी ।
कल कपोल स्रुति कुंडल-लोला ; चिबुक अधर सुंदर मृदु बोला ।
कुमुद-बंधु-कर-निंदक हासा ; भ्रुकुटी कुटिल, मनोहर नासा ।
भाल बिसाल तिलक झलकाहीं ; कच बिलोकि अलि-अवलि लजाहीं ।
पीत चौतनी सिरन्ह सुहाई ; कुसुम-कली बिच-बीच बनाई ।
रेखा रुचिर कंबु कल ग्रीवाँ ; जनु त्रिभुवन-सोभा की सीवाँ ।
कुंजर-मनि-कंठा कलित उरन्ह तुलसिका-माल ;
वृषभ-कंध, केहरि ठवनि, बल-निधि बाहु बिसाल ।
कटि तूनीर पीत पट बाँधे ; कर सर धनुष बाम बर काँधे ।

पीत जज्ञउपबीत सोहाए; नख-सिख मंजु महाछबि छाए।
देखि लोग सब भए सुखारे; इकटक लोचन टरत न टारे।
हरषे जनक देखि दोउ भाई; मुनि-पद-कमल गहे तब जाई।
करि बिनती निज कथा सुनाई; रंग-अवनि सब मुनिहि दिखाई।
जहँ-जहँ जाहिं कुँअर बर दोऊ; तहँ-तहँ चकित चितव सब कोऊ।
निज-निज रुख रामहिं सब देखा; कोउ न जान कछु मरम बिसेखा।
भलि रचना मुनि नृप सन कहेऊ; राजा मुदित महा सुख लहेऊ।

सब मंचन्ह तें मंच इक सुंदर, बिसद, बिसाल;
मुनि-समेत दोउ बंधु तहँ बैठारे महिपाल।
जानि सुअवसर सीय तब पठई जनक बुलाइ।
चतुर सखी सुंदरि सकल सादर चलीं लेवाइ।

सिय-सोभा नहिं जाइ बखानी; जगदंबिका रूप - गुन - खानी।
उपमा सकल मोहिं लघु लागी; प्राकृत-नारि-अंग अनुरागी।
सीय बरनि तेहि उपमा देई; कुकबि कहाइ अजसु को लेई?
जो पटतरिय तीय महँ सीया; जग असि जुवति कहाँ कमनीया?
गिरा मुखर तनु-अरध भवानी; रति अति दुखित अतनु-पति जानी।
बिष, बारुनी - बंधु, प्रिय जेही; कहिय रमा-सम किमि बैदेही?
जो छबि-सुधा-पयोनिधि होई; परम रूपमय कच्छप सोई।
सोभा-रजु, मंदरु सिंगारू; मथइ पानि-पंकज निज मारू।

यहि बिधि उपजइ लच्छि जब सुंदरता-सुख-मूल;
तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय-समतूल।

चलीं संग लै सखी सयानी; गावत गीत मनोहर बानी।
सोह नवल-तनु सुंदर सारी; जगत-जननि अतुलित छबि भारी।
भूषन सकल सुदेस सुहाए; अंग-अंग रचि सखिन्ह बनाए।
रंगभूमि जब सिय पगु धारी; देखि रूप मोहे नर-नारी।
हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई; बरषि प्रसून अपछरा गाई।

पानि-सरोज सोह जयमाला ; अवचक चितए सकल भुआला।
सीय चकित-चित रामहिं चाहा ; भए मोह-बस सब नरनाहा।
मुनि समीप देखे दोउ भाई ; लगे ललकि लोचन निधि पाई।
गुरुजन-लाज, समाज बड़ि, देखि सीय सकुचानि ;
लगी बिलोकन सखिन्ह तन रघुबीरहि उर आनि।

× × ×

तब बंदीजन जनक बुलाए ; बिरदावली कहत चलि आए।
कह नृप, जाइ कहहु पन मोरा ; चले भाट, हिय हरष न थोरा।
बोले बंदी बचन बर, सुनहु सकल महिपाल ;
पन बिदेह कर कहहिं हम भुजा उठाइ बिसाल।
नृप-भुज-बलु बिधु सिव-धनु राहू ; गरुअ, कठोर बिदित सब काहू।
रावन, बान महाभट भारे ; देखि सरासन गवहिं सिधारे।
सोइ पुरारि-कोदंड कठोरा ; राज-समाज आज जेइ तोरा।
त्रिभुवन-जय-समेत बैदेही ; बिनहि बिचार बरइ हठि तेही।
सुनि पन सकल भूप अभिलाखे ; भटमानी अतिसय मन माखे।
परिकर बाँधि उठे अकुलाई ; चले इष्टदेवन्ह सिरु नाई।
तमकि ताकि तकि सिव-धनु धरहीं ; उठइ न कोटि भाँति बल करहीं।
जिनके कछु बिचार मन माहीं ; चाप समीप महीप न जाहीं।
तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप, उठइ न, चलहिं लजाइ ;
मनहुँ पाइ भट बाहु-बल अधिक-अधिक गरुआइ।
डिगइ न संभु-सरासन कैसे ; कामी-बचन सती-मन जैसे।
सब नृप भए जोग उपहासी ; जैसे बिनु बिराग संन्यासी।
कीरति, बिजय, बीरता भारी ; चले चाप-कर बरबस हारी।
श्रीहत भए हारि हिय राजा ; बैठे निज-निज जाइ समाजा।

× × ×

बिस्वामित्र समय सुभ जानी ; बोले अति सनेह मृदु बानी।

उठहु राम, भंजहु भव-चापा ; मेटहु तात जनक-परितापा ।
सुनि गुरु-बचन चरन सिरु नावा ; हरष-विषाद न कछु उर आवा ।
ठाढ़ भए उठि सहज-सुभाए ; ठवनि जुवा-मृगराज लजाए ।

उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बाल-पतंग ;
बिकसे संत सरोज-बन, हरषे लोचन-भृंग ।

नृपन्ह केरि आसा-निसि नासी ; बचन नखत-अवली न प्रकासी ।
मानी महिप कुमुद सकुचाने ; कपटी भूप उलूक लुकाने ।
भए बिसोक कोक-मुनि-देवा ; बरषहिं सुमन, जनावहिं सेवा ।
गुरु-पद बंदि सहित अनुरागा ; राम मुनिन सन आयसु माँगा ।
सहजहि चले सकल जग-स्वामी ; मत्त मंजु बर कुंजर-गामी ।
चलत राम सब पुर-नर-नारी ; पुलक पूरि तन भए सुखारी ।
बंदि पितर सब सुकृत सँभारे ; जौं कछु पुन्य-प्रभाव हमारे ।
तौं सिव-धनु मृनाल की नाईं ; तोरहिं राम गनेस गोसाईं ।

रामहि प्रेम-समेत लखि सखिन्ह समीप बोलाइ ;
सीता-मातु सनेह-बस बचन कहइ बिलखाइ ।

सखि सब कौतुक देखनहारे ; जेउ कहावत हितू हमारे ।
कोउ न बुझाइ कहइ नृप पाहीं ; ये बालक, अस हठ भल नाहीं ।
रावन बान छुआ नहिं चापा ; हारे सकल भूप करि दापा ।
सो धनु राजकुँवर-कर देहीं ; बाल मराल कि मंदर लेहीं ।
भूप सयानप सकल सिरानी ; सखि बिधि-गति कछु जाति न जानी ।
बोली चतुर सखी मृदु बानी ; तेजवंत लघु गनिय न रानी ।
कहँ कुंभज, कहँ सिंधु अपारा ; सोखेउ सुजस सकल संसारा ।
रबि-मंडलु देखत लघु लागा ; उदय तासु त्रिभुवन-तम भागा ।

मंत्र परमलघु, जासु बस बिधि, हरि, हर, सुर सर्ब ;
महामत्त गजराज कहँ बस-कर अंकुस खर्ब ।

काम कुसुम-धनु-सायक लीन्हे ; सकल भुवन अपने बस कीन्हे ।

देबि तजिय संसय अस जानी ; भंजब धनुष राम सुनु रानी ।
सखी-बचन सुनि भइ परतीती ; मिटा बिषाद, बढ़ी अति प्रीती ।
तब रामहिं बिलोकि बैदेही ; सभय हृदय बिनवति जेहि-तेही ।
मन-ही-मन मनाव अकुलानी ; होउ प्रसन्न महेसभवानी ।
करहु सफल आपनि सेवकाई ; करि हित हरहु चाप-गरुआई ।
गन-नायक बरदायक देवा ; आजु लगे कीन्हेउँ तुव सेवा ।
बार-बार सुनि बिनती मोरी ; करहु चाप-गुरुता अति थोरी ।

देखि-देखि रघुबीर तन, सुर मनाव धरि धीर ;
भरे बिलोचन प्रेम-जल, पुलकावली सरीर ।

नीके निरखि नयन-भरि सोभा ; पितु-पनु सुमिरि बहुरि मन छोभा ।
अहह तात, दारुन हठ ठानी ; समुझत नहिं कछु लाभ न हानी ।
सचिव सभय सिखि देइ न कोई ; बुध-समाज बड़ अनुचित होई ।
कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा ; कहँ स्यामल मृदु गात किसोरा ।
बिधि किहि भाँति धरउँ उर धीरा ; सिरिस-सुमन कत बेधिय हीरा !
सकल सभा कै मति भइ भोरी ; अब मोहिं संभु-चाप, गति तोरी ।
निज जड़ता लोगन्ह पर डारी ; होहु हरुअ रघुपतिहि निहारी ।
अति परिताप सीय मन माहीं ; लव-निमेष जुग सत-सम जाहीं ।

प्रभुहि चितइ, पुनि चितइ महि, राजत लोचन लोल ;
खेलत मनसिज-मीन जुग जनु बिधु-मंडल डोल ।

गिरा-अलिनि मुख-पंकज रोकी ; प्रकट न लाज-निसा अवलोकी ।
लोचन-जल रह लोचन-कोना ; जैसे परम कृपन कर सोना ।
सकुची ब्याकुलता बड़ि जानी ; धरि धीरज प्रतीति उर आनी ।
तन-मन-बचन मोर पन साँचा ; रघुपति-पद-सरोज चितु राँचा ।
तौ भगवान सकल उर-बासी ; करिहहिं मोहिं रघुबर कै दासी ।
जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू ; सो तिहि मिलइ, न कछु संदेहू ।
प्रभु तन चितइ प्रेम-प्रन ठाना ; कृपानिधान राम सब जाना ।

सियहि बिलोकि तकेउ धनु कैसे ; चितव गरुड़ लघु ब्यालहि जैसे ।

लषन लखेउ रघुबंस-मनि ताकेउ हर-कोदंड ;
पुलकि गात बोले बचन चरन-चापि ब्रह्मंड ।

दिसि-कुंजरहु, कमठ, अहि, कोला ; धरहु धरनि धरि धीर, न डोला ।
राम चहहिं संकर-धनु तोरा ; होहु सजग सुनि आयसु मोरा ।
चाप समीप राम जब आए ; नर-नारिन्ह सुर, सुकृत मनाए ।
सब कर संसय अरु अज्ञानू ; मंद महीपन्ह कर अभिमानू ।
भृगुपति केरि गरब-गरुआई ; सुर-मुनि-बरन्ह केरि कदराई ।
सिय कर सोच, जनक-पछितावा ; रानिन्ह कर दारुन दुख-दावा ।
संभु-चाप बर बोहित पाई ; चढ़े जाइ सब संग बनाई ।
राम-बाहु-बल सिंधु अपारू ; चहत पार नहिं कोउ कनहारू ।

राम बिलोके लोग सब चित्र लिखे-से देखि ;
चितई सीय कृपायतन, जानी बिकल बिसेखि ।

देखी बिपुल बिकल बैदेही ; निमिष बिहात कलप-सम तेही ।
तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा ; मुए करइ का सुधा-तड़ागा ?
का बरषा, जब कृषी सुखाने ; समय-चूकि पुनि का पछिताने ?
अस जिय जानि जानकी देखी ; प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेखी ।
गुरुहि प्रनाम मन-हिं-मन कीन्हा ; अति लाघव उठाय धनु लीन्हा ।
दमकेउ दामिनि जिमि जब लयऊ ; पुनि धनु नभ-मंडल-सम भयऊ ।
लेत, चढ़ावत, खैंचत गाढ़े ; काहु न लखा, देख सब ठाढ़े ।
तेहि छन मध्य राम धनु तोरा ; भरेउ भुवन धुनि घोर, कठोरा ।

संकर - चाप जहाज, सागर रघुबर-बाहु-बल ;
बूड़ सो सकल समाज, चढ़े जो प्रथमहिं मोह-बस ।

× × ×

वेद-स्तुति

जय सगुन-निर्गुन-रूप राम, अनूप भूप-सिरोमने ;
दसकंधरादि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुज-बल हने।
अवतार नर संसार-भार बिभंजि दारुन दुख दहे ;
जय प्रनतपाल दयाल प्रभु संजुक्त-सक्ति नमामहे।
तुव बिषम माया बस सुरासुर, नाग, नर, अग, जग हरे ;
भव-पंथ भ्रमत अमित दिवस-निसि काल कर्म गुन्हनि भरे।
जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिध दुख ते निर्बहे ;
भव-खेद-छेदन-दच्छ हम कहँ रच्छु राम नमामहे।
जे ज्ञान-मान-बिमत्त तव भव-हरनि भक्ति न आदरी ;
ते पाइ सुर-दुर्लभपदादपि परत हम देखत हरी।
बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तुव जे होइ रहे ;
जपि नाम तुव बिनु स्रम तरहिं भव, नाथ राम नमामहे।
जे चरन सिव अजपूज्य रज सुभ परसि मुनि-पतिनी तरी ;
नख-निर्गता मुनि-बंदिता त्रैलोक्य-पावनि सुरसरी।
ध्वज-कुलिस-अंकुस-कंज-जुत बन फिरत कंटक जिन लहे ;
पद-कंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे।
अव्यक्त मूलमनादि तरु त्वक चारि निगमागम भने ;
षट-कंध, साखा पंचबिस, अनेक पर्न, सुमन घने।
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आस्रित रहे ;
पल्लवत, फूलत, नवल, नित संसार-बिटप नमामहे।
जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं ;
ते कहहु जानहु नाथ हम तुव सगुन-जस नित गावहीं।
करुनायतन प्रभु सद्गुनाकर देव यह बर माँगहीं ;
मन-बचन-कर्म बिकार तजि तुव चरन हम अनुरागहीं।

सूरदास (भावचित्र)

जगत-विदित कबि-कुल-मुकुट, भगति-भाव-भरपूर ;
कर सों इंगित करि भजन समुद सुनावत सूर।

(२)

महात्मा सूरदास

सूरदास ने विरच सूरसागर अति भारी ;
कृष्ण-भक्ति की ललित लहर जग में विस्तारी ।
लिया विषय जो हाथ, दूर तक उसे निबाहा ;
एक न छोड़ा भाव, शब्द-सागर अवगाहा ।
कर अमित विषय वर्णन विशद सभी परम सुंदर कहे ;
अब कवियों के हित ये सकल इस कवि के जूठे रहे ।

सूरदास की गणना अष्ट-छाप अर्थात् व्रज के आठो कवीश्वरों में है। इन आठ कवियों के नाम ये हैं— सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास, कृष्णदास, छीत स्वामी, गोविंद स्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास। इनमें प्रथम चार महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य के और अंतिम चार श्रीस्वामी बिट्ठलनाथ के सेवक थे। नंददास गोस्वामी तुलसीदास के गुरुभाई कहे जाते हैं। व्रज-भाषा के अरुणोदय-काल में, व्रज में, ये आठो कवि हो गए हैं, और सभी ने पदों द्वारा श्रीकृष्णचंद्र आनंदकंद के यश का कीर्तन किया है। हिंदी के प्रसिद्ध लेखक बाबू राधाकृष्णदास ने खेमराज-श्रीकृष्णदास के छापेख़ाने में सूर-कृत 'श्रीसूरसागर'-नामक ग्रंथ, संवत् १९५३ विक्रमीय में, छपाया। उसी में, भूमिका की भाँति, उन्होंने सूरदास का जीवन-चरित भी लिखा। इस लेख में घटनाओं के लिखने में उससे भी सहायता ली गई है। इसमें जहाँ पृष्ठ और संख्या का हवाला है, वह उसी पुस्तक का है।

सूरदास का जन्म, अनुमान से, संवत् १५४० विक्रमीय में हुआ था, और संवत् १६२० वि० में उनकी मृत्यु होने का अनुमान किया जाता है। मृत्यु का संवत् नितांत अनुमान पर ही निर्भर है, क्योंकि जब ६७ वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'सूर-सारावली' लिखी, तो अस्सी वर्ष तक जीवित रहना ठीक जँचता है। बाबू राधाकृष्णदास ने लिखा है—"मुझे उनकी अवस्था लगभग अस्सी वर्ष की होने का पक्का प्रमाण मिला है।" पर वह पक्का प्रमाण क्या है, सो उन्होंने नहीं लिखा। सूर-सारावली के विषय में सूरदास ने स्वयं उसी ग्रंथ का १००२ नंबर का छंद यों लिखा है—

गुरू-प्रसाद होत यह दरसन, सरसठि बरस प्रवीन ;
सिव-बिधान तप करेउ बहुत दिन, तऊ पार नहिं लीन ।

सूर-सारावली एक प्रकार से सूरसागर की सूची कही जा सकती है, और यह भी जान पड़ता है कि सूरसागर के कुछ ही दिन पश्चात् बनाई गई होगी; कारण, ग्रंथ बनाने पर उसकी सूची लिखने की आवश्यकता शीघ्र ही होती है। सूरदास ने साहित्य-लहरी नाम की एक और पुस्तक बनाई, और उसमें छाँटकर सूरसागर में लिखित एवं अन्य दृष्ट-कूट पदों का संग्रह किया। जान पड़ता है, सूरसागर बन जाने के कुछ ही दिन पश्चात् यह ग्रंथ भी बना होगा। इसमें सूरदास ने संवत् यों दिया है—

मुनि पुनि रसन के रस लेख ;
दसन गौरी-नंद को लिखि, सुबल संबत पेख ।
नंदनंदन-मास, छयते-हीन तृतिया बार ;
नंदनंदन जनमते है बाण सुख आगार ।
तृतिय ऋक्ष सुकर्म जोग बिचारि 'सूर' नवीन ;
नंदनंदनदास हित साहित्यलहरी कीन ।

मुनि = ७, रसन = ० (जिसमें कोई रस नहीं, अर्थात् जो कुछ

भी नहीं, याने शून्य है), रस = ६, दसन गौरीनंद = १, = १६०९; नंदनंदन-मास = वैशाख (मधु); छयते हीन तृतिया = अक्षय-तृतीया; तृतिय ऋक्ष = कृत्तिका नक्षत्र; सुकर्म-जोग (देखो सरदार-कृत सौर दृष्ट-कूट की टीका, पृष्ठ ७१)। अतः यह विदित हुआ कि साहित्यलहरी संवत् १६०७ वि० में लिखी गई। ऊपर कहा जा चुका है कि यह सूर-सारावली के साथ-ही-साथ लिखी गई होगी। अतएव इसके लिखने के समय भी सूरदास की अवस्था ६७ साल की थी। इससे उनका जन्म-काल संवत् १५४० वि० हुआ। परंतु इस हिसाब में यह मान लिया गया है कि सूर-सारावली और साहित्य-लहरी एक ही समय में बनीं। यह अनुमान ऐसा दृढ़ नहीं है कि इस पर निश्चयात्मक रीति से कोई कुछ कहे। संभव है, उन्होंने साहित्यलहरी सूरसागर के कुछ ही पीछे बनाई हो, और सूरसारा-वली बनाने का विचार उनके चित्त में बहुत दिन पीछे उठा हो, परंतु इतना निश्चय अवश्य है कि ये दोनो ग्रंथ सूरसागर के पीछे बनाए गए, क्योंकि एक उसकी सूची और दूसरा बहुत करके उसका संग्रह है। यह भी जान पड़ता है कि सूरदास ने सूरसागर वृद्धा-वस्था में समाप्त किया होगा, क्योंकि वह हज़ारों पद बना चुकने के पीछे सूर-सारावली बनाने लगे थे, और वे सब पद सूरसागर में ही सन्निविष्ट थे। तब वृद्धावस्था में सूरसागर बनाकर यह महाशय बहुत दिन तो जीवित रहे ही न होंगे, अतः सूर-सारावली और साहित्यलहरी के समयों में, चाहे कितना ही अंतर क्यों न हो, वह संभवतः दस वर्ष से अधिक न होगा। फलतः संवत् १५४० वि० के दो-चार वर्ष इधर-उधर इनका जन्म-काल अवश्य होगा।

सूरदास लिखते हैं, उनके गुरु श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभु थे, और श्रीगोस्वामी बिट्ठलनाथ ने उनको अष्टछाप में रक्खा। यथा—

राजकवि चंद उत्पन्न हुए, जिनको उन महाराज ने ज्वाला-देश दिया। उनके चार पुत्र हुए, जिनमें प्रथम राजा हुआ। उनके द्वितीय पुत्र का नाम गुणचंद था। उसका पुत्र शीलचंद, जिनका वीरचंद हुआ। वह रणथंभौर के राजा हम्मीरदेव का सखा था। उसके वंश में हरिचंद बड़ा विख्यात हुआ। उसका बेटा आगरे में रहा, जिसके सात पुत्र हुए। उनके नाम थे—कृतचंद, उदारचंद, रूपचंद, बुद्धिचंद, देवचंद, प्रबोधचंद और सूरजचंद। सातवाँ पुत्र सूरजचंद ही हमारे विख्यात कवि सूरदास थे। सूर के सब भाई शाह से युद्ध करके परम गति को प्राप्त हुए। सूरजचंद अंधे थे, अतः वह एक कुएँ में जा पड़े, और छ दिन तक उसी में पड़े रहे। किसी ने उनकी पुकार नहीं सुनी। सातवें दिन यदुपति ने उन्हें बचाया। यथा—

परो कूप पुकार, काहू सुनी ना संसार;
सातएँ दिन आय यदुपति कियो आपु उधार।
दिव्य चख दै, कही सिसु, सुनु जोग-बर जो चाइ;
हौं कही, प्रभु-भगति चाहत सत्रु-नास सुभाइ।
दूसरो ना रूप देखौं देखि राधा-स्याम;
सुनत करुना-सिंधु भाखी, एवमस्तु सुधाम।
प्रबल दच्छिन बिप्र-कुल ते शत्रु ह्वै है नास;
अखिल बुद्धि, बिचार, बिद्या, मान मानै मास।

इस लेख के अनुसार सूरदास ब्रह्मभट्ट अर्थात् भाट साबित होते हैं, कारण, एक तो जगात कोई ब्राह्मण नहीं हैं, वरन् जगातिया भाट को कहते हैं; दूसरे, पृथ्वीराज के चंद कवि तो निश्चय ही भाट थे। यहाँ शत्रु का अर्थ मुसलमान बादशाह है, क्योंकि उन्हीं से लड़कर सूर के सब भाई मारे गए थे। वरदान यह हुआ कि दक्षिण के ब्राह्मण अर्थात् पेशवा-राजा शत्रु-नाश करेंगे। उस समय न मरहठों का ज़रा भी बल था, न शिवाजी तक—जो क्षत्रिय-राजा थे—

उत्पन्न हुए थे। तो फिर पेशवाओं का, जो पीछे साहूजी के सचिव हुए, इतना प्रचंड अभ्युदय सोचना कि वे मुसलमानों को परास्त करने में कभी समर्थ होंगे (जैसा कि अंत को वे हुए), किसी का काम न था। इसलिये साफ़ ज़ाहिर है कि ये छंद सूरदास के बनाए हुए नहीं हैं। हमारा ख़याल है कि उनसे लगभग दो सौ वर्ष पीछे पेशवाओं का अभ्युदय और मुग़लों का पतन देखकर, किसी भाट कवि ने लगभग बालाजी-बाजीराव के समय में ये छंद बनाकर सूरदास की कविता में रख दिए होंगे। इन छंदों के कपोल-कल्पित होने का दूसरा बड़ा भारी प्रमाण यह है कि श्रीगोकुलनाथ-कृत चौरासी-चरित्र की टीका में और मियाँसिंह के भक्त-विनोद में सूरदास को ब्राह्मण कहा गया है। भारतेंदु ने चौरासी की किसी टीका तथा भक्तमाल की टीका के आधार पर लिखा है कि सूरदास सारस्वत ब्राह्मण माने जाते थे। इसी प्रकार चौरासी-वार्ता और भक्तविनोद में शत्रुनाश के वरदान का कोई हाल नहीं लिखा है, यद्यपि कूप-पतन का वर्णन अंतिम में है। यह संभव नहीं कि यदि यह वरदान सूरदास को मिला होता, तो इन्होंने यह हाल न लिखा होता। फिर यह भी बहुधा संभव नहीं कि यदि इनके छ भाई मारे गए होते, तो ये दोनो लेखक उस बात को न लिखते।

इन सब कारणों से यह सिद्ध होता है कि वास्तव में, चौरासी-वार्ता की टीका तथा टीका भक्तमाल के अनुसार, सूरदास सारस्वत ब्राह्मण थे, और इनके पिता का नाम रामदास था। शिवसिंह भी पिता का नाम बाबा रामदास लिखते हैं। चौरास-वार्ता में नंबर १२,४०,४९ और ५५ पर चार रामदास हैं, जिन में ५५ ठाकुर थे, ४९ बीरबल के पुरोहित और शेष दोनो सारस्वत ब्राह्मण। भक्ति करने पर नं० १२ के पुत्र हुआ। इनका जन्म दिल्ली के समीप सीही-ग्राम के निवासी निर्धन माता-पिता के घर हुआ। अब यह प्रश्न उठता है कि

सूरदास जन्मांध थे, या नहीं ? इसके विषय में सिवा भक्तमाल के कोई प्राचीन प्रमाण तो नहीं मिला, परंतु रीवाँ-नरेश महाराज रघुराजसिंह-कृत रामरसिकावली में, भक्तमाल के आधार पर, लिखा हुआ है—"जनमहिं ते हैं नैन-बिहीना ।" चौरासी-वार्ता में आया है कि अकबरशाह ने इनसे पूछा कि अंधे होकर उपमाएँ कैसे देते हैं ? इसका उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला । अकबर के कहने पर भी इन्होंने नर-काव्य न किया । हमें तो इनके जन्मांध होने पर विश्वास नहीं होता । सूरदास ने अपनी कविता में ज्योति के, रंगों के और अनेकानेक हाव-भावों के ऐसे-ऐसे मनोरम वर्णन किए हैं, तथा उपमाएँ ऐसी चुभती हुई दी हैं, जिनसे यह किसी प्रकार निश्चय नहीं होता कि कोई व्यक्ति बिना आँखों-देखे, केवल श्रवण द्वारा प्राप्त ज्ञान से, ऐसा वर्णन कर सकता है । चौरासी-वार्ता में इनका जन्मांध होना साफ़-साफ़ नहीं लिखा है । एक किंवदंती है कि सूरदास जब अंधे न थे, तब एक युवती को देखकर उस पर आसक्त हो गए, मगर पीछे प्रकृतिस्थ होकर यह दोष नेत्रों का समझ तुरंत दो सुइयों से आपने अपने दोनों नेत्र फोड़ डाले । संभव है, स्त्री का विषय होने के कारण ही चौरासी-वार्ता में यह हाल न लिखा गया हो ।

भक्तमाल में लिखा है कि इनके पिता ने आठ वर्ष की अवस्था में इनका यज्ञोपवीत कर दिया था । कुछ काल में इनके माता-पिता मथुरा-दर्शन को गए । उस समय सूरदास भी उनके साथ थे । जब वे घर लौटने लगे, तब सूरदास ने उनसे बिनती की कि "अब मुझे यहीं रहने दो ।" इस पर उनके माता-पिता रोने लगे ; बोले—"तुम्हें अकेले किसके सहारे छोड़ जायँ ?" तब सूर ने कहा—"कृष्णचंद्र का सहारा क्या थोड़ा है ?" इस पर एक साधु ने कहा—"मैं इस बालक को अपने साथ रक्खूँगा ।" तब माता-पिता

रोते-कलपते घर चले गए, और यह महाराज ब्रज में ही रह गए। एक बार अंधे होने के कारण सूरदास एक कुएँ में जा पड़े, और छ दिन तक उसी में पड़े रहे। सातवें दिन इन्हें किसी ने निकाला। सूर ने समझा, स्वयं कृष्ण भगवान् ने इन्हें निकाला है। बस, इन्होंने निकालनेवाले की बाँह पकड़ ली, पर वह बाँह छुड़ाकर भाग गया। इस पर इन्होंने यह दोहा पढ़ा—

बाँह छोड़ाए जात हौ निबल जानि कै मोहिं ;
हिरदै सों जब जाइहो, मरद बदौंगो तोहिं।

इसके उपरांत, चौरासी-वार्ता के अनुसार, यह महाराज गऊघाट-नामक एक स्थान पर, जो आगरे और मथुरा के बीच में है, रहने लगे। आप वहीं वल्लभाचार्य महाप्रभु के शिष्य हुए, उन्हीं के साथ गोकुल में श्रीनाथजी के मंदिर को गए, और बहुत काल तक वहीं रहे। इसी स्थान पर इनसे गोस्वामी बिट्ठलनाथ से बहुधा भेंट हुआ करती थी, और वह इनके पद सुना करते थे। सूरदास सदैव कृष्णानंद में मग्न एवं उन्मत्त रहा करते थे, और अपनी अखंड भक्ति से संसार को शुद्ध करते थे। महाप्रभु ने श्रीनाथ के कीर्तन का काम इन्हें सौंपा। (चौरासी-वार्ता)

यहीं रहते-रहते यह महाराज वृद्धावस्था को प्राप्त हुए। जब विदित हुआ कि इनका अंत-समय निकट है, तब यह पारासोली को चले गए। जब गोस्वामीजी को यह संवाद मिला, तब वह भी पारासोली पहुँचे, और सूरदास से अंत-पर्यंत उनसे बात-चीत होती रही। उसी समय किसी ने सूरदास से पूछा—"आपने अपने गुरु का कोई पद क्यों नहीं बनाया ?" इस पर इन्होंने उत्तर दिया—"मैंने सब पद गुरुजी ही के बनाए हैं, क्योंकि मेरे गुरु और श्रीकृष्णचंद्र में कोई भी भेद नहीं है।" तथापि एक पद भी रचा। वह यों है—

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो ;
श्रीवल्लभ-नख-चंद-छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो ।
साधन और नहीं या कलि मैं, जासो होत निबेरो ;
'सूर' कहा कहि दुबिध आँधरो, बिना मोल को चेरो ।

अंत-समय सूरदास कृष्ण-राधिका का एक भजन कहकर ऐसे प्रेम-गद्गद हुए कि इनके नेत्रों में अश्रु-जल छा गया। इस पर गोस्वामी-जी ने पूछा—"सूरदासजी, नेत्र की वृत्ति कहाँ है ?" तब इन्होंने निम्न-लिखित भजन पढ़कर शरीर त्याग दिया—

खंजन-नयन रूप-रस-माते ;
अतिसै चारु, चपल, अनियारे पल-पिंजरा न समाते ।
चलि-चलि जात निकट स्रवनन के उलटि-उलटि ताटंक फँदाते ;
'सूरदास' अंजन गुन अटके, नातरु अब उड़ि जाते ।

इन महाशय के विषय में कई ग्रंथकारों का कहना है कि यह उद्धव के अवतार थे ।

कविता

सूरदास ने पाँच ग्रंथ बनाए—सूरसागर, सूर-सारावली, साहित्य-लहरी (दृष्ट-कूट), नल-दमयंती और ब्याहलो । खोज में ब्याहलो और नल-दमयंती, ये दो ग्रंथ लिखे हैं, पर हमारे देखने में नहीं आए ।

साहित्यलहरी को सूरदास ने सं० १६०७ वि० में संकलित किया । इसमें कुछ पद सूरसागर से और कुछ कूट रक्खे गए हैं । इसकी एक छंदोबद्ध टीका भी है, जो सूरदास के नाम से बनी है, परंतु यह निश्चय नहीं होता कि यह टीका सचमुच सूर-कृत है, या नहीं । टीका में प्रत्येक पद के अलंकार, नायिका आदि का वर्णन है, परंतु सूरदास ने रीतिबद्ध कविता नहीं की, वरन् स्वाभाविक रीति से जो वर्णन जहाँ उचित था, लिखा । इस कारण शंका होती है कि यह टीका सूर-कृत नहीं है । सरदार कवि ने अपनी टीका में

पहले ११७ पद दिए, फिर ६३ और लिखे। इस प्रकार उनकी प्रति में कुल १८० पद हैं। इन कूटों में नायिका और अलंकार अवश्य निकलते हैं, और श्रुति-कटु दूषण भी नहीं है, परंतु यह दोष है कि बिना टीका की सहायता के इनका अर्थ लगाना कठिन है। इनमें यमकादि ख़ूब आए हैं। यदि कोई धैर्यवान् व्यक्ति इस पुस्तक के अर्थ लगाकर देखे, तो विदित हो कि इसमें सूरदास ने कितना परिश्रम किया है।

सूर-सारावली में सूरसागर की सूची-सी है। इसमें ११०७ पद हैं, परंतु कुल ग्रंथ में एक ही छंद होने के कारण इसे पढ़ना उतना रुचिकर नहीं है, जितना इन महाकवि के अन्य ग्रंथों का। यदि एक ही छंदवाले दूषण को छोड़ दीजिए, तो इसमें भी सूरदास की वही छटा विद्यमान है, जिसने उनको कवियों में सूर्य की पदवी से विभूषित कराया है।

सूरसागर बारह स्कंधों में समाप्त हुआ है, परंतु दशम स्कंध के पूर्वार्द्ध को छोड़कर शेष बहुत छोटे हैं, और उनमें साहित्यिक छटा भी प्रायः वैसी रोचक नहीं है, जैसी दशम के पूर्वार्द्ध में। जिस प्रकार तुलसीदास के बाल तथा अयोध्या-कांड निकाल डालने से उनके कवित्व-गौरव का एक बृहदंश खंडित हो सकता है, उसी प्रकार यदि सूरसागर के दशम स्कंध का पूर्वार्द्ध निकाल डाला जाय, तो इन्हें सूर्यवत् कोई भा न माने। तथापि, जैसे रामायण के अन्य कांडों में गोस्वामीजी की कवित्व-शक्ति की पूर्ण झलक मिलती है, और पूर्वोक्त दोनो कांड पढ़कर पाठक अवाक् रह जाते हैं, वही सूर-कृत दशम के पूर्वार्द्ध एवं अन्य स्कंधों का हाल है। सूरसागर में श्रीमद्भागवत के आशय पर विवरण है, परंतु कथाएँ बहुत न्यूनाधिक हैं। प्रथम नव स्कंधों में विविध वार्ताएँ और कथाएँ हैं, तथा दशम में श्रीकृष्णचंद्र की लीलाओं का वर्णन है। एकादशम स्कंध में उद्धव

का बदरिकाश्रम-गमन एवं हंसावतार की कथा है। बारहवें स्कंध में बौद्धावतार, भविष्य कल्कि-अवतार एवं परीक्षित के शरीर-त्याग का वर्णन है। इस समस्त सूरसागर में, जो बाबू राधाकृष्ण-दास द्वारा प्रकाशित हुआ, ४०१८ पद हैं। सूरदास ने प्रत्येक वर्णन सूक्ष्म रूप से किया, केवल, श्रीकृष्ण ने नंद-गृह में बस-कर जो लीला की, उसका और उद्धव-संवाद का कथन विस्तार-पूर्वक है; परंतु इन्हीं दोनो वर्णनों में सूरदास ने दिखा दिया है कि विस्तार किसे कहते हैं? सूर व्रजवासी कृष्ण के, विशेषतया राधा-कृष्ण के, भक्त थे। अतः ज्यों ही कृष्ण मथुरा को चले गए, त्यों ही उनका भी वर्णन संक्षेप से होने लगा। कहीं-कहीं आपने कार्यों के वर्णनों में बड़ी ही द्रुत गति का आश्रय लिया है। आप व्रज में मथुरा को नहीं जोड़ते (पृष्ठ २६२)। व्रजवासीदास ने व्रजविलास को इसी पुस्तक के सहारे बनाया। इस ग्रंथ के गुणों एवं दोषों का वर्णन और कविता की समालोचना में किया जाता है।

कविता की समालोचना

(१) सूरदास की कविता में सर्व-प्रधान गुण यह है कि उसके पद-पद से कवि की अटल भक्ति झलकती है। प्रत्येक मनुष्य का काव्य उत्कृष्ट तभी होता है, जब वह सच्चा हो। सच्ची कविता तभी बनती है, जब कवि, जो उस पर बीते, अथवा जो उमंगें उसके चित्त में उठें, या जो भाव उसके चित्त में भरे हों, उन्हीं का वर्णन करे। यदि कोई लंपट मनुष्य वैराग्य-कथन करने बैठेगा, तो वह सिवा चोरी के और क्या करेगा? उसके चित्त में वैराग्य का अभाव है। उसके चित्त-सागर को वैराग्य की तरंगों ने कभी चंचल नहीं किया। तब वह बेचारा अनुभव न होने पर भी वैराग्य के सच्चे भाव कहाँ से लाकर वर्णन करे? यदि वह हठात्

लिखने बैठ ही जायगा, तो इस विषय पर उसने इधर-उधर से जो कुछ सुन लिया होगा, वही कह चलेगा! ऐसी दशा में उसकी कविता में सिवा नक़ल के कोई असली भाव न आवेगा। ऐसे ही काव्य को निर्जीव कहना पड़ता है।

इसके विपरीत जो मनुष्य सचमुच विरक्त है, उसके चित्त में वैराग्य-संबंधी असली भाव उठेंगे, और जब उनका वर्णन होगा, तभी कविता असली और सजीव होगी। इसी कारण उर्दू के कवियों में यह कहावत प्रचलित है कि जब कोई शिष्य किसी ख़ास उस्ताद से शायरी सिखलाने को कहता था, तो उस्ताद पहले यही कहता था कि जाओ, आशिक़ हो आओ। असली भावों की ही कविता ऐसी बनती है कि श्रोता को बरबस कहना पड़ता है—"थारी कविता में सूल्यो लग्यो।"

सूरदास की कविता प्रधानतः ऐसी है कि उसमें भक्ति का चित्र प्रत्येक स्थान पर देख पड़ता है। यह महाराज जाति-भेद, कर्म-भेद आदि को तुच्छ मानकर केवल भक्ति को प्रधान और मानव-हृदय का एकमात्र शृंगार समझते थे। इनके मत में, यदि कोई मनुष्य भक्त है, तो वह बड़ा है, चाहे जिस जाति अथवा पाँति का क्यों न हो (पृष्ठ ४, संख्या १८)। कोई मनुष्य चाहे जितना चंदन आदि क्यों न लगाता हो, परंतु यदि शुद्ध भक्ति नहीं है, तो वह अपना समय वृथा नष्ट करता है (पृष्ठ ५, संख्या २८)। यह महाराज यह नहीं समझ सकते थे कि कोई मनुष्य भक्ति क्योंकर न हो? जो भक्ति नहीं करता था, उस पर यह अचंभा करते थे (पृष्ठ ३५, संख्या १३)। यह कहते थे—'भगति बिनु बैल बिराने ह्वै हौ' (पृष्ठ ३१, संख्या २०३)। भक्ति के विषय में, संक्षेप में, इनका मत यह था—

तजौ मन, हरि-बिमुखन को संग;
जाके संग कुबुधि उपजति है, परत भजन में भंग।

कहा होत पय-पान कराए, बिष नहिं तजत भुजंग ;
कागहि कहा कपूर चुगाए, स्वान न्हवाए गंग।
खर को कहा अरगजा-लेपन, मरकट भूषन-अंग ;
गज को कहा न्हवाए सरिता, बहुरि धरै खहि छंग।
पाहन पतित बान नहिं बेधत, रीतो करत निषंग ;
'सूरदास' खल कारी कामरि चढ़त न दूजो रंग।
(पृष्ठ ३१, संख्या २०४)

भजन बिनु कूकर-सूकर-जैसो ;
जैसे घर बिलाव के मूसा, रहत बिषय-बस वैसो ;
उनहू के गृह, सुत, दारा हैं, उन्हें भेद कहु कैसो ?

यह महाराज जगदीश्वर, राम एवं कृष्ण को एक ही समझते थे—

सोई बड़ो जु रामहिं गावै।
श्वपच प्रसन्न होय बड़ सेवक,
बिनु गोपाल द्विज-जनम न भावै।
होय अटल जगदीस-भजन में,
सेवा तासु चारि फल पावै।
(पृष्ठ १८, संख्या ११८)

और, शेष देवतों में देव-भाव नहीं रखते थे। यथा—

और देव सब रंक भिखारी, त्यागे बहुत अनेरे।
(पृष्ठ १६, संख्या १०३)

सूरदास को एक ईश्वर का उपासक कहना चाहिए।

सगुणोपासना करने का कारण आपने इस प्रकार लिखा है—

अबिगति गति कछु कहत न आव।
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अंतरगत ही भावै ;
मन-बानी को अगम, अगोचर, सो जानै, जो पावै ;

रूप-रेख, गुन, जाति, जुगुति बिनु निरालंब मन धावै ;
सब बिधि अगम बिचारहिं, तातें सूर सगुन पद गावै ।
(पृष्ठ १, संख्या २)

ऐसे भक्त होने पर भी सूरदास अपने को इतना बड़ा पतित समझते थे कि चित्त को आश्चर्य होता है (पृष्ठ ११, संख्या ६६; पृष्ठ १२, संख्या ७३)। इनकी इतनी प्रबल और प्रगाढ़ भक्ति के होने पर भी कहना पड़ता है कि इनकी और तुलसीदास की भक्ति में भेद था । गोस्वामीजी की भक्ति दास-भाव की थी, परंतु इनकी सखा और सखी-भाव की । यह महाशय श्रीकृष्णचंद्र को अपना मित्र समझते थे, और इसी कारण इन्होंने राधा को भी भला-बुरा कहा है, और जब श्रीकृष्ण भी कोई बेजा बात करते थे, तब उन्हें भी सूरदास डाँट देते थे । इसके अतिरिक्त सखी-भाव भी आपकी रचना में आता है । तुलसीदास जब कभी राम की नर-लीला का वर्णन करते हैं, तब पाठक को यह अवश्य याद दिला देते हैं कि राम परमेश्वर हैं, यह केवल नर-लीला करते हैं । यह बात ऐसे भोंडे प्रकार से भी वह सैकड़ों बार स्मरण कराते हैं कि जी उकता उठता है, और यह जान पड़ता है कि गोस्वामीजी पाठक को इतना बड़ा मूर्ख समझते थे कि कितनी ही बार याद दिलाने पर भी वह राम का ईश्वरत्व भुला देगा, अतः उसको पुनः-पुनः स्मरण कराने की आवश्यकता है । यह बात सूरदास में नहीं है । यह एक-दो बार स्मरण कराने को ही यथेष्ट समझते हैं । इन्होंने, जहाँ तक हमें स्मरण है, केवल दो-चार स्थानों पर सिफ़ारिशी छंद दिए हैं (पृष्ठ ११६, संख्या १६ ; पृष्ठ १२६, संख्या १२), परंतु श्रीकृष्ण-चंद्र को स्वयं अपना ईश्वरत्व दिखाने का शौक़ था । उन स्थानों को छोड़कर सूरदास ने उनका ईश्वरत्व मौक़े-बे-मौक़े नहीं दिखाया है । पृष्ठ ४७२ पर आपने श्रीकृष्ण को आशीर्वाद भी दिया है ।

इन्होंने दो-चार स्थानों पर कृष्ण के कामों की प्रेम पूर्ण निंदा भी की है। यथा—पृष्ठ ६, संख्या ३१; पृष्ठ ७, संख्या ३१, और—

हम बिगरी, तुम सबै सुधारी ;
द्विज कानीन हमारे बाबा, कुंडज पिता, जगत में गारी।
हम सब जग-जाहिर जारज हैं, ताहू पर यक बात बिगारी;
बड़े कष्ट सों ब्याहु भयो है, पतिनी ह्वै गइ पंच-भतारी।
तुम जानत राधा है छोटी।
हमसों सदा दुरावति है यह, बात कहै मुख चोटी-पोटी ;
कबहुँ स्याम सो नेकु न बिछुरति, किए रहति हमसों हठ-जोटी।
नँदनंदन याही के बस हैं, बिबस देखि बेंदी छवि चोटी ;
'सूरदास' प्रभु वै अति खोंटे, यह उनहूँ ते अति ही खोटी।
(पृष्ठ २१६, संख्या ७५)

सखी री, स्याम कहा हितु जानैं ?
'सूरदास' सरबसु जो दीजै, कारो कृतहि न मानैं।,,
(पृष्ठ ४७६, संख्या ८४)

इसी प्रकार सैकड़ों पद सूरदास की कविता में मिलते हैं।

(१) एक महाशय ने ऐसे अवसर पर हमारी नासमझी दिखला-कर अपनी समझ का परिचय दिया है। आप कहते हैं कि न सूरदास ने कृष्ण को काला-कलूटा, न राधा को खोंटी कहा है, वरन् ये प्रेम के उपालंभ-मात्र हैं। उनको समझना चाहिए था कि इतनी सुगम बात जानने की शक्ति हममें भी थी। प्रतिपक्षी को मूर्ख बनाकर अपना मतलब निकालना प्रमाण की कमी-मात्र दिखलाना है। हम भी समझते हैं कि ये वाक्य प्रेम के उपालंभ प्रकट करते हैं, किंतु कहाँ परमेश्वर, और कहाँ पोच मनुष्य ! भक्त लोग बहुधा ईश्वर की बड़ाई करने में भक्ति के नाते अपने को भी उचित से बहुत ऊँचा पद दे डालते हैं। सखा, सखी तथा वात्सल्य भावों की भक्ति इसी

प्रकार की है। इतने बड़े ईश्वर से प्रेम के नाते भी खेलवाड़ करने का किसी को अधिकार नहीं। उस खेल को बढ़ाकर भगवान् को काला और कुटिल बनाना हमारी समझ में अक्षम्य दूषण तथा भगवान् की निंदा है। जो समालोचक आलोच्य विषय का इतना मोटा विचार भी न समझ सके, उसे कहा ही क्या जाय ?

(२) भगवान् श्रीकृष्णचंद्र के विषय में हमने गोस्वामी तुलसीदास के अवतार-संबंधी वर्णन में कुछ कथन किया है। उस स्थान पर रामचंद्र का मुख्य विवरण था। अब भगवान् श्रीकृष्णचंद्र-संबंधी शेष कथन यहाँ किया जाता है। आप विष्णु के अवतार कहे गए हैं। उन (विष्णु) की महत्ता औपनिषत्काल में नारायण के रूप में हुई। अनंतर वासुदेव, भगवत् और कृष्ण के रूपों में वैष्णव-पूजन चला। छठी (या चौथी) शताब्दी सं० पू० के पाणिनि वासुदेव को पूज्य देवता मानते थे। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण विष्णु के अवतार तथा भगवान् हैं। यह ग्रंथ पाँचवीं शताब्दी सं० पू० का है। चौथी शताब्दी सं० पू० का बौद्ध-ग्रंथ निद्देश बलराम के पूजन की साक्षी देकर व्यूह-पूजन का चलन बतलाता है। तीसरी शताब्दी सं० पू० का ग्रीक-राजदूत मेगास्थिनीज़ मथुरा में कृष्ण-पूजन का चलन प्रकट करता है। दूसरी शताब्दी सं० पू० के पतंजलि वासुदेव को पूज्य देवता बतलाते हैं, तथा इसी समयवाले घोसुंडी और बेसनगर के शिला-लेख संकर्षण और वासुदेव का पूजन कहते हैं; और सौ वर्ष पीछे का नानाघाटवाला शिला-लेख भी यही बात लिखता है। पहली शताब्दी के निकट आभीर-जाति मथुरा के निकट बालकृष्ण का पूजन करती थी। इसी समय के घटजातक में बालकृष्ण का वर्णन है, तथा (इसी समय के) अमरकोष में दामोदर नाम आया है, जो बालकृष्ण से संबद्ध है। इस काल के पूर्व बालकृष्ण का पूजन नहीं लिखा है। राधा या प्रेम का कथन अब

तक भी नहीं आया है। गुप्तकाल में भागवत, जनार्दन तथा विष्णु-पूजन के प्रमाण मिलते हैं। पाँचवीं शताब्दी के कालिदास गोपाल-कृष्ण का कथन करते हैं, और छठी के वराह मिहिर भागवत विष्णु का। शंकराचार्य (आठवीं शताब्दी) के समय एकांतिक मत का पता चलता है, जिसमें व्यूह-पूजन का आधिक्य था। उद्योग पर्व में कृष्ण-पार्थ नर-नारायण हैं। बारहवीं शताब्दी में निंबार्क स्वामी के साथ राधा-पूजन का चलन चलता है, और पीछे से श्रीकृष्ण का वाम-मत-पूर्ण शृंगारिक वर्णन होता है। छांदोग्य उपनिषत् में कोई देवकी-पुत्र कृष्ण अध्यात्म-विद्या-प्रेमी हैं। स्वामी शंकराचार्य का निराधार मत है कि वह कृष्ण दूसरे थे। शायद उन्हें कोई प्रमाण ज्ञात होगा।

(३) सूरदास की भाषा शुद्ध व्रज-भाषा है। चंद आदि के होने पर भी यह कहना अयथार्थ न होगा कि हिंदी के प्रेमी परमोत्कृष्ट प्रथम कवि सूरदास ही थे, परंतु तो भी इनकी भाषा ऐसी ललित और श्रुति-मधुर है, जैसी इनके पीछेवाले कवियों तक में बहुत कम पाई जाती है। पृष्ठ ४८३ में आपने 'महलात' शब्द का भी प्रयोग किया है। इनकी कविता में मिलित वर्ण बहुत कम आते हैं। माधुर्य और प्रसाद उसके प्रधान गुण हैं। ओज की मात्रा इनकी कविता में बहुत कम है। इनको अनुप्रास का इष्ट नहीं था, परंतु उचित रीति पर इन गुणों को यह महाराज अपनी कविता में रखते थे। प्रायः कहीं यमक आदि के लिये इन्होंने अपना भाव नहीं बिगाड़ा। इनके पद ललित और अर्थ-गंभीरता से भरे हुए हैं।

सिवा सूर-सारावली के, समस्त कविता में इन्होंने छंद इतनी शीघ्रता और इस रीति से परिवर्तित किए हैं कि वे कहीं अरुचिकर नहीं होते। इन महाराज ने अपनी कविता में संस्कृत के पद बहुतायत से नहीं रक्खे, परंतु जहाँ कहीं वे आए हैं, वहाँ स्तुत्य रीति से।

इनके कुछ घनाक्षरी-छंद भी मिले हैं (पृष्ठ ४०४, संख्या ३६ और ३७)। कुछ घनाक्षरी-छंद आपने छ पदों के भी लिखे हैं। सूर-कृत दो पद, जो उपमा और रूपक के वर्णन में दिए जायँगे, इनकी भाषा के भी अच्छे उदाहरण हैं।

(४) उपमा-रूपक। यह महाराज अपनी कविता में रूपक लाना पसंद करते थे, और इन्होंने उपमाएँ भी बहुत ही अच्छी खोज-खोजकर रक्खी हैं। इनके अर्थ-गांभीर्य, उपमा और पद-लालित्य ऐसे उत्कृष्ट हैं कि किसी कवि को कहना ही पड़ा—

उत्तम पद कवि गंग के, उपमा को बलबीर (बीरबल);
केसव अरथ-गँभीरता, सूर तीनि गुन धीर।

उदाहरणार्थ इनके दो पद आगे लिखे जाते हैं, जिनसे रूपक, उपमा, अनुप्रास और भाषा का अच्छा ज्ञान होगा। आपने प्रायः रूपकों में पूरे वर्णन किए हैं। संयोग-शृंगार में उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा की बहुतायत रक्खी है, और वियोग-वर्णन में स्वभावोक्ति की। यथा—

अदभुत एक अनूपम बाग ;
जुगुल कमल पर गजबर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरबर, सरपर गिरिबर, गिरि पर फूले कंज पराग ;
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ताहू पर अमरित-फल लाग।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पालव, तापर सुक, पिक, मृगमद, काग ;
खंजन धनुष चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर यक मनिधर-नाग।
अंग-अंग प्रति और-और छबि, उपमा ताको करत न त्याग ;
'सूरदास' प्रभु पियहु सुधा-रस, मानहु अधरन को बड़ भाग।

बरनौं श्रीबृषभानु-कुमारि ;
चित दै सुनहु स्याम-सुंदर छबि, रति नाहीं उनहारि।
प्रथमहिं सुभग स्याम-बेनी की सुषमा कहहुँ बिचारि ;
मानहु फनिक रह्यो पीवन को ससि-मुख सुधा निहारि।

बरनै कहा सीस-सेंदुर को, कबि जु रह्यो पचि हारि ;
मानहु अरुन किरन दिनकर की निसरी तिमिर बिदारि ।
भृकुटी बिकट निकट नैनन के राजति अति बरनारि ;
मनहु मदन जग-जीति जेर करि, राखेउ धनुष उतारि ।
ता बिच बनी आड़ केसरि की, दीन्हीं सखिन सँवारि ;
मानों बँधी इंदु - मंडल मैं रूप-सुधा की पारि ।
चपल नैन नासा बिच सोभा, अधर सुरंग सुढारि ;
मनौ मध्य खंजन सुक बैठ्यो, लुब्ध्यो बिंब-बिचारि ।
तरिवन सुघर, अधर नकबेसरि, चिबुक चारु रुचिकारि ;
कंठसिरी, दुलरी, तिलरी पर, नहिं उपमा कहुँ चारि ।
सुरँग गुलाब-माल कुच-मंडल, निरखत तन-मन वारि ;
मानौ दिसि निरधूम अगिनि के तपि बैठे त्रिपुरारि ।
जौ मेरो कृत मानहु मोहन, करि ल्याऊँ मनुहारि ;
'सूर' रसिक तबहीं पै बदिहौं, मुरली सकहु सम्हारि ।

(५) नख-सिख । पूर्वोक्त दोनों पदों में कवि की नख-शिख वर्णन करने की योग्यता भी प्रकट होती है । नख-शिख के श्रेष्ठ वर्णन पृष्ठ २८, संख्या १८२, पृष्ठ १८६ और १८७, पृष्ठ २७८, संख्या १० के छंदों में भी है, और वे बहुत ही श्लाध्य तथा सुहावने हैं ।

(६) प्रबंध-ध्वनि । गोस्वामी तुलसीदास की भाँति इन महाराज ने भी अपनी कविता में पुराने आख्यानों और कथाओं का हवाला बहुत स्थानों पर दिया है । इस कथन के उदाहरणार्थ पृष्ठ ६, संख्या ४८ देखिए ।

(७) सूरदास की कविता का प्रधान गुण एक यह भी है कि यह महाराज प्रत्येक वस्तु का बहुत सांगोपांग वर्णन करते हैं । यह जिस बात का वर्णन विस्तार-पूर्वक कर देते हैं, उसमें फिर औरों के लिये बहुत कम भाव रह जाते हैं । या तो बहुत सूक्ष्म वर्णन

करते हैं, या पूर्ण विस्तार के साथ। इनके सविस्तर वर्णन कर देने पर अन्य कवियों को उसी विषय पर कुछ लिखने में अवांछित भी इनके भाव लेने पड़ते हैं, क्योंकि ऐसी दशा में यह महाकवि नए भावों के लिये जगह छोड़ ही नहीं रखते। इसी कारण रीवाँ-नरेश महाराज रघुराजसिंहदेवजी ने यथार्थ लिखा है कि—

मतिराम, भूषन, बिहारी, नीलकंठ, गंग,
बेनी, संभु, तोष, चिंतामनि, कालिदास की;
ठाकुर, नेवाज, सेनापति, सुखदेव, देव,
पजन, घनानंदऽरु घनस्यामदास की।
सुंदर, मुरारि, बोधा, श्रीपति हू दयानिधि,
जुगल, कबिंद त्यों गोबिंद, केसौदास की;
'रघुराज' और कबिगन की अनूठी उक्ति
मोहिं लगी झूठी जानि जूठी सूरदास की।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सूरदास की कविता के नायक यशोदा-नंदन तथा गोपिका-वल्लभ श्रीकृष्ण थे। अतः इन्होंने श्रीकृष्णचंद्र के उन सभी कार्यों को, जिन्हें उन्होंने यशोदा और गोपियों के संबंध में किया है, विस्तार के साथ लिखा है।

(क) सबसे प्रथम जो बहुत उत्कृष्ट वर्णन सूरदास ने किया है, वह कृष्ण की बाल-लीला का है। जैसा उत्तम और सच्चा बाल-चरित्र इस महाकवि ने लिखा है, वैसा संसार-भर के किसी ग्रंथ में हम लोगों ने अद्यावधि नहीं देखा। माता से माखन माँगा जाना, माता द्वारा बालक का लालन-पालन होना, माता का खीझना, चोटी बढ़ने के बहाने दूध पिलाना, चंद्र के विषय में झगड़ा, राम की कथा माता द्वारा सुनाई जाना इत्यादि वर्णन ऐसे सच्चे ढंग से कहे गए हैं कि जान पड़ता है, सचमुच कोई बालक माता के पास खेल रहा है। इसके उदाहरण-स्वरूप किस

छंद को हम लिखें ? पूरा वर्णन पढ़ने से ही इसका स्वाद मिल सकता है। ज्यों ही माता ने कहा—"कजरी को पय पियहु लाल, तब चोटी बाढ़ै", त्योंही बालक ने तुरंत दूध पीकर पूछा—"मैया, कबहिं बढ़ैगी चोटी ? किती बार मोहिं दूध पियत भइ, यह अजहूँ है छोटी।" उदाहरणार्थ एक छंद नीचे लिखा जाता है—

मातु, मोहिं दाऊ बहुत खिझायो।
मोसों कहत मोल को लीन्हों, तोहि जसुमति कब जायो ?
कहा कहौं, यहि रिस के मारे, खेलन हौं नहिं जात ;
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तुम्हरो तात ?
गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम कत स्याम-सरीर ?
चुटकी दै-दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर।
तू मोहीं को मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न खीझै ;
मोहन को मुख रिस-समेत लखि जसुमति अति मन रीझै।
सुनहु कान्ह, बलभद्र चवाई, जनमत ही को धूत ;
'सूर स्याम' मोहिं गो-धन की सौं, हौं माता, तू पूत।

(ख) बाल-लीला के पश्चात् इन महाकवि ने माखन-चोरी का वर्णन बड़ा ही हृदय-ग्राही किया है। माखन-चोरी भी ऐसी कही है, मानो कोई सचमुच गोपिकाओं को खिझा रहा हो। यशोदा के पास उलाहना आना, उनका गोपिकाओं के कथन पर प्रतीति न करनी, और पुत्र से इनकार सुनकर क्रोध करने के स्थान पर हर्ष-मग्न हो जाना बड़ी ही स्वाभाविक रीति से कहे गए हैं। बहुत अधिक शिकायतें सुनकर माता का कुछ क्रोध करना, बालक को समझाना और फिर यह सुनकर कि कृष्ण ने माखन चुराया एवं गोपी के लड़के को भी मारा है, उन्हें रस्सी से ऊखल में बाँध देना, ये सब बातें अत्यंत स्वाभाविक रीति से लिखी गई हैं (पृष्ठ १४२, संख्या २५)।

ऊखल में बाँधने पर जब-जब बालक रोया, तब-तब माता ने इस बात पर बड़ा ज़ोर दिया कि वह चोर है। चोरी पर ऐसे समय में ज़ोर देना बड़ा ही स्वाभाविक है, और वह प्रकट करता है कि एक ही बालक होने तथा उसे प्राणों से अधिक चाहने पर भी यशोदा बेजा काम देखकर अदूरदर्शिनी माताओं की भाँति चुप न बैठकर कड़ा दंड देती थीं। माखन-चोरी-लीला का भी वर्णन अत्यंत रोचक और स्वाभाविक है।

(ग) ऊखल-बंधन के पश्चात् कालिय-दमन, दावानल-पान और चीर-हरण के भी बड़े ही विशद वर्णन हैं। उद्धृत करने से पुस्तक का कलेवर बहुत बढ़ जायगा, अतः हम यहाँ कोई छंद नहीं लिखते। ये वर्णन देखने ही योग्य हैं। सूरदास ने भोजन के वर्णन अनेक बार किए हैं। भोज्य वस्तुओं में आप अपच करनेवाली चीज़ों की बहुतायत रखते हैं। उनमें सघृत एवं मधुर वस्तुओं का प्राधान्य रहता है।

(घ) इसके पीछे रास-लीला, मान एवं मान-मोचन के भी वर्णन बड़े ही अच्छे हैं। विशेषकर ३९९ से ४११ पृष्ठ-पर्यंत जो मान एवं मान-मोचन वर्णित है, उससे प्रकट होता है कि वाल्मीकि की भाँति यह महाकवि एक ही विषय को कितनी दूर तक और कितनी उत्तमता से कह सकता है, अथच महाभक्त होने पर भी शृंगार-रस के गूढ़ विषयों का इनको कितना सच्चा ज्ञान है? यह कहना पड़ेगा कि माखन-चोरी और रास-विलास के वर्णन इतने विस्तृत हो गए हैं कि यह नहीं कहा जा सकता कि यह केवल शृंगार-रस का वर्णन करनेवालों की रचना की भाँति कोरा काव्य-मात्र है, या किसी कथा का अंग भी। यदि कोई केवल कथा-प्रसंग जानने के विचार से इसे पढ़ने बैठे, तो उसका जी अवश्य उकता जाय, परंतु वास्तव में ये वर्णन बड़े ही विशद और सच्चे हैं। केशवदास,

दास आदि की भाँति इन्होंने अपनी रचना में अन्यों की कविताओं से उठा-उठाकर अन्यथा नहीं रक्खा है, न किसी ऐसे विषय को विस्तार से कहा ही है, जिसमें इन्हें पूर्ण योग्यता और सहृदयता न होती। अतः इस कविता में जहाँ कहीं विस्तृत वर्णन हैं, वहीं वे सच्चे, असली खास सूरदास के भावों से भरे हैं, और इसी कारण इन कविवर ने शुद्ध पाठकों से ऐसे-ऐसे वचन कहला ही लिए कि—

सूर सूर, तुलसी ससी, उडुगन केसवदास;
अब के कबि खद्योत-सम जहँ-तहँ करत प्रकास।
कबिता-करता तीनि हैं, तुलसी, केसव, सूर;
कबिता-खेती इन लुनी, सीला बिनत मँजूर।
तत्त्व-तत्त्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठी;
बची-खुची कबिरा कही, और कही सब झूठी।
किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर;
किधौं सूर को पद लग्यो, तन-मन धुनत सरीर।

अंतिम दोहा तानसेन ने बनाकर सूरदास को सुनाया था। इसके उत्तर में सूरदास ने निम्न-लिखित दोहा पढ़ा—

बिधना यह जिय जानिकै सेसहि दिए न कान;
धरा, मेरु, सब डोलते तानसेन की तान।

सूरदास इतने सच्चे और यथार्थ-भाषी कवि थे कि इनकी कविता में असंभव पदार्थों का कथन बहुत कम पाया जाता है, अर्थात् किसी असंभव घटना का होना इन्होंने नहीं कहा। "बिंध्य लगि बाढ़िबो उरोजन को पेखो है" की भाँति के कथन इन सच्चे कवि को नहीं भाते थे। इस यथार्थ-भाषण के प्रतिकूल हम श्रीकृष्णचंद्र के संबंध में ऐसी कथाओं का वर्णन, जो अब असंभव ज्ञात होती हैं, प्रमाण-स्वरूप नहीं मानते; क्योंकि वे उस कथा के अंग

हैं, जिसे यह कवि कहने बैठे हैं। इसी यथार्थ-भाषण को आदत के कारण इन्होंने कई स्थानों पर विस्तार से सुरति का वर्णन किया है, और कहीं-कहीं ऐसी-ऐसी गालियाँ दिखाई गई हैं, जिनको कविता में रखना सभ्यता के प्रतिकूल है। कहना न होगा कि ये वर्णन भी सराहनीय अवश्य हैं।

(ङ) सूरदास ने स्थान-स्थान पर नायिका-भेद भी लिखा है; परंतु कविता-रीति के नियमानुसार उसे न लिखकर जिस दशा के पीछे स्वाभाविक रीति पर जो दशा होती है, उसी का वर्णन, कथा-प्रसंग की भाँति, इन्होंने किया है, और जिस नायिका का प्रसंग चलाया, उसका अपनी विस्तारकारिणी प्रकृति के अनुसार कुछ देर तक वर्णन किया। इन्होंने सब नायिकाओं का कथन करके बहुत कम काम किया, परंतु जो कुछ कहा, वह परम मनोहर। अधिक उदाहरण न देकर केवल धीरादि-भेद का एक पद नीचे लिखते हैं—

अतिहि अरुन हरि, नैन तिहारे;
मानहुँ रति-रस भए रँगमगे, करत केलि पिय पलक न पारे।
मंद-मंद डोलत संकित-से, राजत मध्य मनोहर तारे;
मनहुँ कमल-संपुट महँ बींधे, उड़ि न सकत चंचल अलि-बारे।
झलमलात, रति-रैनि जनावत, अति रस-मत्त भ्रमत अनियारे;
मानहुँ सकल जगत जीतन को काम-बान खर सान सँवारे।
अटपटात, अलसात, पलक-पुट मूँदत, कबहूँ करत उघारे
मनहुँ मुदित मरकत-मनि-अंगन खेलत खंजरीट-चटकारे।
बार-बार अवलोकि कनखियन, कपट-नेह मन हरत हमारे;
'सूर' स्याम सुखदायक रोचन, दुख-मोचन लोचन रतनारे।

कथाओं के वर्णन में कहीं-कहीं इनकी रचना में काल-विरुद्ध दूषण आ जाता है; जैसे दावानल में गोवर्द्धन, धारण का, और

गोवर्द्धन-धारण में दावानल-पान का। ऐसे स्थानों पर कथा न मानकर साधारण साहित्य का विवरण समझना चाहिए।

(च) इन सब कथाओं के पीछे इन महाकवि ने श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन का वर्णन बड़ा ही हृदय-ग्राही किया है। यदि कहा जा सकता हो कि अमुक कवि ने 'क़लम तोड़ दी', तो हम अवश्य कहेंगे कि व्रज-विरह-वर्णन में इन महाकवि ने सचमुच क़लम तोड़ दी है। उद्धव-संवाद और कृष्ण-मथुरा-गमन को पढ़कर जान पड़ता है कि सूरदास वियोग-शृंगार के कथन में बड़े ही पटु थे। वियोग का वर्णन किसी दूसरे कवि ने ऐसा बढ़िया और स्वाभाविक नहीं किया। इस विषय में भी कोई छंद उदाहरणार्थ लिखना हम उचित नहीं समझते, क्योंकि एक रोएँ से सिंह का अनुभव नहीं कराया जा सकता। वियोग-वर्णन में आपने राधा का नाम बहुत नहीं लिया।

(छ) उद्धव-संवाद भी बहुत ही विस्तृत रूप से कहा गया है। यह पृष्ठ ५०२ से प्रारंभ होकर पृष्ठ ५६२ पर समाप्त होता है, और ये पृष्ठ रॉयल अठपेजी के ढाईगुने होंगे! यह भी आद्योपांत प्रेमालाप से भरा हुआ है, और ऐसा कोई भाव न बचा होगा, जो इसमें न आ गया हो। इसमें बड़े ही प्रशंसनीय पद मिलते हैं। उदाहरणार्थ एक पद नीचे लिखा जाता है—

'ऊधो, मन न भए दस-बीस ;
एक हुतो, सो गयो स्याम-सँग, को अवराधै ईस ?
इंद्री सिथिल भईं केसव बिनु ज्यों देही बिनु सीस ;
आसा लगी रहति तनु-स्वासा, जीजै कोटि बरीस।
तुम तौ सखा स्याम-सुंदर के, सकल जोग के ईस ;
'सूरदास' वा रस की महिमा, जो पूँछै जगदीस।

उद्धव-संवाद में गोपियों ने कहीं-कहीं ज्ञान को व्यर्थ माना

है, और कहीं-कहीं अपनी योग्यता के लिये बहुत ऊँचा। निर्गुणो-पासना का खंडन अवतार के सिद्धांत को ठीक मानकर किया गया, जो तार्किक सिद्धांतों के प्रतिकूल है। सगुणोपासना के उत्तर में उद्धव से जो कथन कराए गए हैं, वे ऐसे निर्जीव हैं, मानो कोई थका हुआ व्यक्ति बोझ उतार रहा हो। निर्गुणोपासना के साथ न्याय नहीं हुआ है। निर्गुण-सगुण का कुछ ब्योरा कबीर के कथन में मिलेगा। अंत में उद्धवजी भी ज्ञान भूलकर प्रेम-मग्न हो गए, और प्रेमियों की भाँति कृष्ण के विहार-स्थल देखते फिरे। उसके बाद उन्होंने यदुपति के पास जाकर गोपियों की बड़ी सिफ़ारिश की।

(ज) अन्य रसों की कथा एवं युद्धादि वर्णन करने का प्रयत्न इन सच्चे कवि ने, इन विषयों से सहृदयता न होने के कारण, नहीं किया; और जहाँ किया भी, वहाँ वह अच्छा नहीं बना। महात्मा सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास में यही अंतर है। गोस्वामीजी ने कुल बातों का वर्णन अच्छा और अपने ख़ास विषयों का बड़ा ही विशद किया है; किंतु महात्मा सूरदास ने अपने ख़ास विषयों का वर्णन ऐसा किया है, जैसा कि गोस्वामीजी या संभवतः किसी भाषा का कोई कवि नहीं कर सका, परंतु साधारण विषयों का कथन बहुतेरे कवियों से भी ख़राब किया है। उनको अच्छे प्रकार से कहने का इन्होंने प्रयत्न ही नहीं किया। इसी कारण सूर-सागर के इधर-उधर दो-चार पृष्ठ पढ़नेवाले इन्हें साधारण कवि समझ सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति इनके विशद वर्णन संग्रह करके रामायण की इतनी पोथी निकाल ले, तो उसके देखने से सूरदासजी की कविता का पूरा आनंद मिल सके। हाल में सूर-सुधा-नामक एक ऐसा ही संग्रह हमीं ने बनाया है, जिसका प्रथम खंड मनोरंजन-पुस्तकमाला में प्रकाशित हो चुका है, और दूसरा खंड भी शीघ्र ही

निकलेगा। इधर 'संक्षिप्त सूरसागर' नाम से अन्य दो संग्रह भी प्रकाशित हो गए हैं।

(क) इन्होंने स्फुट विषयों का वर्णन भी कहीं-कहीं अच्छा किया है, प्रीति के विषय में इनका मत है—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो ;
प्रीति पतंग करी दीपक सों, अपनी देह दह्यो।
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सों, संपति हाथ गह्यो ;
सारँग प्रीति जु करी नाद सों, सनमुख बान सह्यो।
हम जो प्रीति करी माधव सों, चलत न कछू कह्यो ;
'सूरदास' प्रभु बिनु दुख दूनो, नैननि नीर बह्यो।

सत्संग पर सूरदास की बड़ी श्रद्धा थी। इस बात में भी तुलसीदास से इनका मत मिलता है। यथा—

जा दिन संत पाहुने आवत ;
तीरथ-कोटि अन्हान करैं फल, जैसो दरसन पावत।
नेह नयो दिन-दिन-प्रति उनको, चरन-कमल चित लावत ;
मन-बच-क्रम औरन नहिं जानत, सुमिरत औ सुमिरावत।
मिथ्या बाद-उपाधि-रहित ह्वै, बिमलि-बिमलि जस गावत ;
बंधन क्रम कठिन जो पहिले, सोऊ काटि बहावत।

इस छंद से सूरदास के रहन-सहन का भी पता लगता है।

इन महाशय ने पाँच पृष्ठों तक केवल मुरली का वर्णन किया है। उसमें बड़े ही बढ़िया पद लिखे हैं। जब श्याम का इतना वर्णन है, तब फिर मुरली ही क्यों रह जाय? यह इन्हीं का काम था कि मुरली-जैसे विषय पर क़रीब चालीस पद लिख गए।

इन महाकवि ने पृष्ठ ३१६ से क़रीब १८ पृष्ठों में केवल नेत्रों का वर्णन किया है। ऐसे-ऐसे छोटे विषयों पर इतनी बड़ी एवं बढ़िया

कविता रच डालनी साधारण कवि का काम नहीं है। इस वर्णन में भी अच्छे पद बहुत हैं। उदाहरण लीजिए—

नैना नाहीं कछू विचारत ;
सनमुख समर करत मोहन सों, जद्यपि हैं हठि हारत।
अवलोकत अलसात नवल छवि, अमित तोष अति आरत ;
तमकि-तमकि तरकत मृगपति ज्यों, घूँघट पटहि विदारत।

(७) सूरदास ने कई जगह पर पदों में कथाएँ कहकर फिर उनको साधारण छंदों में सूक्ष्म रूप से दुहराया है। इन सबमें कालिय-दमन की दुबारा कथा श्लाघ्य है, परंतु उसमें भी यह दोष है कि कृष्ण और नागिन की बातचीत में कृष्ण ने नागिन को बहुत फटकारा है। कृष्ण उस समय बालक थे। शायद यही विचारकर सूर ने उनसे ऐसा कहलाया हो।

(८) सूर ने जगह-जगह पर कूट लिखे हैं। उनमें अलंकार, रसांग आदि भी आए हैं। उदाहरण-स्वरूप सरदार-कृत सूर-दृष्ट-कूट (मुंशी नवलकिशोर के यहाँ मुद्रित हुई प्रति) के पृष्ठ १४ पर लिखित एक कूट हम यहाँ लिखते हैं (उसका अर्थ भी उसी पृष्ठ पर सरदार ने लिखा है।)—

जनि हठ करहु सारँग-नैनी ;
सारँग ससि सारँग पर सारँग, ता सारँग पर सारँग-बैनी।
सारँग रसन दसन गुनि सारँग, सारँग-सुत दृढ़ निरखनि पैनी ;
सारँग कहो सु कौन विचारो, सारँगपति सारँग रचि सैनी।
सारँग सदनहि लै जु बहन गए, अजहुँ न मानत गत भइ रैनी ;
'सूरदास' प्रभु तव मग जोवै, अंधकरिपु ता रिपु सुख-दैनी।

(९) इन्होंने लोगों का चरित्र भी अच्छा दिखलाया है। यशोदा के यद्यपि एक ही पुत्र वृद्धावस्था में हुआ था, तथापि वह उसकी बेजा चाल-ढाल पर कड़ा दंड तक देती थीं। ऐसी उदार-हृदया

भी थीं कि रोहिणी-पुत्र बलदेव को अपने पुत्र से भी अधिक मानती थीं। यथा—

हलधर कहत प्रीति जसुमति की।
एक दिवस हरि खेलत मोसों, झगरो कीन्हों पेलि ;
मोको दौरि गोद करि लीन्हों, इनहिं दियो कर ठेलि।

इन्होंने कृष्ण के चले जाने पर देवकी से जो संदेश कहला भेजा है, वह विशेष रूप से देखने योग्य है—

सँदेसो देवकी सों कहियो ;
हौं तौ धाय तिहारे-सुत की, मया करत नित रहियो।
जदपि टैंव तुम जानत उनकी, तऊ मोहिं कहि आवै ;
प्रातहि उठत तुम्हारे कान्हहि माखन-रोटी भावै।
तेल, उबटनो अरु तातो जल, ताहि देखि भगि जाते ;
जोइ-जोइ माँगत, सोइ-सोइ देती, क्रम-क्रम करि-करि न्हाते।
'सूर' पथिक सुनि मोहिं रैनि-दिन बढ़ो रहत उर सोच ;
मेरो अलख-लड़ैतो मोहन, ह्वै है करत सकोच।

यशोदा के शील-गुण में केवल यह बात अनुचित जान पड़ती है कि उन्होंने नंद से बार-बार कहा—"दशरथ तुमसे अच्छे थे, क्योंकि तुम पुत्र को मथुरा में छोड़कर जीते-जागते घर चले आए ?" इन्होंने शायद अपनी यथार्थ-भाषण की टेंव से ऐसा कहला दिया हो।

कुब्जा का चरित्र भी नौ वधियों की भाँति खूब ही दिखाया गया है। वह समझती थी कि गोपी ग्रामीण थीं, अतः श्याम को अपने वश में न रख सकीं, परंतु वह खुद नागरी थी, उसने उन्हें लुभा लिया। उस दासी ने केवल यह सोचा ही नहीं, गोपियों से उद्धव द्वारा कहला भी भेजा (पृष्ठ २०४-२०९)।

(१०) यद्यपि सूरदास स्वयं श्याम के भक्त थे, तथापि इन्होंने

गोपियों के मुख से काले रंग की ख़ूब निंदा कराई है, और अंत-पर्यंत किसी स्थान पर भी तुलसीदास की भाँति कोई सिफ़ारिशी छंद नहीं लिखा। वे कहती थीं—

सखी री, स्याम सबै इकसार ;
मीठे वचन सोहाए बोलत, अंतर - जारनहार।
❀ ❀ ❀
भँवर, कुरंग, काग अरु कोकिल, कपटिन की चटसार !"
"सखी री, स्याम कहा हितु जानै ?
कोऊ प्रीति करौ कैसे हू, वह अपने गुन ठानै।
देखौ या जलधर की करनी, बरषत पोषै आनै ;
'सूरदास' सरबसु जो दीजै, कारो कृतहि न मानै।
ऊधौ, कारे सबहि बुरे।

इत्यादि। इससे ज्ञात होता है, सूरदास ऐसे संकीर्ण-हृदय न थे कि यदि उनका कोई नायक या उपनायक स्वयं उनकी राय के प्रतिकूल कुछ कहता, तो उनसे, गोस्वामी तुलसीदास की भाँति, विना अपनी सम्मति प्रकट किए न रहा जाता। अँगरेज़ी में ऐसे कवियों को सर्वव्यापक-दृष्टि के कवि (Poets of general vision.) कहते हैं। सूरदास इसी प्रकार के कवि थे। भाषा-साहित्य में सूरदास, तुलसीदास और देव, ये सर्वोच्च तीन कवि हैं। इनमें न्यूनाधिक बतलाना मत-भेद से ख़ाली नहीं है। अतः सूरदास की गणना भाषा के तीन सर्वोच्च कवियों में है। हम लोगों का अब यह मत है कि हिंदी में तुलसीदास सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। उन्हीं के पीछे सूरदास का नंबर आता है, और तब देव का। महात्मा सूरदास हिंदी के वाल्मीकि हैं। वाल्मीकि ही के समान यह हिंदी के प्राचीन सत्कवि हैं, और उन्हीं के समान इनके भी वर्णन पूर्ण, बड़े और सर्वांग-सुंदर होते हैं।

गोस्वामी सूरदास के विषय में हम थोड़े में अपना मत प्रकट कर चुके। कुछ उदाहरण भी आगे लिखे जाते हैं। इनके तीन संग्रह ग्रंथ निकल चुके हैं। इसलिये यद्यपि यहाँ उदाहरण देने की विशेष आवश्यकता न थी, तो भी साम्य के विचार से यहाँ भी कुछ उदाहरण दिए जाते हैं। ये सूर-सुधा के छंदों से भिन्न हैं। जो महाशय प्रचुर उदाहरण देखना चाहें, वे सूर-सुधा देखने का कष्ट उठावें।

उदाहरण

नीवी ललित गही हरि राई।
जबहिं सरोज धरो श्रीफल पर तब जसुमति गइ आई;
ततछन रुदन करत मनमोहन, मन में बुधि उपजाई।
देखो ढीठ, देति नहिं माता, राखो गेंद चुराई;
काहे को झकझोरत नोखे, चलहु न, देउ बताई।
देखि बिनोद बाल-सुत को, तब महरि चली मुसकाई;
'सूरदास' के प्रभु की लीला को जानै इहि भाई॥ १॥
मोहन कर ते दोहनि लीनी, गोपद बछरा जोरे;
हाथ धेनु-थन, बदन तिया-तन, छीर-छींटि छल-छोरे।
आनन रही ललित पय-छींटै, छाजति छबि तृन-तोरे;
मनहुँ निकसि निकलंक कलानिधि दुग्ध-सिंधु के बोरे।
दै घूँघुट-पट ओट नील हँसि, कुँअरि मुदित मुख मोरे;
मनहुँ सरद-ससि को मिलि दामिनि घेरि लियो घन घोरे।
यहि बिधि रहसत, बिलसत दंपति, हेत हिए नहिं थोरे;
'सूर' उमँगि आनंद-सुधानिधि, मनो बिलावल फोरे॥ २॥
डसी री माई स्याम-भुअंगम कारे;
मोहन-मुख मुसुकानि मनहुँ बिष, जाति मरे सो मारे।
फुरै न मंत्र, जंत्र गति नाहीं, चले गुनी गुन-डारे;

प्रेम-प्रीति-बिष हिरदै लागी, डारत है तनु जारे।
निर्बिष होत नहीं कैसेहु करि, बहुत गुनी पचि हारे;
'सूर' स्याम गारुड़ी बिना को मो सिर गा ड़ू टारे? ॥ ३ ॥

अबहीं देखे नवलकिसोर;
घर आवत ही तनक भए हैं, ऐसे तन के चोर।
कछु दिन करि हरि माखन-चोरी, अब चोरत मन मोर;
बिबस भई, तनु-सुधि न सँभारति, कहत बात भइ भोर।
यह बानी कहत ही लजानी, समुझि भई जिय ओर;
'सूर' स्याम मुख निरखि चली घर आनँद लोचन लोर॥ ४ ॥

सखियन बीच नागरी आवै;
छबि निरखत रीझै नँद-नंदन, प्यारी मनहि रिझावै।
कबहुँक आगे, कबहुँक पाछे, नाना भाव बतावै;
राधा यह अनुमान कियो, हरि मेरे चितहि चोरावै।
आगे जाइ, कनक-लकुटी लै, पंथ सँवारि बतावै;
निरखत छाँह जहाँ प्यारी की तहँ लै छाँह छुवावै।
छबि निरखत तनु वारत अपनो, नागरि जियहि जनावै;
अपने सिर पीतांबर वारत, ऐसे रुचि उपजावै।
ओढ़ि ओढ़नियाँ चलत दिखावत, यहि मिस निकटहि आवै;
'सूर' स्याम ऐसे भावनि सों राधा मनहि रिझावै॥ ५ ॥

बिनती सुनहु देव मघवापति;
कितक बात गोकुल ब्रजबासी, बार-बार रिस करत जाहि अति।
आपुन बैठि देखियो कौतुक, बहुतै आयसु दीनो;
छिन में बरषि प्रलय-जल पाटौं, खोजु रहै नहिं चीनो।
महाप्रलय हमरे जल-बरषै, गगन रहै भरि छाइ;
अछै-बिरछ-बट बचतु निरंतर, कह ब्रज, गोकुल गाइ।

चले मेघ माथे कर धरिकै, मन में क्रोध बढ़ाइ ;
उमड़त चले इंद्र के पायक, 'सूर' गगन रहे छाइ ॥ ६ ॥

धरनि-धर क्यों राख्यो दिन सात ?
अति ही कोमल भुजा तुम्हारी, चापति जसुमति मात ।
ऊँचो अति बिस्तार, भार बहु, यह कहि-कहि पछितात ;
वह अघात तेरे तनक-तनक कर, कैसे राख्यो तात ?
मुख चूमति, हरि कंठ लगावति, देखि हँसे बल-भ्रात ;
'सूर' स्याम को कितिक बात यह, जननी जोरति नात ॥ ७ ॥

मात-पिता इनके नहिं कोई ;
आपुहि करता, आपुहि हरता, त्रिभुवन रहत है जोई ।
किතिक बार अवतार लियो ब्रज, ये हैं ऐसे वोई ;
जल-थल, कीट-ब्रह्म के व्यापक, और न इन सरि होई ।
बसुधा-भार उतारन कारन आपु रहत तनु गोई ;
'सूर' स्याम माता-हितकारी, भोजन माँगत रोई ॥ ८ ॥

नंद-सुअन यह बात कहावत ;
आपुन जोबन-दान लेत हैं, तापर जोइ-सोइ सबनि कहावत ।
वै दिन भूलि गए हरि, तुमको, चोरी माखन खाते ?
खीझत ही भरि नयन लेत हे, डर डरात भजि जाते ।
जसुमति जब ऊखल सों बाँधति, हम ही छोरत जाइ ;
'सूर' स्याम, अब बड़े भए हौ, जोबन-दान सुहाइ ॥ ९ ॥

लरिकाईं की बात चलावति ;
कैसी भई, कहा हम जानैं, नेकहु सुधि नहिं आवति ।
कब माखन चोरी करि खायो, कब बाँधे धौं मैया ?
भले-बुरे को मात-पिता तन हरषत ही दिन जैया ।
अपनी बात खबरि करि देखहु, न्हात जमुन के तीर ;
'सूर' स्याम तब कहत सबनि के कदम चढ़ाए चीर ॥ १० ॥

सबै रहीं जल माँझ उघारी ;
बार-बार हा-हा करि थाकीं, मैं तट लिए हँकारी।
आईं निकसि बसन बिनु तरुनी, बहुत करी मनुहारी ;
कैसे हास भए तब सबके, सो तुम सुरति बिसारी।
हमहिं कहति दधि-दूध चुराए, अरु बाँधे महतारी ;
'सूर' स्याम के भेद-बचन सुनि हँसि सकुचीं ब्रज-नारी ॥११॥

गन गंधर्व देखि सिहात ;
धन्य ब्रज-ललनानि कर ते ब्रह्म माखन खात।
नहीं रेख, न रूप, नहिं तन, बरन नहिं अनुहारि ;
मात-पितु दोऊ न जाके, हरत, मरत न जारि।
आपु करता, आपु हरता, आपु त्रिभुवन - नाथ ;
आपु ही सब घटन व्यापी, निगम गावत गाथ।
अंग प्रति - प्रति - रोम जाके कोटि - सत ब्रह्मंड ;
कीट ब्रह्म प्रयंत जल - थल, इनहि ते यह मंड।
बिश्व बिश्वंभरन एई, ग्वाल - संग बिलास ;
सोई प्रभु दधि - दान माँगत, धन्य 'सूरजदास' ॥१२॥

तैं मेरे हित कहत सही री ;
यह मोको सुधि भली दिवाई, तन बिसरे मैं बहुत बही-री।
जब ते दान लियो हरि हमसों, हँसि-हँसिकै कछु बात कही री ;
काके घर, काके पितु-माता, काके तन की सुरति रही री ?
अब समुझति कछु तेरी बातो, आई हौं लइ दही-मही री ;
सुनहु 'सूर' प्रातहि ते आई, यह कहि-कहि जिय लाज गही री ॥१३॥

तऊ न गोरस छाँड़ि दयो ;
चहुँ फल सदन गह्यो सारँग-रिपु, बाजि धरा अथयो।
अमी-बचन रुचि रचत कपट हठि, झगरो फेरि ठयो ;
कुमुदिनि प्रफुलित हौं जिय सकुचो, लै मृग चंद जयो।

जानि निसा ससि रूप बिलोकत नवल किसोर भयो ;
तब ते 'सूर' नेक नहिं छूटत, मन अपनाइ लयो ॥१४॥

तमसों कहा कहौं सुंदरघन ;
या ब्रज मैं उपहास चलत है, सुनि-सुनि स्रवन रहति मन-ही-मन ।
जा दिन सबनि बछरु-नोई करि, मो दुहि दई धेनु बंसी-बन ;
तुम गहि बाँह सुभाइ आपने, हौं चितई हँसि नेकु बदन तन ।
ता दिन ते घर मारग जित-तित, करत चबाउ सकल गोपी जन ;
'सूर' स्याम सों साँचु सारिहौं, यह पतिबरत सुनहु नँद नंदन ॥१५॥

इह न होइ हरि माखन-चोरी ;
तब वह मुख पहिचानि, मानि सुख, देती जान हानि हुति थोरी ।
उनहिं दिननि सुकुआर हुते हरि, हौं जानत अपनो मन भोरी ;
ब्रज बसि बास बड़े के ढोटा, गोरस-कारन कानि न तोरी ।
अब भए कुसल किसोर नंद-सुत, हौं भइ सजग समान किसोरी;
आत कहाँ बलि बाँह छुड़ाए, मूसे मन संपति सब मोरी ।
नख-सिख लौं चितचोर सकल अँग, चीन्हे पर कत करत मरोरी ?
यक सुनि 'सूर' हर्यो मेरो सरबस, अरु उलटी डोलौं सँग डोरी॥१६॥

भुजा पकरि ठाढ़े हरि कीन्हे ;
बाँह मरोरि जाहुगे कैसे, मैं तुमको नीके करि चीन्हे ।
माखन-चोरी करत रहे तुम, अब तो भए मन-चोर ;
सुनत रही, मन चोरत हैं हरि, प्रकट लियो मन मोर ।
ऐसे ढीठ भए तुम डोलत, निदरे ब्रज की नारि ;
'सूर' स्याम मोहू निदरौगे, देत प्रेम की गारि ॥१७॥

मन-ही-मन रीझति है राधा, बार-बार पिय-रूप निहारै ;
निरखि भाल बेंदी सेंदुर की, वा छबि पर तन, मन, धन वारै ।
यह मन कहति, सखी जनि देखै, बूझे पर कह कैहौं ?
तिहूँ भुवन सोभा, सुख की निधि, कैसे उनहिं दुरैहौं ?

पग जेहरि, बिछियन की झमकनि, चलत परस्पर बाजत ;
'सूर' स्याम-स्यामा सुख जोरी, मनि-कंचन-छबि छाजत ॥१८॥

यह वृषभानु सुता वह को है ?
याकी सरि जुवती कोउ नाहीं, यह त्रिभुवन-मन मोहै।
अति आतुर देखन को आवति, निकट जाइ पहिचानो ;
ब्रज में रहति किधौं कहुँ औरै, बूझे ते तब जानो।
यह मोहिनी कहाँ ते आई, परम सलोनी नारि ?
'सूर' स्याम देखत मुसुकाने, करी चतुरई भारि ॥१९॥

इनते निधरक और न कोई ;
कैसी बुद्धि रची है नोखी, देखी-सुनी न होई।
यहि राधा सों हाथ बिधाता, बुद्धि चतुरई आनो ;
कैसे स्याम चुराइ चली लै, अपने भूषन ठानी।
और कहा इनको पहिचानै, मोपै लखे न जात ;
'सूर' स्याम चंद्रावलि जाने, मन-ही-मन मुसुकात ॥२०॥

हरि परदेस बहुत दिन लाए ;
कारी घटा देखि बादर की नैन नीर भरि आए।
बीर बटाऊ पंथी हो तुम, कौन देस ते आए ?
यह पाती हमरो ले दीजो, जहाँ साँवरे छाए।
दादुर, मोर, परीहा बोलत, सोवत मदन जगाए ;
'सूरदास' गोकुल ते बिछुरे, आपुन भए पराए ॥२१॥

किते दिन हरि-दरसन बिन बीते ;
एकौ फुरत न स्यामसुँदर बिन, बिरह सबै सुख जीते।
मदनगोपाल बैठि कंचन-रथ, चितइ किए तनु रीते ;
सुफलक-सुत लै गए दगा दै, प्रानन हीं के प्रीते।
बहुरि कृपालु घोष कब आवहिं, मोहन राम समीते ?
'सूरदास' प्रभु बहुरि कृपा करि, मिलहु सुदामा मीते ॥२२॥

जनि चालहि अलि, बात पराई ;
नहिं कोउ सुनै, न समुझत ब्रज में, नइ कीरति सब जात हिराई ।
जाने समाचार, सुख पाए, मिलि कुल की आरति बिसराई ;
भले ठौर बसि भली भई मति, भले ठौर पहिचान कराई ।
मीठी कथा कटुक-सी लागति, उपजत है उपदेस खटाई ;
उलटे न्याउ सूर के प्रभु के बहे जात माँगत उतराई ॥२३॥

हरि हैं राजनीति पढ़ि आए ;
समुझी बात कहत मधुकर सों, समाचार सब पाए ।
पहिले ही अति चतुर हुते, अरु गुरु सब ग्रंथ दिखाए ;
बाढ़ी बुद्धि, कहत जुवतिन को, जोग-सँदेस पठाए ।
आगे हूँ के लोग भले हो, पर-हित डोलत धाए ;
अब अपने मन फेरि पाइहैं, चलत जो होहिं पराए ।
ते क्यों नीति करैं आपुन, जिन औरन अपथ छुड़ाए ?
राज-धर्म सुनि इहै 'सूर' जिहि, प्रजा न जाहिं सताए ॥२४॥

ऊधो हरि यह कहा बिचारी ?
सदा समीप रहत बृंदावन, करत बिहार बिहारी ।
एक तौ रंग रचे कुबिजा के, बिसरि गए सब नारी ;
कछु इक मंत्र कियो उन दासी, तेहि बिनोद अधिकारी ।
दिन दस और रहौ तुम इतहीं, देखौ दसा बिचारी ;
प्रान रहत हैं आसा लागे, कब आवैं गिरिधारी ।
तुम तौ कहत जोग है नीको, कहो, कौन बिधि कीजै ?
हम तन ध्यान नंद-नंदन को निरखि-निरखि सो जीजै ॥२५॥

सुंदर स्याम-कंठ बैजंती, माथे मुकुट बिराजै ;
कमल-नैन, मकराकृत कुंडल, देखत ही भव भाजै ।
याते जोग न आवै मन में, तू नीके करि राखि ;
'सूरदास' स्वामी के आगे निगम पुकारत साखि ॥२६॥

अनुभव-सागर, रसिक-वर, भाषा-भानु विशाल ;
करत छंद-रचना लखो, देव सकल-गुन-आल ।

महाकवि देवदत्त (देव)

देवदत्त, उपनाम 'देव', का जन्म सं० १७३० वि० में हुआ। इन्होंने स्वयं अपने ग्रंथ भावविलास के अंत में, निम्न-लिखित दोहे में, अपना समय कहा है—

> सुभ सत्रह सै छियालिस, चढ़त सोरहीं बर्ष ;
> कढ़ी देव-मुख देवता, 'भावबिलास' सहर्ष।

देवजी ने अपने ग्रंथों में सन्-संवत् का ब्योरा बहुत कम दिया है, और अपने विषय में तो प्रायः कुछ भी नहीं कहा। इन कारणों से इनके विषय में बहुत कम बातें ज्ञात हैं। इन्होंने कहा है—

> द्योसरिया कबि देव को नगर इटायो बास।

इससे विदित होता है कि देवजी कान्यकुब्ज-ब्राह्मण एवं इटावा नगर के रहनेवाले थे। इटावे में हमने पूछ-जाँच की, तो विदित हुआ कि यह द्योसरिया (दुसरिहा) कान्यकुब्ज-ब्राह्मण थे, और पंसारी-टोला, बलालपुरा (शहर इटावा) में रहते थे। इनके वंशधर इटावे से प्रायः ३२ मील पर, मौज़ा कुसमरा (मैनपुरी) में, अब तक मौजूद हैं। इन्हीं लोगों के द्वारा देवजी का वंश-वृत्त एवं इनके
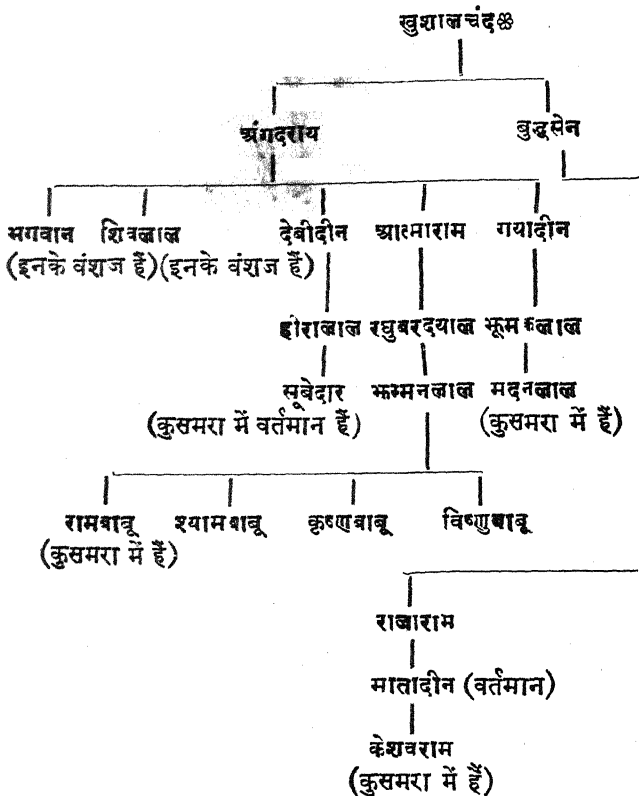
शिवसिंहसरोज में इनका निवास-स्थान समाने-गाँव में माना गया है। यह ग्राम ज़िला मैनपुरी में है। यह कथन उपर्युक्त प्रमाणों के आगे माननीय नहीं जान पड़ता। देवजी हितहरिवंश स्वामी के संप्रदायवाले बारह शिष्यों में मुख्य थे। यह महाशय ऐसी अद्भुत कवित्व-शक्ति से संपन्न थे कि इन्होंने केवल सोलह वर्षों की बाल्यावस्था में ही भावविलास-जैसा ग्रंथ बनाकर तैयार कर दिया। इतनी

प्रतिभा होने पर भी भाग्य ऐसा कुछ मंद था कि इनका अच्छा आदर कहीं नहीं हुआ। यह महाराज बड़े और छोटे, सभी प्रकार के मनुष्यों के यहाँ पहुँचे, परंतु सिवा भोगीलाल के और किसी श्रीमान् ने इन्हें संतुष्ट न किया। यह स्वयं कहते हैं—

ऐसो हौं जु जानतो कि जैहै तू बिषै के संग,
ऐरे मन मेरे, हाथ-पाँय तेरे तोरतो ;
आजु लगि कत नरनाहन की 'नाहीं' सुनि,
नेह सों निहारि हेरि, बदन निहोरतो।
चलन न देतो 'देव' चंचल, अचल करि,
चाबुक-चितावनीन मारि मुँह मोरतो ;
भारो प्रेम-पाथर, नगारो दै, गरे मैं बाँधि,
राधा-बर-बिरद के बारिधि में बोरतो।

देवजी ने 'भावविलास' और 'अष्टयाम' बनाकर पहलेपहल बादशाह औरंगज़ेब के बड़े पुत्र आज़मशाह को जाकर सुनाए। इन्होंने भावविलास में लिखा है—

दिल्ली-पति नवरंग के आजमसाहि सपूत ;
सुन्यो, सराह्यो ग्रंथ यह अष्टयाम-संजूत।

आज़मशाह हिंदी के प्रेमी थे। फिर भी उन्होंने देव का ऐसा सम्मान न किया कि इनको औरों का मुख न देखना पड़ता।

इसके पीछे देव ने भवानीदत्त वैश्य के नाम पर 'भवानीविलास' ग्रंथ बनाया, और फफूँद, ज़िला इटावा के कुशलसिंह के नाम पर 'कुशलविलास' की रचना की। तदनंतर मरदनसिंह के पुत्र राजा उद्योतसिंह बैस के वास्ते प्रेमचंद्रिका-ग्रंथ बनाया। इनकी भी देव ने अधिक प्रशंसा नहीं की। इससे विदित होता है कि इनके यहाँ भी उनका यथेष्ट आदर नहीं हुआ। इस समय देवजी अच्छे गुणज्ञ की खोज में, अथवा तीर्थ-यात्रा के लिये, या चाहे और ही किसी

कारण से हो, देश-भर में बराबर घूमते रहे। यह महाराज जहाँ गए, वहाँ के मनुष्यों की चाल-ढाल, रीतियों और अन्यान्य दर्शनीय पदार्थों पर पूरा ध्यान देते रहे। जान पड़ता है, इन्होंने काश्मीर, पंजाब, बंगाल, उड़ीसा, मदरास, बंबई, गुजरात, राजपूताना, बरार आदि सब देशों को घूम-घूमकर देखा। इन महाकवि ने अपने भ्रमण द्वारा प्राप्त अपूर्व ज्ञान को वृथा नहीं खोया, वरन् अपनी रचनाओं में स्थान-स्थान पर उसका उपयोग किया है। 'जाति-विलास'-नामक ग्रंथ रचकर इन्होंने सब देशों की स्त्रियों का बड़ा ही सच्चा वर्णन किया। इन्होंने नायिकाओं के देश-भेद में इन देशों की स्त्रियों का पृथक् पृथक् वर्णन किया है—अंतर्वेद, मगध, कोशल, पटना, उड़ीसा, कलिंग, कामरूप, बंगाल, वृंदावन, मालवा, अभीर, बरार, कोकनद, केरल (इसमें अब मलाबार, कोचीन और ट्रावनकोर भी शामिल हैं), द्राविड़ (तंजोर), तिलंग, कर्नाटक, सिंध, मरु, गुजरात, कुरु, काबोर, पर्वत, भूटान, काश्मीर और सौवीर। इन महाकवि ने इन सब देशों की स्त्रियों का ऐसा सच्चा वर्णन किया है कि जान पड़ता है, ये वहाँ गए अवश्य थे। इस समय इनका कोई भी आश्रय-दाता न था, यहाँ तक कि इन्होंने 'जाति-विलास' किसी को भी समर्पित नहीं किया।

इस प्रकार घूमते-घामते देव को एक गुणज्ञ भी मिल ही गया। वह राजा भोगीलाल थे। जैसा बढ़िया वर्णन आपने इनका किया है, वैसा किसी भी अन्य आश्रय-दाता का नहीं किया। इन्होंने, सं० १७८३ में, इन्हीं के वास्ते 'रस-विलास'-नामक ग्रंथ बनाया। इन गुणज्ञ को पाकर देव ने अपने पुराने आश्रय-दाताओं को केवल भुला ही नहीं दिया, प्रत्युत छोड़ भी दिया। वह लिखते हैं—

पावस-घन चातक तजै चाहि स्वाँति-जल-बिंदु ;
कुमुद मुदित नहिं मुदित-मन, जौ लौं उदित न इंदु।

देव सुकबि ताते तजे राइ, रान, सुलतान ;
रसबिलास सुनि रीझिहैं भोगीलाल सुजान।
भूलि गयो भोज, बलि, बिक्रम बिसरि गए,
जाके आगे और तन दौरत न दीदे हैं ;
राजा, राइ, राने, उमराइ उनमाने,
उन माने निज गुन के गरब गिरबीदे हैं।
सुबस बजाज जाके सौदागर सुकबि,
चलेई आवैं दसहू दिसान के उनीदे हैं ;
भोगीलाल भूप लाख-पाखर लिवैया, जिन
लाखन खरच-रचि आखर खरीदे हैं।

इन छंदों से जान पड़ता है कि भोगीलाल बड़े गुणज्ञ थे, उनके यहाँ बहुत-से कवि आते थे, और उन्होंने देव को पूर्ण रूप से संतुष्ट किया था। परंतु देव का भाग्य ऐसा कहाँ था कि वह इनको कल से एक स्थान पर बैठने देता? जान पड़ता है, या तो भोगीलाल का शरीर-पात हो गया, या देवजी से उनसे कुछ अनबन हो गई। जिस समय इन्होंने अपना प्रधान ग्रंथ 'शब्द-रसायन' बनाया, उस समय इनका कोई भी आश्रय-दाता न था। अतः इन्होंने शब्द-रसायन भी किसी को नहीं अर्पित किया। इसके पीछे देवजी ने अपनी समस्त कविता का संग्रह-स्वरूप 'सुखसागर-तरंग-संग्रह'-नामक ग्रंथ बनाया, और उसे पिहानी के अकबरअलीख़ाँ को समर्पित किया। अकबरअली का समय सं० १८२४ है। इससे देवजी का ८४ वर्ष जीना सिद्ध होता है। देव ने 'भाव-विलास' और 'रस-विलास' के सिवा और किसी ग्रंथ में सन्-संवत् का ब्योरा नहीं दिया है। शेष ग्रंथों का समय उनकी कविता की प्रौढ़ता एवं अन्य गुणों से यहाँ क्रम-बद्ध किया गया है। देव के स्वर्ग-वास का क्या समय था, इस बात का अभी ठीक पता नहीं लगा। कोई कहता है,

इन्होंने ७२ ग्रंथ बनाए, और कोई इन्हें ५२ ग्रंथों का रचयिता बतलाता है। हम इतना अवश्य कहेंगे कि यदि इन्होंने ५२ ग्रंथ बनाए हों, तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि यह महाशय नए ग्रंथों में भी प्रायः वही छंद इधर-उधर उलट-पलटकर रख देते थे। 'जाति-विलास' और 'रसविलास' में बहुत ही कम अंतर है। इनका चाहे जो ग्रंथ उठा लीजिए, और देखिए, तो ज्ञात होगा कि इनके सर्व-श्रेष्ठ छंद प्रायः सभी ग्रंथों में हैं। इन बातों से विदित होता है कि नया ग्रंथ बनाने में इन्हें बहुत समय नहीं लगता था। इन्होंने 'नीतिशतक' और 'वैराग्यशतक' भी बनाए हैं। जान पड़ता है, जब ५३ वर्ष की अवस्था में इन्होंने 'रसविलास' समाप्त किया, तब 'शब्द-रसायन' और 'सुखसागर-तरंग' आदि बनाने का विचार उठा। फिर सत्तर वर्ष की अवस्था के लगभग इन्होंने 'वैराग्यशतक' बनाया होगा। समझ पड़ता है कि इन्होंने रामचरित्र पर भी कोई ग्रंथ अवश्य लिखा होगा, क्योंकि इस विषय पर इनके बहुत-से छंद मिलते हैं। इन अपूर्व ग्रंथों की रचना करके पूर्णायु भोगने के पश्चात् और संसार के माया-जाल से विरक्त होने के पीछे सं० १८२४ के बाद इस महाकवि का देहावसान होना सिद्ध है।

हमने देव के चौदह ग्रथ देखे हैं। उन्हीं की समालोचना भी नीचे लिखते हैं। शोक का विषय है कि जहाँ तक हमें ज्ञात है, आपके केवल ये ही ग्रंथ मुद्रित हुए हैं—'भावविलास', 'अष्टयाम', 'भवानी-विलास', 'रसविलास' और 'सुखसागर-तरंग'। हाल में हमने 'सुजान-चरित्र', 'राग-रत्नाकर' और 'प्रेम-चंद्रिका'-नामक इनके ग्रंथ भी देव-ग्रंथावली में छपवाए हैं। 'देवशतक' जयपुर से प्रकाशित हो गया है, जिसमेंजगदर्शनपचीसी, आत्मदर्शनपचीसी, तत्त्वदर्शनपचीसी और प्रेम-पचीसी हैं। इनके अतिरिक्त भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र द्वारा संगृहीत सुंदरी-सिंदूर-नामक (देव के काव्य का) एक संग्रह भी छापा गया

है। इनका संस्कृत में नायिका-भेद का एक छोटा-सा ग्रंथ छपा हुआ नागरी-प्रचारिणी सभा में रक्खा है। (इनका) एक शिवाष्टक हाल में माधुरी में छपा है। सं० १९९२ में इनकी रचना का संग्रह देव-सुधा के नाम से हमने छपवाया, जिसमें २७१ छंद हैं।

(१) भाव-विलास। यह देव का प्रथम ग्रंथ है। इन्होंने इसे केवल सोलह वर्ष की अवस्था में बनाया, परंतु इनकी प्रौढ़ कविता में जो गुण देख पड़ते हैं, वे सब इस बाल्य-कविता में भी पाए जाते हैं। रसविलास तिरपन वर्ष की अवस्था में बना, और यद्यपि इन दोनो में अंतर अवश्य है, तथापि इतना अधिक नहीं, जितना होना उचित था। इससे संदेह होता है कि देव ने इस ग्रंथ के निकम्मे छंद निकालकर उनके स्थान में पीछे से बने हुए उत्कृष्ट छंद रख दिए हैं। तो भी ऐसी बाल्यावस्था में ऐसा बढ़िया ग्रंथ बनाना इन्हीं का काम था। इन्होंने इस ग्रंथ में लिखा है—

कवि देवदत्त शृंगार-रस सकल भाव-संयुत सच्यो;
सब नायिकादि-नायक-सहित अलंकार-बरनन रच्यो।

इन्होंने और कवियों की भाँति छ प्रकार के भाव कहे हैं। देव भी मरणावस्था का वर्णन न करके उसके स्थान पर मूर्च्छा का कथन कर देते हैं। भरतादि आचार्यों ने तैंतीस संचारी भाव माने हैं, परंतु देव ने चौंतीसवाँ 'छल' भी कहा है। इस ग्रंथ में प्रेम का निम्न-लिखित लक्षण दिया गया है—

सुख-दुख मैं है एकसम, तन-मन-बचननि प्रीति;
सहज बढ़ै हित चित नयो, जहाँ सु प्रेम प्रतीति।

देव ने दो प्रकाशों में भाव का वर्णन करके तृतीय में रस का कथन किया है। इन्होंने अलौकिक और लौकिक, दो प्रकार के रस कहे हैं। अलौकिक रस तीन प्रकार का कहा है—स्वप्न, मनोरथ और उपनायक। इन्होंने भी लौकिक रस नव प्रकार का

कहा है; यथा—शृंगार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, बीभत्स, अद्‌भुत और शांत। इनमें से नाटक में केवल प्रथम आठ रहते हैं, और काव्य में पूरे नव।

शृंगार दो प्रकार का होता है—संयोग और वियोग। दोनों दो-दो प्रकार के होते हैं—प्रच्छन्न और प्रकाश। यह कहकर देवजी ने संयोग के दस हावों और वियोग की दस दशाओं का वर्णन किया है। इन्होंने नायकों के चार और नायिकाओं के ३८४ भेद माने हैं। यौवन का निम्न-लिखित लक्षण दिया है—

बालापन को भेदिकै छवि को अंकुर होय;
जग मोहै, दिन-दिन बढ़ै, जोबन कहिए सोय।

देवजी के मत में कविता और कामिनी अलंकार पहनने से उत्कृष्टतर देख पड़ती हैं। अतः यह महाशय प्रायः सालंकार नायिका का वर्णन करते हैं—

कविता, कामिनि, सुखद पद, सुबरन, सरस, सुजाति;
अलंकार पहिरे, बिसद, अदभुत रूप लखाति।

देव कहते हैं कि पुरातन आचार्यों की रीति से केवल ३९ अलंकार मुख्य हैं। उन्हीं का यह वर्णन करते हैं।

भावविलास एक बड़ा ही रोचक ग्रंथ है। आश्चर्य है कि एक सोलह वर्ष का बालक ऐसा विशद ग्रंथ बनाने में कैसे समर्थ हुआ! यह ग्रंथ भाषा के किसी भी रीति-ग्रंथ से कविता के गुणों में न्यून नहीं है।

(२) अष्टयाम। यह देव का द्वितीय ग्रंथ है। प्रायः कविजन षट्-ऋतुओं का विवरण देते हैं। देवजी ने उससे भी आगे बढ़कर दिन के प्रत्येक प्रहर और घड़ी का वर्णन कर दिखाया है। यह ग्रंथ भी भाव-विलास के साथ ही बना। जान पड़ता है, इसमें पीछे से कोई छंद नहीं मिलाए गए हैं, सो यह भावविलास से कुछ हीन

है, परंतु, तो भी, इसमें देव की वही मनभावनी छटा वर्तमान है। इतनी प्रगाढ़ शक्ति इन्हीं महाराज में थी कि केवल दिन-रात के वर्णन में उत्कृष्ट ग्रंथ बनाकर तैयार कर दिया। कुछ अन्य वैष्णव कवियों ने भी अष्टयाम कहे हैं, किंतु वे ग्रंथ देव-कृत अष्टयाम की समता नहीं कर पाते।

इन्होंने भाव-विलास और अष्टयाम (आज़मशाह, औरंगज़ेब के पुत्र) को पढ़कर सुनाए, और उन्होंने इन दोनो ग्रंथों की प्रशंसा की। वास्तव में ये ग्रंथ बहुत प्रशंसनीय हैं।

(३) भवानी-विलास। यह ग्रंथ भवानीदास-नामक एक वैश्य महाशय के नाम पर बनाया गया। इसमें रस-वर्णन है। इसकी कविता भाव-विलास से प्रौढ़ है। उपर्युक्त तीनो ग्रंथ काशी में, बाबू रामकृष्ण वर्मा के यहाँ, भारत-जीवन-प्रेस मे प्रकाशित हुएथे।

(४) सुंदरी-सिंदूर। यह देव का कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं, बल्कि भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र द्वारा संकलित, देव के चुने हुए, १११ छंदों का बड़ा ही चित्ताकर्षक संग्रह है। इसमें प्रथम पदार्थ-निर्णय है, उसके पीछे रस-वर्णन। फिर उपमा आदि कही गई हैं। इसमें पूर्ण रूप से कोई प्रबंध नहीं है, परंतु छंद बड़े ही मनोहर हैं।

(५) सुजानविनोद। यह पंडित युगलकिशोर के पुस्तकालय में वर्तमान है। इसमें प्रेमचंद्रिका की भाँति प्रेम का सूक्ष्म वर्णन किया गया है, जो श्रेष्ठ है। इनके मतानुसार जप या तप उतना श्रेष्ठ नहीं है, जितना प्रेम। देव ने इस ग्रंथ में सूक्ष्मतया दो-चार छंदों में उद्धव के विषय का वर्णन करके नायिका-भेद कहा है। अंत में षट्-ऋतुएँ कहकर इसे समाप्त कर दिया है। यह षट्-ऋतु-वर्णन बहुत अच्छा है। यह ग्रंथ उत्तमता तथा आकार में भवानी-विलास के समान है। इसके नाम से भ्रम होता है कि यह सुजान-

नामक किसी व्यक्ति के वास्ते बनाया गया होगा, परंतु ग्रंथ में किसी सुजान का नाम तक नहीं आया। अतः जान पड़ता है, यहाँ सुजान से विज्ञ मनुष्य का तात्पर्य है। देव का कथन है कि प्रेमी जन विषयासक्त मनुष्यों को परम नीच मानकर विषय वासनाओं से इतर शुद्ध प्रेम की उपासना करके ब्रह्मानंद को प्राप्त होते हैं। आपके सिद्धांत बहुत ऊँचे हैं।

(६) प्रेम-तरंग। यह भी हमने पंडित युगलकिशोर मिश्र के पुस्तकालय में देखा है। इसके केवल तीन अध्याय वहाँ हैं। इसमें बड़े विस्तार के साथ नायिका-भेद का वर्णन है। इन तीन अध्यायों में क़रीब दो सै के छंद हैं। इस ग्रंथ का आकार शब्द-रसायन के बराबर होना संभव है। इसमें भी देवजी ने परकीया और सामान्या के संपर्क को बहुत निंदित माना है--

प्रगट भए परकीय अरु सामान्या को संग ;
धरम-हानि, धन-हानि, सुख थोरो, दुःख इकंग।
उत्तम रस शृंगार की स्वकिया मुख्य अधार ;
ताको पति नायक कह्यो, सुख-संपति को सार।

यह एक परम मनोहर ग्रंथ है, और इसकी कविता बहुत प्रशंसनीय।

(७) राग-रत्नाकर। यह एक बड़ा ही श्रेष्ठ ग्रंथ है। इसमें देव ने रागों का वर्णन किया है। इसमें केवल दो अध्याय हैं। इसके विषय का सूक्ष्म वर्णन नीचे लिखा जाता है—

षड्ज, रिषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद नाम के सात स्वर होते हैं। मुख्य राग छ हैं—भैरव, मालकौस, हिंडोल, दीपक, श्री और मेघ। इन सबमें दीपक रागों का राजा है। प्रत्येक राग की पाँच-पाँच भार्याएँ हैं ; यथा—भैरव की भैरवी, बरारी, मधुमाधवी, सिंधवी और बंगाली ; मालकौस

की टोड़ी, गौरी, गुणकरी, खंभावती और कुकुभ ; हिंडोल की रामकली, देसाख, ललित, बिलावल और पटमंजरी ; दीपक की देसी, कामोद, नट, केदारा और कान्हरो ; श्री की मालसिरी, मारू, धनाश्री, बसंत और आसावरो ; तथा मेघ की मलारी, गूजरी, भूपाली, देशकारी और टंक। द्वितीय अध्याय बहुत ही छोटा है, और उसमें थोड़े-से उपरागों का स्वरूप वर्णन हुआ है।

रागों और रागिनियों के रूप तथा उनके विषय में अन्य जानने-योग्य बातें देवजी ने एक-एक छंद में बहुत ही श्लाध्य रीति से दिखा दी हैं। उदाहरणार्थ दीपक का छंद यहाँ लिखा जाता है—

सूरज के उदै, तूरज राव, चढ़ो गजराज, प्रभा परिबेख्यो ;
दूसरो सूरज, सूरज-जोति, किरीट ज्यों सूरज भूषन भेख्यो।
कामिनी संग, सुरंग मैं प्यो धनी, ग्रीषम द्योस, मध्यान्ह बिसेख्यो ;
दीपन दीप ज्यों दीपत दीपक, रागु-महीपति दीप ज्यों देख्यो।

'रंग मैं प्यो धनी' से रिषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद को समझना चाहिए। इस स्थान पर दीपक का स्वरूप, गाने का उचित समय, साथ के वाद्य, सवारी, भूषण, स्वर-लक्षण आदि का पूरा वर्णन एक ही छंद में कर दिया गया है। छंद भी बहुत ही मनोहर है।

रागिनियों के उदाहरण-स्वरूप बसंती का वर्णन नीचे लिखा जाता है—

साँवरी, सुंदरी, पीन दुकूलनि, फूल रसाल के मूल लसंती ;
लीन्हे रसाल कि मंजरी हाथ, सुरंगित आँगी हिये हुलसंती।
पूरन प्रेम, सुरंग मैं प्यो धनी, संग-ही-संग बिलोल हसंती ;
है उत है उत ही दिन माँझ, समौ करि राख्यो बसंत, बसंती।

इसमें भी उपर्युक्त बातों का कथन किया गया है। यह देव का ही काम था कि ऐसे-ऐसे उत्कृष्ट छंदों द्वारा राग-रागिनियों का सांगोपांग वर्णन कर दिया। यह भी इनका बड़ा ही विशद ग्रंथ

है। इसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ा है। इस ग्रंथ से विदित होता है कि वह रागों के भी ज्ञाता थे।

(८) कुशल-विलास। यह तिरासी बड़े-बड़े पृष्ठों का एक प्रकृष्ट ग्रंथ है। इसमें नव अध्यायों द्वारा नायिका-भेद वर्णित है। यह फफूँद, ज़िला इटावा के निवासी, शुभकरन के पुत्र, कुशलसिंह सेंगर के नाम पर बना। इसमें कुशलसिंह की साधारण बड़ाई है, जिससे जान पड़ता है कि यहाँ भी कवि का साधारण ही मान हुआ। इसके नवों अध्यायों में क्रमशः भाव-भेद 'स्वकीया-रति-निरूपण, स्वकीयादि-स्वरूप, मुग्धा के १३ भेद, मुग्धादिक-स्वरूप, मुग्धा का पूर्वानुराग, मध्या की दस अवस्था, दस हाव, तीन मान और धीरादि-भेद वर्णित हैं। इसमें अपने सिद्धांत के दो दोहे इन्होंने कहे हैं—

भूलि कहत नव रस सुकबि सकल-मूल सिंगार;
जो संपति दंपतिनु की, जाको जग बिस्तार।
होति अनूढ़ा रस-बिबस, नवल छैल-छबि देखि;
ऊढ़ा गूढ़ बिमूढ़-मन प्रेमारूढ़ बिसेखि।

उत्तमता में यह ग्रंथ भवानी-बिलास के बराबर है। देव की कविता के सब गुण इसमें भी मौजूद हैं। यहाँ उदाहरणार्थ केवल एक छंद लिखते हैं—

अंब-कुल, बकुल, कदंब, मल्ली, मालती,
मलैजन को मींजि कै, गुलाबन की गली ह्वै;
कौ गनैं अलप-तरु, जीत्यो जो कलपतरु,
तासों बिकलप क्यों, बिकल मति अली ह्वै।
चित्त जाके जाय चढ़ि चंपक चपायो कोन,
मोचि सुख सोचि हौं सकुच चुप चली ह्वै;
कंचन बिचारे रुचि पाई चारु पंचन मैं,
चंपा-बरनी के गरे परयो चंपकली ह्वै।

(६) देव-चरित्र। यह ४४ बड़े पृष्ठों का ग्रंथ है। इसमें श्रीकृष्णचंद्र के ऐतिहासिक चरित्र, कंस-वध-पर्यंत कुछ विस्तार से और शेष बहुत सूक्ष्मतया, कहे गए हैं। इसमें सब लीलाएँ थोड़े में, अत्यंत उत्तमता के साथ, कही गई हैं, और वर्णन सवैयों तथा घनाक्षरियों में हुआ है। यह बड़ा ही मनोहर ग्रंथ है। इसमें इन महाकवि ने ऐतिहासिक वर्णन की शक्ति ख़ासी प्रकट कर दी है। कालिय नाग को नाथने और गोवर्द्धन-धारण की लीलाएँ विशेष श्लाघ्य हैं। इस ग्रंथ में गोपियों के रास और उद्धव-संदेश का अच्छा वर्णन नहीं किया गया, न उनके विस्तार का कुछ भी प्रयत्न हुआ है। उत्तमता में यह ग्रंथ भी भवानी-विलास के समान है।

फैलि-फैलि, फूलि-फूलि, फलि-फलि, हूलि-हूलि,
लपकि-झपकि आईं कुंजैं चहुँ कोद ते;
हिलि-मिलि हेलिनु सों केलिनु करन गईं,
बेलिनु विलोकि बधू ब्रज की बिनोद ते।
नंदजू की पौंरि पर ठाढ़े हे रसिक 'देव',
मोहनजू मोहि लीन्ही मोहनी सु मोद ते;
गाथनि सुनत भूलीं साथनि की, फूल गिरे
हाथनि के हाथनि ते, गोदनि के गोद ते।

मेरे गिरिधारी गिरि धरयो धरि धीरजु,
अधीर जनि होहि अंगु लचकि-लुरकि जाय;
लाड़िले कन्हैया, बलि गई बलि मैया,
बोलि ल्याऊँ, बल-भैया, आय उर पै उरकि जाय।
टेकि रहि नेक जौलौं हाथ न पिराय देखि,
साधु सँगु रीते अँगुरी ते न बुरकि जाय;
परयो ब्रज-बैर बैरी बारिद-बाहन बारि,
बाहन के बोझ हरि-बाँह न मुरकि जाय।

(१०) प्रेमचंद्रिका । यह ग्रंथ मरदनसिंहात्मज राजा उद्योत-सिंह बैस के वास्ते रचा गया। इसमें प्रथम श्रृंगार-रस के दो छंद कहकर कवि ने राधा-कृष्ण की वंदना की है । इसमें प्रेम का वर्णन इस छंद में किया गया है—

जाके मद मात्यो ना उमात्यो कहुँ कोऊ जहाँ,
बूड़्यो उछल्यो ना तर्‌यो सोभा-सिंधु सामुहै ;
पीवत ही जाहि कोई मार्‌यो सो अमर भयो,
बौरान्यो जगत जान्यो, मान्यो सुखधामु है।
चख के चखक भरि चाखत ही जाहि, फिरि,
चाख्यो ना पियूख, कछु ऐसो अभिरामु है ;
दंपति-सरूप ब्रज औतर्‌यो अनूप, सोई,
'देव' कियो देखि प्रेम-रस प्रेम नामु है।

देव के मतानुसार सब रसों में श्रृंगार-रस मुख्य है। तल्लीनता की विशेषता से मुख्य प्रेम मुग्धाओं में होता है। मध्या में कभी-कभी कलह होने से उसका प्रेम कलुषित होता है, और प्रौढ़ा में रोष-गर्वादि अधिक होते हैं। अतः उसमें उत्तम प्रेम नहीं मिलता। प्रेम पाँच प्रकार का होता है—सानुराग, सौहार्द, भक्ति, वात्सल्य और कार्पण्य। सानुराग प्रेम श्रृंगारमय है। इस श्रृंगार के दो भेद हैं—संयोग और वियोग। ये भी गूढ़ और अगूढ़ के भेदों से दो-दो प्रकार के होते हैं। वियोग-श्रृंगार चार प्रकार का है—पूर्वानुराग, करुण, मान और प्रवास। तीन प्रकार की नायिकाओं में से स्वकीया और परकीया में प्रेम है, गणिका में नहीं, अतः उसमें श्रृंगाराभास हो जाता है। इन्हीं के पति उपपति और व्यसनी नायक हैं, जिनमें क्रम से प्रेम, सुख, दुःख तथा दुर्वासना प्रधान हैं।

पूर्वानुराग स्वकीया और परकीया मुग्धाओं में होता है। उसकी

उत्पत्ति श्रवण, दर्शन तथा स्मरण से है। इसी के अनंतर अभिलाष आदि दस दशाएँ मिलती हैं। पहले श्रवण, दर्शन, स्मरण एवं विरह के द्वारा पूर्वानुराग होता है। तब अभिलाष आदि दस दशाएँ उत्पन्न होती हैं। उनके पीछे संयोग है। शृंगार की मुख्य पात्र शुद्ध-स्वकीया है। उसमें भी मुग्धा विशेष है। परकीया के विषय में देवजी का यह मत है—

परकीया उपपति-बिरह होति प्रेम-आधीन ;
पति संपति तन बिपति मैं दौरि परै पन पीन।
पर-रस चाहै परकिया, तजै आपु गुन-गोत ;
आपु औटि खोवा मिलै, खात दूध फल होत।
काची प्रीति कुचालि की, बिना नेह-रस-रीति ;
मार-रंग मारू-मही बारू की-सी भीति।

इन कविरत्न ने प्रेम के तत्त्व, गंभीरता, महत्त्व, निःस्वार्थ भाव, तल्लीनता, चाह आदि के परमोत्कृष्ट चित्र खींचे हैं। प्रेमी जन प्रेम पात्र के लिये समस्त संसार को कैसे और क्यों तृणवत् छोड़ देते हैं, इसका प्रत्यक्ष वर्णन वहाँ प्रस्तुत है। देव ने विषयानंद को तुच्छ कहकर ऊँचे प्रेम का वर्णन किया है। विषय-जन्य प्रेम को आप फीका और पोच समझते थे। शृंगार का प्राधान्य रखकर भी आपने अपनी रचना में विषय-जन्य प्रेम का कथन कम किया है।

इसके पीछे प्रेमचंद्रिका में स्वकीया, मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा तथा परकीया का प्रेम वर्णन किया गया है। परकीया के वर्णन में बड़े ही मनोहर छंद हैं। देवजी ने यह सब कहकर इस ग्रंथ के मुख्य विषय—गोपियों के प्रेम—का कथन किया है। यह विवरण देखते ही बनता है। इसके पीछे आपने भक्ति का वर्णन आरंभ किया है। उसमें प्रथम गोपियों का रास कहा है, तत्पश्चात् दो-चार भक्तों की दशा पर दो-

दो, एक-एक छंद कहकर ग्रंथ समाप्त कर दिया है। यह बड़ा ही सुंदर ग्रंथ है। इसमें हृदय को लुब्ध करनेवाले कितने ही बड़े-बड़े मनोहर और चटकीले छंद हैं। उद्धव का वार्तालाप इस ग्रंथ का मुख्य अंश है, और वही इसका सर्वोत्कृष्ट भाग भी है। इसमें पुराने आचार्यों के ढर्रे पर न चलकर देवजी ने एक अनोखा प्रबंध बाँधा है। उन्होंने प्रेम-संबंधी अपने अपूर्व अनुभवों का निचोड़, अपने खास ढंग से, इसमें भर दिया है। जितनी आँच की बातें देवजी के इस छोटे-से ग्रंथ में पाई जाती हैं, उतनी इनके किसी दूसरे ग्रंथ में नहीं मिलतीं। यह इनका सर्वप्रिय विषय और सर्वप्रिय ग्रंथ है। इन्होंने मानो बाह्याडंबर को छोड़कर इसमें पाठकों को अपना हृदय दिखा दिया है। देवजी की अगाढ़ कवित्व-शक्ति एवं रसियापन जातिविलास, रसविलास और प्रेमचंद्रिका से ही पूर्ण प्रकट होता है। काव्य-रसायन में ये बातें उतनी अधिकता से नहीं हैं, यद्यपि उसमें भी इन सबकी झलक देख पड़ती है। काव्य-रसायन में देवजी ने आचार्यता दिखाई है। प्रेमचंद्रिका के उदाहरण-स्वरूप हम दो छंद नीचे देते हैं—

कोऊ कहौ कुलटा, कुलीन, अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि, कलंकिनि, कुनारी हौं;
कैसो नर-लोक, परलोक, बर-लोकन मैं,
लीन्हीं मैं अलीक, लोक-लीकन ते न्यारी हौं।
तन जाउ, मन जाउ, 'देव' गुरुजन जाउ,
प्रान किन जाउ, टेक टरति न टारी हौं;
बृंदाबन-वारी बनवारी की मुकुट-वारी,
पीत-पटवारी वहि मूरति पै वारी हौं॥ १॥

बोरयो बंसु-बिरद मैं, बौरी भई बरजत
मेरे बार-बार बीर कोई पास पैठौ जनि;

सिगरी सयानी तुम, बिगरी अकेली हौंही,
गोहन मैं छाँड़ौं, मोसों भौंहनि उमैठौ जनि ।
कुलटा कलंकिनी हौं, कायर, कुमति, कूर,
काहू के न काम की, निकाम, याते ऐंठौ जनि ;
'देव' तहाँ बैठियत, जहाँ बुद्धि बढ़ै, हौं तौ
बैठी हौं बिकल, कोऊ मोहिं मिलि बैठौ जनि ॥ २ ॥

(११) जाति-विलास । इस ग्रंथ की वंदना बड़ी ही विशद है ।

पाँयनि नूपुर मंजु बजैं, कटि किंकिन मैं धुनि की मधुराई ;
साँवरे-अंग लसै पट-पीत, हिए हुलसै बनमाल सुहाई ।
माथे किरीट, बड़े दृग चंचल, मंद हँसी मुखचंद जुन्हाई ;
जै जग-मंदिर-दीपक, सुंदर श्रीब्रज-दूलह 'देव' सहाई ।

इसमें सबसे प्रथम जाति-भेद कहा गया है । फिर अष्टांगवती नायिका है । तदनंतर भारतवर्ष के समस्त देशों की वधुओं का वर्णन आरंभ हुआ है । हमारी कापी में केरल-वधू तक का वर्णन लिखा है । उसके आगे पुस्तक अपूर्ण है । यह ग्रंथ अभी प्रकाशित नहीं हुआ, और हमको कहीं इसकी पूर्ण प्रति भी नहीं मिली । अंदाज़न् तीन-चौथाई ग्रंथ हमारी प्रति में नहीं है । यह बड़े खेद का विषय है, क्योंकि 'जाति-विलास' देवजी के सर्वोत्कृष्ट ग्रंथों में से एक है । जहाँ तक यह ग्रंथ हमारे पास है, वहाँ तक इसकी रचना रस-विलास से बहुत कुछ मिलती है, यहाँ तक कि दोनो ग्रंथों में प्रति सैकड़े नब्बे छंद एक ही हैं । इस कारण रस-विलास के विषय में जो कुछ लिखा जाय, वही जाति-विलास के विषय में भी समझना चाहिए ।

(१२) रस-विलास । यह ग्रंथ देवजी ने विजया-दशमी, संवत् १७८३ वि० को समाप्त किया । इसकी वंदना का छंद भी वही है, जो जाति-विलास का । यह बड़ा ही मनोहर छंद है, और इसको

अच्छी ब्रजभाषा का उदाहरण मान सकते हैं। यह ग्रंथ राजा भोगीलाल को समर्पित हुआ है। देवजी ने भोगीलाल की जितनी प्रशंसा की है, उतनी किसी अन्य आश्रयदाता की नहीं। इसमें प्रथम नायिकाओं के विभाग लिखे गए हैं, और उनका बड़ा ही उत्कृष्ट वर्णन है। जिस कामिनी में आठो अंग पूर्ण हों, उसी को नायिका कहते हैं। आठो अंग ये हैं—यौवन, रूप, गुण, शील, प्रेम, कुल, वैभव और भूषण। देवजी कहते हैं, वह एक बार भावविलास रचकर नायिका-भेद कह चुके हैं, और अब उसी (नायिका-भेद) को द्वितीय बार नए प्रकार से कहते हैं।

नायिकाओं के आठ भेद होते हैं। यथा—जाति, कर्म, गुण, देश, काल, वय, प्रकृति और सत्व। इनके भेदांतर भी नीचे लिखे जाते हैं—

जाति के चार भेद—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी, हस्तिनी।

कर्म के तीन भेद—स्वकीया, परकीया, गणिका।

गुण के तीन भेद—सात्विक, राजस, तामस।

देश के अनंत भेद—अंतर्वेद, मगध, कोशल, पटना, उड़ीसा, कलिंग, कामरूप, बंगाल, वृंदावन, मालवा, आभीर, बरार, कोकनद, केरल, द्रविड़, तिलंग, कर्नाटक, सिंध, मरु, गुजरात, कुरु, करवीर, पर्वत, भूटान, काश्मीर, सौवीर आदि-आदि।

काल के दस भेद—स्वाधीनपतिका, कलहांतरिता, अभिसारिका, विप्रलब्धा, खंडिता, उत्कंठिता, वासकसज्जा, प्रवत्स्यद्भर्तृका, प्रोषित्-पतिका, आगतपतिका।

वय के तीन भेद—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा।

प्रकृति के तीन भेद—कफ, पित्त, वात।

सत्व के नव भेद—सुर, किन्नर, यक्ष, नर, पिशाच, नाग, खर, कपि, काग।

इसके पीछे देवजी ने नायिकाओं के संयोग और वियोग तथा

नायक का वर्णन करके ग्रंथ समाप्त कर दिया है। यह ग्रंथ इनकी प्रौढ़ अवस्था में बना, और इसी कारण प्रौढ़ कविता से परिपूर्ण है। देश-देशांतरों में घूम-घूमकर कवि ने इसे बनाया। प्रेमचंद्रिका की भाँति इसमें भी आप अपनी ही बनाई हुई रीति पर चले हैं, और इसी कारण ग्रंथ में अद्भुत कवित्व की छटा देख पड़ती है। नायिका-भेद नए ढंग का अवश्य है, परंतु उसमें किसी का वर्णन छुटा नहीं है। गुप्ता, अनुशयना आदि का विवरण इसमें स्पष्ट रूप से नहीं आया, परंतु वह सब परकीया नायिका के अंतर्गत समझना चाहिए। इस ग्रंथ की कविता किसी भी स्थान पर शिथिल नहीं हुई, वरन् हर जगह एक ही तरह औवल दर्जे की होती चली गई है। इससे अच्छे ग्रंथ भाषा-साहित्य में अधिक न होंगे। केवल इतना ही खेद है कि इसका विषय नायिका-भेद है। यदि किसी श्रेष्ठ विषय पर ऐसा उत्कृष्ट ग्रंथ बना होता, तो गीता की तरह घर-घर इसकी पूजा होती। इसमें देवजी ने दिखा दिया है कि कवि की दृष्टि कितनी पैनी होती है, और वह एक ही निगाह में कितना देख सकता है। जिस जाति की और जिस देश की नायिका का कथन है, उसमें उस जाति के कर्म एवं उस देश के स्वभावों और रीतियों का ऐसा सच्चा वर्णन है कि कुछ कहते नहीं बनता। इसमें इन्होंने जाति-भेद से उपर्युक्त चार प्रकार की नायिकाओं के अतिरिक्त इन जातियों का भी पृथक्-पृथक् वर्णन किया है—देवी, पुजारिन, द्वारपालिका, राजकुमारी, धाय, दूती, सखी, जौहरिन, छीपिन, पटइन, सोनारिन, गंधिन, तेलिन, तमोलिन, काँदुनि, बनेनी, कुम्हारिन, दरजिन, चूहरिन, गणिका, ब्राह्मणी, रजपूतिन, खत्रानी, वैश्या, कायथिन, किरारिन, नाइन, मालिन, धोबिन, अहिरिन, काछिन, कलारिन, कहारिन, लुनेरिन, मुनितिय, व्याधतिय, भीलिन, सैन्या, वेश्या, मुकेरिन, बनजारिन,

जोगिन, नटिन, कंजरिन, पथिक-वधू और भठियारिन। भठियारिन का वर्णन केवल जाति-विलास में है। इसमें से प्रत्येक जाति के कथन में छंद से यह भास जाता है कि अमुक का वर्णन है। यही दशा देशों की है। उदाहरणार्थ जाति और देश में से दो-दो छंद नीचे लिखे जाते हैं—

देव देखावति कंचन सो तनु, औरनि को मनु-तावै अगोनी ;
सुंदरि साँचे में दै भरि काढ़ी-सि, आपने हाथ गढ़ी बिधि-सोनी।
सोहति चूनरि स्याम किसोरी कि, गोरी, गुमान-भरी, गज-गोनी ;
कुंदन-लीक कसौटी में लेखी-सि, देखी सोनारि सुनारि सलोनी ॥ १ ॥
एँड़िन ऊपर घूमत घाँघरो, तैसियै सोहति साल कि सारी ;
हाथ हरी-हरी राजै छरी, अरु जूती चढ़ी-पग फूँद-फुँदारी।
आछे उरोज, हरा घुँघुचीन के, हाँकति हाँ कहि बैल निहारी ;
गातन ही दिखराय बटोहिन बातन ही बनिजै बनिजारी ॥ २ ॥
तीनिहु लोक नचावति ऊक मैं, मंत्र के सूत अभूत गती है ;
आपु महा गुनवंत गोसाइनि, पाँइन पूजत प्रानपती है।
पैनी चितौनि चलावति चेटक, को न कियो बस जोगि-जती है ?
कामरू-कामिनि काम-कला, जगमोहनि भामिन भानमती है ॥ ३ ॥

जोबन के रंग भरी, ईंगुर से अंगनि पै,
एँड़िन लौं आँगी छाजै छबिन की भीर की ;
उचके उचौहैं कुच झपे झलकत झीनी,
झिलमिली ओढ़नी किनारीदार चीर की।
गुलगुले, गोरे, गोल, कोमल कपोल,
सुधाबिंदु बोल, इंदुमुखी, नासिका ज्यों कीर की;
'देव' दुति लहराति, छूटे छहरात केस,
बोरी जैसे केसरि, किसोरी कसमीर की ॥ ४ ॥

(१३) काव्य-रसायन। यह ग्रंथ देवजी के सब स्वतंत्र ग्रंथों से

गुरुतर और प्रौढ़तर है। इसका दूसरा नाम शब्द-रसायन भी है। जैसे केशवदास ने कविप्रिया में आचार्यता दिखाई है, वैसे ही देवजी ने काव्य-रसायन में गुरुता प्रदर्शित की है। काव्य के विषय में सूक्ष्मतया इनका यह मत है—

ऊँच-नीच तन कर्म-बस चल्यो जात संसार ;
रहत भव्य भगवंत-जस नव्य काव्य सुख-सार।
रहत न घर बर बाम धन, तरुवर सरवर कूप ;
जस-सरीर जग में अमर, भव्य काव्य रस-रूप।

समर्थ काव्य का लक्षण देवजी ने यों दिया है—

सब्द सुमति मुख ते कढ़ै, लै पद बचननि अर्थ ;
छंद भाव भूखन सरस सो कहि काव्य समर्थ।

पहले इन्होंने पदार्थ-निर्णय किया है। यह महाराज अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के अतिरिक्त एक चौथी शक्ति 'तात्पर्य' भी मानते हैं। शुद्ध लक्षणा, व्यंजना आदि का वर्णन करके इस महाकवि ने इनके संकीर्ण भेद कहे हैं। इन भेदों में इन कविवर ने अभिधा में अभिधा, अभिधा में लक्षणा, अभिधा में व्यंजना, लक्षणा में लक्षणा, लक्षणा में व्यंजना, लक्षणा में अभिधा, व्यंजना में व्यंजना, व्यंजना में अभिधा, व्यंजना में लक्षणा, अभिधा में तात्पर्य, लक्षणा में तात्पर्य और व्यंजना में तात्पर्य के वर्णन किए हैं। इस ग्रंथ में देव ने पढ़नेवालों के लिये यह बड़ी सुविधा कर दी है कि प्रत्येक उदाहरण के पीछे दोहे में उसका प्रयोजन भी प्रकट कर दिया है। पदार्थ-निर्णय के पीछे आपने रस-निर्णय किया है। शब्द, काव्य और रस में इन्होंने निम्न-लिखित संबंध दिखाया है—

काव्य सार सब्दार्थ को, रसु तेहि काव्य सुसार ;
सो रस बरसत भाव बस, अलंकार अधिकार॥ १॥

तातै काव्य सु मुख्य रस, जामैं दरसत भाव ;
अलंकार सब्दार्थ के छंद अनेक सुभाव ॥ २ ॥

देव के मतानुसार यदि कविता को वृक्ष मानें, तो रस उसके फलों का रस होगा। रस के स्वरूप को आपने इस छप्पै द्वारा ख़ूब ही समझाया है—

रस-अंकुर थाई, बिभाव रस के उपजावन ;
रस अनुभव अनुभाव सु सात्विक रस झलकावन।
छिन-छिन नाना रूप रसनि संचारी उझकै ;
पूरन रस संयोग बिरह रस रंग समुझ कै।
ये होत नायिकादिकनि मैं रत्यादिक रस-भाव षट ;
उपजावत श्रृंगारादि रस गावत नाचत सुकबि नट।

इसी को सूक्ष्म रूप से कवि ने इस प्रकार कहा है—

जो बिभाव, अनुभाव अरु संचारिन करि होय ;
थिति की पूरन बासना, सुकबि कहत रस सोय।

देव के मतानुसार रसों में श्रृंगार, वीर और शांत मुख्य हैं। शेष छः रसों (हास्य, भयानक, रौद्र, करुण, अद्भुत, बीभत्स) में दो-दो क्रमानुसार इनके संगी हैं; फिर वीर और शांत अपने साथियों समेत श्रृंगार के रंगी होते हैं, अतः श्रृंगार-रस ही रस-राज है। रसों ही में मिलता हुआ रस-मित्र, रस-शत्रु आदि का वर्णन है। फिर पात्र-विचार हुआ है। इसके पीछे कवि ने रस-रीति कही है। तदनंतर शब्दालंकार का वर्णन किया गया है। इसके विषय में इनका यह मत था—

अलंकार जे सब्द के, ते कहि काव्य-सुचित्र ;
अर्थ समर्थ न पाइयत, अच्छर बरन बिचित्र।
अधम काव्य तातै कहत, कबि प्राचीन, नबीन ;
सुंदर छंद, अमंद रस, होत प्रसन्न प्रबीन।

जिनहिं न अनुभव अरथ को, भावत नहिं रस भोग ;
चित्र कहत तिन हेत कछु, भिन्न-भिन्न-रुचि लोग ।
सरस वाक्य, पद, अरथ तजि सब्द चित्र समुहात ;
दधि, घृत, मधु, पायस तजत, बायस चाम चबात ।
मृतक काव्य बिनु अर्थ के, कठिन-अर्थ के प्रेत ;
सरस भाव रस काव्य सुनि उपजत हरि सों हेत ।

देव ने चित्र-काव्य की इतनी निंदा करके फिर भी कई प्रकार की उत्कृष्ट चित्र-कविता की । इसके पीछे इन्होंने अर्थालंकार कहे हैं । उनमें आपने सबका वर्णन न करके चालीस मुख्य और तीस गौण अलंकार ही कहे । इतने पर भी संतुष्ट न होकर फिर कहा—

अलंकार मैं मुख्य द्वै उपमा और सुभाव ;
सकल अलंकारन विषे दरसत प्रकट प्रभाव ।

देव ने उपमा की प्रधानता समझाने के लिये बहुत तरह की उपमाएँ कही हैं । शेष अलंकारों को आपने थोड़े में इस प्रकार कहा कि एक-एक छंद में चार-चार, पाँच-पाँच अलंकार भर दिए । दसवें अध्याय से इन्होंने छंदों का वर्णन आरंभ किया । छंद दो प्रकार के होते हैं ; एक मात्रा-वृत्त, और दूसरा वर्ण-वृत्त । लघु-गुरु मात्राओं का विचार करके देवजी ने गणागण का वर्णन किया है । इनके गद्य का उदाहरण बड़ा ही विचित्र है । गद्य तीन प्रकार का होता है—वृत्ति, चूर्ण और उत्कलिका । देव ने छंदों के लक्षण और उदाहरण प्रायः एक ही साथ दिए हैं ; अर्थात् जिस छंद का उदाहरण कहना हुआ, उसी छंद में उसका लक्षण कह दिया । इस प्रकार एक ही साथ लक्षण और उदाहरण, दोनो ज्ञात हो जाते हैं । संस्कृत के कुछ कवियों ने इसी प्रकार छंदों के उदाहरण दिखलाए हैं । देव ने प्राचीन प्रकार के आठो सवैयों

के लक्षण और नाम एक ही छंद में दिखा दिए हैं। वह छंद यह है—

सैल भगा, बसुभा, मुनि भागग, सात भगोल, लसै लभगा ;
लै मुनि भागग, ही लल सत्त भगी, ललसात भगंग पगा।
पी मदिरा, ब्रजनारि किरीटि, सुमालति, चित्रपदा भ्रमगा ;
मल्लिक, माधवि, दुर्मिलिका, कमला सुसवैय बसुक्रम गा।

इस सवैए को समझने के लिये प्रथम भगण का रूप जान लेना आवश्यक है। भगण तीन अक्षरों का है, जिसमें प्रथम गुरु और अंत के दोनो लघु हैं।

मदिरा = सैल भगा ; सात भगण और एक गुरु।

किरीटी = बसुभा ; आठ भगण।

मालती = मुनि भागग ; सात भगण और दो गुरु।

चित्रपदा = सात भगोल ; सात भगण और एक लघु।

मल्लिका = लसै लभगा ; एक लघु, सात भगण और एक गुरु।

माधवी = लै मुनि भागग ; एक लघु, सात भगण और दो गुरु।

दुर्मिलिका = लल सत्त भगी ; दो लघु, सात भगण और एक गुरु।

कमला = लल सात भगंग ; दो लघु, सात भगण और दो गुरु।

इनके अतिरिक्त मंजरी, ललिता, सुधा और अलसा-नामक चार प्रकार के नवीन मत के सवैए हैं—

मंजरी = लाष्टभगल; एक लघु, आठ भगण, एक गुरु और एक लघु।

ललिता = ललाष्टभ ; दो लघु, आठ भगण।

सुधा = लल मुनिभगल ; दो लघु, सात भगण, एक गुरु और एक लघु।

अलसा = सैलभर , सात भगण और एक रगण।

रगण के तीन अक्षरों में आदि और अंत के गुरु होते हैं, तथा मध्य का लघु।

दंडक नियत-गण-वर्ण और अनियत-गण-वर्ण के होते हैं। अनियत-गण-वर्ण को घनाक्षरी कहते हैं। ये कई प्रकार के होते हैं, जिनमें से किसी में तीस, किसी में इकतीस, किसी में बत्तीस और किसी में तैंतीस वर्ण होते हैं।

देवजी ने सात प्रकार के गाहा दोहे कहे हैं। मेरु, मर्कटी, पताका आदि के विषय में इनका यह मत है—

मेरु, पताका, मर्कटी, नष्ट और उद्दिष्ट ;
कौतुक-हित प्रस्तार हू बिस्तारत हैं सृष्ट।
मानुष-भाषा मुख्य रस, भाव, नायिका, छंद ;
अलंकार पंचांग ये कहत-सुनत आनंद।

अपने काव्य-रसायन ग्रंथ के विषय में निम्न-लिखित दोहे देवजी ने लिखे हैं—

सत्य रसायन कबिन को श्रीराधा-हरि-सेव ;
जहाँ रसालंकार-सुख, सच्यो रच्यो कबि देव।
भाषा, प्राकृत, संसकृत, देखि महाकबि-पंथु ;
देवदत्त कबि रस रच्यो, काव्यरसायन ग्रंथु।

देव ने वास्तविक रीति-ग्रंथ केवल काव्य-रसायन और भाव-विलास लिखे हैं। इनमें भी काव्य-रसायन में इन्होंने अपनी आचार्यता दिखलाई है। इसमें पदार्थ-निर्णय, रस, अलंकार और पिंगल के वर्णन हैं। रस का वर्णन देव ने बहुत ही उत्कृष्ट किया है। यह ग्रंथ आपके सब स्वतंत्र ग्रंथों से बड़ा है, और संभवतः सबसे पीछे बना भी हो। केवल सुखसागर-तरंग-संग्रह और नीति तथा वैराग्य की कविताएँ इसके पीछे बनी होंगी। कविता की उत्तमता में भी यह प्रेमचंद्रिका आदि से उत्कृष्ट है। प्रत्येक छंद में देव की अलौकिक योग्यता की छटा देख पड़ती है। दुर्भाग्य-वश यह ग्रंथ भी अब तक प्रकाशित नहीं हुआ। भाषा-रसिकों को उचित है कि

कम-से-कम काव्य-रसायन को तो अवश्य ही मुद्रित करावें। यह ग्रंथ देव के परमोत्कृष्ट ग्रंथों में से एक है, और इसमें भी इनकी अनुमतियों का आविर्भाव हुआ है। हर्ष का विषय है कि चिरंजीव कृष्णविहारी मिश्र इसको सटिप्पणी शीघ्र प्रकाशित कराना चाहते हैं।

(१४) सुखसागर-तरंग। इस ग्रंथ की वंदना में भी आपने शृंगार-रस को नहीं छोड़ा—

माया देवी नायिका, नायक पूरुष आपु ;
सबै दंपतिन मैं प्रकट, देव करैं तेहि जापु।

इसको आपने पिहानी के अकबरअलीख़ाँ के वास्ते बनाया। इससे विदित होता है कि उस समय मुसलमान भी भाषा-साहित्य को ख़ूब समझते और उसका आदर करते थे। स्वयं देवजी के समान महाकवि ने लिखा है कि अकबरअली रस-पंथ जानते थे। इससे विदित होता है कि भाषा-साहित्य पर अकबरअली का प्रगाढ़ अधिकार था। इसी प्रकार बादशाह औरंगज़ेब के पुत्र आज़मशाह ने भावविलास और अष्टयाम सुनकर उन ग्रंथों की प्रशंसा की थी। इस ग्रंथ में देवजी ने प्रथम दंपति की वंदना करके तब देवियों की स्तुति की। और किसी देवता की वंदना इन्होंने नहीं की। फिर छत्तीसवें छंद में एक प्रकार से ग्रंथ के विषय का वर्णन करके आपने सवैयों और दंडकों में बहुत बढ़िया ढंग से सूक्ष्मतया नायिका-भेद कहा। इसके पीछे गौरी, जानकी, रुक्मिणी और राधा का सौभाग्य कहकर पंचमी-महोत्सव का वर्णन किया। ये सब विवरण बहुत ही उत्कृष्ट हैं। वसंत-ऋतु के कथन में भी इन्होंने आगे चलकर होली का वर्णन किया। पंचमी-महोत्सव के पीछे देव ने शृंगार-रस की रचना की। दूसरे अध्याय को कवि ने प्रत्यक्ष-दर्शन से प्रारंभ किया है। इसके पीछे सूक्ष्मतया शृंगार-रस का सांगोपांग कथन हुआ है। तदनंतर देव ने परकीया के बहुत-से छंद

कहकर षड्ऋतु कहा। फिर अष्टयाम कहकर नख-शिख लिखा है। इसमें से उदाहरणार्थ नेत्र-वर्णन का एक छंद नीचे लिखा जाता है—

लाज की निगड़ गड़दार अड़दार चहूँ
चौंकि चितवनि चरखीन चमकारे हैं;
बरुनी अरुन लीक, पलक झलक झूल,
झूमत सघन-घन घूमत घुमारे हैं।
रंजित-रजोगुन सिंगार-पुंज कुंजरत,
अंजन सोहन मनमोहन दतारे हैं;
'देव' दुख-मोचन सकोच न सकत,
चलि लोचन अचल ये मतंग मतवारे हैं।

नख-शिख कहकर इन कविवर ने नायकों की जाति कही है। फिर नायिकाओं के आठो अंगों का अच्छा वर्णन हुआ है। इसके पीछे देव ने बड़ा लंबा-चौड़ा नायिका-भेद कहा है। इसी के अंतर्गत अंश-भेद भी है। अंत के बारहवें अध्याय में नायक और नायक के सखाओं का वर्णन किया गया है। इसी अंतिम अध्याय को इन्होंने एक प्रशंसनीय मान-लीला के साथ समाप्त किया है। इस लीला में उनतीस छंद हैं, और वे सब बहुत ही उत्कृष्ट हैं। इसका पहला ही छंद उदाहरणार्थ नीचे लिखा जाता है—

प्यारी हमारी सौं आओ इतै, कहि 'देव', कुप्यारी ह्वै कैसेक ऐए?
प्यारी कहो जनि मोसों अहो, कहि प्यारी प्यो प्यार की प्यारी बुलैए।
कै वह प्यार कि एतो कुप्यार! अन्यारी ह्वै बैठी, सो बात बतैए;
प्यारे पराए सों कौन परेखो, गरे परि कौं लागि प्यारी कहैए।

इस ग्रंथ में देव ने मुख्य रूप से नायिका-भेद कहा है। इसको प्रायः लोग आपकी कविता का संग्रह कहते हैं। किसी अंश में यह कथन यथार्थ भी है, क्योंकि इसमें जाति-विलास, अष्टयाम, भाव-विलास आदि के विषय आ गए हैं, परंतु यह भी कहना पड़ता है

कि इस ग्रंथ में न-जाने कितने ऐसे वर्णन हैं, जो कवि के अन्य प्रचलित ग्रंथों में नहीं पाए जाते। शब्द-रसायन का विषय इसमें नहीं आया, और न भाव-भेद ही पूर्ण रूप से कहा गया है। अलंकार-वर्णन से भी इस ग्रंथ से कोई संबंध नहीं है। स्थूल रूप से इसे नायिका-भेद का ग्रंथ कह सकते हैं। भाषा में नायिका-भेद का इतना सांगोपांग और सर्वांग-सुंदर कोई अन्य ग्रंथ नहीं है। रस-विलास में नायिका-भेद आठ भेदों में वर्णित है, परंतु इसमें उसके दस प्रधान भेद माने गए हैं। ये शेष दो भेद रस-विलास में मुख्य भेद करके नहीं माने गए। हम तो इसे स्वतंत्र ग्रंथ ही मानते, क्योंकि यदि अन्य ग्रंथों के छंदों की कहिए, तो देव का ऐसा कोई भी ग्रंथ नहीं है, जिसमें अन्य ग्रंथों के छंद न भरे पड़े हों; परंतु देव ने स्वयं इसे संग्रह कहा है। इसमें कुल मिलाकर ८४६ छंद हैं, परंतु इसकी कविता किसी स्थान पर शिथिल नहीं हुई है। भाषा-साहित्य में तुलसी-कृत रामायण, सतसई और सूरसागर को छोड़कर ऐसा उत्कृष्ट कोई भी ग्रंथ नहीं है। इसमें प्रत्येक विषय का बड़ा ही चित्ताकर्षक वर्णन किया गया है। प्रायः देखा गया है कि यदि भारी कवियों तक के ग्रंथ पढ़िए, तो उनके भी सभी स्थल अच्छे नहीं लगते। अधिक स्थलों पर कविता शिथिल पड़ जाती है, परंतु देव के किसी ग्रंथ में प्रायः किसी स्थान पर ऐसा नहीं हुआ। सुखसागर-तरंग-जैसा बड़ा ग्रंथ भी किसी स्थान पर शिथिल नहीं हुआ। इनका यह भी एक बड़ा ही बढ़िया ग्रंथ है।

(१९) देव-माया-प्रपंच-नाटक। इसमें रूपक की तरह सद्धर्म और माया के युद्ध का वर्णन किया गया है। यह पूर्ण नाटक नहीं है, यद्यपि नाटकों की भाँति इसमें नट, नटी, नेपथ्य, प्रवेश, प्रस्थान आदि का कथन है। इसे अर्द्ध-नाटक-सा कह सकते हैं।

इसमें छ अंक हैं। प्रथम अंक में सद्धर्म के पक्षवालों का दिग्दर्शन एवं कलि का प्रवेश वर्णित है। द्वितीय में कलि के पक्षवालों का स्वरूप और उनके विचार कहकर कवि ने जनश्रुति और बुद्धि का सत्संगति के यहाँ जाना कहा है। तृतीयांक में योग, मुक्ति, सत्क्रिया, सत्यता, श्रद्धा, भक्ति, शुद्धि, स्मृति, तत्त्व-चिंता, शांति, करुणा, तुष्टि और क्षमा भी सत्संगति के यहाँ जाती हैं, और इनके कुछ वर्णनों के पीछे इनमें से प्रत्येक अपने-अपने मतानुसार अनुमति देती है। इसके पीछे जनश्रुति शत्रुओं का पता लगाने को उनके यहाँ छद्म-वेष में भेजी जाती है। यह अंक बड़ा मनोरंजक है, और प्रत्येक देवी के सम्मति-विषयक छंद बहुत अच्छे हैं। चतुर्थ अंक में जनश्रुति योगिनी के वेष में शत्रु-नगर में जाती और नगर तथा उसकी सब बातों का निरीक्षण करती है। यह अंक साधारणतः अच्छा है। पाँचवें में जनश्रुति सहजानंद, इच्छानंद, आत्मानंद, विषयानंद, स्पर्शानंद, भोगानंद और संभोगानंद के उपदेश सुनती एवं धूतराज द्वारा तंत्र, मंत्र, इंद्रजाल तथा वाग्जाल का माहात्म्य जानती है। अंत में कई परमोत्कृष्ट छंदों द्वारा माया की महिमा कही गई है। यह अंक बड़ा ही बढ़िया, रुचिकर और हास्य-रस से परिपूर्ण है। इसमें इच्छानंद के विचार अँगरेज़ी के एपिक्योरियन-सिद्धांत से बिलकुल मिल जाते हैं। छठे अंक में मनराज का अभिषेक हुआ, फिर युद्ध में माया की सेना सद्धर्म-दल से बिलकुल पराजित हो गई, और पुरुष की मुक्ति हुई। युद्ध-वर्णन साधारण है। ग्रंथ कुल मिलाकर अच्छा है; परंतु फिर भी इनके ख़ास ग्रंथों की बराबरी नहीं कर सकता।

उदाहरण—

मूढ़ कहैं मरिकै फिरि पाइए, ह्याँ जु लुटाइए भौन-भरे को;
ते खल खोय खिस्यात खरे, अवतारु सुन्यो कहुँ छार परे को?

जीवत तौ व्रत-भूख सुखौत, सरीर महा सुर-रूख हरे को ;
ऐसी असाधु असाधुन की बुधि, साधन देत सराध मरे को।

देवजी के जिन ग्रंथों पर ऊपर समालोचना लिखी गई है, उन सबको सम्मति लिखते समय हमने देखा है। इन ग्रंथों के अतिरिक्त पंडित युगलकिशोर मिश्र कहते थे कि निम्न-लिखित देव-कृत ग्रंथ उन्होंने स्वयं देखे थे, परंतु उनकी प्रति वह प्राप्त नहीं कर सके।

(१६) वृक्ष-विलास। यह एक छोटा-सा ग्रंथ है, और इसमें देवजी ने वृक्षों का बड़ा अच्छा वर्णन किया है। इसमें अन्योक्तियाँ बहुत हैं।

(१७) पावस-विलास। इसमें पावस-वर्णन के बड़े बढ़िया छंद हैं। यह आकार में भाव-विलास के बराबर और एक बड़ा ही अनमोल ग्रंथ है।

(१८) देव-शतक। यह जयपुर से प्रकाशित हो गया है। इसके कुछ छंद नीचे लिखते हैं—

"बागो बन्यो जरपोस को, तामहिं ओस को हार तन्यो मकरी ने ;
पानी मैं पाहन-पोत चल्यो चढ़ि कागद की छतुरी सिर दीने।
काँख मैं बाँधिकै पाँख पतंग के 'देव' सुसंग पतंग को लीने ;
मोम के मंदिर माखन को मुनि बैठ्यो हुतासन आसन कीने ॥१॥
काम परयो दुलही अरु दूलह, चाकर यार ते द्वार ही छूटे ;
माया के बाजने बाजि गए, परभात ही भातखवा उठि बूटे।
आतसबाजी गई छिन मैं छुटि, देखि अजौं उठिकै अँखिफूटे ;
'देव' दिखैयन दाग बने रहे, बाग बने ते बरोठेई लूटे ॥२॥
आवत आयु को दौस अथौत, गए रवि त्यों अँधियारिए ऐहै ;
दाम खरे दै खरीदु खरो गुरु, मोह की गोनी न फेरि बिकैहै।
'देव' छितीस कि छाप बिना जमराज जगाती महा दुख दैहै ;
जात उठी पुर-देह कि पैठ, अरे बनिए बनिए नहिं रैहै ॥३॥

'देव' जियै जब पूछै तौ पीर को, पार कहूँ लहि आवत नाहीं ;
सो सब झूँठ मतै मत कै बकि, मौन सोऊ रहि आवत नाहीं ।
है नँदनंद तरंगिनि मैं मन, फेन बह्यो गहि आवत नाहीं ;
चाहौं कह्यो बहुतेरो कछू, पै कहा कहिए, कहि आवत नाहीं ॥४॥

संपति मैं ऐंठि बैठे चौतरा अदालति के,
बिपति मैं पैन्हि बैठे पाँय झुनझुनिया ;
जेतो सुख संपति, तितोई दुख बिपति मैं,
संपति मैं मिरजा, बिपति परे धुनिया ।
संपति ते बिपति, बिपति हू ते संपति है,
संपति औ बिपति बरोबरि कै गुनिया ;
संपति मैं काँय-काँय, बिपति मैं भाँय-भाँय,
काँय-काँय, भाँय-भाँय देखी सब दुनिया ॥ ५ ॥

गुरुजन जावन मिल्यो न भयो दृढ़ दधि,
मथ्यो न बिबेक-रई 'देव' जों बनायगो ;
माखन मुकुति कहाँ, छाँड़यो न भुगुति जहाँ,
नेह-बिनु सगरो सवाद खेह नायगो ।
बिलखत बच्यो मूल कच्यो सच्यो लोभ-भाँड़े,
तच्यो कोप-आँच पच्यो मदन छिनायगो ;
पायो न सिरावन सलिल छिमा-छीटन सों,
दूध-सो जनमु बिनु जाने उफनायगो ॥ ६ ॥

माया के प्रपंचन सों, पंचन के बंचन सों,
कंचन के काज मोह-मंचन ठए फिरै ;
काम भरयो, क्रोध भरयो, कपट-कुबोध भरयो,
बिस्व मैं बिरोध ही के बीजन बए फिरै ।
लाभ ही के लोभ भरयो रंभत अनेक दंभ,
मान बिषै बस्तुन के पुस्तक लए फिरै ;

चौदहो भुवन, सातौ द्वीप, नवो खंड जाके
पेट मैं परे हैं, ताहि पेट मैं दए फिरै ॥ ७ ॥
कथा मैं न, कंथा मैं न, तीरथ के पंथा मैं न
पोथी मैं, न पाथ मैं, न साथ की बसीति मैं ;
जटा मैं न, मुंडन न, तिलक त्रिपुंडन न
नदी-कूप-कुंडन अन्हान दान-रीति मैं।
पीठ-मठ-मंडल न, कुंडल कमंडल न,
माला दंड मैं न 'देव' देहरे की भीति मैं ;
आपु ही अपार पारावार प्रभु पूरि रह्यो,
पाइए प्रगट परमेसुर प्रतीति मैं ॥ ८ ॥

(१६) हाल में प्रेम-दर्शन-नामक इनका एक और ग्रंथ खोज में मिला है। शायद यह प्रेम-दर्शन-पचीसी हो।

(२०) देव-सुधा में हमने इनके २७१ छंदों का संग्रह किया है। वे सब उत्कृष्ट हैं। लोग प्रायः छंद न समझ सकने की शिकायत करते थे, सो सुधा के सब छंदों के अर्थ भी लिख दिए गए हैं। यह ग्रंथ ब्रजभाषा में सर्वोत्कृष्ट कहा जा सकता है।

ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने देवजी-कृत ग्यारह ग्रंथों के नाम लिखे हैं, जिनमें से निम्न-लिखित चार ग्रंथों के अतिरिक्त शेष सात का विवरण ऊपर किया जा चुका है—

रसानंदलहरी, प्रेम-दीपिका, सुमिल-विनोद और राधिका-विलास।

इन चार नए ग्रंथों के अतिरिक्त शिवसिंहसरोज में निम्न-लिखित सात ग्रंथों के नाम मिलते हैं—प्रेम-तरंग, भाव-विलास, रस-विलास, सुजान-विनोद, काव्य-रसायन, अष्टयाम और देव-माया-प्रपंच-नाटक। हमारे पूज्य पिता पंडित बालदत्त मिश्र ने देव के सुखसागर-तरंग को प्रकाशित कराया था। उसकी भूमिका में उन्होंने देव के नीतिशतक-नामक ग्रंथ का नाम लिखा था।

इस वर्णन से विदित होता है कि अभी तक हमें इनके २४ ग्रंथों के नाम ज्ञात हुए हैं। यदि सुंदरी-सिंदूर और सूर-सुधा को ग्रंथ न मानिए, तो २२ ग्रंथों के नाम ऊपर मिलेंगे। खोज में नख-शिख और प्रेम-दर्शन-नामक इनके दो और ग्रंथ मिले हैं। बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने दुर्गाष्टक-नामक एक ग्रंथ हाल में पाया।

इन महाकवि के ग्रंथ अमूल्य रत्न हैं। समस्त भाषा-रसिकों को उचित है कि जो ग्रंथ जिस व्यक्ति के पास हो, वह उसकी सूचना समाचार-पत्रों में दे दे, या नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी को लिख भेजे। इसके सिवा यदि इन महाकवि के सब ग्रंथ प्रकाशित न हो सकें, तो भाषा-रसिकों को उचित है कि अन्य रसिकों को उनके पास की हस्त-लिपियाँ प्राप्त करने में पूरी सहायता दें।

देवजी की कविता का परिचय

(१) देव ने घनाक्षरियाँ सवैयों से अधिक रचीं। उत्तमता में भी वे सवैयों से न्यून नहीं हैं। इनकी कविता में पृष्ठ-के-पृष्ठ पढ़ते चले जाइए, प्रायः कहीं कोई बुरा छंद न पाइएगा। देव ने कई ग्रंथों में वे ही पद्य दो-दो, तीन-तीन बार रख दिए हैं, और कहीं-कहीं एक ही ग्रंथ में वही पद्य दुबारा रख दिया है, यहाँ तक कि यदि किसी मनुष्य ने इनके कई ग्रंथ देखे हों, तो उसको किसी नए ग्रंथ के देखने में नवीन पद्य बहुत नहीं मिलेंगे। इसका कारण एक यह भी है कि इनके पद्यों में कितने ही पृथक्-पृथक् भाव झलकते हैं। अतः यह महाराज एक ही छंद विविध काव्यांगों के उदाहरणों में रख देते हैं, और वह पूर्णतया बैठ भी जाता है।

इनकी कविता में अजायबघर की भाँति अच्छे-से-अच्छे छंद देखते चले जाइए, परंतु उसमें बिहारी की भाँति उतने चोज नहीं मिलते, किंतु इसके साथ-ही-साथ इनके साहित्य में अभूत-पूर्व

कोमलता, रसिकता, सुंदरता आदि गुण कूट-कूटकर भरे हैं। ऐसे उत्कृष्ट पद्य किसी अन्य कविता में, स्वप्न में भी, नहीं देखे जाते। इनके प्रकृष्ट पद्यों के बराबर किसी भाषा में कोई पद्य पाना कठिन है। देव ने आभूषण-सहित रूप का वर्णन अधिक किया है, ख़ाली रूप का कम। इनके मध्या और प्रौढ़ा के भेद उतने बढ़िया नहीं बने, जितने मुग्धा के।

इनकी कविता में चोरी बहुत कम है। अधिक निर्लज्जता भी नहीं पाई जाती; परंतु 'सुखसागर-तरंग' के पद्य नंबर ७७४ में वह पूर्ण रूप से विराजमान है। एक-आध स्थान पर इन्होंने गुरु अक्षर से लघु का काम लिया है। सुखसागर-तरंग का छंद नंबर ४०९ इसका उदाहरण है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, देव महाराज देश-देश घूमे हैं। पूर्ण रसिक भी थे। अतः जहाँ गए, वहाँ की स्त्रियों को बहुत ध्यान-पूर्वक देखा। इन्होंने प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश की स्त्रियों का बड़ा ही सच्चा वर्णन किया है। देश-वर्णन देखकर कहीं-कहीं यह संदेह अवश्य उठता है कि संभवतः इनका चाल-चलन बहुत ठीक न था।

आपके तुकांतों में दो-चार स्थानों पर निरर्थक पद भी देख पड़ते हैं, यथा चाड़िली, रुंज आदि। इन्होंने प्रेम-चंद्रिका के आदि में कहा है कि कवि को प्रेम के ग्रंथ बनाने चाहिए, और पुरानी कथाओं में दिन वृथा ही बीत गए।

(२) देव की भाषा शुद्ध व्रज-भाषा है। भाषा-साहित्य में देव और मतिराम, इन दो कवियों की भाषा सर्वोत्कृष्ट है। इन दोनो कवियों की-सी उत्कृष्ट भाषा कोई भी अन्य कवि नहीं लिख सका है। भाषा की कोमलता और सरसता में ये दोनो कवि अन्य कवियों से बहुत बढ़े-चढ़े हैं। इनकी कविता में श्रुति-कटु शब्द ढूँढ़े

से भी कम मिलते हैं, और इन महाकवियों ने मिलित वर्णों का प्रयोग जितना कम किया है, उतना कम कोई भी अन्य कवि नहीं कर सका है। इन दोनों कवियों की भाषा टकसाली है, विशेषकर देव की भाषा अद्वितीय है। इसका कारण यही है कि इनकी कविता में भाषा-संबंधी निम्न-लिखित गुण मतिराम से भी कहीं अधिक हैं।

इनकी भाषा में अनुप्रास भरे पड़े हैं। आप जो शब्द उठाते थे, प्रायः उसी प्रकार के कई और शब्द उसके पीछे रखते चले जाते थे; और जब वह श्रेणी छोड़ते थे, तब उसी के शब्दों का कोई और अक्षर-क्रम उठाकर उसकी समता के शब्द रखने लगते थे। इस प्रकार एक साथ आप कई भाँति के अनुप्रास रख जाते थे। ये गुण लाने के वास्ते इनको निरर्थक शब्दों का व्यवहार नहीं करना पड़ा, और प्रायः कहीं भी अपना भाव नहीं बिगाड़ना पड़ा। ऐसे बढ़िया भाव लाकर भी अनुप्रास की सर्वोत्कृष्ट प्रधानता रखने में केवल देवजी कृतकार्य हो सके हैं। किसी अन्य कवि की कविता में इतने अनुप्रास तो हैं ही नहीं, प्रायः इतने बढ़िया भाव भी नहीं पाए जाते। उदाहरणार्थ केवल एक छंद नीचे लिखा जाता है—

आई बरसाने ते बोलाइ बृषभानु-सुता,
निरखि प्रभानि प्रभा भानु की अथै गई;
चक-चकवान के चकाए चकचोटन सों,
चौंकत चकोर चकचौंधी-सी चकै गई।
'देव' नंद-नंदन के नैनन अनंदमई,
नंदजू के मंदिरन चंदमई छै गई;
कंजन कलिनमई, कुंजन नलिनमई,
गोकुल की गलिन अलिनमई कै गई॥ ६॥

देवजी ने तुकांत भी निराले ही रक्खे हैं। अन्य कवियों ने ऐसे विलक्षण तुकांत नहीं रक्खे। इन महाकवि का भाषा पर इतना प्रगाढ़ अधिकार था कि इन्हें तुकांत खोजने में कुछ भी कठिनता नहीं पड़ती थी, अतः आप हर प्रकार के टेढ़े-मेढ़े तुकांत रखकर उन्हें निभा ले जाते थे। इसके उदाहरण में सुखसागर-तरंग के पद्य नंबर २४, ३६१, ६४७ और ६६२ द्रष्टव्य हैं।

इन्होंने कहीं-कहीं प्रचलित लोकोक्तियों को बहुत मनोरम प्रकार से अपनी कविता में रक्खा है। यथा—

प्राणपति परमेश्वर सों साझो कहौ कौन सो ?
गरे परि कौलगि प्यारी कहैए ?
काल्हि के जोगी कलींदे को खप्परु।
मनु-मानिका दै हरि-हीरा गाँठि बाँध्यो हम,
ताको तुम बनिज बतावत हौ कौड़ी को ॥१०॥

चंचल नैन चमार की जाई, चितौनि मैं चाम के दाम चलावै।
सूझत साँझ-मिया न कछु सु दिया न बरै कहूँ कारे के आगे।

देव ने अपनी कविता में बड़े-बड़े विशेषण रक्खे हैं, यहाँ तक कि कहीं-कहीं एक-एक चरण तक विशेषण लिखे गए हैं—

नूपुर-संजुत मंजु मनोहर, जावक-रंजित कंज-से पाँयन।
बीच जरतारन की, हीरन के हारन की,
जगमगी जोतिन की, मोतिन की झालरैं।

कुल मिलाकर जैसी सुहावनी भाषा यह महाकवि लिखने में समर्थ हुए हैं, उससे आधी सुहावनी भी कोई अन्य कवि नहीं लिख सका। प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थ-व्यक्ति, समाधि, कांति और उदारता-नामक गुण देव की रचना में पाए जाते हैं। कहीं-कहीं ओज का भी चमत्कार है। पर्यायोक्ति, सुधर्मिता, सुशब्दता, संक्षिप्त, प्रसन्नतादि गुणों की भी आपकी रचना में बाहर

है। कहीं-कहीं अर्थ-काठिन्य भी प्रस्तुत है। भाषा की उत्तमता इनका सर्वोत्कृष्ट गुण है, और भाषा को देखते हुए इन कवि को किसी अन्य कवि से न्यून कहना अन्याय समझ पड़ता है। देव की मनोहर भाषा के उदाहरण-स्वरूप हम केवल एक ही पद्य नीचे लिखते हैं, परंतु इस विषय में नीचे लिखे छंद भी विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं—सुख-सागर-तरंग के छंद १२१, ३०१, ४८१, ५५४, ७२७ और सुंदरी-सिंदूर के छंद नंबर ५५ इत्यादि।

मंजु बजैं गुजरी कर-कंजन, पायलैं पाँय जराय लपेटी;
नासिका मैं झमकैं मुकुता, स्रुति हू झुमकी मनि-कुंडल-जेटी।
लालन-माल, जरी-पट लाल, सखी सँग बाल-बधू कुअँरेटी;
सेवक 'देव' सबै सुख साजति, राजति है गिरिराज की बेटी॥११॥

जितने उत्कृष्ट पद्य देव की कविता में हैं, उतने किसी अन्य कवि की कविता में, पड़ता लगाने से, नहीं पाए जाते। यदि पद्यों की उत्तमता के हिसाब से विचार करें, तो देव ही सर्वोत्कृष्ट कवि ठहरेंगे। उदाहरण-स्वरूप सुखसागर-तरंग के छंद नबर १७, ३४, ६१, १०३, ११४, १६३, १८०, २११, ३०६, ३७६, ४५३, ४६७, ५८२, ७६६ और ७१० देखिए। अन्य ग्रंथों के पद्य इस कारण प्रायः उदाहरणों में नहीं लिखे गए कि वे मुद्रित नहीं हैं, और उनके नंबर लिखने और देखने में कठिनाई होगी। अच्छे पद्यों के कुछ उदाहरण आगे लिखे भी जायँगे।

(३) देव ने प्राकृतिक वर्णन भी बहुत ही अच्छे किए हैं। इनके पद्यों से विदित होता है कि यह महाशय प्रकृति के अच्छे निरीक्षक थे, परंतु सिवा मानव-प्रकृति के इतर प्रकृति की ओर यह महाशय निगाह कम उठाते थे। मानव-प्रकृति के वर्णन में इन्होंने बेशक क़लम तोड़ दी है। इसके निम्न-लिखित पद्य उदाहरण हैं—सुखसागर-तरंग के छंद ८६, १४८,

१८१, १८२, ३४१, ३७५, ४४८, ४१२, ५२३, ५४२, ६३०, ७०२, ७०८, ७१५, ७४१ और सुंदरी-सिंदूर के छंद १७, २१, ३१, ७५। रस-विलास में जाति और देशों का प्रायः समस्त वर्णन है। इसमें देव ने दिखा दिया है कि कवि कितना देखता है। वास्तविक प्रकृति और मानव-प्रकृति के उदाहरण-स्वरूप दो पद्य नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

सुनि कै धुनि चातक-मोरन की, चहुँ ओरन कोकिल-कूकन सों ;
अनुराग-भरे बन बागन मैं हरि रागत राग अचूकन सों।
कवि 'देव' घटा उनई जु नई, बन-भूमि भई दल-दूकन सों ;
रँग-राती हरी हहराती लता, झुकि जाती समीर के झूकन सों ॥१२॥
गूजरी ऊजरे जोबन को कछु मोल कहौ दधि को तब दहौं ;
'देव' अहो इतराबु नहीं, ई नहीं मृदु बोल न मोल बिकैहौं।
मोल कहा अनमोल बिकाहुगी, ऐंचि जबै अधरा-रसु लैहौं ;
कैसी कही, फिरि तौ कहौ कान्ह, अभै कछू हौहूँ कका कि सौं कैहौं॥१३॥

देव ने नायिकाओं का वर्णन ऐसा उत्कृष्ट किया है कि पूरी तसवीर खींच दी है। ऐसी सच्ची तसवीरें खींचने में बहुत कम कवि समर्थ हुए हैं, वरन् यह कहना चाहिए कि ऐसी निर्दोष तसवीरें कोई भी कवि नहीं खींच सका है। इनकी कविता से विदित होता है कि कवि और चित्रकार में कितना घनिष्ठ संबंध है? ऐसी तसवीरें निम्न-लिखित पद्यों में मिलेंगी। सुखसागर-तरंग के छंद १६७, २८६, २६२, ४१८। उदाहरणार्थ एक पद्य नीचे लिखा जाता है—

आओ ओट रावटी झरोखा झाँकि देखौ 'देव',
देखिबे को दाँव फेरि दूजे दौस नाहिनै ;
लहलहे अंग रंगमहल के अंगन में
ठाढ़ी वह बाल लाल पगन उपाहनै।

हमारी समझ में भारी भूल करते हैं। इनकी भाषा अद्वितीय अवश्य है, किंतु साहित्य-गौरव की तुलना में हम भाषा का पद ऊँचा नहीं समझते। देव ने स्वयं यही मत प्रकट किया है। हम भाव-सबलता देव का मुख्य गुण मानते हैं। प्रेम का वर्णन आपका अद्वितीय है, जैसा ऊपर कहा जा चुका है। इसमें आपने दांपत्य-प्रीति की मुख्यता अवश्य रक्खी है, किंतु है वह औवल दर्जे का। आपने अधिक स्थानों पर केवल नायक या नायिका का कथन नहीं किया है, वरन् प्रायः दोनो का मिला हुआ वर्णन दिया है। हमारी समझ में देव के इतर गुण इतने सबल हैं कि इनके भाषा-संबंधी गौरव को बिलकुल छोड़ देने में भी इनका नंबर वही-का-वही रहता है। मुख्य करके आप आचार्य हैं। भाव-भेद, रस-भेद, राग-भेद, अलंकार, पिंगल आदि, सभी में आपकी आचार्यता देख पड़ती है। इनके प्राप्य ग्रंथों से ये सब बातें प्रकट हैं। देवी-चरित्र में आपने भगवान् कृष्णचंद्र की कथा भी ख़ूब अच्छी कही है। देव-माया-प्रपंच-नाटक भी दर्शनीय है। जिन विषयों के उदाहरण इस ग्रंथ में बतलाए गए हैं, वे सब देव-सुधा में भी प्राचुर्य से प्राप्त हैं। अर्थ समझाकर परमोत्कृष्ट छंद सामने रखने को ही वह संग्रह किया गया है।

(४) देव ने ऊँचे ख़्यालात बहुत ही अधिक बाँधे हैं। ऐसे-ऐसे ऊँचे विचार सब कवियों में नहीं पाए जाते—

आरसी-से अंबर मैं आभा-सी उज्यारी लगै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिंब-सो लगत चंद।

आपके बराबर अमीरी का सामान बाँधनेवाला कोई भी कवि नहीं है। इनके छंदों में हर स्थान पर साज़-सामान ख़ूब देख पड़ता है। इससे विदित होता है कि यह महाराज अमीरों में रहे थे। रस-विलास के चौथे अध्याय के छंद ३०, ३१ और ३२ इस कथन के उदाहरण हैं। अष्टयाम में बहुत प्रकार के मकान कहे गए हैं।

इसी ऊँचे विचार और अमीरी से मिलता हुआ अतिशयोक्ति का विषय है। इसका भी देव की कविता में प्रभुत्व रहता है। इस कथन के उदाहरण-स्वरूप सुखसागर-तरंग के छंद १८०, २१४ हैं। तो भी इतना कहना पड़ेगा कि स्वभावोक्ति इनका प्रधान गुण है।

इन्होंने ग्रामीण नायिकाओं को इतना बढ़ाया है कि वे अन्य कवियों की नागरी नायिकाओं से भी अधिक नागरी देख पड़ती हैं। देवजी की नागरी नायिकाओं के वर्णन में तो सरसता, कोमलता आदि का वारापार नहीं है। इनका ग्रामीण उदाहरण लीजिए—

बारियै बैस, बड़ी चतुरै हौ, बड़े गुन 'देव' बड़ीयै बनाई ;
सुंदरै हौ, सुघरै हौ, सलोनी हौ, सील-भरी रस-रूप-सनाई।
राज-बधू बलि राज-कुमारि, अहो सुकुमारि न मानौ मनाई ;
नैसुक नाह के नेह बिना चकचूर ह्वै जैहै सबै चिकनाई ॥१५॥

(५) देव की कविता में हृदय पर चोट करनेवाले चित्त के सच्चे भाव बहुत अधिकता से पाए जाते हैं। ऐसे कलेजा निकालकर सामने रख देनेवाले विशद पद्य बहुत कम कवियों में मिलते हैं। इन्हें केवल वे ही कवि बना सकते हैं, जो किसी विषय में बिलकुल तल्लीन हो गए हों। ऐसे पद्य प्रेमालाप में बहुत आते हैं, अतः प्रेम-चंद्रिका में ये बहुतायत से आए हैं। प्रेम का आपने अद्वितीय-प्राय कथन किया है। उदाहरण-स्वरूप सुखसागर-तरंग के पद्य ५८१, ६०२, ६२४, ७७७ और ८२१, सुंदरी-सिंदूर का तीसरा पद्य, प्रेम-चंद्रिका के तीसरे अध्याय के छंद ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ५०, ५१ और चौथे अध्याय का पाँचवाँ छंद देखिए। प्रेम-चंद्रिका के उदाहरण में जो दो पद्य ऊपर लिखे जा चुके हैं, वे इसके भी उदाहरण हैं। अपने छंदों में मन पर भी आपने अच्छे-अच्छे भाव बाँधे हैं। देव-सुधा में इनका प्राचुर्य है।

(६) देवजी ने उपमाएँ बहुत खोज-खोजकर दी हैं। उपमा

तथा उससे मिलते हुए रूपक आदि अलंकारों के कुछ उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं—

उर में उरोज जैसे उमगत पाग है।

साँवरेलाल को साँवरो रूप मैं नैनन को कजरा करि राख्यो।

सुखसागर-तरंग के छंद ३०७, ३५२, ३७०, ४११, ५३६, ६५४, ८२४ और सुंदरी-सिंदूर का ४५वाँ छंद भी देखने योग्य है। इन्होंने ऐसी अनूठी उपमाएँ लिखी हैं, जो केवल यही लिखते हैं, दूसरा नहीं। कुछ और छंद या छंदांश यहाँ भी लिखे जाते हैं—

.देव कछू अपनो बस ना, रस, लालच लाल चितै भईं चेरी;
बेगि ही बूड़ि गईं पँखियाँ अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी।

(प्रेम-चंद्रिका)

देवजू द्वार किंवारन हू झँझरीन, झरोखन झाँकि फिरी त्यों;
हीन ज्यों मीन जरा की भई है, फिरै फरकै ापजरा की चिरी ज्यों।

(प्रेम-चंद्रिका)

सुघर सोनार रूप सुबरनचोर दृग,
कोरि हरि लेत रवा राखत न राई-सी;
× × ×
घर-घरिया मैं घुरी, घरी मैं उघरि आई,
फैली जाति फूल नहीं फिरति गराई-सी;
'देव'जू सोहाग-रंग आँचन तचाई सोई,
रचना सिराति तची कंचन सिराई-सी।

(प्रेम-चंद्रिका)

नाथ्यो जो फनिंद इंद्रजालिक गोपाल गुन,
गाड़रू सिंगार रूप-कला अकुलाई है;

लीलि-लीलि लाज दृग मीलि-मीलि काढ़ी कान्ह,
कीलि-कीलि ब्यालिनी-सी ग्वालिनी बोलाई है।
(प्रेम-चंद्रिका)

चौंकि-चौंकि चकित चितौती चहुँ ओर, भई
साँझ की-सी चकई चकोरी मनो मोर की।
(प्रेम-चंद्रिका)

बालपनो, तरुनापनो बाल को, 'देव' बराबरि केवल बोलै,
दोऊ जवाहिर जौहरी मैन, सुनैन-पजानि तुला धरि तोलै।
(सुजान-विनोद)

देव तेऽब गोरी के बिलात गात बात लगे,
ज्यों-ज्यों सीरे पानी पीरे पात से पलटियत।
(सुजान-चरित्र)

पतिब्रत-ब्रती ये उपासी प्यासी अँखियन,
प्रात उठि पीतम पियायो रूप पारनो।
बड़े-बड़े नैनन ते आँसू भरि-भरि ढरि,
गोरो-गोरो मुख आजु ओरो-सो बिलानो जात।
(सुजान-चंद्रिका)

बेलि बधून सों केलि कै पौन अन्हाय सरोजन के रस भीने;
नायक लौं निकसी तजि कुंजन गुंजन सों अलि-पुंजन लीने।
(देव-माया-प्रपंच-नाटक)

कुल की-सी करनी, कुलीन की-सी कोमलता,
सील की-सी संपति सुसील कुल कामिनी;
दान को-सो आदर, उदारताई सूर की-सी,
गुनी की लोनाई, गुनमंती गजगामिनी।
ग्रीषम को सलिल, सिसिर को-सो घाम 'देव',
हेउँत हसंती, जलदागम की दामिनी;

पून्यो को-सो चंद्रमा, प्रभात को-सो सूरज,
सरद को-सो बासर, बसंत की-सी जामिनी ॥ १६ ॥

(देव-माया-प्रपंच-नाटक)

हाय दई, यहि काल के ख्याल मैं फूल-से फूलि सबै कुम्हिलाने ।

(देव-माया-प्रपंच-नाटक)

ताहि चितौत बड़ी अँखियान ते,
ती की चितौनि चली अति ओज की ;
बालम ओर बिलोकि कै बाल,
दई मनो खैंचि स-नाल सरोज की ।

(सुजान-चरित्र)

आरसी-से अंबर मैं आभा-सी उज्यारी लगै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिंब-सो लगत चंद ।

(सुजान-चरित्र)

बालम के उर मैं उरमै, सु-सदा लपटी रहै साल-पटी-सी ।

(सुजान-चरित्र)

जो छंद अंत में कविता के उदाहरण-स्वरूप लिखे गए हैं, उनमें भी कितने ही उपमा आदि के लिये भी दर्शनीय हैं ।

इन्होंने सर्वांग-रूपक बड़े ही विशद कहे हैं । यथा—सुखसागर-तरंग के छंद २२४, ६४३, ८१७, २३८, सुंदरी-सिंदूर के ६, ६, ३७, ६८, रस-विलास के सातवें अध्याय का छंद ४६, शब्द-रसायन के नवें अध्याय का छंद ७३ ।

(७) देवजी ने बहुत-से चोज भी कहे हैं, यथा—

जोगहू ते कठिन सँजोग पर-नारी को ।
सुख थोरो अरु दुख बड़ो परकीया की प्रीति ।
है परमेसुर ते पति नीको, सदा पतिनी को जो लोक-लहावै ;
'देवजू' तासों कहा कहिए, दुख कै सुख सो सहिए जो सहावै ।

दूरि ही ते रहिए कर जोरे, भले गहिए पग जो पै गहावै ;
रारि करै मनुहारि बिसारि, परै कुल-गारि कुनारि कहावै ॥ १७ ॥

(८) इनकी कविता से विदित होता है कि यह अभिमानी भी बड़े थे, और इन्हें किसी की बरदाश्त न थी। इनकी बहुज्ञता भी बहुत बढ़ा-चढ़ी थी। प्राय: सभी विषयों का इन्हें ख़ासा ज्ञान था। इतने अनमेल विषयों पर किसी ने कविता नहीं की है। इन्होंने काव्य-रीतियों पर भी बड़ी दृढ़ता से गमन किया है। देव-ग्रंथावली प्रथम भाग की भूमिका में हमने देव के अनेक सद्गुणों के उदाहरण-स्वरूप उन छंदों का हवाला दिया है, जो उन्हीं ग्रंथों में हैं। उन सब छंदों को यहाँ दोहराने से ग्रंथ का आकार बहुत बढ़ जायगा, इसीलिये यहाँ थोड़े में उनका कथन किया जाता है। जो महाशय वे सब छंद देखना चाहें, वे उस ग्रंथ को पढ़ने की कृपा करें। उक्तियों का देव की कविता में अच्छा समावेश है। अन्योक्ति, लोकोक्ति, स्वभावोक्ति आदि के आपने अच्छे उदाहरण दिए हैं। काकु, अत्यंत तिरस्कृतवाच्य-ध्वनि आदि के अच्छे उदाहरण इनकी रचना में मिलेंगे। इशारों तथा ध्वनियों में कहीं-कहीं आपने बड़े चमत्कार-पूर्ण भाव रक्खे हैं। बहुत स्थानों पर अनेकानेक भावों का आपने एक ही छंद में बड़ा विशद वर्णन किया है। ऐसा भाव-समुच्चय बड़े-बड़े कवि ही दिखला सकते हैं। लाज, मन आदि को संबोधित करके देव ने कई बहुत अच्छे-अच्छे छंद कहे हैं। प्रेम और योग तथा योग और वियोग को मिला-मिलाकर आपने अच्छे-अच्छे भाव दिखलाए हैं। यद्यपि प्रकृति-निरीक्षण के फल आपकी रचना में बहुतायत से नहीं, तथापि इस संबंध के छंदों की संख्या बहुत कम भी नहीं है। आपने अनेक अनमिल विषयों पर सफलता-पूर्वक रचना की है, जैसा कि ऊपर लिखे हुए इनके ग्रंथों से विदित हुआ होगा। आप भाषा-साहित्य के बहुत बड़े आचार्य थे। आपने दशांग कविता पर

अनेकानेक रीति-ग्रंथ बनाए हैं, और भाव-भेद, रस-भेद तथा प्रेम का कई बार भिन्न-भिन्न प्रकार से अनूठा, हृदयग्राही तथा मनोरम वर्णन किया है। आपकी रचना में शृंगार-रस की विशेषता अवश्य है, परंतु फिर भी उसमें सदैव सदुपदेश दिए गए, और प्रेम का भाव बहुत ऊँचा रक्खा गया है। शृंगारी कवि होने पर भी आपने वैराग्य, राग, माया, आत्मज्ञान, वृक्ष, पावस, नीति आदि पर अनमोल ग्रंथ रचे। कवि-कर्तव्य आपकी सम्मति में कितना ऊँचा है, यह दिखाने को आपका एक छंद यहाँ दिया जाता है—

जाके न काम, न क्रोध, बिरोध न, लोभ छुवै नहिं छोभ को छाहौ;
मोह न जाहि रहै जग-बाहिर, मोल जवाहिर ता अति चाहौ।
बानी पुनीत ज्यों देव-धुनी, रस-आरद सारद के गुन गाहौ;
सील ससी सविता छविता, कबिताहि रचै कवि ताहि सराहौ ॥१८॥

(प्रेम-चंद्रिका)

(६) देवजी की कविता के गुण-दोष हम सूक्ष्मतया ऊपर दिखा चुके। यों तो इनकी कविता के गुण अगाध हैं, और उनका वर्णन करना कठिन काम है, तथापि यथासाध्य हमने उनको थोड़े में स्थालीपुलाकन्याय से दिखा दिया है। जिस प्रकार लोग सूरदास और तुलसीदास की स्तुति कर गए हैं, उसी प्रकार इनकी भी की गई है। इनके विषय में निम्न-लिखित छंद हमने सुना है, जो सुखसागर-तरंग की भूमिका में हमारे पूज्य पिता ने भी लिखा—

सूर सूर, तुलसी सुधाकर, नछत्र केसौ,
सेष कबिराजन को जुगुनू गनायकै;
कोऊ परिपूरन भगति दिखरायो, अब
काव्य-रीति, मोसन सुनहु चित लायकै।
'देव' नभ-मंडल समान है कबीन मध्य,
जामैं भानु, सितभानु, तारागन आयकै;

उदै होत, अथवत, चारो ओर भ्रमत, पै
जाको ओर-छोर नहिं परत लखायकै।

कुछ लोगों का यह भी विचार है कि बिहारीलाल देव से श्रेष्ठ कवि हैं। किसी-किसी को यहाँ तक संदेह हुआ है कि हमने बिहारी का वर्णन जो नवरत्न में किया है, उसका एकमात्र अभिप्राय उस महाकवि की निंदा करनी है। ऐसे लोगों से हम क्षमा के प्रार्थी हैं, और उन्हें निश्चय दिलाते हैं कि हमने जो कुछ लिखा है, वे हमारे शुद्ध विचार हैं। उनका कहना है कि देव के कितने ही छंद बहुत कठिन हैं, अतः रचना में प्रसाद-गुण नहीं है। यदि १०० छंदों में पाँच कठिन हों, जैसा कि है भी, तो पूरी रचना में प्रसाद का अभाव नहीं माना जा सकता। इसी भाँति यदि देव ने कुछ शब्द मरोड़े हों, तो कोई हानि नहीं, क्योंकि ऐसे शब्दों का पड़ता इनकी रचना में अधिक न बैठेगा।

देवजी की कविता में जो गुण हैं, वे अद्वितीय हैं। ऐसी बढ़िया कविता किसी कवि के किसी ग्रंथ में, एक स्थान पर, नहीं पाई जाती। जैसे विशद छंद इनकी कविता में सैकड़ों पाए जाते हैं, वैसे छंद किसी कविता में, किसी स्थान पर, न निकलेंगे। ये सब बातें होते हुए भी हम इनको भाषा-साहित्य में सर्व-श्रेष्ठ कवि नहीं कह सकते। इनको किसी कवि से न्यून कहना इनके साथ अन्याय समझ पड़ता है, परंतु इनको सर्व-श्रेष्ठ कहना गोस्वामी तुलसीदास तथा महात्मा सूरदास के साथ भी अन्याय होगा। सिवा इन दोनो महात्माओं के और किसी तृतीय कवि की तुलना देवजी से कदापि नहीं की जा सकती। शेष कवियों से और देवजी से बहुत बड़ा अंतर है, और जो देवजी के प्रधान गुण हैं, उनमें इनकी कविता और उपर्युक्त दोनो महात्माओं की कविता में भी बहुत बड़ा अंतर है; क्योंकि

वे महात्मा भी उन गुणों को अपनी-अपनी कविता में सन्निविष्ट करने में देवजी के सामने नितांत असमर्थ रहे ; परंतु जो बहुतेरे गुण सूरदास तथा तुलसीदास की कविता में हैं, वे गुण देवजी भी नहीं ला सके हैं। यदि देवजी किसी भारी कथा-प्रसंग का काव्य करते, तो नहीं मालूम, उनका वर्णन कैसा होता। संभव है, वह भी वैसा काव्य कर सकते, जैसा उन महात्माओं ने किया है, परंतु जब तक कोई वैसा साहित्य रचकर दिखा न दे, तब तक यह कहा नहीं जा सकता कि वह अवश्य ऐसा कर सकता है, चाहे जितना बड़ा कवि वह क्यों न हो। सूरदास की साधारण कविता से तो देवजी की कविता की कोई भी तुलना नहीं की जा सकती, परंतु सूर-कृत उत्कृष्ट प्रबंधों की बराबरी देव का कोई भी ग्रंथ नहीं कर सकता। सूर का कोई भी पद देवजी के कवित्तों के बराबर मनोहर नहीं है, परंतु उनके कुछ परमोत्तम प्रबंध ऐसे हैं कि वे बहुत ही आला दरजे के हैं, और उनके सम्मिलित प्रभाव की समता देवजी का कोई भी वर्णन नहीं कर सकता। ये बातें गोस्वामी तुलसीदास के विषय में भी चरितार्थ होती हैं। देव-कृत छंदों की उत्तमता को तो कोई भी कवि नहीं पहुँचता, परंतु इसी प्रकार गोस्वामीजी का भी सदा ही निभनेवाला औचित्य बहुत ही अद्वितीय है। तुलसीदास की रचना हर स्थान पर अत्यंत सराहनीय है, और सैकड़ों पृष्ठों तक वह शिथिल नहीं हुई है। अतः हम यह नहीं कह सकते कि कुल मिलाकर ये दोनो महात्मा देवजी से श्रेष्ठ नहीं हैं।

ये तीनो महापुरुष भाषा-साहित्य के भूषण हैं, और अपने-अपने ढंग पर तीनो अनमोल हैं। इनके विषय में न्यूनाधिक कहना मत-भेद से ख़ाली नहीं है। इन तीनो के भक्त अपने-अपने कवि को सर्वोत्तम मानते हैं। हमने इन तीनो महाकवियों के ग्रंथ बहुत

ध्यान-पूर्वक पढ़े हैं, और हम तीनो को महान् समझते हैं। संभव है, इनके विषय में जो कुछ हमने कहा है, वह अन्य साहित्यानुरागियों को यथार्थ न जँचे, और इसमें हम यह नहीं कह सकते कि यह उनकी भूल अवश्य होगी, परंतु जहाँ तक हमें समझ पड़ा, हमने इनके विषय में अपना मत प्रकट किया। इतना अवश्य निश्चित है कि इन तीनो महानुभावों के बराबर कोई चौथा कवि किसी प्रकार नहीं पहुँचता, क्योंकि यदि इन तीनो में ९० और १०० का अंतर है, तो शेष में इनसे सत्तर और सौ का अंतर निकलेगा। कुछ लोगों को यह वास्तविक भ्रम है कि बिहारी सचमुच देव से श्रेष्ठ कवि हैं। इस विचार की पुष्टि में वे देव-कृत हज़ारों छंदों से कुछ साधारण पद निकालकर उनका बिहारी के अच्छे दोहों से मिलान करते हैं। उनका यह विचार शुद्ध शंकामय समझकर हमने देव के २७१ अच्छे छंद चुनकर देव-सुधा संग्रह प्रकाशित किया है। उसे देखकर पाठक सहज में ही समझ सकेंगे कि इन दोनो कवियों में से चुने हुए छंद किसके अच्छे हैं, और कौन कैसा है? हम अपने विचारों को ठीक समझते हैं; सो स्वाभाविक ही है। इन महाशय की कविता का बड़ा भाग अध्यात्म-संबंध पर भी है।

देवजी के विषय में एक अपना छंद लिखकर हम यह प्रबंध समाप्त करते हैं—

देव सुकवि ने बिरच छंद अनुपम टकसाली;
भाषा की सरबोच्च दिखाई छटा निराली।
देस-देस की बिसद तरुनिगन बरन सुनाया;
कर बरनित प्रति जाति सभी का रूप दिखाया।
दस अंग काव्य, बैराग, त्यों राग-भेद सब कुछ कहा,
सब कवियों में यह एक कवि भाषा का राजा रहा।

देवजी की रचना के कुछ उदाहरण आगे लिखे जाते हैं—

प्रेम-चंद्रिका

आँखिन आँखि लगाए रहैं, सुनिए धुनि कानन को सुखकारो ;
'देव' रही हिय मैं घरु कै, न रुकै, निसरै, बिसरै न बिसारो।
फूल मैं बासु ज्यों मूल सुबासु की, है फलि-फूल रही फुलवारी ;
प्यारी उज्यारी हिये भरिपूरि, सु दूरि न जीवनमूरि हमारी ॥ १ ॥

एकै अभिलाख लाख-लाख भाँति लेखियत,
देखियत दूसरो न 'देव' चराचर मैं ;
जासों मनु राचै तासों तनु मनु राचै, रुचि
भरि कै उघरि जाँचै साँचै करि कर मैं।
पाँचन के आगे आँच लागे तै न लौटि जाय,
साँच देइ प्यारे की सती लौं बैठि सर मैं ;
प्रेम सों कहत कोई ठाकुर न ऐंठो, सुनि,
बैठो गड़ि गहिरे तौ पैठो प्रेम-घर मैं ॥ २ ॥

औचक अगाध सिंधु स्याही को उमड़ि आयो,
तामैं तीनौ लोक बूड़ि गए एक संग मैं ;
कारे-कारे आखर लिखे जु कारे कागर,
सुन्यारे करि बाँचै कौन जाँचै चितभंग मैं।
आँखिन मैं तिमिर अमावस की रैनि, जिमि
जंबु - रस - बुंद जमुना जल तरंग मैं ;
यों ही मन मेरो मेरे काम को न रह्यो माई,
स्याम रंग ह्वै करि समान्यो स्याम रंग मैं ॥ ३ ॥

वारै कोरि इंदु अरबिंदु रसबिंदु पर,
मानै ना मलिंद बिंदुसम कै सुधासरो ;
मलै, मल्लि, मालती, कदंब, कचनार, चंपा,
चपेहू न चाहै चित चरन टिकासरो।

पदुमिनि तुही षटपदु को परम पदु,
'देव' अनुकूल्यो और फूल्यो तो कहा सरो ;
रस, रिस, रास, रोस आसरो सरन, बिसे
बीसो बिसबास रोकि राख्यो निसि-बासरो ॥ ४ ॥

को कुल या ब्रज गोकुल दो कुल दीप-सिखा-सी ससी-सी नहीं भरि ;
त्यों नतिन्हें हरि हेरत री रँगराती न जो अँगराती गरे परि ।
जो नवला नव-इंदुकला ज्यों लखी परै प्रेम रची पिय सों बरि ;
भेटत देखि बिसेखि हिये ब्रजभूभुज 'देव' दुहूँ भुज सों भरि ॥ ५ ॥

प्रेम कहानिन सों पहिले हरि कानन आनि समीप किए तैं ;
चित्र चरित्रन मित्र भए सपने महँ मोहिं मिलाइ लिए तैं ।
'देवजू' दूरि ते दौरि दुराइ कै प्रेम सिखाइ दिखाइ दिए तैं ;
बारिज-से बिकसे मुख वै निकसे इत ह्वै निकसे न हिए तैं ॥ ६ ॥

'देव' न देखति हौं दुति दूसरी देखे हैं जा दिन ते ब्रजभूप मैं ;
पूरि रही री वही धुनि कानन आन न आनन ओप अनूप मैं ।
ये अँखियाँ सखियाँ न हमारियै जाय मिलीं जल-बुंद ज्यों कूप मैं;
कोटि उपाइ न पाइय फेरि, समाइ गईं रँगराइ के रूप मैं ॥ ७ ॥

लाल बुलाई है,को हैं वे लाल ? न जानती हौ तौ सुखी रहिबो करि;
री सुख काहे को देखे बिना दिखसाधन ही जियरा न परयो जरि ।
'देव'तौ जानि अजान क्यों होति ? इती सुनि आँसुन नैन लए भरि;
साँची बुलाई, बुलावन आई, हहा कहु मोहिं कहा कहिहैं हरि ॥ ८ ॥

जागत-जागत खीन भई अब लागत संग सखीन को भारो ;
खेलिबोऊ हँसिबोऊ कहा सुख सों बसिबो बिसे बीस बिसारो ।
प्यौ-सुधि दौस गँवावति 'देवजू' जामिनि जाम मनौ जुग चारो ;
नीरजनैनी निहारिए नैनन धीरज राखत ध्यान तिहारो ॥ ६ ॥

साँसन हीं सों समीर गयो अरु आँसुन हीं सब नीर गयो ढरि ;
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि ।

'देव' जियै मिलिबेई कि आस कै आस हू पास अकास रह्यो भरि ;
जा दिन ते मुख फेरि हरे हँसि हेरि हियो जु लियो हरिजू हरि ॥१०॥

रीझि-रीझि, रहसि-रहसि, हँसि-हँसि उठैं,
साँसैं भरि, आँसू भरि, कहत दई-दई ;
चौंकि-चौंकि, चकि-चकि, उचकि-उचकि 'देव'
जकि-जकि, बकि-बकि, परत बई-बई ।
दुहुन को रूप-गुन दोऊ बरनत फिरैं,
घर न थिरात रीति नेह की नई-नई ;
मोहि-मोहि मोहन को मन भयो राधिकामै,
राधा मन मोहि-मोहि मोहन मई-मई* ॥ ११ ॥

पीछे तिरीछे चितौनि सोई इत व चितवैं री लला ललचो हैं ;
चौगुनो चाउ चवाइन के चित चाव चढ़ो है चवाउ मचो हैं ।
जोबनु आयो न पापु लग्यो कवि 'देव' रहैं गुरु लाग रिसौंहैं ;
जी मैं लजैए जु जैए कहूँ तित पैए कलंक चितैए जु सोहैं ॥१२॥

प्रेम-चरचा है अरचा है कुलनेम, न
रचा है चित और अरचा है चित्तचारी को ;
छोड़यो परलोक नर-लोक बरलोक कहा,
हरख न सोक न अलोक नर-नारी को ।
घाम, सीत, मेह न बिचारै सुख देह हू को,
प्रीतम सनेह डरु बन न अँध्यारी को ;
भूलेहू न भोग, बड़ी बिपति, बियोग-बिथा,
जोग हू ते कठिन सँजोग परनारी को ॥ १३ ॥

नेवर के बजत कलेवर कँपत 'देव',
देवर जगै न लगे सोवत तनक ते ;

---

* मई मई भी पाठ है ।

ननद नछीछी त्योरी तोरति तिरीछी, लखि
बीछी-कैसो बिषु बगरावैगी भनक ते।
देखिए कठिन साथ गहौ जू हठि न हाथ,
कैसे कहौं जाहु नाथ आए हौ बनक ते;
बस ना हमारो रंगरस न बनत, चौंकि
रसना दसन दावै रसना झनक ते ॥ १४ ॥

बारिधि बिरह बड़ी बारिधि की बड़वागि,
बूड़े बड़े-बड़े जहाँ पारे प्रेम-पुलते;
गरुओ दरब 'देव' जोबन गरब गिरि,
परयो गुन टूटि छूटि बुधि-नाउ डुलते।
मेरे मन तेरी भूल, मरी हौं हिये की सूल,
कीन्ही तिन तूल, तूल अति ही अतुलते;
भावते ते भोंडी करी, मानिनी ते मोंड़ी करी,
कौड़ी करी हीरा ते, कनौडी करी कुल ते ॥ १५ ॥

आपुस मैं रस मैं रहसैं बहसैं बनि राधिका कुंजबिहारी;
स्यामा सराहत स्याम कि पागहि, स्याम सराहत स्यामा कि सारी।
एकहि दर्पन देखि कहै तिय, नीके लगौ पिय, प्यौ कहै प्यारी;
'देवजू' बालम बाल को बादु बिलोकि भई बलिहौं बलिहारी ॥१६॥

अंबकुल, बकुल, कदंब, मल्ली, मालती,
मल्लेजन को मींजिकै गुलाबन की गली ह्वै;
को गनै अलपतरु, जीसौं जो कलपतरु,
तासों बिकलप क्यों अलपमति अली ह्वै।
चित जाके चाय-चढि चंपक चपायो कोन,
मोचि मुख सोचि है सकुचि चुप चली ह्वै;
कंचन बिचारे रुचि पंचम मैं पाई 'देव',
चंपावरनी के गरे परयो चंपकली ह्वै ॥ १७ ॥

धार मैं धाइ धँसीं निरधार ह्वै जाय फँसीं उकसी न अबेरी ;
री अँगराइ गिरीं गहिरी गहि फेरे फिरीं औ घिरीं नहिं घेरी ।
'देव' कछू अपनो बसु ना रस-लालच लाल चितै भईं चेरी ;
बेगि ही बूड़ि गईं पँखियाँ अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी ॥१८॥
पहिले सतराइ रिसाइ सखी जदुराइ पै पाँय गहाइए तौ ;
फिरि भेंटि भटू भरि अंक निसंक बड़े खन लौं उर लाइए तौ ।
अपनो दुख औरनि कोउ पहासु सबै कबि 'देव' जताइए तौ ;
घनस्यामहिं नेकहुँ एक घरी को इहाँ लगि जो करि पाइए तौ ॥ १९ ॥
जीभ कुजाति न नेकु लजाति गन कुल-जाति न बात बह्यो करै ;
'देव' नयो हिय नेह लगाय विदेह कि आँचन देह दह्यो करै ।
जीव अजान न जानत ज्ञान जो मैन अयान के ध्यान रह्यो करै ;
काहे को मेरो कहावत मेरो जु पै मन मेरो न मेरो कह्यो करै ॥ २० ॥

रीझे सुख पाऊँ औ न खीझे सुख पाऊँ, मेरे
रीझ खीझ एकै रँग राग्यो सोई रागि चुक्यो ;
जस-अपजस, कुबड़ाई औ बड़ाई, गुन-
औगुन न जान्यो, जीव जाग्यो सोई जागि चुक्यो ।
कौन काज गुरुजन बरजैं जु दुरजन,
कैसो कुल-नेम प्रेम पाग्यो सोई पागि चुक्यो ;
लोगन लगायो सुनौ ला ग्यौ अनलाग्यौ 'देव',
पूरो पन लाग्यौ मन लाग्यौ सोई लागि चुक्यो ॥२१॥

कोऊ कहौ कुलटा, कुलीन, अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि, कलंकिनि, कुनारी हौं ;
कैसो परलोक, नरलोक बर लोकन मैं
लीन्हों मैं अलोक लोक-लीकन ते न्यारी हौं ।
तन जाहि, मन जाहि 'देव' गुरुजन जाहि,
जीव क्यों न जाहि, टेक टरति न टारी हौं ;

वृंदावनवारी बनवारी के मुकुट पर
पीत पटवारी वहि मूरति पै वारी हौं ॥ २२ ॥

कैसी कुल-बधू ? कुल कैसो ? कुल-बधू कौन ?
तू है, यह कौन पूँछै काहू कुलटाहि री ?
कहा भयो तोहि ? कहा काहि तोहिं मोहिं कीधौं
कीधौं और का ह्वै और कहा न तौ काहि री ?
जाति ही ते जाति, कैसी जाति ? को है जाति ? एरी
तोसों हौं रिसाति, मेरी मोंसों न रिसाहि री ;
लाज गहु, लाज गहु, लाज गहिबे हौं रही,
पंच हँसिहैं री, हौं तौ पंचन ते बाहिरो ॥ २३ ॥

बोरयो बंस-बिरद मैं बौरी भई बरजत,
मेरे बार-बार बीर कोई पास पैठौ जनि ;
सिगरी सयानी तुम बिगरी अकेली हौं ही,
गोहन मैं छाँड़ौ मोसों भौंहन अमैठौ जनि ।
कुलटा, कलंकिनी हौं, कायर, कुमति, कूर,
काहू के न काम की निकाम याते ऐंठौ जनि ;
'देव' तहाँ बैठियत, जहाँ बुद्धि बढ़ै, हौं तौ
बैठी हौं बिकल, कोई मोहिं मिलि बैठौ जनि ॥ २४ ॥

जिन जान्यौ बेद ते तौ बाद कै बिदित होहिं,
जिन जान्यो लोक तेऊ लीक पै लरि मरौ ;
जिन जान्यो तपु तीनो तापन सों तपि, जिन
पंचागिनी साध्यो ते समाधिन परि मरौ ।
जिन जान्यौ जोग तेऊ जोगी जुग-जुग जियो,
जिन जान्यौ जोति तेऊ जोति लै जरि मरौ ;
हौं तौ 'देव' नंद के कुमार तेरी चेरी भई,
मेरो उपहास क्यों न कोटिन करि मरौ ॥ २५ ॥

मोहिं तुम्हें अंतरु गनैं न गुरुजन, तुम
मेरे, हौं, तुम्हारी, पै तऊ न पविलत हौ;
पूरि रहे या तन मैं, मन मैं न आवत हौ,
पंच पूँछि देखे, कहूँ काहू ना हिलत हौ।
ऊँचे चढ़ि रोई; कोई देत न दिखाई 'देव',
गातन की ओट बैठे बातन गिलत हौ;
ऐसे निरमोही सदा मोही मैं बसत अरु
मोही ते निकरि फेरि मोंही न मिलत हौ॥ २६॥

को हमको तुम-से तरुसा बिन जोग सिखावन आइहै ऊधो;
पै अब एही कहौ उनको पिछलो सुधि आवति है कबहू धो ?
एक भली भई भूप भए जिन्हैं भूलि गए दधि, माखन दूधो;
कूबरी-सी अति सूधी वधू वरु पायो भलो घनस्याम-सो सूधो॥२७॥

रावरो रूप रह्यो भरि नैननि, बैननि के रस सों स्रुति सानों;
गात मैं देखत गात तुम्हारेई, बात तुम्हारिए बात बखानों।
ऊधो, हहा हरि सों कहियो, तुम हौ न इहाँ, यह हौं नहिं मानों;
या तन ते बिछुरे तो कहा, मन ते अनते जु बसौ तब जानों॥२८॥

जौ न जी मैं प्रेम, तब कीजै व्रत-नेम, जब
कंज-मुख भूलै, तब संजम बिसेखिए;
आस नहीं पी की, तब फास नहीं बाँधियत,
सासन कै साँसन को मूँदि पति पेखिए।
नख ते सिखा लौं सब स्याममई बाम भई,
बाहिर हू भीतर न दूजो 'देव' देखिए;
जोग करि मिलैं जो बियोग होय बालम, जु
ह्याँ न हरि होयँ, तब ध्यान धरि देखिए॥ २९॥

जोगहि सिखै हैं ऊधौ जो गहि कै हाथ हम,
सो न मन हाथ, ब्रजनाथ साथ वे चकीं;

'देव' पंचसायक नचाय खोलि पंचन मैं,
पंचहू करनि पंचामृत सो अचै चुकीं।
कुल-बधू ह्वैकै हाय कुलटा कहाईं, अरु
गोकुल मैं, कुल मैं, कलंक सिर लै चुकीं;
चित होत हित न हमारे नित और, सो तौ
वाही चितचोरहि चितौत चित दै चुकीं॥ ३०॥
'देव' प्रीति-पंथा चीरि, चीर गरे कंथा डारि,
भसम रमाय खान-पान हू न छूजिए;
दूरि दुख-दुंद राखि, मुंदरा पहिरि कान,
ध्यान सुंदरानन गुरू के पग पूजिए।
शृंगी की टकी लगाय, भृंगी-कीट कै मनु,
बिरागिनि ह्वै बपु बिरहागिनि मैं भूजिए;
केली तजि राधिका अकेली होय जोगिनि, तौ
अलख जगाय हेली चेली चलि हूजिए॥२१॥
अंजन सों रंजित निरंजनहि जानैं कहा,
फीको लगै फूलरस चाखे हो जु बौड़ी को;
तूरज बजाय सूर सूरज को बेधि जाय,
ताहि कहा सबद सुनावत हौ डौंड़ी को।
ऊधो पूरे पारखी हौ, परखे बनाय 'देव',
वारही पै बोरौ पैरवैया धार औड़ी को;
मनु-मनिका दै हरि-हीरा गाँठि बाँध्यो हम,
तिन्हैं तुम बनिज बतावत हौ कौड़ी को॥२२॥
कुबिजा कितेब दुबिजा के रहे आपु 'देव',
अंसअवतारी अवतारी जिन गनिका;
आरति न राखत निवारत नरक ही ते,
तारत तिलोक चरनोदक की कनिका।

उनके गुनानुबाद तुम-सों सुने हैं ऊधो,
गोपिन को सूधो मत प्रेम की जवनिका ;
कुंजन मैं टेरिहैं जु स्याम को सुमिरि नीके,
हाथ लै न फेरिहैं सुमिरिनी के मनिका ॥२३॥

मंद महामोहक मधुर सुर सुनियत,
धुनियत सीस बँधी बाँसी है, री बाँसी है ;
गोकुल की कुल-बधू को कुल सम्हारै नहीं,
दो कुल निहारैं, लाज नासी है, री नासी है।
काहि धौं सिखावत, सिखै को काहि सुधि होय,
सुधि-बुधि कारे कान्ह डासी है, री डासी है ;
'देव' ब्रजवासी या बिसासी की चितौनि, वह
गाँसी है री हाँसी, वह फाँसी है, री फाँसी है ॥२४॥

फलि-फलि, फूलि-फूलि, फैलि-फैलि, झुकि-झुकि,
झपकि-झपकि आईं कुंजैं चहुँ कोद ते ;
हिलि-मिलि हेलिन को केलिन करन गईं,
बेलिन बिलोकि बधू ब्रज की बिनोद ते।
नंदजू की पौरि पर ठाढ़े हैं रसिक 'देव',
मोहनजू मोहि लीनी मोहिनी वे मोद ते ;
गाथन सुनत भूलीं साथन की, फूल गिरे
हाथन के हाथन ते, गोदन के गोद ते ॥२५॥

मोही मैं छिपे हौ मोहिं छुवावत न छाँहौ, तापै
छाँह भए डोलत, इते पै मोहिं छरिहौ ;
मच्छ सुनि, कच्छप, बराह, नरसिंह सुनि,
बामन, परसुराम, रावन के अरि हौ।
'देव' बलदेव, देव-दानव न पावैं भेव,
को हौ जू, कहौ जू जो हिये की पीर हरि हौ ?

कहत पुकारे प्रभु करुनानिधान कान्ह,
कान मूँदि, बौध ह्वै, कलंकी काहि करिहौ ? ॥२६॥
कंपत हियो, न हियो कंपत हमारो, क्यों
हँसी तुम्हैं अनोखी ? नेकु सीत मैं ससन देहु ;
अंबर हरैया हरि ! अंबर उजेरो होत,
हेरि कै हँसै न कोई, हँसै तौ हँसन देहु ।
'देव' दुति देखिबे को लोयन मैं लागी लखौ,
लोयन मैं लाज लागी, लोयन लसन देहु ;
हमरे बसन देहु, देखत हमारे कान्ह,
अजहूँ बसन देहु, ब्रज मैं बसन देहु ॥२७॥
बारे बड़े उमड़े सब जैबे को हौं न तुम्हैं पठवौं बलिहारी ;
मेरे तौ जीवन 'देव' यही धनु, या ब्रज पाई मैं भीख तिहारी ।
जानै न रीति अथाइन की, नित गाइन मैं बनभूमि निहारी ;
याहि कोऊ पहिचानै कहा, कछु जानै कहा मेरो कुंजबिहारी ॥२८॥

सुजान-विनोद

हौं हीं ब्रज, बृंदावन मोही मैं बसत सदा,
जमुना-तरंग स्यामरंग अवलीन को ;
चहूँ ओर सुंदर सघन बन देखियत,
कुंजनि मैं सुनियत गुंजनि अलीन की ।
बंसीबट-तट नटनागर नटत मो मैं,
रास के बिलास की मधुर धुनि बीन की ;
भरि रही भनक बनक ताल-तानिन की,
तनक-तनक तामैं झनक चुरीन की ॥ २९ ॥
भारी भरयो बिबि भौंहनि रूप सुडोर दुहूँ लचि छोरनि डोलै ;
बीको चुनी को लिलार मैं टीको सुटेकि लिलार खरे गुन खोलै ।

बालपनो तरुनापनो बाल को 'देव' बराबरि केवल बोलै ;
दोऊ जवाहिर जौहरी मैन सु नैन-पलानि तुला धरि तोलै ॥४०॥

माइ के अंक मैं सोई निसंक ह्वै पंकज-सी अँखियानि झकाझकी ;
त्यों सपने मैं लखे अपने पिय प्रेमपने छबि ही को छकाछकी ।
ठाढ़े ह्वै भेंटि भरी भुज गाढ़े ही बाढ़ी दुहू के हिये मैं सकासकी ;
'देव' जगी, रतिया हू गई, न तिया की गई छतिया की धकाधकी ॥४१॥

साँवरो सुंदर रूप बिसाल, अनूप रसाल बड़े-बड़े नैन री ;
या बन आवत गैयनि लैं नित 'देव' दिखैयनि के चित चैन री ।
मैं हूँ सुनी सो कहा कहौं लाज की बात कहूँ सखि तू कहिऐ न री ;
वा जगवंचक देखे बिना दुखिया अँखियान न रंचक चैन री ॥४२॥

'बैरागिनि, कीधौं अनुरागिनि सोहागिनि तू,
'देव' बड़भागिनि, लजाति औ लरति क्यों ?
सोवति, जगति, अरसाति, हरखाति,
अनखाति, बिलखाति, दुख मानति, डरति क्यों ?
चौंकति, चकति, उचकति औ बकति,
बिथकति औ थकति, ध्यान धीरज धरति क्यों ?
मोहति, मुरति, सतराति, इतराति, साह-
चरज सराहि आहचरज मरति क्यों ॥ ४३ ॥

बैठी सीसमंदिर मैं सुंदरि सबारही की,
मूँदि कै किवार 'देव' छबि सों छकति है ;
पीत पट, लकुट, मुकुट, बनमाल धरि,
बेष करि पी को, प्रतिबिंब मैं तकति है ।
होति न निसंक, उर अंक भरि भेंटिबे को,
भुजनि पसारति, समेटति, जकति है ;
चौंकति, चकति, उचकति, चितवति, चहूँ,
झूमि ललचाति, मुख चूमि न सकति है ॥ ४४ ॥

प्रान-सों प्रानपती-सों निरंतर अंतर अंतर पारत हेरी ;
'देव' कहा कहौं बाहर हूँ, घर-बाहर हूँ रहै भौंह तरेरी।
लाज न लागति लाज अहे ! तोहिं जानी मैं आजु अकाजिनि एरी ;
देखन दे हरि को भरि नैन घरी छिन एक, सरीकिनि मेरी ॥४५॥
खोरि लौं खेलन आवति ए न तौ आलिन के मत मैं परती क्यों ;
'देव' गुपालहि देखति ए न तौ या बिरहानल मैं बरती क्यों।
माधुरी मंजु रसाल की बालि सु भालि-सी ह्वै उर मैं अरती क्यों ;
कोमल कूकि कै कोकिल कूर, करेजनि की किरचैं करती क्यों ॥४६॥
'देव' मैं सीस बसायो सनेह सों, भाल मृगम्मद बिंदु कै भाख्यो ;
कंचुकी मैं चुपरयो करि चोवा, लगाय लियो उर सों अभिलाख्यो।
लै मखतूल गुहे गहने, रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यो ;
साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैननि को कजरा करि राख्यो ॥४७॥

देखे, अनदेखे दुखदानि भए सुखदानि,
सूखत न आँसू सुख सोइबो हरे परो ;
पानी, पान, भोजन, सुजन, गुरजन भूले,
देव दुरजन लोग लरत खरे परो।
लागो कौन पाप, पल एकौ न परति कल,
दूरि गयो गेह, नयो नेह नियरे परो ;
होतो जो अजान, तौ न जानतो इतीकु बिथा,
मेरे जिय जान तेरे जानिबो गरे परो ॥ ४८ ॥
तेरो कह्यो करि-करि जीव रह्यो जरि-जरि,
हारी पाँय परि-परि, तऊ तैं न की सँभार ;
ललन बिलोके 'देव' पल न लगाए तब,
यों कल न दीनी तैं छलन उछलनहार।
ऐसे निरमोही सों सनेह बाँधि हौं बँधाई,
आपु बिधि बूड़यो माँझ बाधा-सिंधु निराधार ;

एरे मन मेरे, तैं घनेरे दुख दीन्हें, अब
ए केंवार दैकै तोहि मूँदि मारौं एक बार ॥४९॥
अरिकै वह आजु अकेली गई खरिकै हरि के गुन रूप लुही ;
उनहू अपनो पहिराइ हरा मुसक्याय कै गाय कै गाय दुही ।
कवि 'देव' कह्यौ किन कोऊ कछू तब ते उनके अनुराग छुही ;
सब ही सों यही कहै बालबधू, यह देखु री माल गोपाल गुही ॥५०॥
ना यह नंद को मंदिर है, बृषभान को भौन कहा जकती हौ ?
हौं हीं यहाँ तुम ही कहि 'देवजू' काहि धौं घूँघुट कै तकती हौ ?
भेंटती मोहिं भटू केहि कारन, कौन की धौं छबि सों छकती हौ ?
कैसी भई सो कह्यौ किन कैसे हू, कान्ह कहाँ हैं, कहा बकती हौ ॥५१॥

जब ते कुँवर कान रावरी कलानिधान,
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी-सी ;
तब ही ते 'देव' देखी देवता-सी, हँसति-सी,
खीझति-सी, रीझति-सी, रूसति-रिसानी-सी ।
छोही-सी, छली-सी, छीनि लीनी-सी, छकी-सी-छीन,
जकी-सी, टकी-सी लगी थकी थहरानी-सी ;
बीधी-सी, बधी-सी, बिष बूड़ी-सी, बिमोहित-सी,
बैठी वह बकति बिलोकति बिकानी-सी ॥ ५२ ॥

मंजुल मंजरी पंजरी-सी ह्वै मनोज के ओज सम्हारति चीर न ;
भूख न प्यास, न नींद परै, परी प्रेम अजीरन के जुर-जीरन ।
'देव' घरी-पल जाति घुरी, अँसुवानि के नीर उसास समीरन ;
आहन जाति अहीर अहे तुम्हैं कान्ह कहा कहौं काहू कि पीरन ॥५३॥

ना खिन टरत टारे, आँखि न लगत पल,
आँखिन लगे री स्यामसुंदर सलौन से ;
देखि-देखि गातन अघात न अनूप रस,
भरि-भरि रूप लेत लोचन अचौन से ।

एरी कहु को हो, हौं सु को हौं, कहा कहति हौं,
कैसे बन-कुंज 'देव' देखियत भौन-से;
राधे हौं सदन बैठी, कहती हौ कान्ह-कान्ह,
हा-हा कहि कान्ह वे कहाँ हैं, को हैं, कौन-से ॥ ५४ ॥

केलि के बगीचे लौं अकेली अकुलाइ आई
नागरि नवेली बेली हेरत हहरि परी;
कुंज पुंज तीर तहँ गुंजत भँवर-भीर,
सुखद समीर सीरे नीर की नहरि परी।
'देव' तेहि काल गूँधि ल्याई माल मालिनि, सो
देखत बिरह बिष-ब्याल की लहरि परी;
छोह-भरी छरी-सी छबीली छिति माहिं, फूल
छरी के छुअत फूलछरी-सी छहरि परी ॥ ५५ ॥

जगमगे जोबन जराऊ तरिवन कान,
ओंठन अनूठे रस-हाँसी उमड़े परत;
कंचुकी मैं कसे आवैं उकसे उरोज,
बिंदु-बंदन लिलार बड़े बार घुमड़े परत।
गोरे मुख सेत सारी कंचन किनारीदार,
'देव' मनि-झुमका झुमकि झुमड़े परत;
बड़े-बड़े नैन कजरारे, बड़े मोती नथ,
बड़ी बरुनीन होड़ा-होड़ी हुमड़े परत ॥ ५६ ॥

पामरिन पाँवड़े परे हैं पुर-पौरि लगि,
धाम-धाम धूपनि के धूम धुनियतु है;
कस्तुरी, अतरसार, चोबारस, घनसार,
दीपक हजारनि अँध्यार लुनियतु है।
मधुर मृदंग रागरंग के तरंगनि मैं
अंग-अंग गोपिन के गुन गुनियतु है;

'देव' सुखसाज, महाराज ब्रजराज आजु
 राधाजू के सदन: सिधारे सुनियतु है ॥ ५७ ॥
भरी दुपहरी हरी-भरी-फरी कुंज-मंजु,
 गुंज अलि-पुंजनि की, 'देव' हियो हरि जाति ;
सीरे नद-नीर, तरु सीतल-गहीर छाँह,
 सोवैं परे पथिक, पुकारैं पिकी करि जाति ।
ऐसे मैं किसोरी भोरी कोरी कुम्हिलाने मुख,
 पंकज-से पाँय धरा धीरज सों धरि जाति ;
सोहैं घाम स्याम मग हेरति हथेरी-ओट,
 ऊँचे धाम बाम चढ़ि आवति उतरि जाति ॥ ५८ ॥
हित की हितू री नहिं तू री समुझावै आनि,
 सुख-दुख मुख सुखदानि को निहारबो ;
अपने कहाँ लौं बालपने की बिकल बातैं,
 अपने जनहि सपने हू न बिसारबो ।
'देवजू' दरस बिनु तरसि मरयो हो, पग
 परसि जियैगो मन बैरी अनमारबो ;
पतिव्रत-व्रती ये उपासी प्यासी अँखियन,
 प्रात उठि पीतम पियायो रूप-पारनो ॥ ५९ ॥
सखी के सकोच गुरु-सोच मृगलोचनि
 रिसानी पिय सों, जु उन नेकु हँसि छुयो गात ;
'देव' वै सुभाय मुसुकाय उठि गए, यहि
 सिसिकि-सिसिकि निसि खोई, रोय पायो प्रात ।
कौन जानै बीर बिन बिरही बिरह-बिथा,
 हाय-हाय करि पछिताय न कछू सोहात ;
बड़े-बड़े नैननि ते आँसू भरि-भरि, ढरि,
 गोरो-गोरो मुख आजु ओरो-सो बिलानो जात ॥ ६० ॥

सूझत न गात बीति आई अधराति, अरु
सोए सब गुरुजन जानिकै बगर के ;
छिपिकै छबीली अभिसार को केंवार खोले,
खुलिगे खजाने चारु चंदन-अगर के।
'देव' कहै भौंर गुंजि आए कुंज-कुंजनि ते,
पूँछि-पूँछि पीछे परे पाहरू डगर के ;
देवता कि दामिनी, मसाल, किधौं जोतिजाल,
झगरे मचत जागे सगरे नगर के ॥ ६१ ॥

बालम बिरह जिन जान्यो न जनम-भरि,
बरि-बरि उठै ज्यौं-ज्यौं बरसै बरफ राति ;
बीजन डुलावत सखीजन सो सीतहू मैं,
सौतिन सराप तनतापनि तरफराति।
'देव' कहै साँसनि सों अँसुवा सुखात मुख
निकसै न बात, ऐसो सिसकी सरफराति ;
लौटि-लौटि परति करौंट खटपाटी लै-लै,
सूखे जल सफरी लौं सेज पै फरफराति ॥ ६२ ॥

आई खोरि-खोरि ते बधाई पिय आवनि की,
सुनि-सुनि कोरि-कोरि भावनि भरति है ;
मोरि-मोरि बदन निहारति बिहारभूमि,
घोरि-घोरि आनँद घरी-सी उघरति है।
'देव' कर जोरि-जोरि बंदत सुरन, गुरु
लोगनि के लोरि-लोरि पाँयन परति है ;
तोरि-तोरि माल पूरै मोतिन की चौक,
निवछावरि को छोरि-छोरि भूषन धरति है ॥ ६३ ॥

आवन सुन्यो है मनभावन को भावती ने,
आँखिन अनंद-आँसू ढरकि-ढरकि उठैं ;

'देव' दृग दोऊ दौरि जात द्वार-देहरी लौं,
केहरी-सी साँसैं खरी खरकि-खरकि उठैं।
टहलैं करति टहलैं न हाथ-पाँय, रंग-
महलै निहारि तनी तरकि-तरकि उठैं;
सरकि-सरकि सारी, दरकि-दरकि आँगी,
औचक उचौहैं कुच फरकि-फरकि उठैं ॥६४॥

केसरि, किंसुक औ बरना, कचनारनि की रचना उर-सूली;
सेवती, 'देव' गुलाब, मलैं मिलि, मालती, मल्लि, मलिंदनि हूली।
चंपक, दाड़िम, नूत महाउर पाँडर डार डरावनि फूली;
या मयमंत बसंत मैं चाहत कंत चल्यो हम ही किधौं भूली ॥६५॥

'देव' जौ बाहिर ही बिहरै, तौ समीर अमी-रस-बिंदु लै जैहै;
भीतर भौन बसै बसुधा ह्वै सुआ मुख सूँघि फनिंदु लै जैहै।
राखिहौ जौ अरबिंदहु मैं मकरंद मिलै तौ मलिंद लै जैहै;
जैए कहूँ यहि राखि गोबिंद कै इंदुमुखी लखि इंदु लै जैहै ॥६६॥

बारियै बैस, बड़ी चतुरै हौ, बड़े गुन 'देव', बड़ीयै बनाई;
सुंदरै हौ, सुघरै हौ, सलोना हौ, सील-भरी, रस-रूप-सनाई।
राजबधू बलि राजकुमारि अहो सुकुमारि न मानो मनाई;
नैसिक नाह के नेह बिना चकचूर ह्वै जैहै सबै चिकनाई ॥६७॥

भारे हौ भूरि भुराई भरे अरु भाँतिन-भाँतिन कै मनभाए;
भाग बड़ो वहि भावती को, जेहि भावते लै रँगभौन बसाए।
भेष भलोई भलो बिधि सों करि भूलि परे किधौं काहू भुलाए;
लाल भले हौ, भलो सुख दीनो, भली भई आजु, भले बनि आए॥६८॥

कंचन किनारीवारी सारी तास-की मैं
आस-पास झूमी मोतिन की झालरि एकहरो;
सीसफूल, बेना, बेंदी, बेसरि औ बीरनि की,
हीरनि की भीर मैं हँसनि-छबि छहरो।

चंद-से बदन भानु भई वृषभानुजाई,
नयन लुनाई की उवनि की-सी लहरी ;
काम धाम धौ ज्यौं पघिलतु घनस्याम मन,
क्यों सहैं समीप 'देव' दीपति दुपहरी ॥६९॥

देखि न परति 'देव' देखिबे की परी बानि,
देखि-देखि दूनी दिखसाध उपजति है ;
सरद-उदित इंदु बिंदु सों लगत, लखे
मुदित मुखारबिंद इंदिरा लजति है।
अद्भुत ऊख-सी, पियूष-सी मधुर धुनि,
सुनि-सुनि स्रवननि भूख-सी भजति है ;
मंत्री कर्‌यो मैन, परतंत्री कर्‌यो बैन नीके,
बिना तार-तंत्री जीभ जंत्री-सी बजति है ॥७०॥

रच्यो कचमौर सुमोरपखा धरि काकपखा मुख राखि अराल ;
धरी मुरली अधराधर लै मुरली सुर-लीन ह्वै 'देव' रसाल।
पितंबर काछनी पीत पटी धरि बालम-बेष बनावति बाल ;
उरोजन खोज-निवारन को उर पैन्ही सरोजमई मृदु माल ॥ ७१ ॥

हौं भई दूलह, वे दुलही, उलही सुख-बेलि-सी केलि घनेरी ;
हौं पहिरो पिय को पियरो, पहिरी उन-री चुनरी चुनि मेरी।
'देव' कहा कहौं, कौन सुनै ? औ कहा कहे होत कथा बहुतेरी ?
जे हरि मेरी धरैं नित जेहरि, ते हरि चेरी के रंग रचे री ॥ ७२ ॥

पीछे परबीनैं बीनैं संग की सहेली, आगे
भार-डर भूषन डगर डारै छोरि-छोरि ;
चौंकति चकोरनि त्यौं मोरै मुख मोरनि, त्यौं
भौंरनि की ओर भीरु हेरै मुख मोरि-मोरि।
एक कर आली-कर-ऊपर ही धरे, हरे-
हरे पग धरै 'देव', चलै चित चोरि-चोरि ;

दूजे हाथ साथ लै सुनावति बचन, राज-
　　हंसनि चुनावति मुकुत-माल तोरि-तोरि ॥ ७३ ॥
पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई, 'देव'
　　श्रीफल-उरोज आभा आभासै अधिक-सी ;
छूटी अलकनि छलकनि जल-बूँदन की,
　　बिना बेंदी-बदन बदन-सोभा बिकसी ।
तजि-तजि कुंज पुंज ऊपर मधुप गुंज,
　　गुंजरत मंजु-रव बोलै बाल पिक-सी ;
नीबी उकसाइ, नेकु नयन नचाय, हँसि
　　ससिमुखी सकुचि सरोवर तें निकसी ॥ ७४ ॥

काम-कलोलनि केलि करी निसि, प्रात उठी थिर ह्वै थहराय कै ;
आपने चीर के धोखे बधू पहिरा पट पीतम को फहराय कै ।
बाँधि लई कटि सों बनमाल न किंकिनि बाल लई ठहरायकै ;
भावती की रसरंग कि दीपति संग की हेरि हँसीं हहरायकै ॥ ७५ ॥
माधुरे भौरनि, फूलनि, भौरनि, बौरनि-बौरनि, बेलि बची है ;
केसरि, किंसु, कुसुंभ, कुरौ, किरवार, कनैरनि रंग रची है ।
फूले अनारनि, चंपक-डारनि, लै कचनारनि, नेह तची है ;
कोकिल रागनि, नूत परागनि, देखु री बागनि, फागु मची है ॥ ७६ ॥
होरी मैं आजु मिलै रँग-रोरी के आपनो प्यो अपने बस कै लै ;
यों कहि 'देव' सखी गहि गोरी को ल्याई हैं गोकुल-गाँव की गैलै ।
लाज की गारी सुनी कबहूँ नहिं, गावत लोग लगावत छैलै ;
खेलति फागु नई दुलही, दृग-आँसुनि लोलि उसाँसनि लै-लै ॥ ७७ ॥
लोग-लोगाइन होरी लगाइ मिला-मिली चारु न मेटत ही बन्यो ;
'देवजू' चंदन-चूर कपूर लिलारन लै-लै लपेटत ही बन्यो ।
ये यहि औसर आए इहाँ समुदाय हियो न समेटत ही बन्यो ;
कीनी अनाकनियो मुख मोरि पै जोरि भुजा भटू भेटत ही बन्यो ॥७८॥

कंत बिन बासर-बसंत लागे अंतक-से,
तीर-ऐसे त्रिबिध समीर लागे लहकन ;
सान-धरे सार-से चँदन घनसार लागे,
खेद लागे खरे, मृगमेद लागे महकन।
फाँसी-से फुलेल लागे, गाँसी-से गुलाब, अरु
गाज अरगजा लागे, चोवा लागे चहकन ;
अंग-अंग आगि-ऐसे केसरि के नीर लागे,
चीर लागे जरन, अबीर लागे दहकन ॥ ७९ ॥

दुलही दुलह नौल चाह अनुकूल फूले,
डलहे फिरत गोपी-गोपनि की भीर मैं ;
तैसिये बसंतपाँचैं चाय सों चरचि नाचैं,
रंग राचैं कीच माचैं केसरि की नीर मैं।
करत न कानि जानि भरत भुजानि 'देव',
धरत न धीर उर अधिक अधीर मैं ;
संबरारि-डंबर मैं बूड़ि रहे दोऊ, सुख
सोभा के अडंबर मैं अंबर अबीर मैं ॥ ८० ॥

होरी को सोरु परयो ब्रज पौंरि किसोरी को चित्त बिछोहनि छीज्यो;
दौरि फिरै दुरि देखिबे को न दुरै मनु ओज-मनोज को मीज्यो।
केसरिया चकचौंधत चीर ज्यों केसरि बीर सरूप लसी ज्यों ;
लाल के रंग में भीजि रही सु गुलाल के रंग मैं चाहति भीज्यो ॥८१॥

भेटि भुज भुजन समेटि उर सों जु उर,
अधर अधर धरे अधिक अधीर की ;
जोरि अंग-अंग सों लचाइ गुलचाइ भाल,
दीनी लाल बेंदी बोरि खैंचिकै अबीर की।
'देव' दुखभंजन लला के दृग-खंजन मैं
अंजन की लीक पीक-पलक लकीर की ;

तन-मन-वारी बनवारी की बनक पर
चंद बलिहारी बलिहारी बलबीर की ॥ ८२ ॥

भूलि रही बिरहातुर सों समौ पावन जानि जनीनु जगाई ;
घोरि घनो रँग केसरि को गहि बोरि गुलाल मैं बाल रँगाई ।
साँस लई गहिरी कहि री हमसों-उनसों अब कौन सगाई ;
ऐसे भए निरमोही महा हरि हाय हमैं बिन होरी लगाई ॥८३॥

सीतल महल महासीतल पटीर-पंक,
सीतल कै लीप्यो भाति छिति छाती दहरै ;
सीतल सलिल-भरे सीतल बिमल कुंड,
सीतल बिमल जल-जंत्र-धारा छहरै ।
सीतल बिछौननि पै सीतल बिछाई सेज,
सीतल दुकूल पैन्हि पौढ़े हैं दुपहरै ;
'देव' दोऊ सीतल अलिंगननि देत-लेत,
सीतल-सुगंध-मंद मारुत की लहरै ॥ ८४ ॥

उज्जल अखंड खंड सातएँ महल महा,
मंदिर चत्वारो चंदमंडल की चोटहीं ;
भीतर ही लालनि के जालनि बिसाल जोति,
बाहर जुन्हाई जगी जोतिन की जोटहीं ।
बरनति बानी, चौंर ढारति भवानी, कर
जोरे रमा-रानी ठाढ़ी रमन के ओटहीं ;
'देव' दिगपालनि की देवी सुखदाइनि, ते
राधा-ठकुराइनि के पाँइन पलोटहीं ॥ ८५ ॥

छीर की-सी लहरि छहरि गई छिति माँह,
जामिनी की जोति भामिनी को मनु ऐंठ्यो है ;
ठौर-ठौर छूटत फुहारे मनौ मोतिन के,
'देव' बनु याको मनु काको न अमैठ्यो है ।

सुधा के सरोवर-सो अंबर उदित, ससि
मुदित मराल मनु पैरिबै को पैठ्यो है ;
बेलि के बिमल फूल फूलत समूल, मनौ
गगन ते उड़ि उड़गन-गन बैठ्यो है ॥ ८६ ॥

घूँघट खुलत अबै उलटु ह्वै जैहै 'देव',
उद्धत मनोज जग जुद्ध-जूटि परैगो ;
को कहै अलीक बात, लोक है सुरोक सिद्ध,
लोक तिहूँ लोक की लुनाई लूटि परैगो ।
दैयनि दुराव-मुख, नतरु तरैयनि को
मंडल हू मटकि चटकि टूटि परैगो ;
तो चितै सकोचि सोचि मोचि मदु, मूरछिकै,
छोर ते छपाकर छता सो छूटि परैगो ॥८७॥

इभ-से भिरत चहुँघाई सों घिरत घन,
आवत फिरत झीने झरसों झपकि-झपकि ;
सोरन मचावैं नचैं मोरन की पाँति,
चहुँ ओरन ते कौंधि जाति चपला लपकि-लपकि ।
बिन प्रानप्यारे प्रान न्यारे होत 'देव' कहै,
नैन-बरुनीन रहे अँसुआ टपकि-टपकि ;
रतियाँ अँधेरी, धीर न तिया धरति, मुख
बतियाँ कढ़ै न, उठै छतियाँ तपकि-तपकि ॥ ८८ ॥

पावस-प्रथम पिय ऐबे की अवधि सों,
जो आवत ही आवै, तो बुलाऊँ अति आदरनि;
नाहीं तौ न हील होन दे री झील-झाबरनि,
ग्रीषमहि राखु खाली भाखु खल खादरनि ।
बीजुरी बरजु, कहु मेघ न गरजु, इन
गाज-मारे मोर मुख मोरि री निरादरनि ;

कंठ रोकि कोकिलनि, चोंच नोचि चातकनि,
दूरि करि दादुर, बिदा करि री बादरनि ॥८९॥

आली झुलावति झूँकनि सों झुकि जाति कटी झननाति झकोरे ;
चंचल अंचल की चपला चल-बेनी-बड़ी सो गड़ी चित-चोरे ।
या बिधि झूलत देखि गयो तब ते कवि 'देव' सनेह के जोरे ;
झूलत है हियरा हरि को हिय माँह तिहारे हरा के हिंडोरे ॥९०॥

भूलत ना वह झूलनि बाल की फूलनि-माल की लाल पटी की ;
'देव' कहै लचकै कटि चंचल, चोरी दृगंचल चाल-नटी की ।
अंचल की फहरानि हिए रहि जानि पयोधर पीन तटी की ;
किंकिनि की झननानि, झुलावनि झूकनि सों, झुकि जानि कटी को ॥९१॥

झूलनहारी अनोखी नई, उनई रहती इत ही रँगराती ;
मेह मैं न्यावै सु तैसिए संग की रँग-भरी चुनरी चुचुहाती ।
झूला चढ़े हरि साथ हहा करि 'देव' झुलावत ही ते डराती ;
भोरे हिंडोरे की डोरिन छाँड़ि खरे ससवाइ गरे लपटाती ॥९२॥

जोतिन के जूहनि, दुरासद दुरूहनि,
प्रकास के समूहनि, उजासनि के आकरनि ;
फटिक अटूटनि, महारजत कूटनि,
मुकतमनि जूटनि, समेटि रतनाकरनि ।
छूटि रही जोन्ह जग लूटि दुति 'देव' कम-
लाकरनि झूटि फूटि दीपति दिवाकरनि ;
नभ सुधासिंधु गोद पूरन प्रमोद, ससि
सामुद बिनोद चहूँ कोद कुमुदाकरनि ॥ ९३ ॥

आस-पास पूरन-प्रकास के पगार सूझैं,
बन न अगार डीठि गली औनि-बरते ;
पारावार पारद अपार दसौ दिसि बूड़ी,
चंड ब्रहमंड उतरात बिधु बरते ।

सरद जुन्हाई जह्नु जाई-धार सहस,
　　सुधाई सुधासिंधु नभ-सुभ्र गिरिवर ते;
उमड़यो परत जोतिमंडल अखंड सुधा-
　　मंडल मही मैं बिधुमंडल-बिबर ते ॥ १४ ॥

नगर निकेत, रेत, खेत सब सेत-सेत,
　　ससि के उदोत कछु देत न देखाई है;
तारका मुकुतमाल झिलिमिलि झालरनि,
　　बिमल बितान नभ आभा अधिकाई है।
सामुद समोद ब्रज कुमुद बिनोद 'देव',
　　चहुँ कोद चाँदनी की चादर बिछाई है;
राधा मधु-मालतिहि माधव-मधुप मिले,
　　पालिक पुलिन झीनी परिमल झाई है ॥ १५ ॥

रूपे के महल, धूपे अगर उदार द्वार,
　　झँझरी झरोखा मूँदे चारु चिकराती मैं;
ऊध अध मूल तूल पटनि लपेटे मूल,
　　पटल सुगंध सेज सुखद सोहाती मैं।
सिसिर के सीत प्रिया पीतम सनेह दिन,
　　छिन-सी बिहात 'देव' राति नियराती मैं;
केसरि कुरंगसार अंग मैं लिपत दोऊ,
　　दुहू मैं दिपत, औ छिपत जात छाती मैं ॥ १६ ॥

रस-विलास

पाँयन नूपुर मंजु बजैं, कटि किंकिनि मैं धुनि की मधुराई;
साँवरे अंग लसै पट पीत, हिये हुलसै बनमाल सुहाई।
माथे किरीट, बड़े दृग चंचल, मंद हँसी, मुख-चंद जुन्हाई;
जै जगमंदिर-दीपक सुंदर, श्रीब्रजदूलह 'देव' सहाई ॥ १७ ॥

राई लोन वारति गुराई देखि अंगन की,
दुरै न दुराई त्यौं भुराई सों भिरति है ;
त्यौं-ज्यौं सुघराई सों न उघरन देति, त्यौं-त्यों
सुंदर सुघर घर-बेरन घिरति है।
निठुर दिठौना दीन्हें नीठि निकसै न देति,
दीठि लागिबे का डर-पीठि दै गिरति है ;
जिन-जिन ओर चितचोर चितवत, त्यौं ही
तिन-तिन ओर तिन तोरति फिरति है ॥ ९८ ॥

केहु भली उठि आई हौं लाल को लोक की लाजहु सों लरि राखौ;
फेरि इन्हैं सपनेहू न पैयत, लै अपने उर मैं धरि राखौ।
'देव' कला नवला अबला यह चंद्रकला कठुला करि राखौ ;
आठहु सिद्धि, नवो निधि लै घर बाहर-भीतर हू भरि राखौ ॥९९॥

कुंजन के कोरे मन केलि-रस-बोरे लाल,
तालन के धोरे बाल आवति है नित को ;
अमिय निचोरे, कल बोलति निहोरे नेकु,
सखिन के डोरे 'देव' डोलै जित-तित को।
थोरे-थोरे जोबन बिथोरे देति रूप-रासि,
गोरे मुख भोरे हँसि जोरे लेति हित को ;
तोरे लेति रति-दुति, मोरे लेति मति गति,
छोरे लेति लोक-लाज, चोरे लेति चित को ॥१००॥

आई हौं देखि बधू यक 'देव' जु देखत भूली सबै सुधि मेरी ;
राख्यो न रूप कछू बिधि के घर ल्याई है लूटि लुनाई कि ढेरी।
एती अबै बहि ऐसे है बैस मरैंगी महाबिष घूटि घनेरी ;
जे-जे गुनी गुनआगरी नागरी, ह्वै हैं ते वाके चितौत ही चेरी॥१०१॥

राधे कही है कि तैं छमियो ब्रजनाथ जिते अपराध किए मैं ;
कानन तानन भूलत नाखिन आँखिन रूप अनूप पिए मैं।

ओछे हिये अपने दिन-राति दयानिधि 'देव' बसाय लिए मैं ;
हौं ही असाधु बसी न कहूँ पल आधु अगाधु तिहारे हिए मैं ॥१०२॥

सींची सुधाबुंदन सों, कुंदन की बेलि किधौं,
साँचे-भरि काढ़ी रूप ओपनि भरतु है ;
पोखी पुखराजनि, बपुख नखसिख, कर,
चरन, अधर, विद्रुमन ज्यों धरतु है।
हीरा-सी हँसनि, मोती-मानिक दसन सेत,
स्यामता लसनि दृग हियरा हरतु है ;
जोबन जवाहिर सों जगमग होइ जोइ,
जौहरी की जोइ जगु जौहर करतु है ॥१०३॥

रेसम के गुन छीनि छरा करि छोर ते ऐंचि सनेह रचावै ;
'देव' दसौ अँगुरी कर पाँइ बरै उरझाइ कै रंग मचावै।
मोहति-सी मनु पोहति मोतिन, जोहति-सी छबि भौंहैं चलावै ;
चंचल नैननि सैननि सों पटवा की बहू नटवा सो नचावै ॥१०४॥

अंतर पैठि दुहूँ पट के कबि 'देव' निरंतर ता उर आनै ;
देति मिलाइ घने अपने गुन तार सुई किधौं दूती सुजानै।
ताहि लिए कर मैं घर मैं हिय जाको सिए मरमैं सु बखानै ;
कीन्ही करेजन की दरजैं, दरजी की बहू बरजी नहिं मानै ॥ १०५ ॥

माखनु सो तनु दूध सो जोबनु है दधि ते अधिकौ उर ईठी ;
जा छबि आगे छपाकर छाँछ, समेत सुधा बसुधा सब सीठी।
नैनन नेह चुवै कहि 'देव' बुझावत बैन बियोग अँगीठी ;
ऐसी रसीली अहीरी अहे, कहौ क्यों न लगै मनमोहनै मीठी ॥१०६॥

गोरे मुख गोल, हरे हँसत कपोल, बड़े
लोयन बिलोल बोल लोने लोक लाज पर ;
लोभा लागे लाल लखि सोभा, कबि 'देव', छबि-
गोभा-से उठत रूप सोभा के समाज पर।

बादले कि सारी, दरदावन किनारी,
जगमगी जरतारी झीनी झालरि के साज पर ;
मोती गुहे कोरन, चमक चहुँ ओरन, ज्यों
तारन तरैयन की तानी द्विजराज पर ॥ १०७ ॥

सासु सों हाँसु छिपाए रहै, ननदी लखि ज्यौं उपजावति भीतिहि;
सौतिन सों सतराइ चितौति, जिठानिन सों जिय ठानति प्रीतिहि ।
दासिन हू सों उदास न 'देव', बढ़ावति प्यारे सों प्रेम-प्रतीतिहि;
आय सों सीखति बात बिनैकी, सखीन सों सीखै सुहाग किरीतिहि ॥ १०८ ॥

रूप चुवै चपि कंचन नूपुर कौल से पायन नौल-बहू के ;
अंगन रंग मनौ निचुरैं पिय संग धरे मग मैं पग-दू के ।
इंदु-से आनन मैं श्रमबिंदुनि देव गुबिंद सुखावत फूके ;
सो लखि सौतिन की अँखियान मैं लागिउठी मनौ आगि की लूके ॥ १०९ ॥

आजु गोपालजू बारबधू सँग नूतन-नूतन कुंज बसे निसि ;
जागर होत उजागर नैनन पाग पै पीरी पराग परी पिसि ।
चोल के चंदन खोज खुले जहँ ओछे उरोज रहे उर मैं घिसि ;
बोलत बात लजात-से जात हैं आए इतौत चितौत चहूँ दिसि ॥ ११० ॥

राजपौरिया के रूप राधे को बनाय लाई,
गोपी मथुरा ते मधुबन की लतानि मैं ;
टेरि कह्यो कान्ह सों, चलौ हो कंस चाहै तुम्हैं,
काके कहे लूटत सुनो हो दधि-दानि मैं ।
संग के न जाने गए डगरि डेराने 'देव',
स्याम ससवाने से पकरि करे पानि मैं ;
छूटि गयो छल छैल बाल की बिलोकनि मैं,
ढीली भईं भौंहैं वा लजीली मुसुकानि मैं ॥ १११ ॥

बंसीबट के तट निकट जमुनाजल मैं
खेलति कुँवरि राधा सखिन के पुंज मैं ;
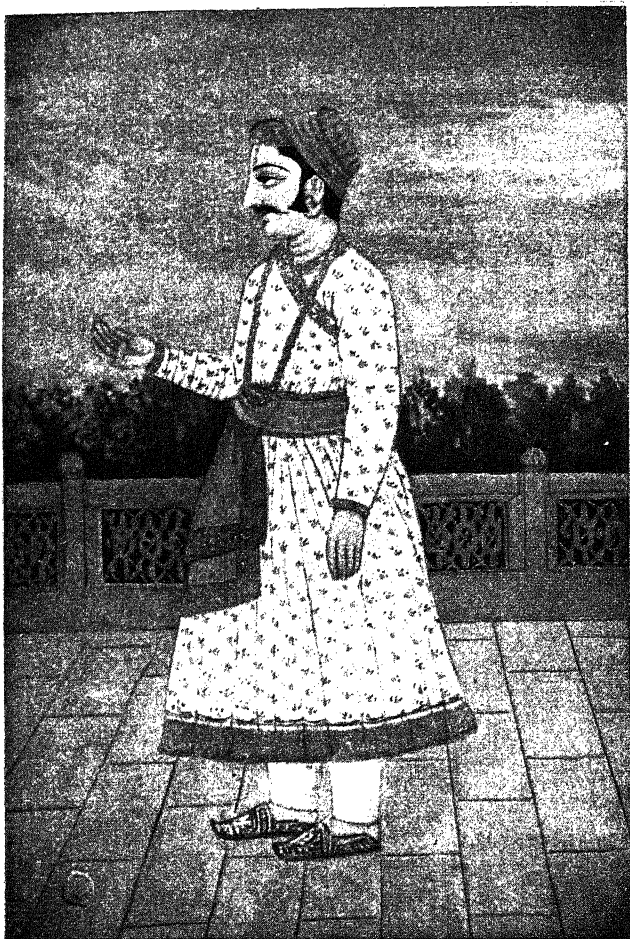
बिहारीलाल (वास्तविक चित्र)

लखौ अनुभवी रसिक-मनि सुकबि बिहारीलाल,
जाकी पैनी दीठि की मिलत न कहूँ मिसाल ।

गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ

(४)

महाकवि बिहारीलाल

——:०:——

भाषा-साहित्यकारों में चरित्र न लिखने के कारण बड़े-बड़े कवियों के कुल-गोत्रादि के विषय में भी संदेह बना ही रहता है। वैसे ही इन महाकवि के कुल-गोत्रादि के विषय में भी संदेह उपस्थित था। इन्होंने 'सतसई'-नामक एक ही ग्रंथ बनाया, और उसका भी केवल समाप्त होने का संवत् दिया। अपने विषय में भी इन्होंने केवल एक दोहा लिखकर संतोष किया। वे दोनो दोहे नीचे लिखे जाते हैं—

संवत ग्रह ससि जलधि छिति, छठि तिथि, बासर चंद ;
चैत मास, पख कृष्ण में पूरन आनँदकंद।
जनम लियो द्विजराज-कुल, सुबस बसे ब्रज आय ;
मेरे हरौ कलेस सब केसव, केसवराय।

इन दो दोहों के सिवा इनके विषय में एक यह तीसरा भी प्रसिद्ध है—

जनम ग्वालियर जानिए, खंड बुँदेले बाल ;
तरुनाई आई सुखद मथुरा बसि ससुराल।

इन्हीं तीनो दोहों पर इनके कुल, गोत्र, जन्म, मरण आदि के अनुमान अवलंबित थे, पर अब इनके वंशजों का भी पता बूँदी में चला है। उनका बतलाया वंश-वृक्ष दिया जाता है। इन्होंने सतसई में राजा जयसिंह का थोड़ा-सा यशोगान किया, और कुछ बातें

जयपुर के संबंध में भी लिखी हैं। महाराजा जयसिंह ने संवत् १६७६ से १७२२ तक राज्य किया। बिहारी कवि चतुर्वेदीय माथुर घरवास अल्ल के धूम्र-गोत्री ब्राह्मण थे। बसुआ-गोविंदपुर में इनके भांजे मिश्र अल्लवाले कुलपति रहते थे। कुलपति के वंशज पं० प्यारेलाल जयपुर में मौजूद हैं। बिहारीलाल के वंशज अमरकृष्ण और गोपीकृष्ण चौबे बूँदी में प्रस्तुत हैं। वंश-वृक्ष इस प्रकार है—

जनश्रुतियों में प्रसिद्ध है कि इनकी सतसई के टीकाकार कृष्ण कवि इनके पुत्र थे। कृष्ण कवि ने अपनी कविता में अपने

को ककोर-कुल का माथुर-विप्र माना है। जनश्रुतियों में यह भी प्रसिद्ध है कि यह महाशय एक बार जोधपुर गए। पंडित प्रभुदयाल पांडेय ने बंगवासी-प्रेस में बिहारी-सतसई, अपनी टीका-समेत, छपवाई। इस लेख में उसी प्रति के दोहों के नंबरों का हवाला दिया जायगा। गोलोकवासी मित्रवर बाबू राधाकृष्णदास ने 'कविवर बिहारीलाल'-नामक एक निबंध लिखा। इसी प्रकार प० अंबिकादत्त व्यास ने भी 'बिहारी-विहार' में अच्छी भूमिका लिखी। अतएव हम बिहारी के कुल आदि के विषय में विस्तार-पूर्वक न लिखकर थोड़े में अपना मत प्रकट करते हैं। ऊपर लिखे हुए द्वितीय दोहे का अर्थ बिहारी के एक प्रसिद्ध टीकाकार ने यों लिखा है—

श्लेष-अर्थ केसव-पिता, अरु हरि केसवराय ;
ये द्विज-कुल, वे राज-कुल, उपजे अर्थ जताय।

इस अर्थ तथा बिहारी की कविता में बुँदेलखंडी शब्दों के प्रयोग और इनकी रचना में एक स्थान पर 'मधुकर'-शब्द के (ओड़छे के मधुकर शाह को सूचित करते हुए) आने से राधाकृष्णदासजी ने अनुमान किया कि बिहारीलाल प्रसिद्ध कवि केशवदास के पुत्र थे। हमारे मत में 'मधुकर'-शब्द से 'मधुकर शाह' का व्यक्त होना निश्चित नहीं समझा जा सकता। मधुकर भ्रमर को कहते हैं, और यह एक बहुत ही प्रचलित साधारण शब्द है। हमारे मत में, बिहारी के पिता का नाम केशव अवश्य था, और वह ब्राह्मण भी थे, परंतु प्रसिद्ध कवि केशवदास नहीं। यदि केशवदास ही होते, तो यह बात जनश्रुतियों में अवश्य प्रचलित होती। अब उपर्युक्तानुसार इसका निश्चित निर्णय भी हो गया है। बिहारी का जन्म-स्थान 'बसुआ-गोविंदपुर' नाम का एक ग्राम, जो ग्वालियर के निकट है, बतलाया जाता है। यह भी कहा जाता है कि इनके चाचा ने महाभारत का उलथा किया था, जो अब तक वहाँ है, परंतु प्रकाशित

नहीं हुआ। बिहारी का जन्म अनुमान से संवत् १६६० वि० में हुआ होगा। इन्होंने संवत् १७१९ में सतसई समाप्त की, और उसके पीछे कोई ग्रंथ या छंद नहीं बनाया। इससे जान पड़ता है, इस संवत् के थोड़े ही दिनों बाद इनका मरण हुआ होगा। सतसई में कुछ दोहे शांत-रस के भी हैं। बिहारी बड़े ही श्रृंगारी थे। उनके चित्त में ६० वर्ष की अवस्था के लगभग पहुँचे बिना, शांत-रस का प्रादुर्भाव न हुआ होगा। अतः जान पड़ता है, उस समय, जब कि सतसई समाप्त हुई, यह लगभग ६० वर्ष के होंगे। यह जयपुर छोड़कर, सिवा जोधपुर के, और कहीं नहीं गए। वहाँ भी ठहरकर इन्होंने अपना मान बढ़ाने का प्रयत्न नहीं किया, यद्यपि उस समय महाराजा जसवंतसिंह वहाँ राज्य करते थे। वह कविता के प्रेमी और कवियों के प्रतिपालक भी थे। उन्होंने 'भाषा-भूषण'-नामक अलंकारों का विशद ग्रंथ बनाया, जो अब तक कवि-समाज में पूज्य दृष्टि से देखा जाता है। इससे भी प्रकट होता है कि यह उस समय ६० वर्ष के लगभग थे, और उसके पीछे बहुत दिन जीवित नहीं रहे।

'केशवराय' वाले ऊपर के दोहे में 'राय'-शब्द आने के कारण कुछ लोग यह अनुमान लड़ाते हैं कि बिहारी भाट थे, परंतु उस दोहे पर विचार करने से प्रकट होता है कि 'केशवराय'-शब्द श्रीकृष्ण के लिये आया है, न कि कवि के पिता के लिये। फिर 'राय'-शब्द से सर्वत्र भाट ही का अर्थ नहीं लिया जा सकता। ब्राह्मणों के नाम में भी 'राय' आ सकता है। स्वयं कवि केशवदास कभी-कभी अपने को 'केशौराय' लिखते थे। भाट प्रायः ब्रह्मभट्ट कहाते हैं। कृष्ण कवि के संबंध की जनश्रुति भी इसके प्रतिकूल है। अब इनके वंशजों का भी पता लग ही चुका है। अतः निश्चय है कि बिहारीलाल माथुर चौबे थे। इनका जन्म ग्वालियर में हुआ, और किसी कारण इनकी बाल्यावस्था बुंदेलखंड में बीती। जवानी में यह महाशय

अपनी ससुराल—मथुरा—में रहे। जान पड़ता है, इनके पिता धन-हीन थे, और इनके बचपन ही में मर गए थे। मतलब यह कि इन्हें लड़कपन बुंदेलखंड में, जहाँ इनका ननिहाल होना संभव है, और सारी उमर ससुराल—मथुरा—में बितानी पड़ी।

कहते हैं, एक समय महाराजा जयसिंह किसी एक नवोढ़ा मुग्धा रानी के प्रेम में इतने बेसुध हो गए कि उसे छोड़कर बाहर निकलते ही न थे। उस समय बिहारीलाल ने नीचे का दोहा बनाकर किसी तरह उनके पास भिजवाया—

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास यहि काल ;
अली कली ही सों बिंधो, आगे कौन हवाल !

इसे पढ़कर महाराज को होश हुआ, और वह तुरंत प्रेमोन्माद से मुक्त होकर बाहर निकल आए, और राज्य का काम-काज करने लगे। इसी समय से जयपुर में बिहारी का आदर बढ़ा, और वह वहीं रहने लगे। कहते हैं, राजा ने उपर्युक्त दोहे पर इन्हें बड़ा पुरस्कार दिया, और फिर वैसे ही हरएक दोहे पर एक मोहर भी दी। यह एक मोहरवाली बात ठीक नहीं जँचती। बिहारीलाल को कलिकाल के दानियों से सदा शिकायत रही। इससे जान पड़ता है, उनका पूरा सम्मान कभी कहीं नहीं हुआ। यदि हरएक दोहे पर एक मोहर मिलती होती, तो वह हज़ारों दोहे बना डालते, प्रत्युत सात ही सौ दोहों पर संतोष न करते। यदि मोहरों के पुरस्कार पर हज़ारों दोहे बने होते, तो उन्हें स्वयं कवि भी नष्ट न कर सकता, और वह अवश्य प्रसिद्ध होते। इन महाकवि के एकमात्र ग्रंथ सतसई में सिर्फ़ ७१९ दोहे हैं। उनमें भी दो-तीन सोरठे हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने सात दोहों में सतसई की प्रशंसा की है। यथा—

सतसैया को दोहरो ज्यों नावक को तीर ;
देखत को छोटो लगै, घाव करै गंभीर।

ब्रज-भाषा बरनी कबिन, बहु बिधि बुद्धि-बिलास ;
सबको भूषण सतसई करी बिहारीदास।
जो कोऊ रस-रीति को समुझो चाहै सार ;
पढ़ै बिहारी-सतसई कबिता को सिंगार।
उदै-अस्त लौं अवनि पै सबको याकी चाह ;
सुनत बिहारी-सतसई सब ही करत सराह।
भाँति-भाँति के बहु अरथ, यामें गूढ़, अगूढ़ ;
जाहि सुने रस-रीति को मग समुझत अति मूढ़।
बिबिध नायिका-भेद अरु अलंकार, नृप-नीति ;
पढ़ै बिहारी-सतसई जानै कबि-रस-रीति।
करे सात सौ दोहरा सुकबि बिहारीदास ;
सब कोऊ तिनको पढ़ै, सुनै, गुनै सबिलास।

यह भी संभव है कि बड़ाईवाले ये दोहे किसी अन्य कवि के बनाए हुए हों। इन दोहों में सतसई की बड़ी बड़ाई की गई है। उसका बहुत-सा अंश यथार्थ भी है। इस एक छोटे-से ग्रंथ में इन कविरत्न ने मानो गागर में सागर भर दिया है। इन्हीं १,४१२ पंक्तियों में मानो सभी कुछ आ गया है, और कविता का प्रायः कोई अंग, सिवा पिंगल के, नहीं छूटा। काव्य का यह छोटा-सा ख़ज़ाना पाठक को चकित और स्तंभित कर देता है। इतने छोटे-से ग्रंथ में इतना चमत्कार अन्य कोई भी हिंदी-कवि नहीं ला सका। जैसी एकाग्रता और श्रम से इन कविरत्न ने काव्य का प्रताप-पुंज या चमत्कार इस छोटे-से भाजन में भर रक्खा है, वैसे ही इसका आदर भी बहुत कुछ हुआ। सिवा गोस्वामी तुलसीदास की रामायण के और कोई भी भाषा-ग्रंथ इतनी लोकप्रियता नहीं पा सका, जितनी सतसई ने पाई है। क़रीब ३५ महाशयों ने इसकी, गद्य अथवा पद्य में, टीका या

व्याख्या की है। उन सबमें सूरति मिश्र की टीका सर्वोत्कृष्ट है। हाल में बाबू जगन्नाथदास (रत्नाकर) ने सतसई पर विशेष श्रम किया। उसकी फल-स्वरूपा बिहारी-रत्नाकर-नामक बहुत शुद्ध और उत्तम टीका गंगा-पुस्तकमाला में प्रकाशित हुई है, जो प्रशंसनीय है। इसमें बिहारी का चित्र भी प्रकाशित किया गया है, जो कहा जाता है, जयपुर में बिहारी के सामने बना था। पठान सुल्तान के आश्रित चंद कवि ने इन दोहों पर कुंडलियाएँ लगाईं, और यही काम पंडित अंबिकादत्त व्यास ने भी किया। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने भी क़रीब ७० या ८० दोहों पर कुंडलियाएँ लगाई थीं, परंतु कार्य असाध्य और श्रम बहुत समझकर फिर छोड़ दिया। इन दोहों पर कुंडलिया लगाना हमको भी व्यर्थ श्रम समझ पड़ता है। यदि शेष चार पद दोहे के बराबर उत्कृष्ट हों, या उसके लगभग भी पहुँचें, तो कुंडलिया अच्छी कही जा सकती है ; परंतु ऐसा न हुआ है, और न हो सकता है। बिहारी-जैसे सुकवि जब जन्म-भर में सिर्फ़ सात सौ दोहे बना सके, तब जब तक कोई वैसा ही कवि न हो, और आयु-भर श्रम न करे, तब तक भला उन बूँदों से भेंट कहाँ ? तभी तो नवरत्न के भी प्रसिद्ध कवि भारतेंदु ने उसे असाध्य और व्यर्थ का श्रम समझा। पंडित परमानंद ने संस्कृत-श्लोकों में सतसई का उल्था किया, और कृष्ण कवि ने सवैयों में। सतसई के टीकाकारों में सूरति, कृष्ण, चंद, सरदार और भारतेंदु सुकवि हैं। एक वैद्य ने सब दोहों से एक-एक वैद्यक का नुस्ख़ा निकाला है, परंतु उसमें टीकाकार ही का बुद्धि-चमत्कार देख पड़ता है। उक्त टीकावाला अर्थ स्वयं बिहारीलाल भी न जानते होंगे*।

---

* एक और महाशय भी इधर ऐसा ही कुछ उद्योग 'शांत-बिहारी' में कर रहे हैं। वह सब दोहों में शांत-रस का अर्थ दिखा रहे हैं।—संपादक

सतसई का जो क्रम आजकल प्रचलित है, वह आज़मशाह का बँधवाया हुआ, और अच्छा है। इसका छठा शतक परमोत्कृष्ट है। इसमें वर्णित षट्-ऋतु बहुत ही प्रशंसनीय है। इसके प्रथम, पंचम और सप्तम शतक भी अच्छे हैं। शेष साधारण हैं। बिहारीलाल की कविता के गुण और दोष हम नीचे लिखते हैं।

इन महाकवि ने व्रज-भाषा में कविता की, परंतु फिर भी, यत्र-तत्र कई भाषाओं के शब्दों का बहुतायत से व्यवहार किया। किसी भाषा का भी शब्द मिले, और यदि अच्छा हो, तो उससे काम निकालने में यह महाशय संकोच नहीं करते थे। यदि इनके प्रयुक्त शब्दों के भाषा-भेद पर ग़ौर किया जाय, तो ऐसे भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्दों की संख्या बहुत होगी। इन्होंने रीझबी, देखबी आदि बुँदेलखंडी और ताफ़ता, इज़ाफ़ा, किबिलनुमाँ (कुतुबनुमा), ग़नी, सबील, अदब, दाग़ आदि फ़ारसी के शब्द रक्खे हैं। छाँकु, वड़ायक आदि पद गढ़ भी लिए हैं। कुछ स्थानों पर इन्होंने असमर्थ शब्द भी रख दिए हैं। यथा—'दीजतु' और 'ज्यों'—

> सबहिनु बिनुहीं ससि उदे, दीजतु अरघ अकाल।
> जात-जात ज्यों राखियत पिय को नाम सुनाय।

यहाँ 'दीजतु' से देंगी या देती हैं का और 'ज्यों' से ज्यों-त्यों का अर्थ लिया गया है, पर ये शब्द इन अर्थों को पूर्ण रूप से प्रकट करने में असमर्थ हैं। इन्होंने शब्दों को बहुत तोड़ा-मरोड़ा है, और उन्हें कहीं-कहीं बहुत ही बिगड़े हुए रूप में रक्खा है। यथा—समर (स्मर), तूठ्यो (तुष्टयो), मोख (मोक्ष) इत्यादि। इसी प्रकार ठिक, भावक, दुसाल, नटसाल, ईठि, नीठि, अनखुली, धरहरि, सवादिल, बट (बाट के लिये, छंद नंबर ८९), चोरटी, गोरटी, दुर्काचित, कुकत हई (हैरत नंबर ११६), कैवा (१२१), खाच (१२८), रहचटैं (१२६), खाय (१४१), रोज (रोज़ा

की जगह—१८८), ईठि, खुँदी (१६६), चिलक, चौंध (२१७), चुरी (ढकी—२२२), चौंटत (२२७), लोयन (लुनाई—२३०), केलि (केला—२३२), ऊलि (उछल—२३७), जनकु (मानो—२४२), बेपाय (भूली हुई—२३९), सँगी (३०६), थाँचि (३३१), बींद (३३९), ततरकुकत, गाँस (३४६), पानु (३६२), कोरि (४१५), निय (४२३), श्रोम (४३०), सुध (सुधा—१३९), पजरै (४३६), संसो (साँस—४४१), करै (करके—२०४), बाथ (५१०), धर (धरा, पृथ्वी—४३५), तैन (५३६), खियाल (खेल—५४७), आव (अर्घ्य, मोल—६८४), नीसकै (६६०) इत्यादि असाधारण, अव्यवहृत अथवा बिगड़े हुए रूपों में शब्द लिखे हैं। इनके बड़े कवि होने पर भी इनकी शब्द-संबंधी निरंकुशता प्रशंसनीय नहीं है। तुकांत के लिये भी इन्होंने शब्द मरोड़े हैं। यथा—चाढ़ (चढ़कर—२२०), आव (आयु—३२२)।

एक हिंदी-रसिक महाशय* ने हमारे उपर्युक्त कथनों का घोर विरोध किया। उन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि बिहारी की भाषा देव की भाषा से श्रेष्ठतर है। यदि कोई बात बिहारी की रचना पर आरोपित हो भी गई, तो आपने यह दिखलाने का प्रयत्न किया कि अन्य कवियों ने—विशेषकर देव ने भी वैसे ही रूप लिखे हैं, अतः बिहारी दोष के भागी नहीं हैं। स्मरण रखना चाहिए कि हिंदी-नवरत्न केवल देव और बिहारी पर नहीं लिखा गया है, बल्कि उसमें नव कवियों पर स्वतंत्र सम्मतियाँ हैं। प्रसंग-वश चाहे कहीं किसी से दूसरे का मिलान कर भी दिया गया हो, तथापि यह इस पुस्तक का विषय नहीं है। ग्रंथ प्रत्येक कवि पर स्वतंत्र विचार करता है, तुलनात्मक नहीं। मिलान का विषय उसमें इतना

---

* स्वर्गवासी लाला भगवानदीन भूतपूर्व अध्यापक, छतरपूर तथा बनारस।

ही है कि हमने कुल मिलाकर उत्तमता की दृष्टि से कवियों को पूर्वापर स्थान दिया है। फिर भी सबकी कविताओं पर स्वतंत्र रीति से विचार किया गया है। इसलिये यदि बिहारी की भाषा में कोई दोष है, तो देव की भाषा में भी उसके होने से उसका परिहार न हो जायगा। देव चाहे साधारण श्रेणी से भी नीचे के कवि मान लिए जायँ, तथापि उससे बिहारी की कविता का दर्जा बढ़ नहीं सकता।

आपने यह भी लिखा कि जब अन्य कविगण उन्हीं शब्दों का प्रयोग करते हैं, तब अकेले बिहारी पर क्यों दोषारोपण होता है? इसका उत्तर ग्रंथ में पहले ही से था, किंतु आपने दोष दिखलाने के पूर्व ग्रंथ को अच्छी तरह पढ़ने या समझने का कष्ट नहीं उठाया। हम ऊपर लिख चुके हैं कि बिहारी ने शब्दों को बहुत अधिक तोड़ा-मरोड़ा है। यदि उनके कुल शब्दों को जोड़ें, और उनसे तोड़े-मरोड़े हुए शब्दों का औसत निकालें, तो वह औरों से कहीं अधिक पड़ेगा। बस, यही हमारा प्रयोजन था, और है। अन्य सत्कवियों की रचनाओं में तोड़े-मरोड़े शब्दों का औसत इतना अधिक न बैठेगा। इसीलिये बिहारी का यह दोष कहा गया, प्रत्युत औरों का नहीं। फिर जो शब्दों की बड़ी सूची हमने दी थी, उसके विषय में केवल इतना कहा था कि वे शब्द असाधारण, अव्यवहृत अथवा बिगड़े हुए रूपों में हैं। समालोचक साहब ने प्रत्येक शब्द को लेकर केवल विकृत रूप की कसौटी पर कसा, और जहाँ कहीं शब्द बिगड़ा न पाया, वहाँ हमारे कथन को अशुद्ध कहने की कृपा की। इतना तो सोच ही लेना चाहिए था कि हमने उन सबका विकृत रूप ही नहीं बतलाया है। जब ऐसा है, तब बार-बार उसी झूठी बात पर ज़ोर देना बहुत ही भद्दी बात है। आपने यह भी कहा कि नवीन शब्द बनाने के लिये हमने बिहारी को दोषी ठहराया है। यह भी ग़लत बात है। हमने तो केवल इतना कहा था कि बिहारी में यह बात है। यह

नहीं कहा था कि यह अवगुण है। यदि आपने हमारे अन्य ग्रंथ देखे होते, तो जानते कि हम इसे गुण ही समझते हैं। कम-से-कम इतना तो करते कि जब हमने उसे अवगुण नहीं कहा, तो हमारे मुख में ऐसा कथन अपनी ओर से न रखते। अब, शब्दों के विषय में आपने जो कहा, उस पर विचार किया जाता है। देखने में यह विवाद असंगत समझ पड़ सकता है, किंतु बिहारी की रचना के विषय में होने के कारण हम इसे मुख्य विषय से असंबद्ध नहीं समझते।

बिहारी ने अग्नि को अगिनि कहा अवश्य, परंतु इसे आप साधारण मरोड़-मात्र मानते हैं। जब मरोड़ मौजूद है ही, तब झगड़ा थोड़ा ही समझ पड़ता है। अच्छा, मान लिया कि अन्य कविगण भी 'अगिनि' का व्यवहार करते हैं, फिर भी लालाजी की लिखी सतसई की टीका में, २२३ नं० के दोहे में, अग्नि का रूप बिहारी ने 'अगनि' लिखा है, जो असाधारण मरोड़ है। 'कुकत' के दोप की शांति आप पाठ-भेद से करते हैं। आपका कथन है कि 'नतरकु कत' शुद्ध पाठ है। किंतु इसमें भी वही आपत्ति मौजूद है; क्योंकि नतरकु कोई शुद्ध शब्द नहीं है। वास्तव में नतरु (नहीं तो) कु ऐसा शब्द है। अतः 'कु' अनावश्यक हो जाता है, क्योंकि 'नहीं तो' का भाव तो 'नतरु' से ही आ जाता है।

'रोज' का अर्थ हमने रोज़ा माना है। आप कहते हैं, रोज व्रज में मातम को कहते हैं। ठीक है, हम भी मानते हैं। जब प्रभुदयाल ने भी यही अर्थ लिखा है, तब आपकी राय में हमें भी यह ज्ञात था। फिर भी हमने रोज़ा अर्थ लिखा। रोज मातम के अर्थ में एकप्रांतीय शब्द है। हमारे प्रांत में मातम के अर्थ में नहीं बोला जाता। जायसी का जो छंद लिखा गया है, उसमें रोज का अर्थ रोज़ा भी लगाया जा सकता है। ऐसा एक प्रांतीय शब्द हमें असा-

धारण समझ पड़ा। आप शायद इसे बहुत साधारण मानते हों। 'ईंठि' विकृत रूप में है। 'खूँदी' से घोड़े के जमने का अर्थ लिया गया है। ये एकदेशीय अथवा असाधारण शब्द हैं। 'चिलक' हमारे प्रांत में बड़ी पीड़ा को कहते हैं। लोग प्रायः ऐसा कहते हैं कि अमुक को चिलक (दर्द) देकर पेशाब उतरता है, या अमुक अंग में चिलक (दर्द) है। बुँदेलखंड और व्रज में इसका अर्थ चमक माना जाता है। हमें ऐसा प्रांतीय या संदिग्ध शब्द नापसंद है। 'चौंटत' भी एकदेशीय शब्द है। 'ऊलि' को आप भूलि कहकर दोष-शांति करते हैं, और अपनी टीका में उसका अर्थ लगाते हैं 'झड़ पड़ना'। झूलि का अर्थ झड़ना कहाँ से आया, सो आप ही जानें। झूलने में कोई वस्तु झड़ जाय, तो वह बात दूसरी है; परंतु अर्थ 'झड़ना' न होकर 'झूलना' ही रहेगा। झूलने का अर्थ लगाने से वह प्रसंग में नहीं बैठता। अतएव दोष-शांति नहीं होती।

'गाँस'-शब्द को हमने अव्यवहृत समझा था। उसका कोई अर्थ हमने नहीं लिखा, किंतु आप कहते हैं कि हमने अशुद्ध अर्थ लिखा। आपकी राय में 'बूढ़', बीरबहूटी के अर्थ में, व्रज में अब तक बोला जाता है। हमने व्रजवासियों से पूछा, तो उन्होंने कहा—हमारे यहाँ बीरबहूटी, इंद्रबधू और राम की डोकरिया, ये शब्द इस अर्थ में माने जाते हैं, न कि बूढ़। संभवतः बिहारी ने बूढ़-शब्द राम की डोकरिया से निकाला हो, अथवा किसी गाँव में बोला जाता हो। ऐसी दशा में यह शब्द निद्य अवश्य है। 'संसो' का अर्थ उस दोहे में साँस या संशय, दोनो हो सकते हैं। शब्द मरोड़ा हुआ है, यह आप भी मानते हैं। 'तूख्यो' की दोष-शांति आप उसे शुद्ध प्राकृत कहकर करते हैं, किंतु ग्रंथ हिंदी का है, प्राकृत का नहीं। 'हई', 'कैवा', 'डाढ़ी', 'रहचट' और 'लाय' को आप व्रज में प्रचलित बतलाते हैं, पर हमें

ब्रजवासियों से पूछने पर भी इनका चलन नहीं ज्ञात हुआ। आपको मालूम होगा। 'बाथ'-शब्द आग के अर्थ में बुंदेलखंड में अवश्य प्रचलित है, परंतु एकदेशीय होने के कारण कविता में उत्तम नहीं माना जा सकता। प्रसिद्ध अँगरेज़ी-समालोचकों का भी मत है कि ऐसे प्रांतीय प्रयोग भाषा की अशिष्टता (Barbarity of Language) प्रकट करते हैं। कहा जा सकता है कि सतसई व्रज-भाषा में लिखी गई है। फिर भी साधु व्रज-भाषा का लिखना श्रेयस्कर है, ग्राम्य का नहीं। वैदिक साहित्य में अवध मध्य-देश कहलाता था। यह आर्य-सभ्यता का प्राचीन केंद्र है। जो अप्रयुक्त व्रज-भाषा अवध तक में न समझी जा सके, वह ठीक नहीं मानी जायगी। ग्रंथों में शिष्ट भाषा ही का आदर होता है। डाढ़ी-शब्द डाढ़ा (दौरहा आग) से निकला हुआ समझ पड़ता है। डाढ़ी को जली हुई के अर्थ में कहना ठीक नहीं समझ पड़ता। यदि कोई अपने मन का गढ़ा हुआ चाहे जो अर्थ कह दे, तो उसके प्राचीन अथवा प्रतिष्ठित काव्य-मर्मज्ञ होने ही से हम ऐसी-ऐसी अनुचित बातों को उचित मानने के लिये तैयार नहीं हैं। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि डाढ़ी को इसी अर्थ में कई प्राचीन कवियों ने लिखा है। इससे यह दोष छोटा है।

'लाव', 'बौंदि' और 'बाथ' को राजपूतानी शब्द बताकर आप उनका समर्थन करते हैं। फिर भी प्रांतिकता के कारण इनसे भाषा में अशिष्टता आती है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

'चुपरी', 'ज्यों', 'दोजतु', 'टुकचित', 'नजकु', 'सँगी', 'औचि', 'कौरि' और 'तैन' की दोष-शांति आप पाठ-भेद से करते हैं। आपने यह कई बार कहा है कि प्रभुदयाल की प्रति भ्रष्ट होने के कारण हमको बिहारी की रचना में शाब्दिक दोष दिखलाने का मौक़ा मिला है। संवत् १९७८ में आपने भी बिहारी-सतसई की टीका प्रकाशित की। अब हम उसी का पाठ शुद्ध मानकर कुछ और ऐसे शब्द भी

दिखलाते हैं, जो पहले नहीं दिखलाए थे। आपके दोहों के नंबर शब्दों के सामने कोष्ठकों में लिखे जायँगे—

'लखि' (६) का शुद्ध अर्थ 'देखकर' है, किंतु इस दोहे में 'देखने के लिये' ऐसा निकलता है। यह असमर्थ-दूषण है। १२ नंबर के दोहे में 'लखि' का शुद्ध अर्थ आया है।

'लोपे' (१४) का अर्थ 'पूजा का लोप किए जाने पर' आपने लिखा है। यहाँ भी असमर्थ-दूषण है। लोपे के साथ पूजा का विचार जोड़े विना दोहे का शुद्ध अर्थ भी नहीं लगता।

'नै' (२८) का शुद्ध रूप नदी है। (३१) में आपने 'जोर' का तुकांत 'और' रक्खा है। यह अशुद्ध है। यहाँ बिहारी की आत्मा शायद आप ही से फ़र्याद कर बैठे, क्योंकि शुद्ध शब्द ज़ोर (ज़ुल्म) है, और उससे 'और' का ठीक तुकांत भी मिलता है। 'बर' (५२) बल के लिये आया है। 'मौरि' (७०) मौलि के लिये है। 'दौरि' (७५) उड़ने के लिये आया है। यहाँ भी असमर्थ-दूषण है। कुही शिकार खेलने में नीचे-नाचे दौड़ती नहीं, बल्कि उड़ती है।

'चीकनी' (८४) 'पुष्ट' अर्थ के लिये असमर्थ है। बहुत-सी कमज़ोर चीज़ें भी चिकनी हो सकती हैं।

'ससिहर' (१०८) 'शशधर' की ख़राबी है। 'हायल' (१११) 'घायल' के लिये है। 'अच्छ' (११७) 'अच्छा' का बिगाड़ा हुआ रूप है। 'बरी छबि' (१३१) में छवि बेचारी जल ही गई, किंतु अर्थ लिया गया देदीप्यमान होने का। असमर्थ-दूषण है।

'सोनजाय' (१४१) सोनजुही के लिये आया है। अरगट (१५०) = आड़+गात्र = घूँघट। इस प्रकार 'अरगट' का अर्थ लगाया गया है। शब्द-विकृति घूँघट खोले खड़ी है। 'बन' (१५७) घनसार का आधा अंश है। 'खरौंट' (१६०) 'खरोंच' की ख़राबी

है। दुलहिनि (१७२) में आगे 'पर' और होना चाहिए। 'भोगवै' (१७९) 'भोगै' के लिये आया है। 'हरकी' (१८१) 'हटकी' का विकृत रूप है। 'अति आगि' (१८८) में क्रिया-विशेषण 'अति' विशेषण की तरह 'आगि' के लिये आया है। 'साँट' (१९६) का अर्थ आपने सौदा बेचना माना है। शायद आप इसे 'सट्टे' का अपभ्रंश समझे हों। वास्तव में यह बुँदेलखंडी शब्द है, किंतु है बहुत अशिष्ट। इसका ऐसा प्रयोग होता है कि 'साले को ख़ूब साँटा' अर्थात् ख़ूब गाँठा या क़ब्ज़े में किया। ऐसे अशिष्ट (Slang) शब्द का व्यवहार गर्हित है।

'मूका' (२११) 'मोखा' की ख़राबी है। 'अगनि' (२२४) 'अग्नि' का बिगड़ा रूप है, और तन की दीप्ति का अर्थ प्रकट करने को लाया गया है। विकृत रूप तथा असमर्थता, ये दोनो दूषण वर्तमान हैं।

'खटकति' (२२९) एकवचन है, किंतु बहुवचन होना चाहिए था, क्योंकि इसके कर्ता तीन हैं।

'दिन' (२६०) 'उस दिन' के लिये आया है। इसमें असमर्थ-दूषण है।

'बारद' (२६२) बारिद की ख़राबी है। आधीन (२६३) अधीन का रूप है। 'उपय जाय' (२६४) उड़ जाने के लिये आया है। यह शब्द बंग-प्रांत का है, जो एकदेशीय होने से असाधारण माना जाता है। 'इन' (२७१) 'इनका' अर्थ बतलाने के लिये आया है।

'सबील' (२७३) युक्ति के अर्थ में लाया गया है। इसका शुद्ध अर्थ है मार्ग। 'भाई, इसको कोई सबील निकाल दो', ऐसे वाक्य में सबील का अर्थ व्यंग्य से युक्ति माना जा सकता है, किंतु 'बचै न बड़ी सबीलहू चील घौंसुआ माँसु' में युक्ति का अर्थ नहीं लगता।

'धरहर' (२७९) धैर्य के लिये आया है। 'दिया लौं नादि

उठति' (२७८) में 'नादि उठनि' सचेत होने के अर्थ में आया है, किंतु नाद से शब्द-संबंधी अर्थ निकलता है, न कि सचेत होने का।

'बरि-बरि' (२८८) 'बकि-बकि' के लिये आया है, जो असमर्थ है। यदि बड़बड़ाने का भाव लाना था, तो उपयुक्त शब्द लाया जा सकता था। 'ढारी' (२६४) 'आदत' के लिये कहा गया है। यह शब्द ढरने से निकला है, और आदत के अर्थ को व्यक्त करने में असमर्थ है। 'सैल' (३०८) 'सैर' का अपभ्रंश है। हित (३२४) 'हितू' या पति का अर्थ प्रकट करने में असमर्थ है।

'पिछान' (३२७) 'पहचान' का अपभ्रंश है। 'उनरत' और 'गुम्हरोट' (३४७) बिगड़े हुए शब्द हैं। 'सद' (३८६) 'स्वभाव' के अर्थ में आया है। 'पनिहा' (३६२) 'चोरी का पता लगानेवालों' के अर्थ में आया है। शुद्ध बुँदेलखंडी शब्द है 'पनाही'। जो धन लेकर किसी के चोरी गए हुए ढोरों का पता बताता है, उसको पनाही कहते हैं। इसी से कवि ने मनमाना शब्द 'पनिहा' गढ़ लिया होगा। 'ठिकठैन' (४१५) 'ठीक-ठाक' के लिये आया है। 'कटनि' (४१६) आसक्ति के लिये अशिष्ट है।

'निघरघटौ' (४२१) निश्चय-पूर्वक 'घरघाट' के लिये गढ़ा हुआ शब्द है। 'ज्ञानि' (४२३) का प्रयोग ज्ञानी के अर्थ में हुआ है। 'गहगाह' (४३१) गर्राने के लिये आया है।

'रली' (४३५) से 'रँगरलियों' का अर्थ-बोध कराया गया है। 'कौनि' (४३६)—'कोर्निश' का बिगाड़ा रूप—प्रार्थना के अर्थ में आया है। 'गहिली' (४४२) 'ग्रहिल' से निकालकर 'बावली' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'रचौंहैं' (४४४) प्रेम-युक्त होने के अर्थ में आया है। शुद्ध अर्थ किसी रंग में रचने का है। 'अचैन' (४६१) का प्रयोग बेचैनी के अर्थ में हुआ है। 'मिलान' (४८४)

से 'मुक़ाम' का अर्थ लिया गया है, यद्यपि मुख्य अर्थ मिलने का है।

'जीगनन' (४६२) से जुगनुओं का बोध कराया गया है। 'सखी सबै ठिग जाति' (४६७) में कर्म जाति एकवचन है, किंतु कर्ता 'सबै सखी' बहुवचन है। शुद्ध वाक्य यों होना चाहिए था— सब सखियाँ ठिग जाती हैं। 'छुनौ' (५०४) से 'आकृत' के सहारे प्रस्तुति का अर्थ निकाला गया है। 'वैं' (५१०) से 'उनको' का अर्थ-बोध कराया गया है। 'आवटी' (५२३) 'औटी' का विकृत रूप है। 'सुधि थाय प्या' (५७८) में लाला साहब ने जो अर्थ लिखा है, उसमें सुध दिला करके आगे कुछ होने का वाक्यांश आवश्यक है, किंतु छंद में वह कुछ नहीं है। 'औथरे' (६४५)-शब्द 'उथले' के लिये आया है। 'तरहरि' (६७८) 'तले' के लिये कहा गया है।

संभव है, बिहारी का कोई दूसरा प्रेमी लाला साहब के लिखे हुए पाठों को भ्रष्ट कहकर हमारे उपर्युक्त कथनों में दूषण निकाले। ऐसा कुछ शब्दों में होना संभव भी है। पाठों का कितना भी ढकोसला निकाला जाय, हमारी समझ में बिहारी का शब्द-प्रयोग निर्दोष नहीं प्रमाणित हो सकता। हमने विकृत शब्दों के उदाहरण एक-ही-एक दिए हैं, किंतु ग्रंथ-भर में ऐसे-ऐसे शब्द अनेक बार आए हैं। यहाँ पर इतना और कह देना आवश्यक है कि साहित्य-गौरव के लिये भाषा पर उतना विचार नहीं हो सकता, जितना भाव पर। साहित्य-गौरव के निर्णय में भाषा का प्रभाव उतना अधिक नहीं है।

निम्न-लिखित छंदों में दूरान्वय-दोष मौजूद है—

वेई गड़ि गाड़ैं परीं, उपस्यो हारु हियै न ;
आन्यो मोरि मतंग मनु मारि गुरेरन मैन ॥ १ ॥

जनकु धरत हरि हिय धरे, नाजुक कमला बाल ;
भजत भार-भयभीत ह्वै घन चंदन बनमाल ॥ २ ॥
कियो जु चिबुक उठायकै कंपित कर भरतार ;
टेढ़ीयै-टेढ़ी फिरति, टेढ़ो तिलक लिलार ॥ ३ ॥
ढीठ्यो दै बोलत, हँसत, प्रौढ़ बिलास अपोढ़ ;
त्यों-त्यों चलत न पिय-नयन, छकए छकी नबोढ़ ॥ ४ ॥

इन कुछ दोषों के होने पर भी इन कविरत्न की बोल-चाल बहुत ही स्वाभाविक है। यथा—

तेह तरेरो त्योर करि, कत करियत दृग लोल ;
लीक नहीं यह पीक की स्रुति-मनि-झलक कपोल ॥ ५ ॥

१६५, २७६, ३१२, ३१७ और ४७३ नंबर के छंद भी इस गुण के उदाहरण हैं। इन महाकवि ने इबारत-आराई भी ख़ूब ही की है—

कुंज-भौन तजि भौन को चलिए नंद-किसोर ;
फूटत कली गुलाब की चटकाहट चहुँ ओर ॥ ६ ॥
केसरि कै सरि क्यों सकै, चंपक कितक अनूप ;
गात-रूप लखि जात दुरि जातरूप को रूप ॥ ७ ॥

बिहारीलाल ने पद-मैत्री को बड़ा ही आदर दिया है, और इनका प्रयोग भी बड़ा मनोरंजक किया है। यह चमत्कार ५, २५, ४३, ७७, ८६, १५३, १८४, १८८, २००, २०१, २०२, २२७, ३०६, ३३०, ३३२, ३३४, ३४२, ३५४, ३६०, ३६६, ४२३, ४४७, ५२१ और ६३० नंबर के छंदों में ख़ूब देख पड़ता है, और साधारणतः सर्वत्र ही है—

रस सिंगार मंजन किए, कंजन भंजन दैन ;
अंजन-रंजन हूँ बिना खंजन-गंजन नैन ॥ ८ ॥
तो पर वारौं उरबसी, सुनु राधिके सुजान ;
तू मोहन के उर बसी ह्वै उरबसी-समान ॥ ९ ॥

गड़े बड़े छबि छाकु छकि, छिगुनी छोर छुटै न ;
रहे सुरँग-रँग रँगि वहीं, नँह-दी महँदी नैन ॥१०॥

दो-चार स्थानों पर इन्होंने पद-मैत्री के साथ चित्र-काव्य भी किया है। यथा—

खेलन सिखए अलि भले, चतुर अहेरी मार ;
काननचारी नैन-मृग, नागर-नरनु सिकार ॥ ११ ॥

परंतु शब्दों के बनाव में इन महाकवि ने उद्दंडता आदि गुण भी हाथ से नहीं जाने दिए हैं। उद्दंडता का उदाहरण—

फिरि-फिरि चित उतही रहत, टुटी लाज की लाव ;
अंग-अंग छबि-भौंर में भयो भौंर की नाव ॥ १२ ॥

कुछ बातों पर ध्यान देने से विदित होता है कि बिहारीलाल की भाषा बहुत मनोहर है। इन्होंने लहलहात, झलमलात, डगमगात आदि ऐसे-ऐसे बढ़िया और सजीव शब्द प्रायः रक्खे हैं कि अधिक विशद भाव न होने पर भी दोहा चमचमा उठता है। इसी प्रकार, जैसा वर्णन किया है, उसी के अनुसार भाषा भी लिखकर उसका रूप खड़ा कर दिया है।

बिहारी ने स्त्रियों के तालाब में नहाने का ढंग, स्नान-समय की नख़रेबाज़ी आदि का ऐसा वर्णन किया है कि वह आँखों-देखा-सा समझ पड़ता है—

नहिं अन्हाय, नहिं जाय घर, चित चहुँट्यो तकि तीर ;
परसि फुरहरी-लौं फिरति, बिहँसति, धँसति न नीर ॥ १३ ॥
मुँह धोवति, एँड़ी घसति, हँसति अनगवति तीर ;
धसति न इंदीबर-नयनि कालिंदी के नीर ॥ १४ ॥
"मुँह पखारि, मुड़हर भिजै, सीस सजल कर छ्वाय ;
मोरि उचै घूटैनु नै, नारि सरोबर न्हाय ॥ १५ ॥

चितवत जितवत हित हिए, किए तिरीछे नैन ;
भीजे तन दोऊ कँपत, क्यों हूँ जपु निबरै न ॥ १६ ॥
बिहँसति सकुचति-सी, दिए कुच आँचर बिच बाँह ;
भीजे पट, तट को चली, न्हाय सरोवर माँह ॥ १७ ॥

इन महाकवि ने कई काव्यांगों के बड़े ही साफ़ और उत्कृष्ट उदाहरण दिए हैं । यथा—

छुटी न लाज, न लालचौ, प्यौ लखि नैहर-गेह ;
लटपटात लोचन खरे, भरे सकोच-सनेह ॥ १८ ॥ (मध्या)

उपर्युक्त तीसरा और पाँचवाँ, दोनो दोहे 'स्वभावोक्ति' के अच्छे उदाहरण हैं ।

किती न गोकुल कुलवधू, काहि न केहि सिख दीन ;
कौने तजी न कुल-गली ह्वै मुरली-सुर-लीन ॥ १९ ॥ (काकु)
मन मोहन सों मोह करि तू घनस्याम निहारि ;
कुंजबिहारी सों बिहरि, गिरिधारी उर धारि ॥२०॥ (परिकरांकुर)
स्वारथ, सुकृत न, श्रम-बृथा, देखि बिहंग बिचारि ;
बाज पराए पानि-पर, तू पंछीन न मारि ॥ २१ ॥ (अन्योक्ति)
काल्हि दसहरा बीतिहै, धरि मूरुख, जिय-लाज ;
दुरयो फिरत कत बनन में नीलकंठ, बिनु काज ॥ २२ ॥ (,,)
नाहिं न ये पावक प्रबल, लुवैं चलत चहुँ पास ;
मानहु बिरह बसंत के ग्रीषम लेत उसास ॥ २३ ॥ (उत्प्रेक्षा)
मिलि चंदन बेंदी रही, गोरे मुँह न लखाय ;
ज्यों-ज्यों मद-लाली चढ़ै, त्यों-त्यों उघरति जाय ॥ २४ ॥ (उन्मीलित)
डीठि न परत समान दुति, कनक कनक-से गात ;
भूषन कर-करकस लगे, परसि पिछाने जात ॥२५॥ (,,)
कंचन तन घन बरन बर रह्यो रंग मिलि रंग ;
जानी जाति सुबास ही, केसरि लाई अंग ॥ २६ ॥ (उन्मीलित)

अंग-अंग नग जगमगत दीप-सिखा सी देह ;
दिया बढ़ाए हू रहै, बढ़ो उजेरो गेह ॥ २७ ॥ (अतिशयोक्ति)
छाले परिबे के डरनि सकति न हाथ छुवाय ;
झिझकति हिए गुलाब के झवाँ झवाँवत पाय ॥ २८ ॥ („)

इन कवि ने अतिशयोक्ति में क़लम तोड़ दी है, विशेषकर कोमलता, उज्ज्वलता और विरह के वर्णनों में। ६६, २३४, २४१, २४३, ४२६, ४२७, ४२८, ४२९, ४३४, ४४८, ४७७ और ४२४ नंबर के छंदों में इसकी छटा देख पड़ेगी। इन महाकवि ने उपमाएँ बड़ी ही अच्छी और अनोखी खोज-खोजकर दी हैं, तथा उत्प्रेक्षाएँ और रूपक भी बड़े ही चोखे कहे हैं—

भो मन मोहन-रूप मिलि पानी में को लोन।
साईं-सिर कच सेत, ज्यों बीत्यो चुनति कपास।
जाके तन की छाँह ढिग जोन्ह छाँह-सी होति।
अरगट ही फानूस-सी परगट होति लखाय।
भरत ढरत, बूड़त तिरत, रहट-घरी लौं नैन।
आली, बाढ़ै बिरह, ज्यों पंचाली को चीर।

१७, २७, ३४, ४३, ५४, ६७, ७२, ८४, ९०, ११२, ११४, १२७, १२८, १६२, १६३, २२२, ३१०, ३२३, ३८०, ३९६, ४२२, ४४४, ४६३, ४६७, ४७१, ५२३, ५१४, ५४२, ५६४, ६४०, ६६६ और ६६७ नंबर के छंदों में इनकी उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक का ज़ोर देख पड़ता है। इन्होंने सैकड़ों नए-पुराने रूपक और उपमाएँ कहीं। जहाँ यह पुरानी उपमाएँ या रूपक कहते हैं, वहाँ भी अपना विशेषता रख देते हैं। यथा—

नीको लसत ललाट पर टीको जड़ित जड़ाय ;
छबिहिं बढ़ावत रबि मनो ससि-मंडल मैं आय ॥२९॥

चमचमात चंचल नयन बिच घूँघट पट भीन ;
मानौ सुर-सरिता बिमल जल उछलत जुग मीन ॥२०॥

इन उत्प्रेक्षाओं में इन कविवर ने पुराने विचारों को कैसे नए कपड़े पहनाए हैं ! बिहारी ने एक यह भी विशेषता रक्खी है कि सैकड़ों रूपक कहने पर भी, जहाँ तक हमें स्मरण है, एक भी तद्रूप-रूपक नहीं कहा। वास्तव में यथावत् रूपक अभेद ही है, क्योंकि तद्रूप में अंतर नहीं मिटता। इसीलिये शायद इन्होंने उसे पसंद नहीं किया। उपर्युक्त के अतिरिक्त भी बिहारी ने बहुत-से अच्छे काव्यांग कहे हैं। काव्य के पूर्णज्ञ होने पर भी बिहारी उसकी रीतियों के पूरे पाबंद नहीं थे। मरणावस्था के कथन में रसाभास समझकर बहुतेरे कवि मूर्च्छा ही का वर्णन कर देते हैं (यथा—"नेक मरू करिकै चितई, जब चारि घरी लौं मरीयै धरी रही।"), परंतु बिहारी ने मरण का भी वर्णन कर दिया—

कहा कहौं वाकी दसा हरि प्रानन के ईस ;
बिरह-ज्वाल जरिबो लखे, मरिबो भयो असीस ॥२१॥

पंडित पद्मसिंह शर्मा इस दोहे का हमारा अर्थ अशुद्ध मानते हैं। आप इसका यों अर्थ लगाते हैं कि "उसे विरह-ज्वाला में जलती देखकर मरना असीस (आशीर्वाद) के समान है।" भेद इतना ही है कि आप 'असीस के समान है' कहते हैं, किंतु कवि कहता है कि 'असीस भयो' (हो गया)। मरिबो क्रिया है, नाम नहीं। क्रिया पूर्ण हो गई। मरना आशीर्वाद हो गया। यदि इसमें भी क्रिया अपूर्ण ही मानी जाय, तो कष्ट-कल्पना की हद हो जायगी।

सिवा संस्कृत के कवि कालिदास के और कवियों ने प्रायः गर्भवती नायिका का वर्णन नहीं किया, पर बिहारी ने वह भी कहा है—

दृग थरकौहैं अध-खुले, देह थकौहैं ढार ;
सुरति-सुखित-सी देखिए दुखित गरभ के भार ॥३२॥

बिहारी की दृष्टि संसार-भर के सभी पदार्थों पर बड़ी पैनी पड़ती थी, और यह महाशय अपने मतलब की बात ख़ूब देख लेते थे। इन्होंने रंगों और उनके मिलाव का बड़ा श्लाघ्य वर्णन किया है। यथा—

मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोय ;
जा तन की झाईं परे स्याम हरित दुति होय ॥३३॥
सोनजुही-सी होति दुति मिलति मालती-माल।
देखी सोनजुही फिरत, सोनजुही-से अंग ;
दुति लपटनु पट सेतहूँ, करत बनौटी रंग ॥३४॥
अधर धरत हरि के परति ओंठ डीठि पट जोति ;
हरित बाँस की बाँसुरी इंद्र-धनुष-रँग होति ॥३५॥
सोनजुही-सी जगमगै अँग-अँग जोबन-जोति ;
सुरँग कुसुंभी कंचुकी, दुरँग देह-दुति होति ॥३६॥
कंचन तन धन बरन-बर रह्यो रंग मिलि रंग ;
जानी जाति सुबास ही, केसरि लाई अंग ॥३७॥

इन कविवर ने रंगों के साथ संसार और प्रकृति का भी निरीक्षण बहुत अच्छा किया, विशेषकर मानुषी प्रकृति का। इनके प्रायः सभी दोहों में प्रकृति-पर्यवेक्षण देख पड़ता है। निम्न-लिखित दोहे इस गुण के प्रधान उदाहरण हैं—

रह्यो मोहु, मिलनो रह्यो, यों कहि गहे मरोर ;
उत दै अलिहि उराहनौ, इत चितई मो ओर ॥३८॥
छल सों चली छुआय कै छिनकु छबीली छाँह।
ज्यों-ज्यों बढ़ति बिभावरी, त्यों त्यों खरी उताल ;
झमकि-झमकि टहलैं करै, लगी रहचटैं बाल ॥ ३९ ॥

सतर भौंह, रूखे बचन, करति कठिन मन नीठि ;
कहा करौं ह्वै जाति हरि, हेरि हँसौंहीं डीठि ॥ ४० ॥
लरिका लेबे के मिसुन लंगर मो-ढिग आय ;
गयो अचानक आँगुरी छाती छैल छुआय ॥ ४१ ॥
ज्यों उझकति, झाँपति बदन, बिहँसति अति सतराय ;
त्यों गुलाल झूठी-मुठी झुठकावत प्यौ जाय ॥ ४२ ॥
ज्यों-ज्यों पट झटकति, हँसति, हठति, नचावति नैन;
त्यों-त्यों परम उदारहू फगुआ देत बनै न ॥ ४३ ॥
बतरस - लालच लाल की मुरली धरी लुकाय ;
सौंह करै, भौंहन हँसै, देन कहै, नटि जाय ॥ ४४ ॥

इन अंतिम तीन दोहों में इन कवि ने घंटे-घंटे-भर की बात-चीत एक-एक दोहे में भर दी है। इनका प्रकृति-निरीक्षण इन दोहों से भी प्रकट होगा—१, ६, २३, २६, २८, ३०, ३७, ३८, ४०, ४१, ४२, ४८, ६१, ६५, ६८, १२६, १२८, १६६, २३९, २७१, २८०, ३३५, ३६१, ४१२, ४४४, ४६३, ४६५, ५०६, ५१६, ५४६, ५५१, ६०६, ६५१, ६५२, ६५४, ६६३, ६६४, ६६६, ६८१, ६८६, ६९०, ६९२, ६९३, १८, १९, २२, ५९, १५०, ४०६, ७११, १२४, २१५, ७६, १०५ इत्यादि। इन कवि ने कहीं-कहीं प्रकृति निरीक्षण में अपना काइयाँपन भी प्रकट किया है, और इनके दोहों के साथ प्रायः प्रकृति और काइयाँपन मिले हैं। मानुषी प्रकृति के संबंध की जितनी बातें इन महाकवि ने लिखीं, और जितने चोज निकालकर इन्होंने रख दिए, उनके आधे भी शायद हिंदी-भाषा का कोई अन्य कवि नहीं रख सका होगा। इन सात सौ दोहों में ख़ूबियाँ ठूँस ठूँसकर भरी हुई हैं, परंतु इनके प्रकृति-पर्यवेक्षण में बहुधा अश्लीलता भी मिल जाती है। देखिए नंबर ५, १६८, २२८, २८१, २८२, २९५ इत्यादि।

बिहँसि, बोलाय, लगाय उर, प्रौढ़ तिया रस घूमि ;
पुलकि, पसीजति पूत को प्यौ चूम्यो मुँह चूमि ॥ ४५ ॥

यहाँ पुत्र में भी पति-भाव आ गया है, जो निंद्य है ।

भीगे तन दोऊ कँपत, क्यों हूँ जपु निबरै न ।

कवियों ने कहा है—'दोख परै औ दुराव रहै कवि तोष सोई कबिता मन भावै' ; परंतु बिहारी ने दो-चार स्थानों पर बिलकुल साफ़ कह दिया है । इनके प्रकृति-पर्यवेक्षण में केवल एक स्थान पर ग़लती समझ पड़ती है—

पावस घन-अँधियार महँ रह्यो भेद नहिं आन ;
राति-द्यौस जान्यो परत लखि चकई-चकवान ॥ ४६ ॥

वर्षा-ऋतु में भारत में चक्रवाक नहीं रहते । बहुत-से लोग कष्ट-कल्पना करके यह दोष भी निकालना चाहते हैं, किंतु हम उस अर्थ को अग्राह्य मानते हैं । शर्माजी का प्रश्न है कि वे क्या होते हैं ? उत्तर यही है कि वे भारत के बाहर कहीं चले जाते हैं ।

इन महाकवि ने रूप-वर्णन में सीधा, सादा, सच्चा रूप ही दरसा दिया है । सिवा देव के और कोई भी कवि ऐसा रूप नहीं दिखा सका । देखिए नंबर ५२, २३५, १५१, ३१२ पद्य इत्यादि ।

कहलाने एकत बसत, अहि, मयूर, मृग, बाघ ;
जगत तपोबन-सो कियो दीरघ दाघ निदाघ ॥ ४७ ॥

कहते हैं, यह छंद एक तसवीर को देखकर बना था ।

चलत देत आभरन सुनि वही परोसिहि नाँह ;
लसी तमासे के दृगनि हाँसी आँसुन माँह ॥ ४८ ॥

माधुर्य, विशेषकर नागर वर्णन में इन्होंने सुकुमारता को भी ख़ूब रक्खा है—

जनकु धरत हरि हिय धरे, नाजुक कमला बाल ;
भजत भार-भय-भीत ह्वै घन, चंदन, बन-माल ॥ ४९ ॥

झिझकति चित्त गुलाब के झवाँ झवाँवति पाँय ।

नागरियों के अतिरिक्त इन्होंने ग्राम्य नायिकाओं का भी वर्णन अच्छा किया है—

गोरी गदकारी परै हँसत कपोलनि गाड़ ;
कैसी लसति गँवारि यह सोनकिरवा की आड़ ॥ ५० ॥
पहला-हारु हिए लसै, सन की बेंदी भाल ;
राखति खेत खरी-खरी खरे उरोजनि बाल ॥ ५१ ॥

परंतु ग्रामीणों की इन्होंने प्रायः निंदा की है—

नागरि सकल बनाव तजि बसी गमेलिन माह ;
मूढ़नि मैं गिनबी न तो, हूठ्यो दै इठलाह ॥ ५२ ॥
करि फुलेल को आचमन मीठो कहत सराहि ;
रे गंधी, मति-अंध, तू अतर देखावत काहि ? ॥ ५३ ॥

इन कवि ने मद्य-पान का बड़ा ही बढ़िया वर्णन किया है, और इनकी रचना में ज्योतिष का भी यत्र-तत्र समावेश हुआ है—

तिय तिथि, तरुन-किसोर बय, पुन्य-काल सम दोनु ;
पूरे पुन्निनु पाइयतु, बैस-संधि संक्रोनु ॥ ५४ ॥

दो-चार और स्थानों पर भी ज्योतिष-मिश्रित वर्णन आए हैं। प्रकृति-निरीक्षण और उसके यथोचित वर्णन में यह कविवर भाषा-साहित्य में बहुत श्रेष्ठ हैं।

इनके दोहों में उत्कृष्ट पद्यों की गणना करनी कठिन है, क्योंकि इनके प्रायः तिहाई दोहे अच्छे हैं, और कोई एक भी दोहा ऐसा नहीं, जो ख़राब कहा जा सके। अच्छे पद्यों के बाहुल्य ही से यह ग्रंथ रामायण और देवसुधा के बाद सर्वोत्कृष्ट समझा जाता है। विशद पद्यों के उदाहरण वर्णन के अंत में हैं। कुछ यहाँ भी लिखे जाते हैं—

बरन, बास, सुकुमारता, सबही रही समाय ;
पँखुरी लगी गुलाब की गात न जानी जाय ॥ ५५ ॥
(मीलित अलंकार)

लिखन बैठि जाकी सबिहि गहि-गहि गरब गरूर ;
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ॥ ५६ ॥
सायक-सम घायक नयन रँगे त्रिबिध रँग गात ;
झखौ निरखि दुरि जात जल, लखि जलजात लजात ॥५७॥
मो हिय की छुटि मान गो निरखत ही ब्रजराज ;
रही घरिक लौं मान-सी मान किए की लाज ॥ ५८ ॥
बहै सदा पसु-नरन को प्रेम-पयोधि पगार ;
गिरि ते ऊँचे रसिक-मन बूड़े जहाँ हजार ॥ ५९ ॥

इन्होंने अपने बहुत-से ऐसे ऊँचे और खास बिचार लिखे हैं कि इनके चातुर्य की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जाता। देखिए ७१, ७२, ८२, ८३, १०६, १६२, १६७, २४०, ३०६, ३३८, ४०२, ४७५, ५३२, ७०० नंबर इत्यादि के दोहे।

करत मलिन आछी छबिहि, हरत जु सहज बिकासु;
अंगराग अंगनि लग्यो, ज्यों आरसी उसासु ॥ ६० ॥
पहिरि न भूषन कनक के, कहि आवत यहि हेत ;
दरपन के-से मोरचे देह दिखाई देत ॥ ६१ ॥
अंग-अंग प्रतिबिंब परि दरपन-से सब गात ;
दोहरे, तिहरे, चौहरे, भूषन जाने जात ॥ ६२ ॥
डीठि बरत बाँधी अटनि चढ़ि धावत, न डरात ;
इतै-उतै मन दुहुँन के नट-लौं आवत-जात ॥ ६३ ॥
जूठे जानि न संग्रहे, मनु मुँह-निकसे बैन ;
याही सों मानो किए बातन को बिधि नैन ॥ ६४ ॥

बिरह-बिकल बिन ही लिखी पाती दई पठाय ;
आँक-बिहीनीयै सुचित, सूने बाँचत जाय ॥ ६५ ॥
पत्रा ही तिथि पाइयत वा घर के चहुँ पास ;
नित-प्रति पून्योई रहै आनन ओप-उजास ॥ ६६ ॥

ऊँचे ख़यालात भी देखने योग्य हैं—

वाहि लखे लोयन लगै, कौन जुवति की जोति ;
जाके तन की छाँह ढिग जोन्ह छाँह-सी होति ॥ ६७ ॥

दूर की कौड़ी भी अच्छी लाते थे—

भई जु तन छबि बसन मिलि, बरनि सकै सु न बैन;
अंग-ओप आँगी दुरी, आँगी अंग दुरै न ॥ ६८ ॥

बारीक ख़यालात भी ख़ूब ही रक्खे हैं—

मानहु बिधि तन अच्छ छबि, स्वच्छ राखिबे काज;
दृग-पग पोछन को किए भूषन - पायंदाज ॥ ६९ ॥
भीगे तन दोऊ कँपत, क्यों हूँ जपु निबरै न ।

इनकी विशेषताएँ भी द्रष्टव्य हैं। ऊपर लिखे हुए दोहों में 'पहिरि न भूषन' देखिए। इन्होंने संयोगादि के दो-एक चाज भी कहे हैं, जो देखने योग्य हैं —

नहिं हरि लौं हियरा धरौ, नहिं हर लौं अरधंग ;
एकत ही करि राखिए अंग-अंग प्रति अंग ॥ ७० ॥

इसे पढ़कर—

मन् तो शबम् तो मन् शबी, मन् तन् शबम् तो जाँ शबी ;
ता कस न गोयद बादऽज़ीं मन् दीगरम् तो दीगरी ।

याद आता है। इन्होंने बहुत-से ऐसे विचार और भाव लिखे कि बड़े-बड़े कवियों ने भी इनके सामने उनके लिये हाथ फैलाए हैं। एकआध स्थान पर इन्होंने औरों के भी कुछ भाव लिए हैं। देखिए—

नई लगनि, कुल की सकुच, बिकल भई अकुलाय ;
दुहूँ ओर ऐंची फिरै फिरकी-लौं दिन जाय ॥ ७१ ॥ (बिहारी)
धाई फिरै फिरकी-सी दुहूँ दिसि, 'देव' दुवौ गुन जोरिकै ऐंची। (देव)
पूरन प्रीति हिए हिरकी, खिरकी-खिरकीन फिरै फिरकी-सी। (देव)
बाल काहि लाली भई, लोयन कोयन माँह ;
लाल तिहारे दृगनि की परी दृगन में छाँह ॥ ७२ ॥ (बिहारी)
काहू के रंग रँगे दृग रावरे, रावरे रंग रँगे दृग मेरे । (देव)
नेह न, नैनन को कछू, उपजी बड़ी बलाय ;
नीर-भरे नित प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाय ॥७३॥ (बिहारी)
छलकै चहूँधा अश्रुजल को प्रवाह, पै न
नेकु बिरहागिनि की तपनि बुझाय है । (दूलह)
नैना धैना करत हैं, उरज उमेठे जाहिं । (रहीम)
लगालगी लोयन करैं, नाहक मन बँधि जाहिं । (बिहारी)
यह भाव बिहारी ने लिया है ।
भई रहति नट को बटा अटकी नागरि नेह । (बिहारी)
भूतल ते नभ, नभ ते अवनी अगु उछलै नट का बटा हुआ । (सीतल)
सायक-सम घायक नयन रँगे त्रिबिध रँग गात ;
झखौ बिलखि दुरि जात जल, लखि जलजात लजात ॥७४॥ (बिहारी)
कंज सकोच गड़े रहैं पंक मैं, मीनन बोरि दियो दहनीरन । (दास)
उठे राम अति प्रेम-अधीरा ; कहुँ धनु, कहुँ निषंग, कहुँ तीरा ।
(तुलसीदास)
कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल ;
कहुँ मुरली, कहुँ पीत पट, कहूँ मुकुट, बनमाल ॥ ७५ ॥ (बिहारी)
बिहारी ने यह भाव लिया है ।
जेहि ब्रज केलि निकुंज मग पग-पग होत पराग । (बिहारी)
इस भाव पर केशव, पद्माकर एवं अन्य कई कवियों ने कहा है ।

भाव केशवदास का है।

पिय के ध्यान गही गही, रही वही ह्वै नारि ;
आपु आप ही आरसी लखि रीझति रिझवारि ॥ ७६ ॥ (बिहारी)
स्याम-ही-स्याम रहो रटिकै, पुनि ह्वै गई मूरति नंदकिसोर की।
(पद्माकर)
भरि गुलाल की मूठि सों गई मूठि-सी मारि। (बिहारी)
डीठि-सी डीठि लगी इनके, उनके लगी मूठि-सी मूठि गुलाल की।
(पद्माकर)

साहित्य संगीत कला विहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः। (भर्तृहरि)
तंत्री-नाद, कवित्त-रस, सरस राग, रति रंग ;
अनबूड़े बूड़े, तिरे, जे बूड़े सब अंग ॥ ७७ ॥ (बिहारी)
बिहारी ने यह भाव लिया है।

लाला भगवानदीन इस स्थान पर इतने चकित हुए हैं कि उनकी समझ में हमने बिहारी से पीछे होनेवाले कवियों से भाव चुराने का दोष बिहारी पर लगाया। कितना बड़ा आश्चर्य है! आपने अपना यह विचार केवल श्रीशारदा पत्रिका में ही नहीं छपवाया, अपनी बिहारी-बोधिनी पुस्तक में भी लिखा। हमने तो पहले ही लिखा है कि बड़े-बड़े कवियों ने भी बिहारी के सामने भावों के लिये हाथ फैलाए हैं। उसी कथन के उदाहरण दिए गए हैं। पैरे के अंत में यह भी लिखा है कि बिहारी ने भी कभी-कभी भाव लिए हैं। दोनो बातों के उदाहरण दिए गए हैं। जिसका भाव है, उसका छंद पहले लिखा गया है, और नक़ल करनेवाले का पीछे।

इतने बड़े शृंगारी कवि होकर इन्होंने कुछ पद्य भक्ति के भी लिखे हैं। इनका अद्वैत मत जान पड़ता है, परंतु इनको भक्त कहना वितंडा-मात्र है, जब कि यह स्वयं लिखते हैं—

ताहि देखि मन तीरथनि बिकटनि जाय बलाय ;
जा मृगनैनी के सदा बेनी परसति पाय ॥ ७८ ॥

इनके भक्तिवाले पद्यों के ये उदाहरण हैं—

मोर मुकुट, कटि काछनी, कर मुरली, उर माल ;
यहि बानिक मो मन बसौ सदा बिहारीलाल ॥ ७९ ॥
मैं देख्यो निरधार, यह जग काचो काँच-सो ;
एकै रूप अपार, प्रतिबिंबित लखियत तहाँ ॥ ८० ॥
जप-माला, छापा, तिलक, सरै न एकौ काम ;
मन-काचे नाचे बृथा, साँचे राचे राम ॥ ८१ ॥
ब्रजबासिन को उचित धन, जो घनरुचि तन कोय,
सु-चित न आयो सुचितई, कहौ कहाँ ते होय ॥ ८२ ॥

सूमपने के भी यह कवि प्रतिकूल थे—

मीत न नीत, गलीत यह जो धरिए धन जोरि ;
खाए-खरचे जो बचे, तौ जोरिए करोरि ॥ ८३ ॥
जेती संपति कृपन के, तेती सूमति जोर ;
बढ़त जात ज्यों-ज्यों उरज, त्यों-त्यों होत कठोर ॥ ८४ ॥

यह ऐसे खरे आदमी थे कि इन्होंने महाराजा जयपुर के यहाँ रहते हुए भी अपना ग्रंथ उनके नाम पर नहीं बनाया, और उनकी प्रशंसा में केवल ७ या ८ दोहे कहे। उसके साथ कलि के दानियों की निंदा भी कर दी। इससे जान पड़ता है कि इन कवि का अच्छा मान जयपुर में भी नहीं हुआ। भूषण बिहारी से कवित्व-शक्ति में कम थे, परंतु उनके शिवाजी-संबंधी पद्य बिहारी के जयसाहिवालों से कहीं अच्छे हैं। इससे जान पड़ता है, बढ़िया पद्य केवल इच्छा से नहीं बनते, वरन् जब चित्त से उसके विषय में उमंग एवं उत्साह उठता है, तभी बनते हैं। बिहारी ने शिवाजी की पराजय का हाल स्पष्ट नहीं लिखा, यद्यपि ख़ास जयसाहि ने

उन्हें हराया था। इससे जान पड़ता है, मुग़लों की ओर से जयसाहि का शिवाजी से लड़ना इन्हें भला नहीं लगा। इस बात से प्रच्छन्न रूप में इनका जातीय प्रेम भी देख पड़ता है। कलियुग के दानियों की यों निंदा हुई है—

कब को टेरत दीन रट, होत न स्याम सहाय ;
तुम हूँ लागी जगतगुरु, जगनायक, जग-बाय ॥ ८५ ॥
थोरेई गुन रीझवी, बिसराई वह बानि ;
तुम हूँ कान्ह मनो भए आजु कालि के दानि ॥ ८६ ॥

बिहारी ने अपनी कविता में धर्म-संबंधी आचार-विचारों एवं ऐतिहासिक घटनाओं का भी बहुत हवाला दिया है। इसी प्रकार लोगों के विश्वासों पर भी इनके कई पद्य अवलंबित हैं—

पूस-मास सुनि सखिन पै साईं चलत सवार ;
लै कर बीन प्रवीन तिय गायो राग-मलार ॥ ८७ ॥

इसमें विश्वास यह है कि मलार गाने से पानी बरसे, और पूस की वृष्टि अकाल-वृष्टि है। इस पर विश्वास है कि जो अकाल-वृष्टि के दिन घर से चले, उसकी अकाल-मृत्यु हो ? सो मलार गाने से पति न जा सकेगा।

"फिरत काग-गोलक भयो दुहूँ देह जिय एक।"—इसमें यह विश्वास है कि कौए का आँख का गोला एक ही होता है और वह इच्छानुसार उस गोले को किसी भी आँख में लाकर देख सकता है। वास्तव में यह बात नहीं है। "कछु जानत जल-थंभ-बिधि दुरजोधन-लौं लाल।" कहा जाता है, दुर्योधन जल-स्तंभन-विधि जानते थे। बिहारी ने अंतिम शतक में कुछ दोहे नीति और शिक्षा के भी अच्छे कहे हैं।

जो सिर धरि महिमा मही लहियत राजा-राय ;
प्रगटत जड़ता आपनी, सु मुकुट पहिरत पाय ॥ ८८ ॥

सीतलता रस बास की घटै न महिमा मूर ;
पीनसवारे जो तजैं सोरा जानि कपूर ॥ ८९ ॥
बड़े न हूजे गुननि बिनु बिरद बड़ाई पाय।
कनक धतूरे सों कहत गहनो गढ़ो न जाय ॥ ९० ॥
कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय ;
वह खाए बौरात नर, यह पाए बौराय ॥ ९१ ॥
बढ़त-बढ़त संपति-सलिल मन-सरोज बढ़ि जाय ;
घटत-घटत नहिं पुनि घटै, बरु समूल कुम्हिलाय ॥ ९२ ॥"

इन महाकवि ने यत्र-तत्र अपनी कविता में मज़ाक़ भी ख़ूब रक्खे हैं। इसके उदाहरण हर जगह मिलेंगे।

बिहारीलाल ने आँखों का भी ख़ूब वर्णन किया है। बहुत-से दोहे प्रधान अथवा गौण रूप से आँखों के विषय में हैं। इन्होंने नेत्रों की लड़ाई का भी कथन किया है। आँखों में आँख लगने से आँख नहीं लगती, डीठि में डीठि पड़ने से डीठि किरकिरी हो जाती है, इत्यादि इनके बड़े रुचिकर विषय हैं। कई स्थानों पर इन्होंने कानन (जंगल), कान और नैन का संबंध दिखाकर वर्णन किए हैं। साधारण-सी बात भी बिहारी इस तरह कहते हैं कि वह बहुत बढ़िया लगती है। इन्होंने रुखाई और चिकनाई का साथ-साथ ख़ूब वर्णन किया है—"रूखे कैसे होत ये नेह-चीकने नैन?" दोहा एक बहुत ही छोटा छंद है, अतः उसमें यह गुण है कि थोड़ी-सी भी उत्तमता होने से वह चमक उठता है। यदि सवैया या घनाक्षरी में उतनी ही उत्तमता हो, तो शेष अंश में भरती के पद लाने पड़ेंगे, जिससे कुल छंद शिथिल हो जायगा। इस कारण भी बिहारी के दोहे बड़े भले लगते हैं, और इनका यश उज्ज्वल बनाए हुए हैं। यह असंभव समझ पड़ता है कि बिहारी ने समस्त जीवन रचना करके भी केवल ७०० दोहे

बनाए हों। हमारा तो अनुमान है कि इन्होंने हज़ारों दोहे बनाए होंगे; उनमें से ये ७०० चुन लिए, और शेष साधारण या शिथिल दोहों का मोह न करके उन्हें नष्ट कर डाला। कविजन अपने बुरे पद्यों पर भी पुत्रवत् स्नेह रखते हैं; परंतु बुरे लड़कों की भाँति भले लड़कों का भी भाग बँटाकर वे पैत्रिक संपत्ति छिन्न भिन्न कर देते हैं। यदि बिहारी के चार-पाँच हज़ार दोहे होते, और उनमें से ये ७०० अच्छे होते, तो इनका उतना नाम कभी न होता, जितना केवल ७०० उत्कृष्ट दोहों के होने से हुआ। निकृष्ट पद्य बोझ की भाँति सत्कवि को भी थकाकर डुबो देते हैं, पर मोह-वश कविगण उस बोझ को फेंक नहीं सकते। बिहारी उस बोझ को फेंककर यश के समुद्र में ऊँचे तैर रहे हैं।

इनकी कविता में काइयाँपन भरा पड़ा है। अतः उसमें इशारेबाज़ी की भी कोई हद नहीं है। इनके पद्य इतने अच्छे हैं कि बहुत-से मसले-से हो गए हैं—'बातै हाथी पाइए, बातै हाथी पाँव' इत्यादि। इनके सामयिक दोहे प्रायः मौक़े-मौक़े पर कहे जाते हैं। हिंदी में केवल बिहारीलाल ने उर्दू के ढंग की कविता रची, और इन्हें उसमें कृतकार्यता भी मिली है। इनके बराबर किसी ने भी चोज नहीं कहे, और इनकी कविता सब सत्य है। यह आपबीती ख़ूब कहते थे, और जग-बीती भी ख़ूब देखते थे। स्त्रियों के कोमल स्वभाव के विषय में इन रसिक-शिरोमणि का निष्कर्ष दर्शनीय और प्रत्येक विवाहित मनुष्य के पूर्णतया ध्यान देने योग्य है—

पति ऋतु औगुन गुन बढ़त, मान माह को सीत ;
जात कठिन ह्वै अति मृदौ, रवनी-मन-नवनीत ॥ ६३ ॥"

इसी प्रकार की बातों के बाहुल्य के कारण सतसई पढ़ने में

चित्त कभी उकताता नहीं है। यह बड़ा ही चित्ताकर्षक ग्रंथ है। इसके कुछ दोहे तो ऐसे हैं कि उनके तात्पर्य थिएटरों में ऐक्ट करने के योग्य हैं। इस कथन के उदाहरण-स्वरूप वे तीन दोहे समझने चाहिए, जो ऊपर प्रकृति-पर्यवेक्षणवाले उदाहरणों के अंत में लिखे गए हैं। जयपुर के आमेरगढ़ांतगत शीश-महल का भी इन्होंने बड़ा अच्छा वर्णन किया है।

प्रतिबिंबित जयसाहि-दुति-दीपति दर्पन-धाम ;
सब जग जीतन को कियो काय-व्यूह मनु काम ॥ ६४ ॥

इस शीश-महल को हमने भी देखा है। इसमें हज़ारों छोटे-छोटे अंगुल-अंगुल, डेढ़-डेढ़ अंगुल के शीशे लगे हैं। हर ओर दर्शक का स्वरूप देख पड़ता है, और सचमुच यह जान पड़ता है कि काय-व्यूह-सा बना है। इसकी उपमा बड़ी ही सच्ची है।

बिहारी ने बहुत-सी बातों का वर्णन किया है। हम को यह सबसे अधिक चित्ताकर्षिणी समझते हैं।

यक भींजे, चहले परे, बूड़े-बहे हजार ;
किते न औगुन जग किए, नै बै चढ़ती बार ॥ ६५ ॥
ताहि देखि मन तीरथनि बिकटनि जाय बलाय ;
जा मृगनैनी के सदा बेनी परसति पाँय ॥ ६६ ॥

कुल बात सोचकर हम बिहारी को एक बड़ा सत्कवि समझते हैं। तुलसीदास, सूरदास और देव को छोड़कर यह महाशय हिंदी में सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। इनकी कविता के उदाहरण-स्वरूप दोहे आगे लिखे जाते हैं—

राति-द्यौस हौंसै रहै, मान न ठिक ठहराय ;
जेतो औगुन ढूँढ़िए, गुनै हाथ परि जाय ॥ ६७ ॥
छुटा न सिसुता की झलक, झलक्यो जोबन अंग ;
दीपति देह दुहून मिलि दिपति ताफता-रंग ॥ ६८ ॥

केसर केसरि-कुसुम के रहे अंग लपटाय ;
लगे आनि नख अनखुली, कत बोलति अनखाय ॥ ११२ ॥
कर मूँदरि की आरसी प्रतिबिम्ब्यो प्यो आय ;
पीठि दिए निधरक लखै इकटक डीठि लगाय ॥ ११३ ॥
मंजन करि खंजन-नयनि बैठी ब्यौरति बार ;
कच अँगुरिन-बिच दीठि दै चितवति नंद-कुमार ॥ ११४ ॥
औरै ओप कनीनिकनि, गनी घनी सिरताज ;
मनी धनी के नेह की बनी छनी पट लाज ॥ ११५ ॥
रुख रूखी मिस रोख मुख, कहति रुखौंहें बैन ;
रूखे कैसे होत ये नेह-चीकने नैन ॥ ११६ ॥
लखि लोने लोइननु के कोयनु होय न आजु ;
कौन गरीब-निवाजिबो, कित तूठ्यौ ऋतुराजु ॥ ११७ ॥
फिरि-फिरि दौरत देखिए, निचले नैक रहैं न ;
ये कजरारे कौन पै करत कजाकी नैन ? ॥ ११८ ॥
सन सूक्यौ, बीत्यौ बनौ, ऊँखौ लई उखारि ;
अरी हरी अरहरि अजौं धरि धरहरि जिय नारि ॥ ११९ ॥
कहा कुसुम की कौमुदी, कितक आरसी जोति ;
जाकी उजराई लखे आँखि ऊजरी होति ॥ १२० ॥
रंच न लखियत पहिरियो, कंचन-से तन बाल ;
कुम्हिलानी जानी परति उर चंपे की माल ॥ १२१ ॥
सघन कुंज घन घन तिमिर, अधिक अँधेरी राति ;
तऊ न दुरिहै स्याम यह, दीप-सिखा-सी जाति ॥ १२२ ॥
अंग-अंग छबि की लपट उपटति जाति अछेह ;
खरी पातरी हू, तऊ लगै भरी-सी देह ॥ १२३ ॥
चुनरी स्याम सतार नभ मुख ससि की अनुहारि ;
नेह दबावत नींद-लौं निरखि निसा-सी नारि ॥ १२४ ॥

इतो भौर हू भेदि कै कितहू ह्वै इत आय;
फिरै दीठि जुरि दीठि सों सबकी दीठि बचाय ॥ १२५ ॥
चितई ललचौंहैं चखन डटि घूँघट-पट माँह;
छल-सों चली छुवाय कै छिनकु छबीली छाँह ॥ १२६ ॥
चिलक चिकनई चटक सों लफति सटक लौं आय;
नारि-सलोनी साँवरी नागिनि-लौं डसि जाय ॥ १२७ ॥
मैं हौं जान्यों लोयननु, जुरत बाढ़िहै जोति;
को हो जानतु डीठि को, डीठि किरकिटी होति ॥ १२८ ॥
दृगनि लगत, बेधत हियहि, बिकल करत अँग आन;
ये तेरे सबते बिषम, ईछन तीछन बान ॥ १२९ ॥
कहत सबै कबि कमल-से, मो मत नैन-पखान;
नतरुकु कत इन बिसि लगत, उपजत बिरह-कृसान ॥ १३० ॥
है हिय रहत हई छई, नई जुगुति जग जोय;
डीठिहि डीठि लगे दई, देह दूबरी होय ॥ १३१ ॥
इन अँखियाँ दुखियान को सुख सिरज्योई नाहिं;
देखे बनै न देखिबो, बिन देखे अकुलाहिं ॥ १३२ ॥
चकी जकी-सी ह्वै रही, बूझे बोलति नीठि;
कहूँ दीठि लागी, लगी कै काहू की दीठि ॥ १३३ ॥
जस-अपजस देखत नहीं, देखत स्यामल गात;
कहा करौं, लालच-भरे चपल नैन चलि जात ॥ १३४ ॥
लाज-लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं;
ये मुँहजोर-तुरंग-लौं ऐंचत हू चलि जाहिं ॥ १३५ ॥
उड़ी गुड़ी लखि लाल की अँगना-अँगना माँह;
बौरी-लौं दौरी फिरति छुवति छबीली छाँह ॥ १३६ ॥
चलत घैरु घर-घर, तऊ घरी न घर ठहराय;
समुझि वही घर को चलै, भूलि वही घर जाय ॥ १३७ ॥

छुटन न पैयतु बसि छिनकु नेह-नगर यह चाल ;
मारयो फिरि-फिरि मारिए, खूनी फिरै खुस्याल ॥ १३८ ॥
क्यों बसिए, क्यों निबहिए, नीति-नेह-पुर नाहिं ;
लगालगी लोयन करैं, नाहक मन बँधि जाहिं ॥ १३९ ॥
नेकौ वह न जुदी करी, हरषि जुदी तुम माल ;
उर ते बास छुट्यो नहीं, बास छुटेहू लाल ॥ १४० ॥
जहाँ-जहाँ ठाढ़ो लख्यो स्याम सुभग सिरमौर ;
बिनहूँ उन छिनु गहि रहत दगन अजों वह ठौर ॥ १४१ ॥
सघन कुंज, छाया सुखद, सरसिज-सुरभि समीर ;
मनु ह्वै जाति अजौं वहै, उहि जमुना के तीर ॥ १४२ ॥
फिरि-फिरि बूझन कहु कहा, कह्यौ साँवरे गात ;
कहा करत, देखे कहाँ, अली चली क्यों बात ॥ १४३ ॥
मन न धरति मेरो कह्यो, तू आपने सयान ;
अहे परनि पर-प्रेम की परहथ पारि न प्रान ॥ १४४ ॥
चित-बित बचत न, हरत हठि, लालन दग बरजोर ;
सावधान के बटपरा, ये जागत के चोर ॥ १४५ ॥
नावक सर-से लाय कै तिलक तरुनि इत ताकि ;
पावक-झर-सी झमकि कै गई झरोखे-झाँकि ॥ १४६ ॥
उर लीने अति चटपटी, सुनि मुरली-धुनि धाय ;
हौं निकसी हुलसी सु तौ गो हुल सी उर लाय ॥ १४७ ॥
कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजि जात ;
भरे—भौन मैं करत हैं नैनन हीं सों बात ॥ १४८ ॥
जुरे दुहुन के दग झमकि, रुके न झीने चीर ;
हलकी फौज हरौल ज्यों परत गोल पर भीर ॥ १४९ ॥
दूरयो खरे समीप को, लेत मानि मन मोद ;
होत दुहुन के दगन हीं बतरस, हँसी-बिनोद ॥ १५० ॥

यदपि चवाइन चीकनी चलति चहूँ-दिसि सैन ;
तदपि न छाड़त दुहुन के हँसी रसीले नैन ॥ १५१ ॥
घाम घरीक निवारिए, कलित ललित अलि पुंज ;
जमुना-तीर तमाल तरु मिलत मालती-कुंज ॥ १५२ ॥
छ्वै छिगुनी पहुँचो गहत, अति दीनता दिखाय ;
बलि बावन को ब्योंत सुनि को बलि तुम्हैं पत्याय ? ॥ १५३ ॥
सहज सचिक्कन, स्याम रुचि सुचि सुगंध सुकुमार ;
गनत न मन पथ अपथ लखि बिथरे सुथरे बार ॥ १५४ ॥
कैई कर ब्योरनि चहै, ब्योरो कौन बिचार ;
जिन ही उरझ्यो मो हियो, तिन ही सुरझे बार ॥ १५५ ॥
छुटे छुटावत जगत ते सटकारे, सुकुमार ;
मन बाँधत बेनी बँधे नील छबीले बार ॥ १५६ ॥
झीने पट मैं झलमली झलकति ओप अपार ;
सुरतरु की मनु सिंधु मैं लसी सपल्लव डार ॥ १५७ ॥
भाल लाल बेंदी छए, छुटे बार छबि देत ;
गह्यो राहु अति आहु करि, मनु ससि-सूर-समेत ॥ १५८ ॥
हा हा बदन उघारि, दृग, सफल करैं सब कोय ;
रोज सरोजन के परैं, हँसी ससी की होय ॥ १५९ ॥
लोने मुँह डीठि न लगै, यों कहि दीनो ईठि ;
दूनी ह्वै लागन लगी, दिए दिठौना डीठि ॥ १६० ॥
सूर उदित हू मुदित मन, मुख-सुखमा की ओर ;
चितै रहैं चहुँ ओर ते निहचल चखन चकोर ॥ १६१ ॥
लिख पिय सों हँसिकै कह्यो, लख्यो डिठौना दीन ;
चंदमुखी मुखचंद ते भलो चंदसम कीन ॥ १६२ ॥
छप्यो छबीली मुख लसै नीले अंचल चीर ;
मनो कलानिधि झलमलै, कालिंदी के नीर ॥ १६३ ॥

छिनकु छबीले लाल वह नहिं जौ लगि बतराति ;
ऊख, मयूख, पियूख की तौ लगि भूख न जाति ॥ १६४ ॥
नासा मोरि, नचाय दृग, करी कका की सौहैं ;
काँटो-सी कसकति हिए गड़ी कटीली भौहैं ॥ १६५ ॥
करे चाह सों चुटकि कै, खरे उड़ौहैं मैन ;
लाज नवाए तरफरत, करत खुँदी-से नैन ॥ १६६ ॥
बर-जीते सर मैन के ऐसे देखे मैं न ;
हरिनी के नैनान ते हरि नीके ये नैन ॥ १६७ ॥
जोग-जुगुति सिखए सबै, मनो महामुनि मैन ;
चाहत पिय-अद्वैतता, सेवत-कानन नैन ॥ १६८ ॥
बेसरि-मोती-दुति-झलक परी अधर पर आय ;
चूनो होय न चतुर तिय, क्यों पटु पोंछ्यो जाय ॥ १६९ ॥
जटित नील-मनि जगमगति, सींक सुहाई नाँक ;
मनो अली चंपक-कली बसि रस लेत निसाँक ॥ १७० ॥
जदपि लौंग ललितौ, तऊ तू न पहिरि इक आँक ;
सदा संक बाढ़ी रहै, रहै चढ़ी-सी नाँक ॥ १७१ ॥
दुरत न कुच बिच कंचुकी, चुपरी सारी-सेत ;
कबि आँकन के अरथ-लौं प्रगट दिखाई देत ॥ १७२ ॥
पाँय महावर देन को नायनि बैठी आय ;
फिरि-फिरि जानि महावरी एँड़ी मीड़ति जाय ॥ १७३ ॥
पग-पग मग अगमन परति चरन अरुन-दुति ऊलि ;
ठौर-ठौर लखियत उठै दुपहरिया-सी फूलि ॥ १७४ ॥
सरस कुसुम मड़रात अलि, न झुकि झपटि लपटात ;
दरसत अति सुकुमार तन परसत मनु न पत्यात ॥ १७५ ॥
भूषन-भार सम्हारिहै क्यों यह तन सुकुमार ;
सूधे पाँय न परत धरि सोभा ही के भार ॥ १७६ ॥

लग्यो सुमन ह्वै है सुफल, आतप रोस निवारि ;
बारी बारी आपनी सींचि सुहृदता बारि ।। १७७ ।।
नृ रहि हौंहीं सखि लखौं चढ़ि न अटा बलि बाल ;
सबहिनु बिनु ही ससि उदै दीजतु अरघ अकाल ।। १७८ ।।
फूली-फाली फूल-सी फिरति जु बिमल बिकास ;
भोर-तरैया होहुगी, चलत तोहिं पिय-पास ।। १७९ ।।
तन भूषन, अंजन दृगन, पगन महावर-रंग ;
नहिं सोभा को साजियतु, कहिबे ही को अंग ।। १८० ।।
तो रस राच्यो आन बस, कहै कुटिल मति कूर ;
आम निबौरी क्यों लगै बौरो चाखि अँगूर ? ।। १८१ ।।
नेक उतै उठि बैठिए, कहा रहे गहि गेहु ;
छुटी जात नह-दी छिनकु महदी सूखन देहु ।। १८२ ।।
रहौ गुही-बेनी लखौ गुहिबे के त्यौनार ;
लागे नीर चुचान ये नीठि सुखाए बार ।। १८३ ।।
राधा हरि, हरि राधिका, बनि आए संकेत ;
दंपति रति-बिपरीत-सुख सहज सुरति हू लेत ।। १८४ ।।
चमक, तमक, हासी, ससक, मसक, झपटि लपटानि ;
ये जिहि रति, सो रति मुकुति और मुकुति अति हानि ।। १८५ ।।
यों दलमलियत निरदई, दई. कुसुम-से गात ;
कर धरि देखौ धरधरा डर को अजौं न जात ।। १८६ ।।
मिलि परछाहीं जोन्ह सों रहे दुहुन के गात ;
हरि - राधा - इक संग ही चले गलिन में जात ।। १८७ ।।
अपने कर गहि आप ही हिय पहिराई लाल ;
नौल-सिरी औरै चढ़ी मौलसिरी की माल ।। १८८ ।।
औरै गति, औरै बचन, भयो बदन-रँग और ;
द्यौसक ते पिय चित चढ़ी, कहा चढ़ाए त्यौर ।। १८९ ।।

खल-बढ़ई बल करि थके, कटै न कुबत-कुठार ;
आल-बाल उर झालरी खरी प्रेम-तरु-डार ॥ १९० ॥
करत जात जेती कटनि बढ़ि रस-सरिता सोतु ;
आल-बाल उर प्रेम-तरु तितौ-तितौ दृढ़ होतु ॥ १९१ ॥
नभ लाली, चाली निसा, चटकाली धुनि कीन ;
रति-पाली आली अनत, आए बनमाली न ॥ १९२ ॥
निसि अँधियारी नील-पट पहिरि चली पिय-गेह ;
कहौ दुराई क्यों दुरै दीप-सिखा-सी देह ॥ १९३ ॥
भरी खरी सटपट परी बिधु आधे मग हेरि ;
संग-लगे मधुपन लई भागनु गली-अँधेरि ॥ १९४ ॥
उठि, ठकठकु-एतो कहा पावस के अभिसार ;
जानि परैगी देखि यों दामिनि घन अँधियार ॥ १९५ ॥
जुवति जोन्ह में मिलि गई, नैन न होति लखाइ ;
सौंधे के डोरन लगी अली-चली-सँग जाइ ॥ १९६ ॥
मरकत-भाजन सलिलगत, इंदु-कला के बेख ;
झीन झगा में झलमलै स्याम गात नख-रेख ॥ १९७ ॥
यहाँ न चलि बलि रावरी चतुराई की चाल ;
सनख हिए खिन-खिन नटत, अनख बढ़ावत लाल ॥ १९८ ॥
बिथुरयो जावक सौति-पग, निरखि हँसी गहि गाँसु ;
सजल हँसौहीं लखि, लियो आधी हँसी उसाँसु ॥ १९९ ॥
कपट सतर भौंहैं करी, मुख अनखौंहैं बैन ;
सहज हँसौहैं जानिकै सौंहैं करति न नैन ॥ २०० ॥
हठ न हठीली करि सकै यह पावस-ऋतु पाय ;
आन-गाँठि ज्यों घुटत, त्यों मान-गाँठि छुटि जाय ॥ २०१ ॥
नैना नेक न मानहीं, कितो कह्यो समुझाय ;
तन-मन हारे हू हँसैं, तिनसों कहा बसाय ? ॥ २०२ ॥

रहैं निगोड़े नैन ढिग, गहैं न चेत अचेत;
हौं कसु-कै रिस को करौं, ये निसिखे हँसि देत ॥ २०३ ॥
अजहुँ न आए सहज रँग, बिरह-दूबरे गात;
अबहीं कहा चलाइयत ललन चलन की बात! ॥ २०४ ॥
रहिहैं चंचल प्रान ये कहि कौन की अगोट;
ललन चलन की चित धरी, कल न पलन की ओट ॥ २०५ ॥
मिलि चलि चलि मिलि मिलि चलत, आँगन अथयो भानु;
भयो महूरत भोर को पौरी प्रथम मिलानु ॥ २०६ ॥
बामा, भामा, कामिनी, कहि बोलौ प्यो बेस;
प्यारी कहत लजात नहिं, पावस चलत बिदेस ॥ २०७ ॥
रह्यो ऐंचि अंत न लहै अवधि दुसासन बीरु;
आली, बाढ़त बिरह ज्यों पंचाली को चीरु ॥ २०८ ॥
करी बिरह ऐसी, तऊ गैल न छाँड़त नीचु;
दीने हूँ चसमा चखै चाहै लहै न मीचु ॥ २०९ ॥
जिहि निदाघ-दुपहर भई रहति माघ की राति;
तिहि उसीर की रावटी खरी आवटी जाति ॥ २१० ॥
सुनत पथिक-मुँह माह-निसि लुवैं चलत उहि गाम;
बिनु पूछे, बिन हीं सुने, जियत बिचारी बाम ॥ २११ ॥
आड़े दै आले-बसन, जाड़े हू की राति;
साहस ककै सनेहबस सखी सबै ढिग जाति ॥ २१२ ॥
पलनु प्रगटि बरुनीनु बढ़ि नहिं कपोल ठहरात;
अँसुवा परि छतियाँ छिनकु छनछनाय छपि जात ॥ २१३ ॥
नित संसो हंसो बचतु मनो सो यह उनमान;
बिरह-अगिनि-लपट न सकै, झपटि न मीचु-सिचान ॥ २१४ ॥
कौन सुनै, कासों कहौं, सुरति बिसारी नाह;
बदाबदी जिय लेत हैं ये बदरा बदराह ॥ २१५ ॥

स्याम-सुरति करि राधिका तकति तरनिजा-तीर;
अँसुवनि करति तरौंस को खिनक खरौंहौं नीर ॥ २१६ ॥
हौं ही बौरी बिरहबस, कै बौरो सब गाँव;
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहि सीतकर नाँव ॥ २१७ ॥
मैं लै दयौ लयौ सु कर छुवत छिनकि गो नीरु;
लाल तिहारो अरगजा उर ह्वै लग्यो अबीरु ॥ २१८ ॥
रँगराती राते हिए पाती लिखी बनाय;
पाती काती बिरह की छाती रही लगाय ॥ २१९ ॥
कहा भयो जो बीछुरे, मो मन तो मन साथ;
उड़ी जाहु कितहू गुड़ी, तऊ उड़ायक हाथ ॥ २२० ॥
तर झुरसी ऊपर गरी, कज्जल जल छिरकाय;
पिय-पाती बिनु ही लिखी, बाँची बिरह बलाय ॥ २२१ ॥
रहे बरोठे में मिलो, प्रिय प्रानन को ईसु;
आवत आवत की भई बिधि की घरी घरीसु ॥ २२२ ॥
बाम बाहु फरकत मिलैं जो हरि जीवनमूरि;
तौ तोहीं सौं भेंटिहौं राखि दाहिनी दूरि ॥ २२३ ॥
जदपि तेज रौहाल बल पलकौ लगी न बार;
तउ ग्वैंड़ो घर को भयो पैंड़ो कोस हजार ॥ २२४ ॥
टटकी धोई धोवती चटकीली मुख-जोति;
लसति रसोई के बगर जगर-मगर दुति होति ॥ २२५ ॥
पीतम-दृग मिहिचत तिया पानि-परस-सुख पाय;
जानि पिछानि अजान-लौं नेक न होति जनाय ॥ २२६ ॥
मान-तमासो करि रही बिबस बारुनी सेय;
झुकति,हँसति,हँसि-हँसिझुकति झुकि-झुकिहँसि-हँसि देय ॥ २२७ ॥
छकि रसाल-सौरभ सने मधुर माधवी-गंध;
ठौर-ठौर झौरत झपत भौंर-भौंर मधु-अंध ॥ २२८ ॥

फिरि घर को नूतन पथिक चले चकित चित भागि ;
फूल्यो देखि पलास-बन समुहे समुझि दवागि ॥ २२९ ॥
दिसि-दिसि कुसुमित देखियत उपवन बिपिन-समाज ;
मनो बियोगिन को कियो सर-पंजर ऋतुराज ॥ २३० ॥
बैठि रही अति सघन-बन पैठि सदन तन माहँ ;
देखि दुपहरी जेठ की छाहौं चाहति छाहँ ॥ २३१ ॥
धुरवा होहिं न लखि उठै धुवाँ धरनि चहुँ कोद ;
जारत आवत जगत को पावस प्रथम-पयोद ॥ २३२ ॥
तिय तरसौहैं मन किए, करि सरसौहैं नेह ;
धर परसौहैं ह्वै रहे, झर बरसौहैं मेह ॥ २३३ ॥
बरजे दूनी हठ चढ़ै, ना सकुचै, न सकाय ;
टूटत कटि दुमची मचकि लचकि-लचकि बचि जाय ॥ २३४ ॥
कियो सबै जग काम-बस, जीते जिते अजेय ;
कुसुम-सरहि सर धनुष कर अगहन गहन न देय ॥ २३५ ॥
मिलि बिहरत, बिछुरत मरत, दंपति अति रस-लीन ;
नूतन बिधि हेमंत सब जगत जुराफा कीन ॥ २३६ ॥
मीठि दिए ही नेक मुरि, कर घूँघट-पट टारि ;
भरि गुलाल को मूठि सो गई मूठि-सी मारि ॥ २३७ ॥
रहो रुको क्यों हूँ सु चलि आधिक राति पधारि ;
हरत ताप सब द्यौस को उर लगि यार बयारि ॥ २३८ ॥
चुवत स्वेत मकरंद-कन तरु-तरु तर बिरमाय ;
आवत दच्छिन तें चल्यो थक्यो बटोही-बाय ॥ २३९ ॥
बिकसत नव मल्ली-कुसुम, निकसत परिमल पाय ;
परसि पजारत बिरह तन बरसि रहे की बाय ॥ २४० ॥
रुक्यो साँकरे कुंज-मग करत झाँझि झुकरात ;
मंद-मंद मारुत-तुरँग खुदरत आवत जात ॥ २४१ ॥

लपटी पुहुप परागपट, सनी स्वेद-मकरंद ;
आवत नारि नवोढ़-लौं सुखद बाय गति मंद ॥ २४२ ॥
रनित भृंग-घंटावली झरत दान मधु नीर ;
मंद-मंद आवत चल्यो कुंजर कुंज-समीर ॥ २४३ ॥
धनि यह द्वैज, जहाँ लख्यौ, तज्यो दृगन दुख-दंद ;
तो भागन पूरब उयो अहे अपूरब चंद ॥ २४४ ॥
मोरमुकुट की चंद्रिकनि यों राजत नँद-नंद ;
मनु ससिसेखर का अकस किय सेखर सत-चंद ॥ २४५ ॥
मकराकृत गोपाल के सोभित कुंडल कान ;
मनो धस्यो हिय-घर समर, ड्योढ़ी लसत निसान ॥ २४६ ॥
नीकी करी अनाकनी, फीकी परी गुहारि ;
मनो तज्यो तारन-बिरद बारक बारन तारि ॥ २४७ ॥
मोहिं तुम्हैं बाढ़ी बहस, को जीतै ब्रजराज ;
अपने-अपने बिरद की दुहूँ निबाहन लाज ॥ २४८ ॥
कौन भाँति रहिहै बिरद, अब देखबी मुरारि ;
बीधे मोसों आनि कै, गीधे गीधहि तारि ॥ २४९ ॥
को छूट्यो यहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात ;
ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यो चहत, त्यों-त्यों उरझत जात ॥ २५० ॥
बेसरि-मोती धन्य तुहि, को पूछै कुल-जाति ?
पीबो करि तिय-अधर को रस निधरक दिन-राति ॥ २५१ ॥
मोर-चंद्रिका स्याम-सिर चढ़ि कत करति गुमान ;
लखबी पायन पर लुठति, सुनियत राधा-मान ॥ २५२ ॥
जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीति बहार ;
अब अलि रही गुलाब की अपत कटीली डार ॥ २५३ ॥
कहँ कि बड़ाई आपनी कत राचत मति-भूल ;
बिन मधु मधुकर के हिए गड़ै न गुड़हर-फूल ॥ २५४ ॥

अगम जलधि पानिप बिमल भौ जग आघु अपार ;
रहै गुनी ह्वै गर परयो, भलो न मुकताहार ॥ २५५ ॥
को कहि सकै बड़ेन सों लखत बड़ीयै भूल ;
दीने दई गुलाब की इन डारन ये फूल ॥ २५६ ॥
दिन दस आदर पायकै करि ले आपु बखान ;
जौ लगि काग सराधपख, तौ लगि तो सनमान ॥ २५७ ॥
मरत प्यास पिंजरा-परयौ सुवा समै के फेर ;
आदर दै-दै बोलियत बायस बलि की बेर ॥ २५८ ॥
यहि आसा अटक्यो रहै अलि गुलाब के मूल—
ऐहैं बहुरि बसंत ऋतु इन डारन वे फूल ॥ २५९ ॥
पटु-पाखैं भखु कांकरे, सदा परेई संग ;
सुखी परेवा पुहुमि मैं तू ही एक बिहंग ॥ २६० ॥
कर लै सूँघि सराहि कै, सबै रहैं गहि मौन ;
गंधी गंध-गुलाब को गवईं गाहक कौन ? ॥ २६१ ॥
वे न इहाँ नागर बड़े, जिन आदर तो आब ;
फूल्यो अनफूल्यो भयो गँवईं गाँव गुलाब ॥ २६२ ॥
गोधन, तू हरष्यो हिए, घरिक लेहि पुजाय ;
समुझि परैगी सीस पर परत पसुन के पाय ॥ २६३ ॥
चले जाहु, ह्याँ को करै हाथिन को ब्योपार ;
नहिं जानत, यहि पुर बसत धोबी, ओड़, कुम्हार ॥ २६४ ॥
चलत पाय निगुनी गुनी, धन, मनि मुतियन माल ;
भेंट भए जयसाहि सों, भाग चाहियतु भाल ॥ २६५ ॥
सामा, सैन, सयान सुख, सबै साहि के साथ ;
बाहुबली जयसाहिजू, फते तिहारे हाथ ॥ २६६ ॥
अनी बड़ी उमड़ी लखे, असि-बाहक भट भूप ;
मंगल करि मान्यो हिए, भो मुँह मंगल-रूप ॥ २६७ ॥

घर-घर तुरकिनि हिंदुनी देत असीस सराहि ;
पतिनु राखि चादर चुरी, पति राखी जयसाहि ॥ २६८ ॥
दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साहिबौ न भूलि ;
दई-दई कत करत है, दई दई सु कबूलि ॥ २६९ ॥
भजन कह्यौ तातें भज्यो, भज्यो न एकौ बार ;
दूरि भजन जातें कह्यो, सो तैं भज्यो गँवार ॥ २७० ॥
प्रलयकरन बरसन लगे जुरि जलधर यक साथ ;
सुरपति-गरब हर्यो हरषि गिरिधर गिरि धरि हाथ ॥ २७१ ॥
मोहन मूरति स्याम की अति अदभुत गति जोय ;
बसत सुचित अंतर, तऊ प्रतिबिंबित जग होय ॥ २७२ ॥
दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति ;
परत गाँठि दुरजन-हिये, दई नई यह रीति ॥ २७३ ॥
कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख-हजार ;
मो संपति जदुपति सदा बिपति-बिदारनहार ॥ २७४ ॥
जात-जात बित होत है ज्यों चित मैं संताप ;
होत-होत त्यों होय तौ होय घरी मैं माप ॥ २७५ ॥
या भव-पारावार के उलँघि पार को जाइ ;
तिय-छबि छाया-ग्राहनी गहै बीच ही आइ ॥ २७६ ॥
जगत जनायो जिहिं सकल, सो हरि जान्यो नाहिं ;
ज्यों आँखिन सब देखिए, आँखि न देखी जाहिं ॥ २७७ ॥
तौ लगि या मन-सदन मैं हरि आवैं किहि बाट ;
बिकट जटे जौ लगि निपट खुले न कपट-कपाट ॥ २७८ ॥
कन दीबो सौंप्यो ससुर बहू थुरहथी जानि ;
रूप-रहचटे लगि लग्यो, माँगतु सब जग आनि ॥ २७९ ॥
सबै सुहाए ई लगत, बसे सुहाए ठाम ;
गोरे मुख बेंदी लसै अरुन, पीत, सित, स्याम ॥ २८० ॥

पायल पाँय लगी रहै, लगे अमोलक लाल ;
भोडर हू की भा लहै बेंदी भामिनि-भाल ॥ २८१ ॥
जो चाहै चटुक न घटै, मैलो होय न मित्त ;
रज-राजसु न छुवाइ तो, नेह-चीकने चित्त ॥ २८२ ॥
अनियारे दीरघ दगन किती न तरुनि समान ;
वह चितवनि औरै कछू, जिहि बस होत सुजान ॥ २८३ ॥
कैसे छोटे नरन ते सरत बड़ेन के काम ;
मढ़्यो दमामो जात है कहुँ चूहे के चाम ॥ २८४ ॥
संगति सुमति न पावहीं परे कुमति के धंघ ;
राखौ मेलि कपूर मैं, हींग न होय सुगंध ॥ २८५ ॥
समै-समै सुंदर सवै, रूप कुरूप न कोय ;
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय ॥ २८६ ॥
जेती संपति कृपन के, तेती सूमति जोर ;
बढ़त जात ज्यों-ज्यों उरज, त्यों-त्यों होत कठोर ॥ २८७ ॥
घर-घर डोलत दीन ह्वै जन-जन जाचत जाय ;
दिए लोभ-चसमा चखनु, लघु तिहि बड़ो लखाय ॥ २८८ ॥
कालबूत दूती बिना जुरै न आन उपाय ;
फिरि ताके टारे बनै, पाके प्रेम लदाय ॥ २८९ ॥
बहकि न इहि बहिनापुले, जब तब बीर बिनासु ;
बचै न बड़ी सबील हू चील - घोंसुआ मासु ॥ २९० ॥
नीच हिए हुलस्यो रहत गहे गेंद को पोत ;
ज्यों-ज्यों माथे मारियत, त्यों-त्यों ऊँचो होत ॥ २९१ ॥
गुनी-गुनी सब ही कहे, निगुनी गुनी न होत ;
सुन्यो कहूँ तरु अरक को अरक - समान उदोत ? ॥ २९२ ॥
बसै बुराई जासु तन, ताही को सनमान ;
भलो भलो कहि छाँड़िए, खोंटे ग्रह जप-दान ॥ २९३ ॥

कहत सबै स्रुति, सुम्रति हू, सबै पुरातन लोग ;
तीनि दबावैं नीसकै पातक, राजा, रोग ॥ २१४ ॥
ओछे बड़े न ह्वै सकैं, लगि सतरौहैं बैन ;
दीरघ होयँ न नेक हूँ फारि निहारे नैन ॥ २१५ ॥
सबै हँसत कर-तारि दै नागरता के नाउँ ;
गयो गरब गुन को सबै बसे गमेले गाउँ ॥ २१६ ॥
दुसह दुराज प्रजान को क्यों न बढ़ै दुख-दंद ;
अधिक अँधेरो जग करत मिलि मावस रवि-चंद ॥ २१७ ॥
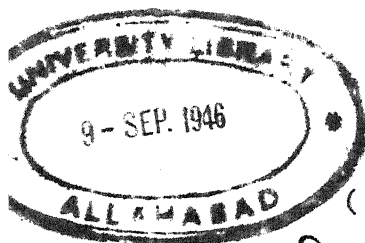
त्रिपाठी-बंधु

(क) महाकवि भूषण त्रिपाठी

हिंदी-साहित्य-सेवियों में शायद ही कोई ऐसा हो, जो 'भूषण' की कविता से परिचित न हो। वीर-रस में इनकी जोड़ का दूसरा कवि हिंदी में एक भी नहीं है, वरन् यों कहना चाहिए कि इन्होंने इस रस को ऐसा अपना लिया है कि इनका नाम लेते ही बरबस भूषण का स्मरण हो आता है। इनके विषय में हमने सं० १९६३ के निकट सबसे पहले 'समालोचक'-पत्र में, जिसे जयपुर-निवासी स्वर्गवासी मिस्टर जैनवैद्य प्रकाशित किया करते थे, एक लेख लिखा था। उसके पश्चात् काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा के अनुरोध से हमने इनके सभी प्राप्य ग्रंथों का 'भूषण-ग्रंथावली' के नाम से संपादन करना आरंभ किया, और वे 'नागरी-प्रचारिणी ग्रंथमाला' में निकलने लगे। तीन वर्ष के पश्चात् वह 'ग्रंथावली' समाप्त हुई *। इस बीच में हमने भूषण पर एक लेख कलकत्ते के 'देव-नागर' में भी निकाला, जिस पर दो-एक महाशय ने कुछ लिखा भी।

नागरी-प्रचारिणी ग्रंथमाला में प्रकाशित अपनी 'भूषण-ग्रंथावली' में हमने इनके विषय में ८७ पृष्ठों की एक भूमिका लिखी, जिसमें यथाशक्ति इस कविरत्न की समालोचना की, और जीवनी भी दी। यह 'भूषण-ग्रंथावली' उक्त सभा से भिन्न

* अब इसका चौथा संस्करण निकला है।

महाकवि भूषण (भावचित्र)

बीर-भयानक-रौद्र-रस-आचारज मतिधाम ;
सिव-जस-पंकज मधुप ए भूषन सुकवि ललाम ।
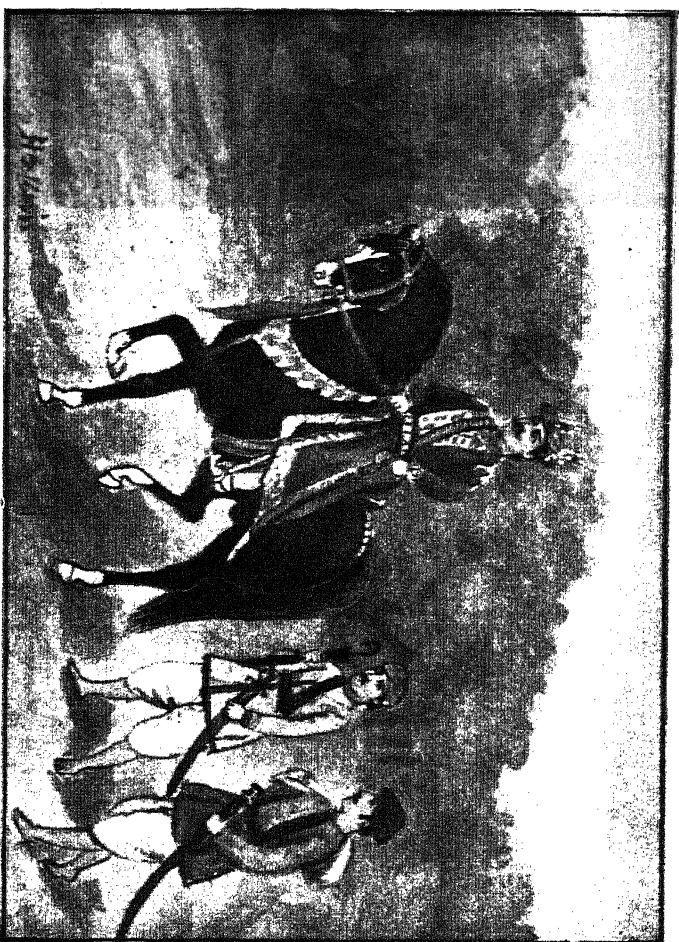
सकती है। इस छोटे-से लेख में उसी भूमिका का सारांश हम देते हैं। कुछ नई बातें भी लिखते हैं। जो भूषण का विशेष हाल जानना चाहें, वे भूषण-ग्रंथ-वली देखें।

भूषण कान्यकुब्ज-ब्राह्मण, कश्यपगोत्री त्रिपाठी (तिवारी) थे। इनके पिता का नाम रत्नाकर बतलाया जाता है। कविवर चिंतामणि, महाकवि मतिराम और संभवतः नीलकंठ (उपनाम जटाशंकर) इनके भाई थे। चिंतामणि और मतिराम भूषण के भाई थे, ऐसा कई प्राचीन प्रमाणों से भी सिद्ध है, जैसा कि हमने अपने ग्रंथ सुमनोंजलि में विस्तार-पूर्वक लिखा है, किंतु जटाशंकर का इनका भाई होना केवल जनश्रुति पर अवलंबित है। संभवतः जटाशंकर सगे भाई न थे। सब भाइयों में इनका दूसरा नंबर था। यह त्रिविक्रमपुर (वर्तमान तिकवाँपुर) में रहते थे, जो यमुना-नदी के बाएँ किनारे पर, ज़िला कानपुर, परगना व डाकख़ाना घाटमपुर में, मौज़े 'अकबर-पुर-बीरबल' से दो मील की दूरी पर, बसा है। कानपुर-हमीरपुर पक्की सड़क पर कानपुर से २०वें एवं घाटमपुर-तहसील से ७वें मील पर 'सजेती'-नामक एक ग्राम है, जहाँ से 'तिकवाँपुर' केवल दो मील रह जाता है। 'अकबरपुर-बीरबल' का हवाला 'शिवराजभूषण' के छंद नंबर २७ में है।

कहते हैं, रत्नाकर देवीजी के बड़े भक्त थे। भूषण के कई छंदों में सं० १७८० तक की घटनाएँ कथित हैं, और एक में सं० १७९७ तक की घटना है, यद्यपि यह छंद संदिग्ध है। सुमनोंजलि में इसका सविस्तर कथन है। इनके भाई मतिराम के प्रपौत्र ने इन तीनों भाइयों का कथन करके इनका कश्यपगोत्री तिवारी एवं तिकवाँपुर के निवासी होना लिखा है। अब हमको भूषण का जन्म-काल संवत् १६९२ के आस-पास और संवत् १७९७ के लगभग इनका स्वर्गवास होना मालूम होता है। भूषण प्रायः २० वर्ष तक बिलकुल

अपढ़ तथा निकम्मे थे, और अपने बड़े भाई चिंतामणि की कमाई से बसर करते थे। कहते हैं, एक दिन इनकी बड़ी भावज ने इन्हें भोजन करते समय नमक माँगने पर ऐसा कटु वाक्य कहा कि यह भोजन छोड़ तत्काल चल दिए। इसी समय बाहर जाकर इन्होंने पढ़ने-लिखने में विशेष श्रम किया। आठ-दस वर्षों में ही यह अच्छे विद्वान् और कवि हो गए। जान पड़ता है, सं० १७२३ के लगभग आप हृदयराम-सुत रुद्रराम सोलंकी चित्रकूटाधिपति के यहाँ थे। उन्हीं के यहाँ इन्होंने अपनी भद्र कविता के कारण 'कवि-भूषण' की उपाधि पाई। इन सोलंकियों का राज्य सं० १७२८ के लगभग महाराजा छत्रसाल ने छीन लिया। अतएव यह घटना सं० १७२८ से पूर्व की होगी।

कुल सुलंकि चितकूट-पति साहस-सील-समुद्र ;
कवि-भूषण पदवी दई हृदयराम-सुत रुद्र।
(शिवराजभूषण, छंद २८)

उस समय भी इनकी कवित्व-शक्ति कैसी बढ़ी-चढ़ी थी, उसका परिचय नीचे-लिखे छंद से मिल जायगा—

बाजि-बंब चढ़्यो साजि बाजि जब कलौं भूप,
गाजी महाराज राजी 'भूषन' बखानते ;
चंडी की सहाय महि-मंडी तेजताई, ऐंड़
छंडी राय-राना जिन दंडी-औनि आन-ते।
मंदीभूत-रवि, रज बंदीभूत हठधर,
नंदी भूतपति-भो अनंदी अनुमान ते ;
रंकीभूत दुवन, करंकीभूत दिगदंती,
पंकीभूत-समुद सुलंकी के पयान ते ॥ १ ॥
(स्फुट काव्य, छंद २)

भूषण का वास्तविक नाम कुछ और था। भूषण तो उनकी

उपाधि है, पर अब वास्तविक नाम का कहीं पता तक नहीं लगता।

कुछ लोग रुद्राम सोलंकी के यहाँ से इनका दिल्लीश्वर औरंगज़ेब के यहाँ जाना लिखते हैं, पर इसका कुछ भी दृढ़ प्रमाण नहीं, वरन् अनेक विचारों से यह बात अग्राह्य सिद्ध होती है। जो कहानियाँ इनके औरंगज़ेब के दरबार में होने और उनसे झगड़कर चले जाने के विषय में प्रसिद्ध हैं, उनका समर्थन चिटणीस बखर से होता है, किंतु वे बहुत कुछ अग्राह्य-सी हैं। यह बखर भी नया है।

रुद्राम के यहाँ से भूषण सीधे शिवाजी के यहाँ, सं० १७२४ के अंत तक, पहुँचे होंगे। भूषण ने अवधूतसिंह का एक कवित्त कहा है (स्फुट काव्य, छंद ४)। यह महाशय सं० १७५० से १८१२ तक रीवाँ की गद्दी पर रहे। आप केवल छ मास की अवस्था में गद्दी पर बैठे थे।

संवत् १७२४ के अंत में, प्राय: ३२ वर्ष की अवस्था में, भूषण शिवाजी के यहाँ पहुँचे, और अचानक एक देवालय पर महाराज से इनकी भेंट हो गई। इन्होंने शिवाजी को पहचाना नहीं, पर उनके कहने पर अपना एक छंद (शि० भू० छं० ५६) १८ बार पढ़कर सुनाया। इस पर महाराज ने इन्हें १८ लाख मुद्रा, १८ ग्राम इत्यादि पुरस्कार में दिए, और बड़े सम्मान के साथ अपना राजकवि बनाया, ऐसा कहा जाता है। सुनते हैं, इसी अवसर पर भूषण ने अपनी भावज के पास एक लाख रुपए का लवण भेज दिया। इसी समय से, स० १७३० तक, भूषण ने अपना सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'शिवराजभूषण' बनाया। भूषण के समकालीन सं० १७६०वाले लोकनाथ कवि ने इनका केवल ५२ हाथी पाना लिखा है। जान पड़ता है कि भूषण ने ५२ हाथी तथा प्रचुर धन पाया होगा। सं० १७३१ के लगभग यह कुछ दिन के लिये अपने घर आए,

पर रास्ते में छत्रसाल बुँदेला के यहाँ भी हो लिए। महाराज छत्रसाल ने इनका बड़ा सम्मान किया, यहाँ तक कि चलते समय इनकी पालकी का डंडा अपने कंधे पर रख लिया। भूषणजी अत्यंत प्रसन्न होकर पालकी से कूद पड़े, और उन्होंने चार-पाँच परमोत्कृष्ट छंद महाराज की प्रशंसा में तत्काल बनाए या पढ़े (छत्रसाल-दशक के छंद ४ और ५) होंगे। कुछ दिन घर पर रहकर आपने कुमाऊँ-महाराज के यहाँ जाकर उनकी प्रशंसा का एक छंद पढ़ा (स्फुट काव्य, छंद ६)। महाराज ने इन्हें एक लाख रुपया भेंट करना चाहा, पर इनकी विशेष ख़ातिर न की। इस पर रुष्ट होकर बिना रुपए लिए ही यह चल दिए। यह किंवदंती भी बहुत प्रसिद्ध है।

कुछ दिन बाद भूषणजी महाराज शिवाजी के यहाँ फिर गए, और समय-समय पर उनकी प्रशंसा के छंद बनाते रहे। उनमें 'शिवाबावनी' के भी छंद हैं। भूषण का यहाँ-वहाँ जो आना-जाना लिखा गया है, वह अनुमान पर अवलंबित है। उनका दो बार शिवाजी के यहाँ जाकर दोनो बार कुछ काल रहना चिटणीस बखर में लिखा है। अन्यत्र जाना इनके छंदों से सोचा गया है। महाराजा छत्रसाल के यहाँ आप दो-तीन बार गए होंगे, ऐसा समझ पड़ता है। शायद इन्होंने दो-चार और ग्रंथ भी बनाए हों, पर उनका ठीक पता नहीं चलता। 'शिवसिंह-सरोज' में इनके अन्य तीन ग्रंथों के नाम दिए हैं—भूषण-हज़ारा, भूषण-उल्लास और दूषण-उल्लास। हज़ारे का होना कविवरकालिदास त्रिवेदी ने भी लिखा है, पर इन ग्रंथों का ठीक पता अब तक कहीं नहीं चला है। इसमें संदेह नहीं कि भूषण के और कई ग्रंथ होंगे अवश्य, पर उनमें से किसी का पता नहीं है। हाल ही में भूषण के प्रायः १०० नवीन छंद प्रकाशित हुए हैं। इनके विषय में और भी बहुत कुछ कथोपकथन लोगों ने किए हैं। सं० १७३७ में, शिवाजी का स्वर्गवास

होने पर, भूषण कदाचित् छत्रसाल के यहाँ होते हुए फिर घर लौट आए हों। कभी-कभी छत्रसाल के यहाँ यह बराबर आते-जाते रहे होंगे। सं० १७६४ में साहूजी का दिल्ली से छुटकारा हुआ। उस अवसर पर यह अवश्य ही उनके यहाँ गए होंगे। साहूजी-विषयक इनका एक उत्कृष्ट कवित्त प्रसिद्ध है (स्फुट काव्य, छंद ७)। छत्रसाल की प्रशंसा करते समय तक यह साहूजी को नहीं भूले। यथा—

राजत अखंड तेज, छाजत सुजस बड़ो,
गाजत गयंद, दिग्गजन उर साल को ;
जाहि के प्रताप सों मलीन आफताप होत,
ताप तजि दुज्जन करत बहु ख्याल को।
साज सजि गज, तुरी, पैदर कतार दीन्हे,
'भूषन' भनत ऐसो दीन-प्रतिपाल को ?
और राव-राजा एक मन मैं न ल्याऊँ अब
साहू को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को ॥ २ ॥
(छत्रसाल-दशक, छंद १०)

नाती को हाथी दियो जापै ढरकति ढाल ;
साहू के जस-कलस पै ध्वज बाँधी छतसाल।

इससे स्पष्ट विदित होता है कि साहूजी ने भी भूषण की ख़ातिरदारी की होगी।

समझ पड़ता है, सं० १७६७ के निकट भूषण अपने भाई मतिराम की प्रेरणा से बूँदी-नरेश 'राव-राजा बुद्धसिंह' के दरबार में गए, और उनके वृद्ध प्रपितामह महाराज छत्रसाल हाड़ा के संबंध में दो कवित्तों के अतिरिक्त निम्न-लिखित कवित्त भी पढ़ा—

रहत अछक, पै मिटै न धक - पीवन की,
निपट जु नाँगी डर काहू के डरै नहीं ;

भोजन बनावै, नित चोखे खान-खानन के,
सोनित पचावै, तऊ उदर भरै नहीं।
उगिलत आसौ, तऊ सुकल समर-बीच,
राजै राव-बुद्ध-कर, विमुख परै नहीं;
तेग या तिहारी मतवारी है अछक तौ लौं,
जौ लौं गजराजन की गजक करै नहीं ॥ ३ ॥

कदाचित् राव बुद्धसिंह ने इनकी वैसी ख़ातिर-बात न की, जैसी यह चाहते थे। अतः थोड़े ही दिनों में यह वहाँ से लौट पड़े होंगे। राह में महाराज छत्रसाल बुँदेले के यहाँ पहुँचने पर इन्होंने बुँदेला-महाराज का जो छंद पढ़ा, उसमें 'राव-राजा बुद्धसिंह' की साफ़ शिकायत है। ऊपर उद्धृत छत्रसाल-दशक का छंद नंबर १० देखिए। सं० १७७१ के लगभग जब महाराज साहूजी ने उत्तर का धावा किया था, तब भूषणजी ने उनकी प्रशंसा में निम्न-लिखित छंद बनाया—

बलख - बुखारे - मुलतान - लौं कहर पारै,
कपि-लौं पुकारैं, कोऊ धरत न सार है;
रूम रूँदि डारै, खुरासान खूँदि मारै, खाक
खादर लौं झारै, ऐसी साहु की बहार है।
कक्कर लौं, बक्खर लौं, मक्कर लौं चलो जात,
टक्कर लेवैया कोऊ वार है न पार है;
'भूषन' सिरोज लौं परावने - परत फेरि
दिल्ली पर परति परिंदन की छार है ॥ ४ ॥
(स्फुट काव्य, छंद ७)

इस समय भूषण की अवस्था प्रायः ६४ वर्ष की होगी, पर उनमें उद्दंडता वही भरी हुई थी। इसके पीछे भी उनके जीवित रहने के कई प्रमाण मिलते हैं। भूषण के अन्य आश्रयदाता भी कई

थे, जैसा कि इनके स्फुट छंदों से प्रकट है। उनके नाम यहाँ दिए जाते हैं—

हृदयराम-सुत रुद्र सुरकी महोबा-निवासी (सं० १७२३), महाराजा अवधूतसिंह रीवाँ-नरेश (सं० १७५७-१८१२), कुमाऊँ-नरेश ज्ञानचंद्र (सं० १७५७-६५), फ़तेहशाह गढ़वाल-नरेश (सं० १७४१-७३), सवाई जयसिंह जैपुर-नरेश (सं० १७६५-१८००), साहूजी भोंसला (सं० १७६५-१८०५), बाजीराव पेशवा (सं० १७७७-९७), चिंतामणि (चिमनाजी) (सं० १७९०), महाराजा छत्रसाल महेवा पन्ना (सं० १७२८-८९), राव-राजा बुद्धसिंह बूँदी-नरेश (सं० १७६४-१८०४), दाराशाह (सं० १७१६ तक) और भगवंतराय खीची असोथर-नरेश (सं० १७८०-९७)।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भूषण-कृत सबसे पीछे का छंद १७९७ में महाराज भगवंतराय खीची की मृत्यु पर शोक है। अतएव इनका इस संवत् तक जीना निकलता है। इसी संवत् के आस-पास भूषण का शरीरांत हुआ होगा। यह छंद कुछ संदिग्ध भी है। भूषण के घरेलू चरित्रों का हाल प्रायः कुछ भी विदित नहीं है। यह पुत्रवान् थे, क्योंकि तिकवाँपुर में पता लगाने से हमें विदित हुआ है कि ज़िला फ़तेहपुर और कहीं मध्य-प्रदेश में इनके वंशज अब भी वर्तमान हैं। सीतल कवि भी इन्हीं के वंशज प्रसिद्ध हैं। भूषण पूर्णतया धन-संपन्न हो गए थे, और बड़े आदमियों की भाँति रहते थे। देश-भर में और राजों-महाराजों में इनका सदैव बड़ा मान रहा। इनकी कविता में सैकड़ों स्थानों एवं तत्कालीन ऐतिहासिक पुरुषों के नाम और वर्णन आए हैं, जिससे ज्ञात होता है कि इन्होंने देशाटन भी ख़ूब किया था। यह बड़े ही प्रभावशाली कवि हो गए हैं। इनका-सा सम्मान अथवा धन केशवदास के अतिरिक्त, कविता से, किसी हिंदी-कवि ने अद्यावधि नहीं प्राप्त किया।

हमने भूषण-ग्रंथावली में शिवराजभूषण, शिवाबावनी, छत्रसाल-दशक और स्फुट काव्य नाम के चार ग्रंथ प्रकाशित कराए हैं। प्रायः ये सभी ग्रंथ पहले प्रकाशित हो चुके थे, पर अशुद्ध और विकृत रूप में। हमने १७ ग्रंथों को इस संबंध में देखकर और अनेक प्रकाशित एवं अप्रकाशित प्रतियों को मिलाकर 'ग्रंथावली' को टिप्पणी-सहित संशोधित करके काशी की नागरी-प्रचारिणी ग्रंथमाला में छपवाया। शिवराजभूषण की पहलवाली मुद्रित प्रतियों में प्रायः तीन सौ छंद हैं, पर हमारी प्रति में ३८२ छंद दिए गए हैं। शेष तीन ग्रंथों के कवित्त हमने जगह-जगह एक ग्रंथ से दूसरे में अदल-बदल कर दिए हैं, एवं उनका क्रम भी समुचित रूप से संशोधित कर दिया है। इससे आशा है, वे ग्रंथ अब ठीक रूप में आ गए हैं। उसका चौथा संस्करण और भी उन्नत है। भूषण-संबंधी हमारे सविस्तर विचार भूषण-ग्रंथावली तथा सुमनोंजलि में मिलेंगे। इस ग्रंथ में वे बहुत संक्षेप से दिए गए हैं। शुद्ध अंतिम कथन केवल चौथे संस्करण में हैं।

भूषण की कविता से तत्कालीन इतिहास की प्रसिद्ध-प्रसिद्ध घटनाओं का पता भली भाँति लग जाता है। इतना ही नहीं, वरन् इनके अत्यंत सत्यप्रिय होने के कारण इनके ग्रंथों से इतिहास को भी अच्छी सहायता मिल सकती है। इन्होंने उस समय की प्रचलित काव्य-प्रणाली छोड़कर वीर-रस की ओर ध्यान दिया, और एक नवीन प्रकार की कविता का प्रचार किया। इससे हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि इनके पहले वीर-काव्य था ही नहीं, परंतु इसमें संदेह नहीं कि उक्त रस पर इतना अनुराग अन्य कवियों ने नहीं प्रकट किया था, और न उसमें इतनी सफलता ही किसी ने प्राप्त की थी। 'हिंदी-नवरत्न' में वीर-रस के पूर्ण प्रतिपादक एकमात्र यही महाकवि हैं। अवश्य ही वीर-रस में हम रौद्र और भयानक-

रसों को सम्मिलित मानते हैं। यह कवि एक और बात में भी बड़े भाग्यशाली थे। इनके शेष दोनों भाई भी अच्छे कवि थे। मतिराम तो नवरत्नों में ही सम्मिलित हैं। चिंतामणि भी बड़े नामी कवि हो गए हैं। हिंदी में ऐसा दूसरा उदाहरण तो है ही नहीं, शायद अन्य भाषाओं में भी न मिले! कोई दो भाई किसी अन्य भाषा के सर्वोच्च कवियों की श्रेणी में न पहुँचे होंगे। उस पर तुर्रा यह कि शेष भी सत्कवि! ये भ्रातृ-वर्ग धन्य हैं!

भूषण के ग्रंथों पर विचार

(१) शिवराजभूषण। यह ग्रंथ इन कविरत्न के प्राप्य ग्रंथों में सबसे बड़ा है, वरन् इसी को ग्रंथ कहा जा सकता है, क्योंकि शेष तीन ग्रंथ अधिकांश में बहुत छोटे और संग्रह-मात्र हैं। इसमें भूषण ने अलंकारों का पूर्ण क्रम रखते हुए भी सभी पद्य शिवाजी की ही प्रशंसा में कहे हैं। हिंदी में किसी एक ही व्यक्ति की प्रशंसा में कोई दूसरा नामी अलंकार-ग्रंथ हमने नहीं देखा। केवल मिश्र नंदकिशोर (उपनाम लेखराज) कवि ने, जिनका हाल शिवसिंहसरोज एवं डॉक्टर ग्रियर्सन के The Modern Vernacular Literature of Hindustan में भी लिखा है, श्रीगंगाजी की स्तुति में 'गंगाभूषण'-नामक एक अलंकार-ग्रंथ बनाया। शिवराजभूषण को भूषण ने शिवाजी के यहाँ आते ही, सं० १७२४ से, बनाना आरंभ कर दिया होगा। प्रस्तुत क्रम से ही यह उसे १७३० तक बनाते रहे, परंतु कुछ-कुछ अलंकारों के उदाहरण पीछे से जोड़े गए, एवं अन्य हेर-फेर समय-समय पर होते रहे होंगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

ग्रंथ के आरंभ में श्रीभगवती की, एक बड़े ही प्रभावोत्पादक छंद द्वारा, स्तुति की गई है। फिर राज-वंश-कथन में रायगढ़ का चमत्कार-पूर्ण वर्णन है। पीछे कवि-वंश में भूषण ने अपना भी ठीक पता दे दिया है। इसके पीछे अलंकारों का क्रम आरंभ

हो जाता है। इसमें भी भूषण ने तत्कालीन मनुष्यों के वास्तविक चित्र खींच देने में ख़ूब ही कृतकार्यता प्राप्त की है। इनके अलंकारों के उदाहरण भी बड़े स्पष्ट हैं। कुछ थोड़े-से अलंकारों को छोड़कर सभी के लक्षण और उदाहरण इन्होंने दिए हैं। भूषण ने 'परिणाम' और 'दीपक'-अलंकारों के उदाहरण अन्य कई आचार्यों से अच्छे कहे हैं, पर 'विकल्प' एवं 'सामान्य' के उदाहरण किसी कारण से अशुद्ध हो गए हैं। कभी-कभी इनके लक्षण अन्य कवियों के लक्षणों के विरुद्ध हो गए हैं, पर इन्होंने पद्य नंबर ३७६ में लिख दिया है कि मैंने यह ग्रंथ "लखि चारु ग्रंथन निज मता युत" बनाया है। भूषण भयानक-रस के वर्णन में बहुत विशेषता रखते हैं। इन्होंने शिवाजी की शूरता और उनके दल का उतना वर्णन नहीं किया, जितना शत्रुओं पर उनकी धाक का। शिवराजभूषण एक बड़ा ही प्रशंसनीय ग्रंथ है। वह संवत् १७३० में, सुदी १३, बुध को समाप्त हुआ, पर महीना नहीं लिखा है। उक्त संवत् के श्रावण और कार्तिक मास में शुक्ल-पक्ष की त्रयोदशी बुध के दिन पड़ती है। जान पड़ता है, कार्तिक सुदी १३, बुधवार, संवत् १७३० को यह ग्रंथ समाप्त हुआ; कारण यह कि कुआँर-कार्तिक तक की घटनाओं का भी इसमें कथन है। यह बड़ा ही अच्छा ग्रंथ है, और हिंदी में इसका पूर्ण मान है। इसमें १७३० के पीछे की कोई घटना नहीं है।

(२) शिवाबावनी। यह भूषण के शिवाजी-विषयक ५२ छंदों का एक संग्रह है। ज़ोरदारी और गौरव में यह ग्रंथ बहुत ही उच्च कोटि का है। इसके छंद शिवराजभूषण के छंदों से भी अधिक प्रभावोत्पादक हैं। इसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। निस्संदेह इसके बहुतेरे कवित्त शिवराजभूषण समाप्त होने के पीछे बने। इस बात को हमने अपनी भूषण-ग्रंथावली की भूमिका में सप्रमाण लिखा

है। यह अति उत्कृष्ट पुस्तक है। हिंदी में इसकी जोड़ के बहुत ग्रंथ नहीं मिलेंगे। उदाहरण में हम इसके केवल तीन पद्य यहाँ देते हैं—

गढ़न-गँजाय गढ़धरन-सजाय करि
छाँड़ि दीन्हें धरम-दुवार दै भिखारी-से ;
साहि के सपूत-पूत बीर सिवराजसिंह,
केते गढ़धारी किए बन-बन-चारी-से।
'भूषन' बखानै केते दीन्हें बँदीखाने, सेख,
सैयद, हजारी गहे रैयत-बजारी-से ;
महता-से मुगल, महाजन-से महाराज,
डाँड़ि लीन्हें पकरि पठान पटवारी से ॥ ५ ॥

दुग्ग पर दुग्ग जीते सरजा-सिवाजी गाजी,
डग्ग नाचे डग्ग पर रुंड-मुंड फरके ;
'भूषन' भनत बाजे जीति के नगारे भारे
सारे करनाटी-भूप सिंहल को सरके।
मारे सुनि सुभट पनारे-वारे उदभट
तारे सुने फिरत सितारे-गढ़धर के ;
बीजापुर बीरन के, गोलकुंडा धीरन के,
दिल्ली उर मीरन के दाड़िम-से दरके ॥ ६ ॥

दाढ़ी के रखैयन की दाढ़ी-सी रहति छाती,
बाढ़ी मरजाद, जस, हद्द-हिंदुवाने की ;
कढ़ि गई रैयति के मन की कसक सब,
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की।
'भूषन' भनत दिल्ली-पति दिल धक-धका,
धाक सुनि-सुनि सिवराज मरदाने की ;
मोटी भई चंडी बिनु चोटी के चबाय सीस,
खोटी भई संपति चकत्ता के घराने की ॥ ७ ॥

(२) छत्रसाल-दशक । इस छोटे-से ग्रंथ में दो दोहे और आठ कवित्त महाराज छत्रसाल बुंदेला के विषय में हैं, और वे ही दोनो दोहे और दो अन्य कवित्त छत्रसाल हाड़ा बूँदी-नरेश के विषय में । इतना छोटा ग्रंथ होने पर भी यह हिंदी-भाषा का एक नामी ग्रंथ है, और इसे निकाल डालने से हिंदी-साहित्य में एक प्रकार की कमी आ जायगी ! बस, इसी से पाठक इसकी बहुमूल्यता का अनुमान कर सकते हैं । यह ग्रंथ भाषा-साहित्य में एकदम अद्वितीय है, क्योंकि इसका एक भी पद्य किसी प्रकार से हीन नहीं कहा जा सकता । इस ग्रंथ के पद्य स्फुट रूप में, समय-समय पर, सं० १७२१ से लेकर १७६७ तक बने, और बाद को ग्रंथ-रूप में परिणत कर दिए गए, ऐसा समझ पड़ता है । भूषण सच्चे ब्राह्मण थे, और यह उन्होंने अपना कविता से स्पष्ट सिद्ध कर दिया है । उन्हें मान से जितनी प्रसन्नता होती थी, उतनी धन-प्राप्ति से नहीं । इसका सर्वोत्कृष्ट प्रमाण यही है कि जितना धन इन्हें शिवाजी ने दिया, उसका दशमांश भी छत्रसाल बुँदेला ने नहीं दिया होगा, पर बुँदेला महाराज ने इनका मान बहुत विशेष किया, यहाँ तक कि स्वयं अपने कंधे पर पालकी का डंडा उठाकर रख लिया ! वैसे ही भूषण ने जैसे-जैसे भड़कीले, रोमांचकारी छंद छत्रसाल के विषय में कहे, वैसे कवित्त शिवाजी के विषय में शायद ही दो-चार मिल सकें ! धन्य भूषणजी, धन्य ! इस ग्रंथ-रत्न के भी केवल दो उदाहरण हम यहाँ देते हैं—

निकसत म्यान ते मयूखैं प्रलै-भानु की-सी,
फारैं तम-तोम-से गयंदन के जाल को ;
लागति लपटि कंठ - बैरिन के नागिनि-सी,
रुद्रहि रिझावै दै-दै मुंडन की माल को ।

लाल-छितिपाल छत्रसाल महाबाहु-बली,
कहाँ लौं बखान करौं तेरी करवाल को ?
प्रति-भट कटक कटीले केते काटि-काटि,
कालिका-सी किलकि कलेऊ देति काल को ॥ ८ ॥

रैया-राय चंपति को चढ़ो छत्रसालसिंह,
'भूषन' भनत समसेरैं जोम जमकैं ;
भादौं की घटा-सी उठीं गरदैं गगन घेरैं,
सेलैं समसेरैं फेरैं दामिनि-सी दमकैं ।
खान उमरावन के, आन राजा-रावन के,
सुनि-सुनि उर लागैं घन की-सी धमकैं ;
बैहर बगारन की, अरि के अगारन की,
नाँघती पगारन नगारन की धमकैं ॥ ९ ॥

(४) स्फुट काव्य में से भूषण के पंद्रह-बीस स्फुट छंद, जो हमें मिल सके, लिखे गए हैं। इनमें भी बड़े ही प्रभावशाली छंद हैं। इनमें दो छंद शिवाजी के, एक रुद्रराम सोलंकी का, एक राव बुद्ध-सिंह बूँदी-नरेश का और एक अवधूतसिंह के विषय में हैं, और कई शृंगार-रस के हैं। भूषण की रचना में इस रस के बहुत थोड़े छंद मिलते हैं। एक कुमाऊँ-नरेश के, एक साहूजी के और एक शंभाजी के ऊपर तथा कुछ और लोगों के हैं। इनके प्रायः १०० स्फुट छंद और मिले हैं। स्फुट छंदों में से भी दो पद्य उदाहरण-स्वरूप दिए जाते हैं—

जा दिन चढ़त दल साजि अवधूतसिंह,
ता दिन दिगंत लौं दुवन डाटियतु है ;
प्रलै के-से धराधर धमकैं नगारा, धूरि-
धारा ते समुद्रन की धारा पाटियतु है ।
'भूषन' भनत भुवगोल को कहर तहाँ
हहरत तगा जिमि गज काटियतु है ;

काँच-से कचरि जात सेस के असेस फन,
कमठ की पीठि पै पिठी-से बाँटियतु है ॥ १० ॥
मेचक-कवच साजि, बाहन बयारि बाजि,
गाढ़े दल गाजि रहे दीरघ बदन के;
'भूषन' भनत समसेर सोई दामिनी है,
हेतु नर, कामिनी के मान के कदन के।
पैदरि बलाका, धुरवान के पताका गहे,
घेरियत चहूँ ओर सूने ही सदन के;
न करु निरादर, पिया सों मिलु सादर, ये
आए बीर बादर बहादर मदन के ॥ ११ ॥

भूषण की कविता का परिचय

भूषण महाराज ने उपयोगी वर्णनों के साथ भारत-मुखोज्ज्वल-कारी शिवाजी, बाजाराव पेशवा और छत्रसाल-सदृश महाराजों का यशोवर्णन करके हिंदी और देश का भारी उपकार किया। यदि इनमें कोई वैसे बड़े काव्य के गुण न होते, तो भी इनका मान इसी कारण से अवश्य होता; पर यहाँ तो "सोने में सुगंध" की कहावत पूर्णतया चरितार्थ होती है। भूषण कविता के विचार से भी हिंदी के ६ सर्वोच्च कवियों तक में उच्च आसन के अधिकारी हैं। इनकी कविता से हिंदी-साहित्य के एक मुख्य अंग की पूर्ति हुई है। इनका नाम हिंदी के साथ अमर हो गया है।

इनकी भाषा विशेषतः व्रज-भाषा है, पर कहीं-कहीं इन्होंने प्राकृत, बुँदेलखंडी एवं खड़ी बोली के शब्दों का भी प्रयोग किया है। यत्र-तत्र फ़ारसी और अरबी-भाषाओं के भी असाधारण शब्द तक लिखे हैं, पर दो-चार स्थानों पर उनका अशुद्ध प्रयोग भी हो गया है। इन्होंने बहुत कम असाधारण एवं विकृत शब्द लिखे हैं। इन कविवर का शब्द-समूह अधिकांश नामी कवियों से भी

बढ़ा-चढ़ा है । भूषण ने कुल मिलाकर केवल दस प्रकार के छंदों का व्यवहार किया है । इनकी भाषा और शब्द-योजना की रीति बहुत प्रशंसनीय है । यह महाशय अन्य कवियों की भाँति ऐसे पद्य प्रायः नहीं बनाते थे, जो केवल नायक का नाम बदल देने से किसी भी व्यक्ति की प्रशंसा के हो सकते हों । इनके कवित्तों में सैकड़ों विशेष घटनाओं का समावेश है । ऐतिहासिक घटनाओं के साथ इनकी सत्यप्रियता बहुत प्रशंसनीय है । इनमें स्वतंत्रता की मात्रा अधिक थी । शिवाजी, छत्रसाल, कुमाऊँ-नरेश एवं राव बुद्ध तक से इन्होंने पूर्ण स्वतंत्रता का व्यवहार रक्खा, और उनकी त्रुटियों तक को प्रकट कर दिया । सत्य घटनाओं के साथ ख़याली और भड़कीले वर्णन इन्होंने बहुत कम किए हैं । इतिहास में शिवाजी भवानी के भक्त लिखे हैं, पर भूषण उन्हें शिव-भक्त भी बतलाते हैं । कुछ बखरों में वह शिव-भक्त भी कहे गए हैं । इन्होंने शिवाजी को विष्णु का अवतार माना है, और बार-बार इस मत पर ज़ोर दिया है । यह ठकुरसोहाती भी हो सकती थी, पर संभव है, भूषण का मत यह हो कि राम, कृष्ण इत्यादि सभी 'अवतार' बहुत बड़े मनुष्य-मात्र थे । भूषण की कविता के ओज और उद्दंडता दर्शनीय हैं । उसमें उत्कृष्ट पद्यों की संख्या बहुत है । हमने इनके प्रकृष्ट कवित्तों की गणना की, और उन्हें केशवदास एवं मतिराम के पद्यों से मिलाया, तो इनकी कविता में वैसे पद्यों की संख्या या उनका औसत अधिक रहा । इसी से हमने भूषण का नंबर बिहारी के बाद और इन दोनो के ऊपर रक्खा है ।

भूषण में जातीयता का एक बहुत भारी गुण है । इन्हें हिंदू-जाति का जितना ध्यान और अभिमान था, उतना हमने भारतेंदु के अतिरिक्त हिंदी के किसी भी दूसरे महाकवि में नहीं पाया । वर्तमान समय की दृष्टि से मुसलमानों के प्रति इनकी कटूक्तियाँ अनुचित-सी प्रतीत होती हैं, पर उस समय दोनो जातियों में औरंगज़ेब के

नीच व्यवहार के कारण भयंकर शत्रुता थी। सो जातीयता-वश भूषण ने मुसलमानों के विषय में जो बहुतेरे कठोर वाक्य लिखे, वे एक प्रकार से क्षम्य हो सकते हैं। कवियों की बात जाने दीजिए, उस समय के मुसलमान इतिहासकारों तक ने हिंदुओं के विषय में भूषण की कटूक्तियों से कहीं बढ़कर अनुचित बातें लिखी हैं। भूषण को हिंदुओं का इतना ध्यान था कि चाहे जिसकी प्रशंसा हो, सबमें वह हिंदुओं की बात ज़रूर ही रख देते थे। वास्तव में इनकी कविता के नायक एक प्रकार से न शिवाजी हैं, न छत्रसाल, न राव बुद्ध हैं, न अवधूतसिंह, न शंभाजी हैं, न साहूजी; इनके सच्चे नायक हैं हिंदू। अन्य नायक 'हिंदुआन को अधार', 'ढाल हिंदुआने की' इत्यादि हैं। मतलब यह कि भूषण की कविता हिंदूमय हो रही है।

इनकी कविता में कोई कहने योग्य दूषण नहीं है। सब मिलाकर निष्कर्ष यह निकलता है कि भूषण की कविता वास्तव में हिंदी-साहित्य का भूषण है, और यह सचमुच महाकवि हैं। यदि भूषणजी के विषय में अधिक जानने की इच्छा हो, तो हमारी 'भूषण-ग्रंथावली' का चतुर्थ संस्करण (जो नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा कुछ दिन हुए प्रकाशित हुआ है) देखिए, तथा बेलवेडियर-प्रेस में प्रकाशित हमारे सुमनांजलि ग्रंथ का अवलोकन कीजिए। अब हम इनकी रचना के कुछ उदाहरण देकर इस लेख को समाप्त करते हैं।

उदाहरण—

पावक-तुल्य अमीतन को भयो, मीतन को भयो धाम सुधा को ;
आनँद भो गहिरो समुदै, कुमुदावलि तारन को बहुधा को।
भूतल माहिं बली सिवराज भो, 'भूषन' भाषत सत्रु-सुधा को ;
बंदन तेज त्यों चंदनि कीरति, साधे सिगार बधू-बसुधा को ॥ १२ ॥

चढ़त तुरंग चतुरंग साजि सिवराज,
चढ़त प्रताप दिन-दिन अति अंग मैं ;
'भूषन' चढ़त मरहट्टन के चित्त चाव,
खग्ग खुलि चढ़ति है अरिन के अंग मैं।
भौंसिला के हाथ गढ़-कोट हैं चढ़त अरि-
ओट ह्वै चढ़त एकु मेरु-गिरि सृंग मैं ;
तुरकान-गन ब्योम-यान हैं चढ़त बिनु
मान ह्वै चढ़त बदरंग नवरंग मैं ॥ १३ ॥

कामिनि कंत सों, जामिनि चंद सों, दामिनि पावस-मेघ घटा सों ;
कीरति दान सों, सूरति ज्ञान सों, प्रीति बड़ी सनमान महा सों।
'भूषन' भूषन सों तरुनी, नलिनी नव पूषन-देव-प्रभा सों ;
जाहिर चारिहु ओर जहान लसै हिंदुआन खुमान सिवा सों ॥ १४ ॥

अटल रहे हैं दिगअंतन के भूप, धरि
रैयति को रूप निज देस पेस करिकै ;
राना रह्यो अटल बहाना करि चाकरी को,
बाना तजि 'भूषन' भनत गुन भरिकै।
हाड़ा, रायठौर, कछवाहे और गौर रहे
अटल चकत्ता को चमाऊ धरि डरिकै ;
अटल सिवाजी रह्यो दिल्ली को निदरि धीर—
धरि, ऐंड़ धरि, तेग धरि, गढ़ धरिकै ॥ १५ ॥

काज मही सिवराज-बली हिंदुआन बढ़ाइबे को उर ऊटै ;
'भूषन' भू निरम्लेच्छ करी चहै म्लेच्छन मारिबे को रन जूटै।
हिंदु बचाय-बचाय यही अमरेस चँदावत लौं कोइ टूटै ;
चंद अलोकतै लोक सुखी यह कोक अभाग जो सोक न छूटै ॥ १६ ॥

यों सिर पै छहरावत छार हैं जातै उटै असमान बघूरे ;
'भूषन' भूधरऊ धरकैं जिनके धुनि-धक्कन यों बल-रूरे।

ते सरजा सिवराज दिए कविराजन को गजराज गरूरे ;
सुंडन सों पहिले जिन सोखिकै फेरि महामद सों नद पूरे ॥ १७ ॥

दान समै द्विज देखि मेरु हू कुबेरु हू की
संपति लुटाइबे को हियो ललकत है ;
साहि के सपूत सिवसाहि के बदन पर
सिव की कथान मैं सनेह झलकत है।
'भूषन' जहान हिंदुआन के उबारिबे को,
तुरकान मारिबे को बीर बलकत है ;
साहिन सों लरिबे की चरचा चलति आनि,
सरजा के दृगन उछाह छलकत है ॥ १८ ॥

जै जयंति, जै आदि-सकति, जै कालि, कपर्दिनि ;
जै मधुकैटभ-छलनि, देबि, जै महिष-बिमर्दिनि।
जै चमुंड जै चंड-मुंड-भंडासुर-खंडिनि ;
जै सुरक्त जै रक्तबीज-बिड्डाल-बिहंडिनि।
जै-जै निसुंभ-सुंभद्दलनि, भनि 'भूषन' जै जै भननि ;
सरजा समत्थ सिवराज कहँ देहि बिजै, जै जगजननि ॥ १९ ॥

आए दरबार, बिललाने छरीदार देखि,
जापता करनहारे नेक हू न मनके ;
'भूषन' भनत भौंसिला के आय आगे ठाढ़े
बाजे भए उमराय तुजुक-करन के।
साहि रह्यो जकि, सिवसाहि रह्यो तकि,
और चाहि रह्यो चकि, बने ब्योंत अनबन के ;
ग्रीषम के भानु सो खुमानु को प्रतापु देखि,
तारे-सम तारे गए मूँदि तुरकन के ॥ २० ॥

चंदन मैं नाग, मद-भरयो इंद्र-नाग,
बिष-भरो सेस नाग, कहै उपमा अबस को ;

चोर ठहरात, न कपूर बहरात, मेघ
सरद उड़ात, बात लागे दिसि दस को।
संभु नीलग्रीव, भौंर पुंडरीक ही बसत,
सरजा सिवाजी सन 'भूषन' मरम को;
छीरधि मैं पंक, कलानिधि मैं कलंक, याते
रूप एक टंक ये लहैं न तुव जस को॥ २१॥

इंद्र जिमि जंभ पर, बाड़व सु अंभ पर,
रावन - सदंभ पर रघुकुलराज है;
पौन बारिबाहु पर, संभु रतिनाहु पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम-द्विजराज है।
दावा द्रुम-दंड पर, चीता मृग-झुंड पर,
'भूषन' बितुंड पर जैसे मृगराज है;
तेज तम-अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलिच्छ-बंस पर सेर सिवराज है॥ २२॥

साहि-तनै सरजा सिवा की सभा जा मधि है,
मेरुवारी सुर की सभा को निदरति है;
'भूषन' भनत जाके एक-एक सिखर ते
केते धौं नदी-नद की रेल उतरति है।
जोन्ह को हँसति जोति हीरा-मनि-मंदिरन,
कंदरन मैं छबि कुहूकि उछरति है;
ऐसो ऊँचो दुरग महाबली को, जामैं
नखतावली सों बहस दिपावली करति है॥ २३॥

सिंह-थरि जाने बिन जावली जँगल-भठी,
हठी गज-एदिल पठाय करि भटक्यो;
'भूषन' भनत देखि भभरि भगाने सब,
हिम्मति हिए में धारि काहुवै न हटक्यो।

साहिन को साल भयो, ज्वाल को जवाल भयो,
हर को कृपाल भयो हार के बिधान को।
बीर-रस ख्याल सिवराज भुवपाल, तुव
हाथ को बिसाल भयो 'भूषन' बखान को;
तेरो करवाल भयो दच्छिन को ढाल, भयो
हिंदु को दिवाल, भयो काल तुरकान को॥ २८॥

आवत गुसुलखाने ऐसे कछु त्यौर ठाने,
जाने अवरंगजू के प्रानन को लेवा है;
रस-खोट भए ते अगोट आगरे मैं, सातौ
चौकी डाँकि आनि घर कीन्ही हद्द रेवा है।
'भूषन' भनत वह चहूँ-चक्क चाहि कियो
पातसाहि चकता की छाती माहिं छेवा है;
जान्यो न परत ऐसे काम है करत, कोऊ
गंधरब देवा है कि सिद्ध है कि सेवा है॥ २९॥

चमकतीं चपला न फेरत फिरंगै भट,
इंद्र को न चाप रूप बैरख-समाज को;
धाए धुरवा न छाए धूरि के पटल, मेघ
गाजिबो न, बाजिबो है दुंदुभि दराज को।
भौंसला के डरन डरानी रिपु-रानी, कहैं
पिय भजौ देखि उदौ पावस के साज को;
घन की घटा न गज-घटनि सनाह साजे,
'भूषन' भनत आयो सैन सिवराज को॥ ३०॥

तेरे ही भुजान पर भूतल को भार,
कहिबे को सेस-नाग, दिगनाग हिमाचल है;
तेरो अवतार जग - पोसन - भरनहार,
कछु करतार को न ता मधि अमल है।

साहिन मैं सरजा समत्थ सिवराज कवि
'भूषन' कहत जीबो तेरोई सफल है;
तेरो करवाल करै म्लेच्छन को काल,
बिन काज होत काल बदनाम धरातल है ॥३१॥

दानव आयो दगा करि जावली, दीह भयारो महामद मारयो;
'भूषन' बाहुबली सरजा, तेहि भेंटिबे को निरसंक पधारयो।
बीछू के घाय गिरे अफजल्लहि, ऊपर ही सिवराज निहारयो;
दाबि यों बैठो नरिंद अरिंदहि, मानो मयंद गयंद पछारयो ॥३२॥

साहि-तनै सिवसाहि निसा मैं, निसाँक लियो गढ़सिंह सोहानो;
राठिवरो को सँहार भयो, लरिकै सरदार गिरयो उदैभानो।
'भूषन' यों घमसान भो भूतल, घेरत लोथिन मानो मसानो;
ऊँचे सु छज्ज छटा उछटी, प्रगटी परभा परभात कि मानो ॥३३॥

लूट्यो खान-दौरा जोरावर सफजंग अरु
लूट्यो कारतलबखाँ मनहुँ अमाल है;
'भूषन' भनत लूट्यो पूना मैं सइस्तखान,
गढ़न मैं लूट्यो त्यों गढ़ोइन को जाल है।
हेरि-हेरि कूटि सलहेरि-बीच सरदार,
घेरि घेरि लूट्यो सब कटक कराल है;
मानो हय, हाथी, उमराउ करि साथी,
अवरंग डरि सिवाजी पै भेजत रसाल है ॥ ३४ ॥

बासव-से बिसरत, बिक्रम की कहा चली,
बिक्रम लखत बीर बखतबुलंद के;
जागे तेजबृंद सिवाजी नरिंद मसनंद,
माल-मकरंद कुलचंद साहिनंद के।
'भूषन' भनत देस-देस बैरि-नारिन मैं
होत अचरज घर-घर दुख-दंद के;

कनक-लतानि इंदु, इंदु माहिं अरबिंदु,
झरैं अरबिंदन ते बुंद मकरंद के ॥ २५ ॥
बद्दत अपार तुव दुंदुमी-धुकार साथ,
लँघै पारावार बाल-बृंद रिपुगन के;
तेरे चतुरंग के तुरंगन के रँगे-रज
साथ ही उड़ात रज-पुंज हैं परन के।
दच्छिन के नाथ सिवराज, तेरे हाथ चढ़ैं,
धनुष के साथ गढ़-कोट दुरजन के;
'भूषन' असीसैं, तोहिं करत कसीसैं,
पुनि बानन के साथ छूटैं प्रान तुरकन के ॥ २६ ॥
गढ़नेर, गढ़, चाँदा, भागनेर, बीजापूर,
नृपन कि नारी रोय हाथन मलति हैं;
करनाट, हबस, फिरंग हू, बिलायत,
बलख, रूम अरि-तिय छतियाँ दलति हैं।
'भूषन' भनत साहि-तनै सिवराज, एते
मान तुव धाक आगे दिसा उबलति हैं;
तेरी चमू चलिवे की चरचा चले ते
चक्रवतिन की चतुरंग-चमू बिचलति हैं ॥ २७ ॥
मद - जलधरन दुरद - बल राजत,
बहु जल - धरन जलद छबि साजै;
पुहुमिधरन फनि-नाथ लसत अति,
तेज - धरन ग्रीषम - रबि छाजै।
खरग - धरन सोभा तहँ राजत,
रुचि 'भूषन' गुन-धरन - समाजै;
दिल्लि - दलन, दक्खिन - दिसि - थंभन,
ऐंड़ - धरन सिवराज बिराजै ॥ २८ ॥

उत्तर पहार, बिधनोल, खँडहर,
झारखंड हू प्रचार चारु केली है बिरद की ;
गोर, गुजरात, अरु पूरब, पछाँह ठौर,
जंतु जंगलीन की बसति मारि रद की ।
'भूषन' जो करत न जाने बिनु घोर सोर,
भूलि गयो आपनी ऊँचाई लखे कद की ;
खोइयो प्रबल मद-गल गजराज एक,
सरजा सों बैर कै बड़ाई निज मद की ॥ ३९ ॥
जाहिर जहान जाके धनद समान,
पेखियतु पासवान, यों खुमान चित चाय हैं ;
'भूषन' भनत देखे भूख न रहति,
सब आप ही सों जात दुख, दारिद बिलाय हैं ।
खीझे ते खलक माहिं खलभल पारत है,
रीझे ते पलक माहिं कीन्हें रंक राय हैं ;
जंग-जुरि अरिन के अंग को अनंग कीबो,
दीबो सिव साहब के सहज सुभाय हैं ॥ ४० ॥
देखत सरूप को सिहात न मिलन काज,
जग जीतिबे की जामें रीति छल-बल की ;
जाके पास आवै, ताहि निधन करति बेगि,
'भूषन' भनत जाकी संगति न फल की ।
कीरति कामिनि राच्यो सरजा सिवा की एक,
बस कै सकै न बसकरनी सकल की ;
चंचल, सरस एक काहू पै न रहै दारी,
गनिका समान सुबेदारी दिली-दल की ॥ ४१ ॥
महाराज सिवराज, तेरे बैर देखियतु,
घन बन ह्वै रहे हरम हबसीन के ;

'भूषन' भनत तेरे बैर रामनगर,
जवारि पर बहवहे रुधिर नदीन के।
सरजा समत्थ बीर, तेरे बैर बीजापुर,
बैरी-बैयरनि कर चीन्ह न चुरीन के;
तेरे रोस देखियत आगरे, दिल्ली मैं
बिनु सिंदुर के बुंद मुख-इंदु जमनीन के ॥ ४२ ॥

श्रीसरजा सिव, तो जस सेत सों, होत हैं बैरिन के मुँह कारे;
'भूषन' तेरे अरुन्न प्रताप, सपेद लखे कुनवा नृप सारे।
साहि-तनै, तव कोप-कृसानु ते बैरी-गरे सब पानिपवारे;
एक अचंभव होत बड़ो, तिन ओठ गहे अरि जात न जारे ॥४३॥

दच्छिन-नायक एक तुहीं, भुव-भामिनि को अनुकूल ह्वै भावै;
दीनदयाल न तो-सो दुनी पर, म्लेच्छ के दीनहि मारि मिटावै।
श्रीसिवराज, भनै कबि 'भूषन' तेरे सरूप को कोउ न पावै;
सूर-सु-बंस मैं सूर-सिरोमनि ह्वै करि तू कुल-चंद कहावै ॥४४॥

बीर बड़े-बड़े मीर, पठान, खरो रजपूतन को गन भारो;
'भूषन' जाय तहाँ सिवराज लियो हरि औरँगजेब को गारो।
दीन्हो कुज्वाब दिलीपति को अरु कीन्हों वजीरन को मुँह कारो;
नायो न माथहि दच्छिन-नाथ, न साथ मैं फौज न हाथ हथ्यारो ॥४५॥

ता दिन अखिल खलभलै खल खलक मैं,
जा दिन सिवाजी गाजी नेक करखत हैं;
सुनत नगारन अगार तजि अरिन की
दारगन भाजत, न बार परखत हैं।
छूटे बार-बार, छूटे बारन ते लाल, देखि
'भूषन' सुकबि बरनत हरखत हैं;
क्यों न उतपात होहिं बैरिन के झुंडन में,
कारे घन उमड़ि अँगारे बरखत हैं ॥ ४६ ॥

साहि-तनै सिव, तेरो सुनत पुनीत नाम
धाम-धाम सब ही को पातक कटत है ;
तेरो जस काज आज सरजा निहारि कवि-
मन भोज-बिक्रम-कथा ते उचटत है।
'भूषन' भनत तेरो दान-संकलप-जल,
अचरज सकल मही मैं लपटत है ;
और नदी-नदन ते कोकनद होत,
तेरो कर-कोकनद नदी-नद प्रगटत है ॥ ४७ ॥

जसन के रोज यों जलूस गहि बैठो जोऽब,
इंद्र आवै, सोऊ लागै औरँग की परजा ;
'भूषन' भनत, तहाँ सरजा सिवाजी गाजी,
तिनको तुजुक देखि नेकहू न लरजा।
ठान्यो न सलाम, भान्यो साहि को इलाम,
धूम-धाम कै न मान्यो रामसिंह हू को बरजा ;
जासों बैर करि भूप बचैं न दिगंत,
ताके दंत तोरि तखत तरे ते आयो सरजा ॥ ४८ ॥

महाराज सिवराज चढ़त तुरंग पर,
ग्रीवा जाति नै करि गनीम अति बल की ;
'भूषन' चलत सरजा की सैन भूमि पर,
छाती दरकति है खरी अखिल खल की।
कियो दौरि घाव उमरावन अमीरन पै,
गई कटि नाक सिगरेई दिल्ली-दल की ;
सूरत-जराई कियो दाहु पातसाहु-उर,
स्याही जाय सब पातसाही मुख झलकी ॥ ४९ ॥

बावलि बार सिँगारपुरी, औ जवारि को राम के नैरि को गाजी ;
'भूषन' भौंसिला भूपति ते सब, दूरि किए करि कीरति ताजी

बैर कियो सिवजी सों खवासखाँ, डौंडिए सैन बिजैपुर बाजी ;
बापुरो एदिल-साहि कहाँ, कहाँ दिल्लि को दामनगीर सिवाजी ॥२०॥
दारहि दारि, मुरादहि मारिकै, संगर साहिसुजै बिचलायो ;
कै कर मैं सब दिल्लि कि दौलति औरहु देस घने अपनायो।
बैर कियो सरजा सिव सों, यह नौरँग के न भयो मन-भायो ;
फौज पठाई हुती गढ़ लेन को, गाँठिहु के गढ़-कोट गँवायो ॥२१॥
तो कर सों छिति छाजत दान है, दानहु सों अति तो कर छाजै ;
तैं ही गुनी की बड़ाई सजै, अरु तेरी बड़ाई गुनी सब साजै।
'भूषन' तोहि सों राज बिराजत, राज सों तू सिवराज, बिराजै ;
तो बल सों गढ़-कोट गजैं, अरु तू गढ़-कोटन के बल गाजै ॥२२॥

सिवाजी खुमान सलहेरि मैं दिलीप-दल,
कीन्हो कतलाम करवाल गहि कर मैं ;
सुभट सराहे चंदावत, कछवाहे,
मुगलौ, पठान ढाहे, फरकत परे फर मैं।
'भूषन' भनत भौंसिला के भट उदभट,
जीति घर आए, धाक फैली घर-घर मैं ;
मारु के करैया अरि अमर-पुरै गे, तऊ
अजौं मारु-मारु सोर होत है समर मैं॥ २३॥

अति मतवारे जहाँ दुरदै निहारियत,
तुरगन ही मैं चंचलाई परकीति है ;
'भूषन' भनत जहाँ पर लगैं बानन मैं,
कोक-पच्छिनहि माहिं बिछुरन-रीति है।
गुनिगन चोर जहाँ एक चित्त ही के, लोक
बँधे जहाँ एक सरजा की गुन प्रीति है ;
कंप कदली मैं, बारि-बुंद बदली मैं,
सिवराज अदली के राज मैं यों राजनीति है॥ २४॥

बैर कियो सिव चाहत हो, तब लौं अरि बाह्यो कटार कठैठो ;
यों ही मलिच्छहि छाँड़ै नहीं सरजा मन तापर रोस मैं पैठो।
'भूषन' क्यों अफजल्ल बचै, अठगाँव के सिंह को पाँव उमैठो ;
बीछू के घाय धुक्योई धरक ह्वै, तो लगि घाय धराधर वैठो ॥ २१ ॥
माँगि पठायो सिवा कछु देस, वजीर-अजानन बोल गहे ना ;
दौरि लियो सरजा परनालो यों 'भूषन' जो दिन दोय लगे ना।
धाक सों खाक बिजैपुर भो, मुख आय गो खान-खवास के फेना;
भै भरकी करकी धरकी दरकी दिल एदिल-साहि कि सेना ॥ २६ ॥
साहि-तनै सरजा समरत्थ, करी करनी धरनी पर नीकी ;
भूलि गे भोज-से, बिक्रम-से औ भई बलि, बेनु कि कीरति फीकी।
'भूषन' भिच्छुक भूप भए, भलि भीख लै केवल भौंसिला ही की ;
नैसुक रीझि धनेस करै, लखा ऐसियै रीति सदा सिवजी की ॥ २७ ॥

मानसर-बासी हंस बसन-समान होत,
चंदन सों घस्यो घनसारऊ घरीक है ;
नारद कि सारद कि हाँसी मैं, कहाँ भी
आभा सरद की सुरसरी कौन पुंडरीक है ?
'भूषन' भनत छक्यो छीरधि मैं थाह लेत,
फेन लपटानो ऐरावत को करी कहै ?
कयलास-ईस, ईस-सीस रजनीस, वहौ
अवनीस सिवा के न जस को सरीक है ॥ २८ ॥

पंपा मानसर आदि अगन-तलाब लागे,
जेहि के परन मैं अकथ जुग गथ के ;
'भूषन' यों साज्यो रायगढ़ सिवराज, रहे
देव चक चाहि कै बनाए राजपथ के।
बिन अवलंब कलिकानि आसमान मैं ह्वै,
होत बिसराम जहाँ इंदु औ उदथ के ;

महत - उतंग मनिजोतिन के संग, आनि
कैधौ रंग चकहा गहत रबि-रथ के ॥ ५६ ॥

ब्रह्म के आनन ते निकसे ते, अत्यंत पुनीत तिहूँ पुर मानी ;
राम जुधिष्ठिर के बरने, बलमीकिहु ब्यास के अंग सुहानी ।
'भूषन' यों कलि के कबिराजन, राजन के गुन पाय नसानी ;
पुन्य-चरित्र सिवा सरजा-जस न्हाय पवित्र भई पुनि बानी ॥ ६० ॥

आसरजा सलहेरि के जूझ, घने उमरावन के घर घाले ;
कुंभ चँदावत, सैद, पठान, कबंधन धावत भूधर हाले ।
'भूषन' यों सिवराज कि धाक, भए पियरे अरुने रँगवाले ;
लोहै कटे लपटे अति लोहु, भए मुँह मीरन के पुनि लाले ॥ ६१ ॥

यों कबि 'भूषन' भाषत है, यक तौ पहिले कलिकाल कि सैली ;
तापर हिंदुन की सब राहन, औरँग-साह करी अति मैली ।
साहि-तने सिव के डर सों, तुरकौ गहि बारिधि की गति पैली ;
बेद-पुरानन की चरचा, अरचा द्विज-देवन की फिरि फैली ॥ ६२ ॥

दीन-दयाल, दुनी-प्रतिपालक, जे करता-निरम्लेच्छ मही के ;
'भूषन' भूधर उद्धरिबो सुने, और जिते गुन ते सब जी के ।
या कलि मैं अवतार लियो, तऊ तेई सुभाय सिवाजि बली के ;
आनि धरयो हरि ते नररूप, पै काज करै सिगरे हरि ही के ॥ ६३ ॥

इंद निज हेरत-फिरत गज-इंद अरु
इंद्र को अनुज हेरै दुगध-नदीस को ;
'भूषन' भनत सुरसरिता को हंस हेरै,
बिधि हेरै हंस को, चकोर रजनीस को ।
साहि-तनै सिवराज, करनी करी है तैं जु
होत है अचंभो देव कोटियो तैंतीस को ;
पावत न हेरे तेरे जस मैं हिराने निज
गिरि को गिरीस हेरैं, गिरिजा गिरीस को ॥ ६४ ॥

अहमदनगर के थान किरवान लैके,
नवसेरी-खान तें खुमान भिरयो बलते ;
प्यादन सों प्यादे, पखरैतन सों पखरैत,
बखतरवारे बखतरवारे हलते।
'भूषन' भनत एते मान घमसान भयो,
जान्यो न परत कौन आयो कौन दल ते ;
सम-वेष ताके तहाँ सरजा सिवा के बाँके,
बीर जाने हाँके देत मीर जाने चलते ॥ ६५ ॥
साहि-तनै सिवराज ऐसे देत गजराज,
जिन्हैं पाय होत कबिराज बेफिकिरि हैं ;
झूलत झलमलात झूलैं जरबाफन की,
जकरे जँजीर, जोर करत किरिरि हैं।
'भूषन' भँवर भननात, घननात घंट,
पग झननात मनो घन रहे घिरि हैं ;
जिनकी गरज सुने दिग्गज बेआब होत,
मद ही के आब गड़काब होत गिरि हैं ॥ ६६ ॥
आजु यहि समै महाराज सिवराज, तू ही
जगदेव, जनक, जजाति, अंबरीक-सो ;
'भूषन' भनत तेरे दान-जल-जलधि मैं,
गुनिन को दारिद गयो बहि खरीक-सो।
चंद-कर, किंजलक, चाँदनी, पराग, उड़-
बृंद, मकरंद-बुंद पुंज के सरीक-सो ;
कुंदसम कयलास, नाक गंग-नाल, तेरे
जस-पुंडरीक को अकास चंचरीक-सो ॥ ६७ ॥
चित्त अनचैन, आँसू उमगत नैन, देखि
बीबी कहैं बैन, मियाँ, कहियत काहिनै ?

'भूषन' भनत बूझे आए दरबार ते
कँपत बार-बार क्यों सँभार तन नाहिनै ?
सीनो धकधकत पसीनो आयो देह सब,
हीनो भयो रूप न चितौत बाएँ-दाहिनै ;
सिवाजी की संक मानि गए हौ सुखाय, तुम्हैं
जानियत दक्खिन को सूबा करो साहिनै ॥ ६८ ॥
अंझा-सो दिन कि भई संझा-सी सकल दिसि,
गगन लगन रहो गरद छवाय है ;
चील्ह, गीध, बायस-समूह घोर रोर करैं,
ठौर-ठौर चारो ओर तम मड़राय है ।
'भूषन' अँदेस देस-देस के नरेस-गन,
आपुस मैं कहत यों गरब गँवाय है ;
बड़ो बड़वा को, जितवार चहुँघा को, दल
सरजा सिवा को जानियत इत आय है ॥ ६९ ॥
तुरमुती तहखाने, तीतर गुसुलखाने-
सूकर सिलहखाने, कूकत करीस हैं ;
हिरन हरमखाने, स्याही हैं सुतुरखाने,
पाढ़े पीलखाने, औ करंजखाने कीस हैं ।
'भूषन' सिवाजी गाजी खग्ग सौं खपाए खल,
खाने-खाने खलन के खेरे भए खीस हैं ;
खड़गी खजाने, खरगोस खिलवतखाने,
खीसैं खोले खसखाने खाँसत खबीस हैं ॥ ७० ॥
साजि चतुरंग बीर-रंग मैं तुरंग चढ़ि,
सरजा-सिवाजी जंग जीतन चलत है ;
'भूषन' भनत नाद बिहद-नगारन के,
नदी-नद मद गब्बरन के रलत है ।

ऐल-फैल खैल भैल खलक मैं गैल-गैल,
गजन कि ठेल पेल सैल उसलत है;
तारा-सो तरनि धूरि-धारा मैं लगन, जिमि
थारा पर पारा पारावार यों हलत है ॥ ७१ ॥

कत्ता की कराकनि चकत्ता को कटक काटि,
कीन्हीं सिवराज बीर अकह कहानियाँ;
'भूषन' भनत तिहुँ लोक मैं तिहारी धाक,
दिल्ली औ बिलाइति सकल बिललानियाँ।
आगरे अगारन ह्वै, फाँदती पगारन छ्वै,
बाँधती न बारन, मुखन कुम्हलानियाँ;
कीबी कहैं कहा औ गरीबी गहे भागी जाहिं,
बीबी गहे सूथनी सु नीबी गहे रानियाँ ॥ ७२ ॥

सबन के ऊपर ही ठाढ़ो रहिबे के जोग,
ताहि खरो कियो जाय जारन के नियरे;
जानि गैर-मिसिल गुसीले गुसा धरि मन,
कीन्ह्यो न सलाम, न बचन बोले सियरे।
'भूषन' भनत महावीर बलकन लाग्यो,
सारी पातसाही के उड़ाय गए जियरे;
तमक ते लाल-मुख सिवा को निरखि भए
स्याह-मुख नौरँग सिपाह-मुख पियरे ॥ ७३ ॥

केतिक देस दल्यो दल के बल, दच्छिन चंगुल-चापि कै चाख्यो;
रूप-गुमान हर्यो गुजरात को, सूरति को रस चूसि कै नाख्यो।
पंजन पेलि मलिच्छ मले सब, सोई बच्यो जेहि दीन ह्वै भाख्यो;
सौ रँग है सिवराज बली, जेहि नौरँग में रँग एक न राख्यो ॥७४॥

बिज्जपूर बिदनूर-सूर सर-धनुष न संधहिं;
मंगल बिनु मल्लारि-नारि धम्मिल नहिं बंधहिं।

गिरत गब्भ कोटै गरब्भ चिंजी चिंजा डर ;
चालकुंड दलकुंड गोलकुंडा संका-उर ।
'भूषन' प्रताप सिवराज तव, इमि दच्छिन दिसि संचरइ ;
मधुराधरेस धकधकत सो, द्रविड निविड़ डर दबि डरइ ॥७५॥

अफजलखान को जिन्हींने मयदान मारा,
बीजापुर, गोलकुंडा मारा जिन आज है ;
'भूषन' भनत फरासीस त्यों फिरंगी मारि,
हबसी, तुरुक डारे उलटि जहाज है ।
देखत में रुसतमखाँ को जिन खाक किया,
साल की सुरति आजु सुनो जो अवाज है ;
चौंकि-चौंकि चकता कहत, चहुँवा ते यारो,
लेत रहौ खबरि, कहाँ लौं सिवराज है ॥ ७६ ॥

फिरँगाने फिकिरि औ हद्द सुनि हबसाने,
'भूषन' भनत कोऊ सोवत न घरी है ;
बीजापुर बिपति बिडरि सुनि भाज्यो सब,
दिल्ली-दरगाह बीच परी खरभरी है ।
राजन के राज, सब साहिन के सिरताज,
आज सिवराज पातसाही चित धरी है ;
बलख-बुखारे कसमीर लौं परी पुकार,
धाम-धाम धूम-धाम रूम-साम परी है ॥ ७७ ॥

चकित चकत्ता चौंकि-चौंकि उठै बार-बार,
दिल्ली दहसति चित-चाह खरकति है ;
बिलखि बदन बिलखात बिजैपुर-पति,
फिरत फिरंगिन कि नारी फरकति है ।
थर-थर काँपत कुतुबसाहि, गोलकुंडा,
हहरि हबस-भूप भीर भरकति है ;

राजा सिवराज के नगारन कि धाक सुनि,
केते पातसाहन कि छाती दरकति है ॥ ७८ ॥

मालवा, उजैन, भनि 'भूषन' भेलास, ऐन,
सहर सिरोज, लौं परावने परत हैं ;
गोंडवानो, तिलगानो, फिरगानो, करनाट,
रुहिलानो, रुहिलन हिए हहरत हैं ।
साहि के सपूत सिवराज, तेरी धाक सुनि,
गढ़पति-बीर तेऊ धीर ना धरत हैं ;
बीजापुर, गोलकुंडा, आगरे, दिल्ली के कोट,
बाजे-बाजे दिन दरवाजे उघरत हैं ॥ ७९ ॥

मारि करि पातसाही खाकसाही कीन्ही जिन,
जेर कीन्हों जोर सों लै हद्द सब मारे की ;
खिसि गई सेखी, फिसि गई सूरताई सब,
हिसि गई हिम्मति हजारों लोग सारे की ।
बाजत दमामे लाखों धौंसा आगे घहरात,
गरजत मेघ, ज्यों बरात चढ़े भारे की ;
दूलहो सिवाजी भयो, दच्छिनी दमामेवारे,
दिल्ली दुलहिनि भई सहर सितारे की ॥ ८० ॥

बेद राखे बिदित, पुरान राखे सारजुत,
राम-नाम राख्यो, अति रसना सुघर मैं ;
हिंदुन कि चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे मैं जनेउ राख्यो, माला राखी गर मैं ।
मीड़ि राखे मुगल, मरोड़ि राखे पातसाह,
बैरी पीसि राखे, बरदान राख्यो कर मैं ;
राजन की हद्द राखी, तेग-बल सिवराज,
देव राखे देवल, स्वधर्म राख्यो घर मैं ॥ ८१ ॥

भुज-भुजगेस की वै संगिनी भुजंगिनी-सी,
खेदि-खेदि खातीं दीह दारुन दलन के;
बखतर पाखरिन बीच धसि जाती मीन
पैरि पार जात परवाह ज्यों जलन के।
रैवा-राय चंपति को छत्रसाल महाराज,
'भूषन' सकत को बखानि यौं बलन के;
पच्छी पर-छीने ऐसे परे परछीने बीर,
तेरी बरछी ने बर छीने हैं खलन के॥ ८२॥

हैबर हरट्ट साजि, गैबर गरट्ट, सम
पैदर के ठट्ट फौज जुरी तुरकाने की;
'भूषन' भनत राय चंपति को छत्रसाल
रोप्यो रन ख्याल ह्वै कै ढाल हिंदुवाने की।
कैयक हजार एक बार बैरी मारि डारे,
रंजक दगनि मानो अगिनि रिसाने की;
सैदअफगन-सैन सगर-सुतन लागी,
कपिल-सराप-लौं तराप तोपखाने की॥ ८३॥

चाक चक चमू के अचाक चक चहूँ ओर,
चाक-सी फिरति धाक चंपति के लाल की;
'भूषन' भनत पातसाही मारि जेर कीन्ही,
काहू उमराव ना करेरी करवाल की।
सुनि-सुनि रीति बिरदैत के बड़प्पन की,
थप्पन उथप्पन की बानि छत्रसाल की;
जंग जीतिलेवा, ते वै ह्वै कै दंडदेवा-भूप,
सेवा लागे करन महेवा-महिपाल की॥ ८४॥

कीबे को समान प्रभु ढूँढ़ि देख्यो आन पै
निदान दान जुद्ध मैं न कोऊ ठहरात हैं;

पंचम प्रचंड भुजदंड को बखान सुनि,
भागिबे को पच्छी लौं पठान थहरात हैं।
संका मानि सूखत अमीर दिल्लीवारे, जब
चंपति के नंद के नगारे बहरात हैं;
चहूँ ओर चकित चकत्ता के दलन पर
छत्ता के प्रताप के पताके फहरात हैं॥ ८५॥

उछदत मद-अनुमद ज्यों जलधि जल,
बल-हद, भीम-कद, काहू के न आह के;
प्रबल प्रचड, गंड-मंडित मधुर-बृंद
बिंध्य से बुलंद, सिंधु सातहू के थाह के।
'भूषन' भनत झूल-झंपति झपान झुकि,
झूमत झुलत झहरात रथ डाह के;
मेघ-से घमंडित मजेजदार तेजपुंज
गुंजरत कुंजर कुमाऊँ-नरनाह के॥ ८६॥

सारस-से सूबा, करवानक-से साहिजादे,
मोर-से मुगल मीर धीर में धचै नहीं;
बगुला-से बंगस, बलूचियौ बतक-ऐसे,
काबिली कुलंग, याते रन मैं रचै नहीं।
'भूषनजू' खेलत सितारे मैं सिकार संभा,
सिवा को सुवन, जाते दुवन सँचै नहीं;
बाजी सम बाज की चपेटैं चंगा चहूँ ओर,
तीतर तुरुक दिल्ली-भीतर बचै नहीं॥ ८७॥

राखी हिंदुवानी, हिंदुवान को तिलक राख्यौ,
स्मृति औ पुरान राखे वेद बिधि सुनी मैं;
राखी रजपूती रजधानी राखी राजन की,
धरा मैं धरम राख्यौ, राख्यौ गुन गनी मैं।

'भूषन' सुकवि जीति हद्द मरहट्टन की,
देस-देस कीरति बखानी तव सुनी मैं;
साहि के सपूत सिवराज, समसेर तेरी,
दिल्ली दल दाबिकै दिवाल राखी दुनी मैं ॥ ८८ ॥

अजौं भूतनाथ मुंड-माल लेत हरषत,
भूतन अहार लेत अजहूँ उछाह है;
'भूषन' भनत अजौं काटे करवालन के
कारे कुंजरन परी कठिन कराह है।
सिंह सिवराज सलहेरि के समीप ऐसो
कियो कतलाम दिलीदल को सिपाह है;
नदी रन-मंडल रुहेलन-रुधिर अजौं,
अजौं रवि-मंडल रुहेलन कि राह है ॥ ८९ ॥

सूबन साजि पठावत है नित फौज लखे मरहट्टन केरी;
औरँग आपनि दुग्ग-जमाति बिलोकत तेरियै फौज दरेरी।
साहि-तनै सिवसाहि भई, भनि 'भूषन' यों तुव धाक घनेरी;
रातिहु-द्यौस दिलीस तकै तुव सैन कि सूरति सूरति घेरी ॥ ९० ॥

बानर, बरार, बाघ, बैहर, बिलार, बिग,
बगरे बराह, जानवरन के जोम हैं;
'भूषन' भनत भारे भालुक, भयानक हैं,
भीतर भवन भरे लीलगऊ, लोम हैं।
ऐरावत गज-गन, गैंड़ा गररात फिरैं,
गेहन मैं गोहन गरूर गहे गोम हैं;
सिवाजी कि धाक मिले खलकुल खाक, बसे
खलन के खेरन खबीसन के खोम हैं ॥ ९१ ॥

ऐसे बाजिराज देत महाराज सिवराज
'भूषन' जे बाज की समाजैं निदरत हैं;

पौन-पायहीन, दृग-घूँघट मैं लीन, मीन
जल मैं बिलीन क्यों बराबरी करत हैं।
सबते चलाक चित तेऊ कुलि आलम के,
रहैं उर अंतर में, धीर न धरत हैं;
जिन चढ़ि आगे को चलाइयतु तीर, तीर
एब भरि तऊ तीर पीछे ही परत हैं॥ १२॥

× × ×

कुछ दिन हुए काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा ने भूषण और मतिराम के समय तथा संबंध पर कुछ संदेह प्रकट किया। मामला इस प्रकार है कि वृत्तकौमुदी-नामक एक नवीन ग्रंथ नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी की खोज (सन् १९२०-२२) में प्राप्त हुआ। उसमें लिखा है कि किसी मतिराम ने उसे संवत् १७५८ में रचा। यह मतिराम अपने को वत्सगोत्री त्रिपाठी, विश्वनाथ का पुत्र तथा श्रुतिधर का भतीजा बतलाते हैं। भूषण आदि के विषय में आप अपना कोई संबंध प्रकट नहीं करते। वृत्तकौमुदी ग्रंथ हमने नहीं देखा, उसके केवल कतिपय छप्पय तथा दोहे देखे हैं। छंदोभंग प्रायः प्रत्येक छप्पय में है। साहित्य-प्रौढ़ता के विचार से वृत्तकौमुदी के जो छंद हमने देखे हैं, वे रसराज-लेखक की गरिमा के चतुर्थांश को भी नहीं पाते। इसी प्रकार इन छंदों में ओज-गुण का प्राधान्य तथा प्रसाद-गुण का नितांत शैथिल्य वर्तमान होने से कहना ही पड़ता है कि यह रचना-शैली रसराज के लेखक मतिराम की नहीं है। यद्यपि ललित ललाम के कुछ छंद ओज-पूर्ण अवश्य हैं, तथापि उसमें प्रसाद-गुण का सौंदर्य विद्यमान है, जो वृत्तकौमुदी के पद्यों में अप्राप्य है। ललित ललाम संवत् १७२८ के पूर्व का ग्रंथ है, तथा रसराज संवत् १७६७ के लगभग का माना गया है। उपर्युक्त दोनो ग्रंथों में गुण-विषयक पृथ्वी-आकाश का अंतर है। ललित

ललाम के उत्कृष्ट छंद रसराज के साधारण छंदों के समान हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि मतिराम ने क्रमोन्नति नहीं की, वरन् सं० १७६७ के लगभग उन्होंने एकबारगी प्रचंड कवित्व-शक्ति प्राप्त कर ली। वृत्तकौमुदी के छंद हमें ललित ललाम के चुने हुए छंदों से हीनतर समझ पड़ते हैं। अतएव यदि रसराज के लेखक का संवत् १७५८ में वृत्तकौमुदी ग्रंथ बनाना माना जाय, तो यह भी मानना पड़ेगा कि वह ललित ललाम के पीछे तेरह-चौदह वर्ष (अर्थात् संवत् १७५८) पर्यंत उन्नति न करके अवनति की ओर गए, तथा तत्पश्चात् संवत् १७६७ के लगभग उन्होंने अद्वितीय कवित्व-शक्ति प्राप्त कर ली। अत: समझ पड़ता है कि यह वृत्तकौमुदी, ललित ललाम एवं रसराज के लेखक मतिराम की रचना नहीं है। हाल में प्राप्त संवत् १८२७ में छंद-रचना करनेवाले मतिराम के एक प्रपौत्र ने अपने पूर्व पुरुषों के नाम लिखे हैं, और यह भी कहा है कि मतिराम कश्यपगोत्री तिवारी थे। इधर वृत्तकौमुदीकार मतिराम वत्सगोत्री तिवारी थे। अतएव वृत्तकौमुदीकार मतिराम रसराजकार मतिराम से पृथक् व्यक्ति पूर्णतया प्रमाणित होते हैं। मतिराम के उपर्युक्त वंशधर ने यह भी लिखा है कि नृप हम्मीर से सम्मान पाकर चिंतामणि, भूषण और मतिराम टिकमापुर में रहते थे।

संवत् १८११ के एक बिलग्रामी मुसलमान लेखक ने कुछ मुसलमान कवियों का हाल अपने ग्रंथ 'तज़्किरए-सर्व आज़ाद' में लिखा। उसमें उन्होंने लिखा है कि भूषण और मतिराम चिंतामणि के भाई थे। इन कथनों तथा जनश्रुति से इन तीनों का भाई होना निर्विवाद प्रमाणित होता है, और इनके ममेरे, फुफेरे आदि भाई होने का भी अनुमान लड़ाना नहीं पड़ता।

वर्तमान प्रसिद्ध ऐतिहासिक सर यदुनाथ सरकार तथा केलूसकर

और तकाखव महाशयों ने शिवाजी-संबंधी इतिहास पर प्रचुर परिश्रम किया है। इन तीनो महाशयों ने हमारी भूषण-ग्रंथावली का भी हवाला देकर भूषण को शिवाजी का राजकवि माना है। सभा के मंत्री महाशय ने 'हस्त-लिखित हिंदी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' नाम से हाल ही में प्रकाशित एक पुस्तक में पूर्वोक्त मंतव्य लिखा है। उसमें भूषण के समय तथा शिवाजी के यहाँ राजकवि होने के विषय में भी सदेह प्रकट किया गया है। इसमें शिवराज-भूषण के निर्माण-कालवाले दोहे को ज्योतिष के आधार पर अशुद्ध बताने का भी उपक्रम किया गया है। सभा द्वारा प्रकाशित भूषण-ग्रंथावली में हम सप्रमाण सिद्ध कर चुके हैं कि शिवराज-भूषण संवत् १७३० में कार्त्तिक-शुक्ला त्रयोदशी, बुधवार को समाप्त हुआ। शिवराज-भूषण के निर्माणकाल-विषयक एक भ्रष्ट पाठवाले दोहे के आधार पर यह कहा गया है कि "शिवराज-भूषण ग्रंथ संवत् १७३७ में आषाढ़-बदी तेरस को समाप्त हुआ, जिस रोज़ ज्योतिष-गणना से वस्तुतः रविवार आता है, और दोहे के पाठ में बुधवार है, अतः दोहा कल्पित है।" यह युक्ति-युक्त नहीं प्रतीत होता। उस दोहे में बुधवार लिखा भी नहीं है। दोहे का शुद्ध रूप भूषण-ग्रंथावली में छपा है, जो बिना उचित कारणों के अशुद्ध नहीं माना जा सकता। शिवराज-भूषण ग्रंथ की अंतरंग परीक्षा से स्पष्ट होता है कि इस ग्रंथ में भूषण ने संवत् १७१६ से संवत् १७३० तक की ही शिवाजी के संबंध की घटनाएँ लिखी हैं। शिवाजी यद्यपि संवत् १७३० के पश्चात् सात वर्ष और जीते रहे, तथा इन सात वर्षों में भी अनेकानेक महती घटनाएँ संघटित होती रहीं, तथापि उनके विषय में शिवराज-भूषण का मौनावलंबन एवं शिवाबावनी में उन घटनाओं का भी प्रचुर कथन साफ़ प्रकट करता है कि प्रथम ग्रंथ संवत् १७३० में ही समाप्त हो चुका था।

इसी प्रकार ग्रंथ में शिवाजी-संबंधी वर्तमानकालिक कथन, उनका रायगढ़-वास वर्तमान काल में कहना, अनेक स्थानों पर उनको मंगल-वृद्धि के तथा अन्यान्य आशीर्वाद देना भूषण का शिवाजी का राजकवि होना सिद्ध करता है, न कि साहूजी का। यदि साहू के आदेशानुसार ग्रंथ बनता, तो ऐसा कथन उसमें अवश्य होता, तथा यत्र-तत्र साहू की शिवाजी के साथ प्रशंसा एवं कथन अवश्य होते। परंतु ग्रंथ में साहू का नाम-निशान तक नहीं है। यदि यह कहा जाय कि साहूजी के समय में भूषण ने शिवाजी को नायक मानकर ग्रंथ बनाए, तो क्या यह संभव हो सकता है कि भूषण-जैसा महाकवि शिवाजी की मृत्यु के ३४ वर्ष पीछे उनको चिरंजीवी होने तथा मंगल वृद्धि प्राप्त करने का आशीर्वाद देता? भूषणजी ने एक दोहे में लिखा है कि मैं शिवाजी के दरबार में गया, और दूसरे दोहे में लिखा है कि शिवाजी के चरित्र देखकर मेरे मन में यह हुआ कि भाँति-भाँति के अलंकारों से भूषित करके कविता करूँ, और इसी विचार के होने से शिवराज-भूषण ग्रंथ की रचना की गई।

सभा भूषण का संवत् १७६७ के लगभग तक जीवित रहना कहती है, जिसके प्रमाण में भगवंतराय खीची की मृत्यु पर भूषण का बनाया हुआ एक छंद कहा जाता है। यह छंद यशवंतराय के वर्णन में है, जो भगवंतराय से इतर समझ पड़ते हैं। कारण उनके जूझने से मध्य-भारत में, न कि संयुक्त-प्रांत में, तुर्कों का समूह फैलना छंद बतलाता है। उसमें भगवंतराय खीची का नाम भी नहीं है, वरन् यशवंत का है। यह छंद भूधर कवि-कृत है, न कि भूषण-कृत। यदि भूषण का संवत् १७६७ तक अवस्थित रहना सिद्ध भी हो जाय, तो भी हमारा जन्म-काल मानने से उनका लगभग १०९ वर्ष की आयु पाना समझ पड़ेगा, जो असंभव नहीं। जहाँ

तक सभा के ग्रंथ में प्रमाण दिए गए हैं, वहाँ तक भूषण का सं० १७७२ के आगे तक जीवित रहना सिद्ध नहीं होता। पीछे से भूषण-कृत सं० १७८० तक की घटनाओं के कई छंद मिले हैं। हमने भूषण-ग्रंथावली के प्रथम संस्करण में भूषण का जन्म-काल सं० १६९२ के लगभग माना था। वही अब फिर हमको ठीक जँचता है।

मतिराम (भावचित्र)

हिंदी-भाषा जिन करी रुचिर माधुरी-धाम ;
जात चले शिष्यन-सहित ए तेई मतिराम ।
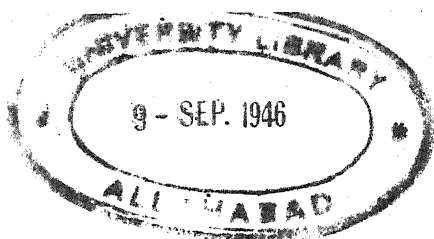
(ख) महाकवि मतिराम त्रिपाठी

मतिराम तिवारी कान्यकुब्ज-ब्राह्मण थे। कहा जाता है कि इनके पिता का नाम रत्नाकर था। यह महाराज तिकवाँपुर, ज़िला कानपुर के रहनेवाले थे। इनका जन्म संभवतः संवत् १६६६ वि० के इर्द-गिर्द हुआ होगा। मतिराम के किसी ग्रंथ से उनके विषय में प्रायः कुछ भी ज्ञात नहीं होता, परंतु भूषण की कविता से इनकी बहुत-सी बातें ज्ञात हुई हैं। भूषण की जीवनी लिखने में हमने लिखा है कि उनका जन्म सं० १६६२ वि० के लगभग हुआ। मतिराम उनके छोटे भाई थे। अतः अनुमान से जाना जाता है कि इनका जन्म सं० १६६६ के लगभग हुआ होगा।

मतिराम बूँदी के महाराज राव भाऊसिंह के यहाँ रहते थे। महाराज भाऊसिंह सं० १७१६ वि० में सिंहासनारूढ़ हुए, और सं० १७३८ वि० तक उन्होंने राज्य किया। उसी समय मतिराम ने अपना ग्रंथ ललित ललाम बनाया होगा, क्योंकि ललित ललाम ख़ासकर राव भाऊसिंह के वास्ते बनाया गया, और उसमें इन्हीं महाराज की प्रशंसा के प्रायः सौ पद्य हैं। मतिराम महाराजा शंभुनाथ के यहाँ भी रहे, और इन्हीं के नाम से आपने 'छंदसार पिंगल'-नामक एक ग्रंथ रचा। शिवसिंह सेंगर ने कुमाऊँ-नरेश उद्योतसिंह के यहाँ भी इनका रहना बतलाया है। उन्होंने इनका कोटा में भी रहना कहा है, परंतु यह माननीय नहीं। शिवसिंह समझते थे कि राव भाऊसिंह कोटा के राजा थे, परंतु वास्तव में वह केवल बूँदी-पति थे। ललित ललाम में

मतिराम ने राव भाऊसिंह के पूर्वजों का इस प्रकार वंश-वर्णन किया है—

बूँदी-नरेश सुरजन राव के पुत्र भोजसिंह, उनके रतनसिंह और उनके गोपीनाथ हुए। गोपीनाथ के पुत्र हुए छत्रसाल, और उनके भाऊसिंह। बूँदी के महाराजा रघुबीरसिंह ने, सन् १८९७ ई० में, ललित ललाम की टीका, गुलाब कवि से, बनवाई। गुलाब कवि ने अपनी टीका की भूमिका में भाऊसिंह के पीछेवाले बूँदी-नरेशों के नाम लिखे हैं, जो इस प्रकार हैं—भाऊसिंह के पुत्र कृष्णसिंह, उनके अनिरुद्धसिंह, उनके रावराजा बुद्धसिंह और उनके उम्मेदसिंह हुए। उम्मेदसिंह के पुत्र अजीतसिंह, उनके विष्णुसिंह, उनके रामसिंह और उनके महाराजा रघुबीरसिंह हुए। हिंदोस्तान में सिवा चित्तौर के और कहीं के नरेश वीरता, राजभक्ति और न्याय में बूँदी-नरेशों से बढ़कर नहीं हुए।

मतिराम ने ये ग्रंथ रचे—ललित ललाम, रसराज, साहित्य-सार, लक्षण-शृंगार, छंद-सार और मतिराम-सतसई। फूल-मंजरी-नामक एक सं० १६८४ के पहले का रचा हुआ ग्रंथ हाल में प्राप्त हुआ है, जो किसी मतिराम-कृत है। संभव है, उसे वृत्तकौमुदीकार या किसी अन्य मतिराम ने रचा हो। हमारे मतिराम के समय से उस ग्रंथ का समय कुछ-कुछ नहीं मिलता है।

ललित ललाम अलंकारों का ग्रंथ है। वह बूँदी-नरेश की आज्ञा से, संभवतः सं० १७३१ में, बना। दूसरे बूँदी-नरेश की आज्ञा से गुलाब कवि ने १९५४ में उसकी टीका रची। इसके छापने में भी ऐसी सावधानी से काम लिया गया है कि प्रायः कोई अशुद्धि या दोष नहीं रहा। मतिराम ने भाऊसिंह की प्रशंसा में कितने ही उत्कृष्ट छंद कहे हैं। उदाहरणार्थ एक पद्य नीचे लिखा जाता है—

सूबनि उमेड़ि दिली-दल दलिबे को चमू,
सुभट-समूहनि सिवा की उमहति है;
कहै 'मतिराम' ताहि रोकिबे को संगर मैं
काहू के न हिम्मति हिए मैं उलहति है।
सत्रुसाल नंद के प्रताप की लपट सब
गरबी गनीम बरगीन को दहति है;
पति पातसाह की, इजति उमरावन की,
राखी रैया राव भावसिंह की रहति है ॥ १ ॥

मतिराम ने भाऊसिंह के हाथियों का वर्णन बहुत किया है। जान पड़ता है, उनके यहाँ हाथी बहुत-से और अच्छे थे। बूँदी के वंश-भास्कर ग्रंथ में लिखा है कि मतिराम को उस दरबार से ४०००) तथा ३२ हाथी और रिड़ी-चिड़ी-नामक दो गाँव मिले। इतना पाने पर भी इनका नाम कमाऊ कवियों में भूषण के सामने कुछ भी न हुआ, जो जान पड़ता है, इन्हें इससे बहुत अधिक धन मिला होगा। इस ग्रंथ में कुल मिलाकर ४४४ पद्य हैं। अत: यह भूषण-कृत शिवराज-भूषण से, आकार एवं अलंकारों की संख्या में, कुछ बड़ा है। बहुत ही बढ़िया ग्रंथ है। मतिराम ने 'रसराज' में भी इसके अच्छे-अच्छे पद्य उठाकर रख दिए हैं। यदि कोई मनुष्य बिना गुरु की सहायता के अलंकार पढ़ना चाहे, तो हम उसे शिवराज-भूषण और ललित ललाम पढ़ने की सम्मति देंगे। ललित ललाम में श्रृंगार का बाहुल्य नहीं है। यह मतिराम का पहला ग्रंथ है।

रसराज। इसमें मतिराम ने भावों का वर्णन किया है, परंतु नायिका भेद से ग्रंथ शुरू किया है, और उसे कहकर अंत में कह दिया है कि भाव-भेद में यह आलंबन-विभाग में आता है। सिवा भावों के इसमें रसों का वर्णन नहीं हुआ, केवल श्रृंगार-रस का नाम आ गया है, किंतु उसका स्वरूप नहीं दरसाया गया।

भावों का वर्णन पूरा हुआ है। मतिराम ने जृंभा को नवाँ सात्विक भाव माना है। रसराज प्रसाद-गुण से पूर्ण बहुत ही उत्कृष्ट ग्रंथ है। नायिका भेद के ग्रंथों में इसका बहुत ऊँचा स्थान है। देव-कृत ग्रंथों के अतिरिक्त रसराज से अच्छा भाव-भेद किसी अन्य ग्रंथ में नहीं वर्णित है। इसमें ४२६ पद्य हैं। नायिका-भेद पढ़नेवाले लोग इस ग्रंथ को सबसे पहले पढ़ते हैं। इसमें बहुत सुगम एवं स्पष्ट रीति से वह वर्णित भी है। यह ग्रंथ संभवतः सं० १७६७ के लगभग बना होगा। उस समय, जान पड़ता है, बूँदी-नरेशों से इनका संबंध टूट चुका था, क्योंकि ललित ललाम की भाँति यह ग्रंथ किसी के नाम पर नहीं बना। समझ पड़ता है कि सं० १७६७ के कुछ ही पहले मतिराम के कहने से इनके बड़े भाई भूषण महाराज बूँदी-नरेश के यहाँ जाकर अप्रसन्नता के साथ लौटे। उसी समय से मतिराम ने भी बूँदी-दरबार से अपना संबंध तोड़ दिया होगा। १७६७ के बाद मतिराम के जीवित रहने का कोई प्रमाण नहीं है। जान पड़ता है, सं० १७७३ के लगभग इनका स्वर्गवास हुआ।

छंदसार पिंगल। यह हमारे पास नहीं है। इसके आदि के दो-चार पृष्ठ पंडित युगलकिशोर मिश्र के पुस्तकालय में हैं, जिनके पढ़ने से विदित होता है कि यह ग्रंथ बहुत बड़ा होगा, क्योंकि इसका उत्थान बड़े विस्तार से हुआ है। जैसी कविता मतिरामजी करते थे, वैसी ही इस ग्रंथ में भी पाई जाती है। यह ग्रंथ महाराज शंभुनाथ के नाम पर बनाया गया। यह महाराज कविता में बड़े पटु थे। इनका बनाया हुआ मुद्रित नख-शिख हमारे पास है। काव्य में यह अपना नाम 'नृप शंभु' रखते थे। मतिराम-कृत साहित्य-सार-नामक एक और ग्रंथ खोज में मिला है।

मतिराम की भाषा शुद्ध व्रजभाषा है, जो बहुत ही उत्कृष्ट है।

सिवा देव के और कोई भी कवि ऐसी मधुर भाषा लिखने में समर्थ नहीं हुआ। इनकी कविता में संयुक्त वर्ण बहुत ही कम आने पाए हैं। इनको अनुप्रास आदि का इष्ट न था, परंतु उचित रीति पर भाषा-संबंधी प्रायः सभी गुण इन्होंने अपनी कविता में रक्खे हैं। माधुर्य और प्रसाद मानो इन्हीं के वास्ते रचे गए थे। भाषा की इन महाकवि ने ऐसी उन्नति की है कि सभी लोग मुक्त कंठ से उसकी प्रशंसा करते हैं। हिंदी में सर्व-सम्मति से माधुर्य और लालित्य गुण प्रधान हैं। इन सद्गुणों की नीव मतिराम ही के द्वारा पड़ी। हिंदी के आचार्यों में कुछ को छोड़ प्रायः सभी ने अधिकांश संयुक्त अक्षरों को श्रुति-कटु माना है। मधुर अक्षरों का प्रयोग मतिराम ने प्रायः सबसे अच्छा किया है। इनके पृष्ठ-के-पृष्ठ पढ़ते चले जाइए, फिर भी श्रुति-कटु शब्द का प्रयोग शायद ही कहीं मिले। इनसे पूर्व इनकी-सी भाषा का प्रयोग कोई हिंदी-कवि नहीं कर सका। इनके पीछे भी सिवा देव के और कोई कवि इनकी-सी भाषा नहीं लिख सका। इस गुण में यदि कोई और इनके कुछ समीप पहुँचा, तो वह केवल प्रतापसाह था। इनके पीछे इनकी देखा-देखी भाषा संबंधी सभी गुणों में बहुत उन्नति हुई। इस एक ही गुण से यह मनुष्य-जाति के बड़े उपकारक हुए; क्योंकि जातियों की उन्नति पर भाषा बहुत बड़ा प्रभाव डालती है। इनकी भाषा के उदाहरण में यहाँ हम एक पद्य लिखते हैं—

बेलिन सों लपटाइ रही हैं तमालन की अवली अति कारी;
कोकिल कूक, कपोतन के कुल केलि करैं अति आनँदवारी।
सोच करै जनि, होहु सुखी, 'मतिराम' प्रवीन सबै नर-नारी;
मंजुल बंजुल-कुंजन के, घन-पुंज सखी, ससुरारि तिहारी॥ २॥

इन्होंने उपमाएँ उत्प्रेक्षादि भी कहीं-कहीं बहुत अच्छी रक्खी हैं—

पिय आयो, नव-बाल तन बाढ़्यो हरष-बिलास ;
प्रथम बारि-बूँदन उठै ज्यों बसुमती-सुबास ॥ ३ ॥

आपने मानुषी प्रकृति के अतिरिक्त सांसारिक प्राकृति पर विशेष ध्यान नहीं दिया, परंतु मानुषी प्रकृति का अच्छा वर्णन किया है। उदाहरण लीजिए—

ह्याँ मिलि मोहन सों 'मतिराम', सुकेलि करी अति आँनदवारी ;
तेई लता, द्रुम देखतैं दुःख चले अँसुआ अँखियानि ते भारी।
आवति हौं जमुना-तट को, नहिं जानि परै बिछुरे गिरिधारी ;
जानति हौं सखि, आवन चाहत कुंजन ते कढ़ि कुंजबिहारी ॥ ४ ॥

मतिराम ने प्रकृतिक वर्णन को इतना नहीं बढ़ाया कि तसवीर खींच सके हों ; फिर भी कहीं-कहीं ख़ूब कहा—

अंजन दै निकसै नित नैननि, मंजन कै अति अंग सँवारै ;
रूप-गुमान-भरी मग मैं पग ही के अँगूठा अनौट सुधारै।
जोबन के मद सों 'मतिराम' भई मतवारिनि, लोग निहारै ;
जात चली यहि भाँति गली, बिथुरी अलकैं, अचरा न सँभारै ॥ ५ ॥

इन्होंने जैसे उत्कृष्ट कवित्त और सवैए कहे हैं, वैसे ही यह दोहे भी बनाने में समर्थ हुए हैं—

तिय को मिल्यो न प्रानपति, सजल जलद तन मैन ;
सजल जलद लखिकै भए सजल जलद-से नैन ॥ ६ ॥

मतिराम ने केवल तीन-चार अच्छे ग्रंथ बनाए हैं, फिर भी इनकी कविता में सैकड़ों बढ़िया छंद हैं। देव की भाँति यह महाकवि भी बहुत ही विशद छंद बनाने में समर्थ हुए हैं। श्लाघ्य पद्यों को गिनने से जान पड़ेगा कि इनकी कविता में भी देव की भाँति ऐसे पद्यों का बाहुल्य है। उदाहरणार्थ केवल एक छंद नीचे लिखा जाता है—

वैसेई चितै कै मेरे चित को चुरावती हौ,
बोलती हौ वैसियै मधुर मृदु बानि सों ;

कवि 'मतिराम' अंक भरत मयंक - मुखी,
वैसे ही रहति गहि भुज लतिकानि सों।
चूमत कपोल, पान करत अधर-रस,
वैसियै निहारी रीति सकल कलानि सों;
कहा चतुराई ठानियत प्रानप्यारी, तेरो
मान जानियत रूखी मुख मुसकानि सों॥ ७॥

इनकी रचना में भाषा के अतिरिक्त अर्थ-गांभीर्य का बहुत बड़ा गुण है। एक-एक छंद से कितने ही अच्छे काव्यांग निकलते हैं —

जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति;
गुरुजन जानत लाज है, पीतम जानत प्रीति॥ ८॥

इस एक दोहे से कई अर्थ, चार अलंकार तथा नायिका-भेद के अंग निकलते हैं, और मुख्य भाव को बराबर एक-एक शब्द से पुष्टि होती चली गई है। आपने जिस छंद में जो भाव उठाया, उसके एक-एक शब्द से उसी को पुष्टि की। भरती के पद या शब्द यह प्रायः कभी नहीं रखते थे, बल्कि सदैव मुख्य आशय को दृढ़ करते जाते थे—

दूसरे कि बात सुनि परति न, ऐसी जहाँ
कोकिल, कपोतन की धुनि सरसाति है;
पूरि रहे जहाँ द्रुम बेलिन सों मिलि 'मति-
राम' अलि-कुलनि अँधेरी अधिकाति है।
नखत-से फूलि रहे फूलन के पुंज, घन
कुंजन मैं होति जहाँ दिनहू मैं राति है;
ता बन की बाट, कोऊ संग ना सहेली, कहि
कैसे तू अकेली दधि बेचन को जाति है॥ ९॥

यहाँ कवि का सहेट-स्थान के योग्य सूनापन आदि दिखाना अभीष्ट था, सो यह उसने प्रतिभाव से दिखलाया। इतनी कोकिला और कपोत बोलते हैं कि दूसरे की बात नहीं सुन पड़ती। इससे

प्रकट हुआ कि वहाँ कोकिला और कपोत निर्विघ्न विहार करते हैं, अर्थात् उन्हें सतानेवाला कोई मनुष्य नहीं है। पेड़ बेलियों से मिले हैं, जिससे अँधेरा रहता और भौरों से मिलकर वह अंधकार बढ़ जाता है। कुंज बहुत घने हैं, और उनके सब ओर फूल नक्षत्रों-से छाए हैं कि दिन में भी अँधेरी रात-सी बनी रहती है। फिर वह स्थान जंगल के बीच में है, नायिका के साथ कोई सखी भी नहीं है; कोई दूसरी दधि बेचनेवाली भी नहीं है; अतः उसे अकेली ही आना पड़ता है। ऐसे भाव-पूर्ण पद्य बहुत कवियों ने नहीं रचे। मतिराम की कविता में ऐसे ही पद्य भरे पड़े हैं—

तरुन-अरुन एड़ीन की किरनि-समूह उदोत;
बेनी-मंडन मुकुत के पुंज गुंज-दुति होत॥ १०॥
पिय-बियोग तिय दृग-जलधि जल-तरंग अधिकाय;
बरुनि-मूल-बेला परसि बहुरयो जात बिलाय॥ ११॥
बिन देखे दुख के चलैं, देखे सुख के जाहिं;
कहौ लाल, इन दृगन के अँसुआ क्यों ठहराहिं?॥ १२॥
पीतम को मनभावती मिलति बाँह दै कंठ;
बाहीं छुटै न कंठ ते, नाहीं छुटै न कंठ॥ १३॥

इन दोहों में इन कविवर ने कितने ही उत्कृष्ट भाव दिखलाए हैं। बेनी और एँड़ियों के रंग के प्रभाव से मोती घुँघची-से हो गए। वियोग में आँसुओं का उठना एवं लज्जा के कारण उनका फिर लुप्त हो जाना मुग्धा के रूप को खूब प्रकट करता है। लक्षिता का उदाहरण भी देखने ही योग्य है—

आई हौ पाइँ दिवाय महाउर कुंजन ते करिकै सुख-सेनी;
साँवरे आजु सँवारो है अंजन, नैनन को लखि लाजत एनी।
बात के बूझत ही 'मतिराम' कहा करती भटू भौंह तनेनी;
मूँदी न राखति प्रीति अली, यह गूँदी गोपाल के हाथ की बेनी॥१४॥

इस छंद में सखी ने महावर, अंजन और बेनी देखकर ताड़ लिया कि ये सब नायक के हाथ की रचनाएँ हैं। चतुर कवि ने इन बातों का कारण समझने के लिये पाठक से भी कुछ बुद्धि-बल दिखाने की आशा की है। नायक के लक्षण ही में उसका गुणी होना आता है, अतः उसमें कोई मूर्खता नहीं दिखलाई जा सकती। फिर सखी ने इन तीनो पदार्थों को नायक के कार्य कैसे जाने? महावर फैला हुआ है, तो क्या वह अच्छा महावर नहीं लगा सकता था? अवश्य लगा सकता था, पर बात यह है कि उसके स्पर्श से नायिका के स्वेद-संचार हुआ, और महावर फैल गया। अंजन कैसा है? आँख को देखकर मृगी लजाती है। मृगी की आँख के समीप कालिमा फैली रहती है। अतः ज्ञात हुआ कि अंजन नायिका के भी फैला हुआ है। वह अच्छा अंजन लगा सकता था, परंतु प्रेमाधिक्य के कारण उसे उँगली के आँख में गड़ जाने का भय हुआ, जिससे अंजन फैल गया। बेनी ढीली बँधी है। सखी ज़ोर से कसकर बाँध देती, परंतु नायक प्रमाधिक्य के कारण नायिका को इतनी भी पीड़ा नहीं देना चाहता था, जितनी बेनी के समुचित प्रकार से कसकर बाँधने में होती। इस छंद में कोमलता, प्रेमाधिक्य और प्रकृति-निरीक्षण के उदाहरण कवि ने दिखलाए हैं।

राव भाऊसिंह की प्रशंसा में भी इन कविवर ने अच्छे-अच्छे छंद कहे हैं, जिनमें से कुछ कविता के उदाहरणों में आगे मिलेंगे। आपने रचना में प्रायः सभी उत्कृष्ट साहित्य-संबंधी गुणों का बहुतायत से प्रयोग किया है। अनेक स्थलों पर छंदों में ऐसी तसवीरें खींच दी हैं, जिनसे अच्छे चित्र बन सकते हैं, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

कुल बातों पर ध्यान देने से जान पड़ता है कि मतिराम भाषा के बहुत बड़े कवि थे। सिवा चार-छ परमोत्कृष्ट कवियों के और किसी हिंदी-कवि की रचना आपकी कविता की समता नहीं कर

सकती। यदि कोई कवि देवजी के पार्श्ववर्ती होने का अधिकार रखता है, तो वह यही हैं। मतिराम के सवैयों तथा घनाक्षरियों से देव का और दोहों से बिहारीलाल का स्मरण हो आता है। शृंगारी कवियों में इनकी वीर-कविता बहुत अच्छी है। ललित ललाम में आपने भूषण का भाई होना सार्थक कर दिखाया है। भाषा-सौंदर्य तथा भाव-गांभीर्य आपकी रचना के प्रधान गुण हैं।

उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं—

रसराज

कुंदन को रँग फीको लगै, झलकै अति अंगन चारु गोराई;
आँखिन मैं अलसानि, चितौनि मैं मंजु बिलासन की सरसाई।
को बिन मोल बिकात नहीं 'मतिराम' लखे मुसुकानि-मिठाई;
ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई॥१॥

जाल-रंध्र-मग ह्वै कढ़त तिय-तन-दीपति-पुंज;
झिंझिया को-सो घट भयो दिन ही मैं बन-कुंज॥२॥

संचि बिरंचि निकाई मनोहर, लाज कि मूरतिवंत बनाई;
ता पर तौ अति भाग बड़े, 'मतिराम' लसै पति-प्रीति सुहाई।
तेरे सुसील सुभाव भटू, कुल-नारिन को कुल-कानि सिखाई;
तोहि जनौ पति-देवत के गुन गौरि सबै गुनगौरि पढ़ाई॥३॥

लाल तिहारे संग मैं खेलै खेल बलाइ;
मूँदत मेरे नैन हौ करन कपूर लगाइ॥४॥

ज्यों-ज्यों परसै लाल तन, त्यों-त्यों राखै गोइ;
नवल-बधू डर-लाज ते इंद्र-बधू-सी होइ॥५॥

केलि कै राति अघाने नहीं, दिन हू मैं लला पुनि घात लगाई;
प्यास लगी, कोउ पानी दै जाउ यों भीतर बैठिकै बात सुनाई।
जेठी पठाई गई दुलही, हँसि हेरि हरे 'मतिराम' बुलाई;
कान्ह के बोल मैं कान न दीन्हों, सुगेह की देहरी लौं धरि आई॥६॥

चित्त मैं बिलोकत ही लाल को बदन बाल,
जीते जेहि कोटि चंद सरद-पुनीन के;
मुसक्यात अमल कपोलनि के रुचि वृंद,
चमकैं तरयोननि के रुचिर चुनीन के।
पीतम निहारयो बाँह गहत अचानक ही,
जामैं 'मतिराम' मन सकल मुनीन के;
गाढ़े गही लाज, मैन, कंठ ह्वै फिरत बैन,
मूल छ्वै फिरत नैन-बारि बरुनीन के॥ ७॥

केलि-भवन की देहरी खड़ी बाल छबि नौल;
काम कलित हिय को लहै, लाज-ललित दृग-कौल॥ ८॥

कोऊ नहीं बरजै 'मतिराम', रहौ तित हीं जित ही मन भायो;
काहे को सौंहैं हजार करौ, तुम तौ कबहूँ अपराध न ठायो।
सोवन दीजै, न दीजै हमैं दुख, यों हीं कहा रस-बाद बढ़ायो;
मान रह्योई नहीं मनमोहन, मानिनी होय सु मानै मनायो॥ ९॥

बलय पीठि, तरिवन भुजन, उर कुच-कुंकुम-छाप!
तितै जाहु मन भावते, जितै बिकाने आप॥ १०॥

आवत उठि आदर कियो बोली बोल रसाल;
बाँह गहत नँदलाल के भए बाल-दृग लाल॥ ११॥

क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै मोहन को तन-पानिप पीजै;
नेकु निहारे कलंक लगै, इहि गाँव बसे कहु कैसेक जीजै?
होत रहै मन यों 'मतिराम', कहूँ बन जाइ बड़ो तप कीजै;
ह्वै बनमाल हिए लगिए अरु ह्वै मुरली अधरा-रस लीजै॥ १२॥

बिछुरत रोवत दुहुँन के सखि यह रूप लखैं न;
दुख-अँसुआ पिय-नैन हैं, सुख-अँसुआ तिय-नैन॥ १३॥

लाज छुटी, गेहौ छुट्यो, सुख सों छुट्यो सनेह;
सखि, कहियो वा निठुर सों, रही छूटिबे देह॥ १४॥

कोऊ करै कितेक हू, तजौ न टेक गोपाल ;
निसि औरनि के पग परौ, दिन औरनि के लाल ॥ १५ ॥
पीतम आए प्रभात, प्रिया मुसुकात उठी, हग सों हग जोरे ;
आगे ह्वै, आदर कै 'मतिराम', कहे मृदु बैन सुधा-रस-बोरे ।
ऐसे सयान सुभायन ही सों मिली मनभावन सों मन भोरे ;
मान गो जानि तबै छतिया, अँगिया की तनी न छुटी जब छोरे ॥ १६ ॥
रावरे नेह को लाज तजी, अरु गेह के काज सबै बिसरायो ;
डारि दियो गुरुलोगन को डरु, गाँव चवाई मैं नाँव धरायो ।
हेत कियो हम जेतो कहा, तुम तौ 'मतिराम' सबै बिसरायो ;
कोऊ कितेक उपाय करो, कहुँ होत है आपनो पीउ परायो ॥ १७ ॥
पाँयन आइ परे तो परे रहे, केती करी मनुहारि सहेली ;
काह कहौं सखि वा निज मान, अयान मैं सीखी न पीय पहेली ।
मान्यो मनायो न मैं 'मतिराम' गुमान मैं ऐसी भई अलबेली ;
आजु तौ ल्याउ मनाइ कन्हाई को, मेरो न लीजियो नाम सहेली ॥ १८ ॥
जो तू कहु तौ राधिके, पियहि मनावन जाउँ ;
उहाँ कहौंगी जाइकै सखी तिहारो नाउँ ॥ १९ ॥
जोरत हू सजनी बिपति, तोरत तपत समाज ;
नेह कियो बिनु काज ही, तेह कियो बिनु काज ॥ २० ॥
जाके लये गृह-काज तज्यो, न सिखी सखियान की सीख सिखाई ;
बैर कियो सिगरे ब्रज-गाउँ मैं, जाके लये कुल-कानि गँवाई ।
जाके लये घर-बाहर हू 'मतिराम' रहे हँसि लोग चवाई ;
ता हरि सों हित एकहि बार गँवारि मैं तोरत बार न लाई ! ॥ २१ ॥
सकल सिंगार साजि, संग लै सहेलिन को,
सुंदरि मिलन चली आनँद के कंद को ;
कबि 'मतिराम' बाल करति मनोरथनि,
पेख्यो परजंक पै न प्यारे नँदनंद को ।

नेह ते लगी है देह दारुन दहन, गेह
बानक बिलोकि द्रुम-बेलिन के बृंद को ;
चंद को हँसत तब आयो मुख-चंद, अब
चंद लाग्यो हँसन तिया के मुख-चंद को ॥ २२ ॥

साहस करि कुंजन गई, लख्यो न नंद-किसोर ;
दीप-सिखा-सी थरहरी लगे बयारि-झकोर ॥ २३ ॥

मोहिं पठायो कुंज मैं, सठ आयो नहिं आपु ;
आली औरहु मीत को मेरो मिट्यो मिलापु ॥ २४ ॥

बीति गई जुग जाम निसा, 'मतिराम' मिटी तम की सरसाई ;
जानति हौं कहुँ और तिया सों रम्यो रस मैं हँसिकै रसिकाई ।
सोचति सेज परी यों नवेली, सहेली सों जात न बात सुनाई ;
चंद चढ़्यो उदयाचल पै, मुख-चंद पै आनि चढ़ी पियराई ॥ २५ ॥

कत न कंत आयो अली लाजन बूझि सकै न ;
नवल बाल पलका परी, पलक न लागै नैन ॥ २६ ॥

पीतम को धरि ध्यान घरीक करै मन-ही-मन काम-कलोलै ;
पातहु के खरके 'मतिराम' अचानक ही अँखिया पुनि खोलै ।
पीतम ऐहैं अजौं सजनी, अँगिराइ, जम्हाइ घरीकु यों बोलै ;
गावै घरीकु हरे-ई-हरे अरु गेह के बाग हरे-हरे डोलै ॥ २७ ॥

मो जुग नैन-चकोरन को यह रावरो रूप-सुधा हि को नैबो,
कीजै कहा, कुल-कानि की आनि परयो अब रावरो प्रेम छिपैबो ।
कुंजन मैं 'मतिराम' कहूँ निसि द्यौसहु घात परे मिलि जैबो ;
लाल, सयानी अलीन के बीच निवारिए ह्याँ की गलीन को ऐबो ॥२८॥

अली चली नवलाहि लै पिय पै साजि सिंगार ;
ज्यों मतंग-अड़दार को लिए जात गड़दार ॥२९॥

साँझही सिंगार साजि, प्रानप्यारे पास जाति,
बनिता बनक बनी बेलि-सी अनंद की ;

चरन धरै न भूमि, बिहरै तहाँई, जहाँ
फूले-फूले फूलनि बिछायो परजंक है;
भार के डरन सुकुमारि चारु अंगन मैं
करति न अंगराग कुंकुम को पंक है।
कबि 'मतिराम' देखि बातायन बीच आयो
आतप, मलिन होत बदन-मयंक है;
कैसे वह बाल लाल, बाहर बिजन आवै,
बिजन-बयारि लागे लचकति लंक है ॥ ३६ ॥

रीझि रही रिझवारि वह तुम ऊपर ब्रजनाथ;
ज्यों सिंधुर की इंदिरा क्यों करि आवै हाथ? ॥ ३७ ॥

पाय कुंज एकांत मैं अंक भरी ब्रजनाथ;
रोकन को तिय करति है कह्यो करत नहिं हाथ ॥ ३८ ॥

लाल-बदन लखि बाल के कुचन कंप-रुचि होति;
चपल होत चकवा मनो चाहि चंद की ज्योति ॥ ३९ ॥

छुअत परस्पर हेरिकै राधा नंदकिसोर;
सबमैं दो ही होत हैं, चोरमिहींचनि चोर ॥ ४० ॥

मेरे सिर कैसी लगै, यों कहि बाँधी पाग;
सुंदरि रति-बिपरीत मैं कियो प्रकट अनुराग ॥ ४१ ॥

वारने सकल एक रोरि ही की आड़ पर,
हा-हा न पहिरि आभरन और अंग मैं;
कबि 'मतिराम' जैसे तीच्छन कटाच्छ तेरे,
तैसे कहाँ सर हैं अनंग के निषंग मैं?
सहज सरूप, सुघराई रीझो मनु मेरो,
लोभि रह्यो देखि रूप अमल तरंग मैं;
सेत सारी ही सों सब सौतैं रँगी स्याम रँग,
सेत सारी ही मैं स्याम रँगे लाल रंग मैं ॥ ४२ ॥

नथुनी गज-मुकुतान की लसति चारु सिंगार ;
जनि पहिरै सुकुमार तन और आभरन-भार ॥ ४३ ॥

अति आतुर ह्वै चलि भई अली कौन के भाग ;
उलटी कंचुकि कुचन पर कहे देत अनुराग ॥ ४४ ॥

लालन बाल के द्वै ही दिना मैं परी मन आइ सनेह कि फाँसी ;
काम-कलोलनि मैं 'मतिराम', लगी मनो बाँटन मोद कि आँसी।
पीतम के उर बीज भयो, दुलही के बिलास मनोज कि गाँसी ;
सेद बढ़यो तन, कंप उरोजनि, आँखिन आँसु, कपोलन हाँसी ॥ ४५ ॥

फूलि रहे द्रुम बेलिन सों मिलि, पूरि रहीं अँखियाँ रतनारी ;
मोहिं अकेली बिलोकि इहाँ कछु औरई सी भई दीठि तिहारी।
जैसे हुती हमसों तुमसों, अब होयगी ऐसियै प्रीति निहारी ;
चाहत जो चित मैं हित तौ जनि बोलिए कुंजन बीच बिहारी ॥ ४६ ॥

झूठे ही जग मैं लग्यो मोहिं कलंक गोपाल ;
सपनेहूँ कबहूँ हिए लगे न तुम नँदलाल ॥ ४७ ॥

सोने की-सी बेली अति सुंदरि नवेली बाल
ठाढ़ी ही अकेली अलबेली द्वार महियाँ ;
'मतिराम' आँखिन सुधा की बरषा-सी भई,
गई तब दीठि वाके मुख-चंद पहियाँ।
नेकु नीरे जाइ करि, बातनि लगाइ हरि,
कछू मन पाइ करि आइ गही बहियाँ ;
सैन में चरचि लई, गौन मैं थकित भई,
नैननि मैं चाह रही, बैननि मैं 'नहियाँ' ॥ ४८ ॥

मानहुँ आयो है राज कहूँ, चढ़ि बैठत ऐसे पलास के खोढ़े ;
गुंज गरे, सिर मोर-पखा, 'मतिरामजू' गाय चरावत चोढ़े।
मोतिन को मेरो तोरयो हरा, गहे हाथनि सों रही चूनरी पोढ़े ;
ऐसे ही डोलत छैला भए, तुम्हैं लाज न आवति कामरि ओढ़े ॥ ४९ ॥

प्रानपियारो पग परयो, तू न लखत यहि ओर ;
ऐसो उर जु कठोर तौ न्यायहि उरज कठोर ॥ ५० ॥
बिरी अधर, अंजन नयन, मेंहदी पग अरु पानि ;
तन कंचन के आभरन, नीठि परे पहिंचानि ॥ ५१ ॥
सकल सहेलिन के पीछे-पीछे डोलति है,
मंद-मंद गौन आजु हिय को हरतु है ;
सनमुख होत सुख होत 'मतिराम' जबै
पौन लागे घूँघट को पट उघरतु है ।
जमुना के तट, बंसीबट के निकट, नंद-
लाल पै सकोचनि तें चाह्यो न परतु है ;
तन तौ तिया को बर-भाँवरैं भरत,
मन साँवरे बदन पर भाँवरैं भरतु है ॥ ५२ ॥
रूप साँवरो बदन पर, सुधा-सिंधु में खेल ;
लखि न सकैं अँखियाँ सखी, परी लाज की जेल ॥ ५३ ॥
निरख्यो नेह दुहून को, नई दई यह बात ;
सूखति देह दुहून की, त्यों पानिप सरसात ॥ ५४ ॥
मान जनावति सबन को मन न मान को ठाट ;
बाल मनावन को लखै, लाल, तिहारी बाट ॥ ५५ ॥
सखि नायक सों बात मैं मान भलो न सयान ;
दुख-सागर मैं बूड़िहै बाँधि गरे गुरु मान ॥ ५६ ॥
चलत लाल के मैं कियो सजनी हियो पखानु ;
कहा करौं, दरकत नहीं, इते बियोग-कृसानु ॥ ५७ ॥
काम कहा कुल-कानि सों, लोक-लाज किन जाय ;
कुंजबिहारी कुंज मैं मिलैं मोहिं मुसुकाय ॥ ५८ ॥
मोर-पखा 'मतिराम' किरीट मैं कंठ बनी बनमाल सुहाई ;
मोहन की मुसक्यानि मनोहर कुंडल लोलनि मैं छबि छाई ।

लोचन लोल, बिसाल बिलोकनि, को न बिलोकि भयो बस माई ?
वा मुख की मधुराई कहा कहौं, मीठी लगै अँखियान लुनाई ॥५९॥

कहियो सँदेसो प्रानप्यारी सौं गवन कीन्हों,
बिभ्रम बिलास जे वै आपने परस के ;
चंद कर-बरछीनि छेदि-छेदि हार्यो, तीर
तीछन मनोज के कछूक करि न सके ।
कवि 'मतिराम' या कुलिस-कैसे घाइ कहूँ,
मानत न कोकिल की कूकनि के कसके ;
कैसे दरकत, मेरो हियो सदा सहि रह्यो,
तेरे कुच निपट कठोरनि के मसके ॥ ६० ॥

ललित ललाम

जंग मैं अंग कठोर महा मद-नीर झरैं झरना सरसे हैं ;
झूलनि रंगवने 'मतिराम' महीरुह फूल प्रभा निकसे हैं ।
सुंदर सिंदुर-मंडित कुंभनि, गैरिक शृंग समान लसे हैं ;
भाऊ दिवान उदार अपार, सजीव पहार करी बकसे हैं ॥ ६१ ॥

छाँह करैं छिति-मंडल पै सब ऊपर यों 'मतिराम' भए हैं ;
पानिप को सरसावत हैं, सिगरे जग के मिटि ताप गए हैं ।
भूमि-पुरंदर भाऊ के हाथ पयोदन ही सब काज ठए हैं ;
पंथिन के पथ रोकन को घने बारिद-बृंद बृथा उनए हैं ॥ ६२ ॥

सजल जलद जिमि झलकत मद जल,
छिति-तल हलत चलत मंद गति मैं ;
कहै 'मतिराम' बल बिक्रम बिहद सुनि
गरजनि परैं दिगवारन बिपति मैं ।
सता के सपूत भाऊ तेरे दिए हलकनि,
बरनी उँचाई कबिराजनि की मति मैं ;

मधुकर-कुल करटोनि के कपोलनि तैं
उड़ि-उड़ि पियत अमिय उड़ुपति मैं ॥ ६३ ॥

बारि के बिहार बर बारन के बोरिबे को
बारि-चर बिरची इलाज जयकाज की;
कवि 'मतिराम' बलवंत जल-जंतु जानि,
दूरि भई हिम्मति दुरद सिरताज की।
असरन-सरन चरन की सरन तकी,
त्यों ही दीनबंधु निज नाम की सुलाज की;
दौरे एते मान अति आतुर उताल मिली
बीच ब्रजराज को गरज गजराज की ॥ ६४ ॥

समर के सिंह, सत्रुसाल के सपूत,
सहजहि बकसैया सद-सिंधुर-मदंध के;
'मतिराम' चारिहू समुद्रनि के कूलनि लौं,
फैलत समूह तेरे सुजस-सुगंध के।
जगत बखानी, चहुवानी सुलतानी और
नाहीं अवनी मैं अवनीप समकंध के;
तो मैं दोऊ देखिए दिवान भावसिंह,
चहुँवान-कुल-भानु सुलतान बला-बंध के ॥ ६५ ॥

मतिराम-सतसई

तिरछी चितवनि स्याम की लसति राधिका ओर;
भोगनाथ को दीजिए वह मन सुख बरजोर ॥ ६६ ॥
मेरी मति में राम है कवि मेरे मतिराम;
चित मेरो आराम मैं, चित मेरे आराम ॥ ६७ ॥
मो मन-तम-तोमहि हरौ राधा को मुख-चंद;
बढ़ै जाहि लखि सिंधु लौं नँदनंदन-आनंद ॥ ६८ ॥

मंजु गुंज को हार उर मुकुट मोर-पर पुंज ;
कुंजबिहारी बिहरिए मेरेई मन-कुंज ॥ ६९ ॥
सखिन करत उपचार अति परति बिपति उत रोज ;
झुरसत ओज मनोज के परस उरोज सरोज ॥ ७० ॥
जावत ओज मनोज के परसि पिया के गात ;
पापर होत पुरैन के चंदन-पंकिल पात ॥ ७१ ॥
बिरह तचे तिय कुचनि लौं अँसुआ सकत न आय ;
गिरि उड़गन ज्यों गगन ते बीचहि जात बिलाय ॥ ७२ ॥
अँसुअनि के परबाह मैं अति बूड़िबे डेराति ;
कहा करै, नैनानि को नींद नहीं नियराति ॥ ७३ ॥
बाल अलप जीवन भई ग्रीषम-सरित-सरूप ;
अब रस-परिपूरन करो तुम घनस्याम अनूप ॥ ७४ ॥
बैठ्यो आनन-कमल के अरुन अधर-दल आय ;
काटन चाहत भावते, दीजै भौंर उड़ाय ॥ ७५ ॥
भली लगै उर भावते, करी भावती आप ;
काम नसेनी-सी बनी यह बेनी की छाप ॥ ७६ ॥
बाल लाल मुख सौति को सुनो नाम परकास ;
बरसै बारिद सैन पर उड़यो हंस-सम हास ॥ ७७ ॥
अनिमिख नैन कहै न कछु, समुझै सुनै न कान ;
निरखे मोर-पखान के भई पखान-समान ॥ ७८ ॥
सुनि-सुनि गुन सब गोपिकनि समुझो सरस सवाद ;
कहाँ अधर की माधुरी ह्वै मुरली के नाद ॥ ७९ ॥
अटा ओर नँदलाल उत निरखौ नैक निसंक ;
चपला चपलाई तजी, चंदा तज्यो कलंक ॥ ८० ॥
लगी रहै हरि-हिय यहै करि ईरखा बिसाल ;
परिरंभन मैं बल्लरी भली दली बनमाल ॥ ८१ ॥

अली, तिहारे अधर मैं सुधा-भोग को साज ;
दुजराजिनि जुत ज्योतिए लाल बदन दुजराज ॥ ८२ ॥
करौ कोटि अपराध तुम, वाके हिए न रोष ;
नाह-सनेह-समुद्र मैं बूड़ि जात सब दोष ॥ ८३ ॥

६

महाकवि केशवदास

महाकवि केशवदास ने सत्रहवीं शताब्दी में कविता की। इन्होंने कवि-प्रिया के द्वितीय प्रभाव में अपने कुल का इस प्रकार वर्णन किया है—

"ब्रह्मा के सनकादि मानसिक पुत्र थे, जिनके वैसे ही पुत्र सनाढ्य हुए। परशुराम ने सनाढ्यों के पैर पखारकर बहुत-से ग्राम दिए। रामचंद्र ने उन्हें मथुरा-मंडल में ७०० ग्राम दिए। श्रीकृष्णचंद्र ने उन्हें फिर वही देश दिया। सनाढ्यों के कुंभवार उद्देश कुल में देवानंद हुए। उनके जयदेव और जयदेव के दिनकर पुत्र हुए। इनसे अलाउद्दीन बादशाह बहुत खुश रहता था। इन्होंने गया-तीर्थ की यात्रा की। दिनकर के पुत्र गया-गदाधर, उनके जयानंद और उनके त्रिविक्रम मिश्र हुए। गोपाचल क़िले के राजा ने इन महाराज के पैर पूजे। त्रिविक्रम के पुत्र भावशर्म और उनके सुरोत्तम मिश्र हुए। इनकी मानसिंह से अनबन थी। राना ने इन्हें बीस गाँव दिए। इन सुरोत्तम मिश्र के पुत्र हरिहरनाथ हुए। यह महाशय तोमर-पति के यहाँ रहे। हरिहर के पुत्र कृष्णदत्त हुए। महाराज रुद्र ने इनको पुराण की वृत्ति दी। कृष्णदत्त के पुत्र काशिनाथ हुए। इन्हीं काशिनाथ के पुत्र बलभद्र, केशवदास और कल्याणदास थे।"

केशवदास के जन्म का संवत् ज्ञात नहीं। स्वयं ओड़छे में जाकर हमने केशवदास के विषय में सब तरह से पूछ-ताछ की, परंतु शोक है कि वहाँ कोई इनके विषय में प्रायः कुछ भी

केशवदास (वास्तविक चित्र)

करत राज-सो मान लहि इंद्रजीत के राज ;
पहिलो आचारज लखा केशव कवि-सिरताज ।

गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ

नहीं जानता। बहुत देर पूछ-ताछ के पीछे लोगों ने एक इमली दिखाकर कहा कि यहीं केशवदास का मकान था। इससे अधिक उनके विषय में, ओड़छे में, कुछ भी नहीं मालूम हुआ। केशवदास का एक साधारणतया बड़ा चित्र ओड़छा-नरेश के टीकमगढ़वाले महल में लगा है।

केशवदास ने संवत् १६४८ वि० में रसिकप्रिया बनाई। यह एक उत्कृष्ट ग्रंथ है। आपने पाँच-छ ग्रंथ बनाए। अतः विदित होता है, यह महाशय ग्रंथ धीरे बनाते थे। इससे विचार यह उठता है कि संभवतः चालीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने यह ग्रंथ बनाया होगा। कवि होने के अतिरिक्त आप संस्कृत के अच्छे पंडित भी थे। इनके पिता काशिनाथ ने शीघ्रबोध-नामक ज्योतिष का एक ग्रंथ बनाया। इससे जान पड़ता है, उन्होंने केशवदास को भी ज्योतिष अवश्य पढ़ाया होगा। फिर इनके पितामह को ओड़छे में पुराण की वृत्ति मिली थी, सो वही वृत्ति इनकी भी होगी। अतः यह पुराण भी खूब पढ़े होंगे। केशवदास की कविता से भी प्रकट होता है कि यह संस्कृत के पंडित थे। इंद्रजीतसिंह इनको गुरुवत् समझते थे। इस बात से भी मालूम होता है कि यह महाशय संस्कृत के ज्ञाता होंगे। विज्ञान-गीता देखने से विदित होता है कि इनको दर्शन-शास्त्र पर भी अधिकार था। इन सब बातों से ज्ञात हुआ कि केशवदास ने विद्या प्राप्त करने में पूरा श्रम करके तब काव्य करना प्रारंभ किया होगा। अतः अनुमान से जान पड़ता है कि इनका जन्म संवत् १६०८ वि० के लगभग हुआ होगा। अतः सूरदास की मृत्यु के समय केशवदास की अवस्था बारह वर्ष के लगभग होगी।

भूषण के सिवा, किसी भी भाषा-कवि का, केवल कविता से, केशवदास के समान, सत्कार नहीं हुआ। यह महाशय ओड़छे में

रहते थे। उस समय से अब तक वहाँ गहरवार-वंशीय क्षत्रिय राज्य करते हैं। ये क्षत्रिय महाराज रामचंद्र के वंश में उत्पन्न हैं। इनके पुरखों में पंचमसिंह बड़े प्रतापी हुए। पंचम के पुत्र बुंदेल थे, जिनके कारण गहरवार ठाकुर बुँदेला कहलाने लगे। इन्हीं के बसाए हुए देश को बुँदेलखंड कहते हैं, और यहाँ इसी कुल के क्षत्रिय बहुतायत से अब भी राज्य करते हैं। इस कुल में भारतीचंद बड़े पराक्रमी राजा उत्पन्न हुए। इन्हीं भारतीचंद ने कालिंजर के क़िले पर धावा करते हुए हिंदोस्तान के बादशाह शेरशाह सूर का वध किया। भारतीचंद के कुल में राजा मधुकरशाह ओड़छे के नरेश हुए। इन्होंने अकबरशाह के गढ़ छीन लिए, और स्वयं मुरादशाह इनसे लड़कर हार गया। मधुकरशाह के दूलहराम, वीरसिंहदेव, इंद्रजीतसिंह आदि बारह पुत्र हुए। बड़े पुत्र दूलहराम राजा हुए। केशवदास मधुकरशाह के रामसिंह-नामक किसी पुत्र का होना नहीं लिखते, परंतु यह रामसिंह ही को राजा और इंद्रजीतसिंह का भाई कहते हैं। मधुकरशाह के बड़े पुत्र दूलहराम थे, सो उनका राजा होना अनुमानसिद्ध है। जान पड़ता है, इन्हीं का उपनाम रामसिंह था।

जहाँ अकबर के दरबार में और सब राजा खड़े रहते थे, वहाँ उन्होंने रामसिंह को बैठक दी। रामसिंह के राज्य का प्रबंध इंद्रजीत के हाथ में रहता था। उन्होंने इंद्रजीतसिंह को कछेवा-कमल-नामक गढ़ दिया। इंद्रजीत के यहाँ संगीत का अखाड़ा था, जिसमें निम्न-लिखित छ पातुरें थीं—रायप्रवीन, नवरँगराय, विचित्रनयना, तानतरंग, रंगराइ और रंगमूरति।

रायप्रवीन इंद्रजीत की प्रेमिका थी। गणिका होने पर भी वह पतिव्रता थी। एक बार उसके रूप-लावण्य का वर्णन सुनकर अकबर ने उसे बुला भेजा। उस समय रायप्रवीन ने, जो अच्छी

कविता भी करती थी, इंद्रजीतसिंह की सभा में जाकर यह कवित्त पढ़ा—

आई हौं बूझन मंत्र तुम्हें निज सासन सों सिगरी मति गोई ;
देह तजौं कि तजौं कुल-कानि, हिए न लजौं, लजिहै सब कोई।
स्वारथ औ परमारथ को गथ चित्त बिचारि कहौ अब सोई ;
जामैं रहै प्रभु की प्रभुता, अरु मोर पतिब्रत भंग न होई।

इस बात पर इंद्रजीत ने उसे अकबर के यहाँ न भेजा। तब अकबर ने क्रोध करके उन पर एक करोड़ रुपए का जुरमाना किया। उस समय केशवदास ने आगरे जाकर बीरबल द्वारा यह जुर्माना माफ़ कराया, और रायप्रवीन ने अकबर के यहाँ किसी मौक़े पर निम्न-लिखित दोहा पढ़कर अपना पातिव्रत-धर्म बचाया—

बिनती रायप्रवीन की सुनिए साहि सुजान ;
जूठी पातरि भखत हैं बारी, बायस, स्वान।

कहा जाता है, रायप्रवीन जाति की लोहार थीं। अब हम स्वयं केशवदास का जीवन-चरित्र, जहाँ तक हमें उनके काव्य या कहावतों द्वारा ज्ञात हुआ है, नीचे लिखते हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इनका जन्म ओड़छे में, सं० १६०८ के आस-पास, हुआ होगा। आपने सम्भवतः २५ वर्ष की अवस्था में कविता का प्रारंभ किया। इनके जन्म-स्थान ओड़छे होकर बेतवे नदी बही है। ओड़छे के राज-महल अब भी दर्शनीय हैं। बेतवे बड़ी ही मनोरम नदी है। हम एक बार आध घंटे तक खड़े-खड़े उसे देखते ही रहे, तो भी हमें तृप्ति नहीं हुई। केशवदास ने ओड़छे और बेतवे का बड़ा विशद वर्णन किया है। उदाहरणार्थ तीन छंद यहाँ दिए जाते हैं—

नदी बेतवै तीर जहँ तीरथ तुंगारन्य ;
नगर ओड़छो बहु बसै धरनी-तल मैं धन्य ॥ १ ॥

केसव तुंगारन्य मैं नदी बेतवै-तीर ;
नगर ओड़छो बहु बसै पंडित-मंडित भीर ॥ २ ॥

ओड़छे-तीर तरंगिनि बेतवै, ताहि तरै नर 'केसव' को है ;
अर्जुन-बाहु-प्रबाहु-प्रबोधित, रेवा ज्यों राजन की रज मोहै ।
जोति जगै जमुना-सी लगै, जग लाल बिलोचन पाप बियो है ;
सूर-सुता सुभ संगम तुंग तरंग तरंगित गंग-सी सोहै ॥ ३ ॥

प्रायः चालीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने रसिकप्रिया-नामक अपना प्रथम ग्रंथ, सं० १६४८ में कार्त्तिक-शुक्ला ७, सोमवार को समाप्त किया। यह ग्रंथ इंद्रजीत के कहने से बना। इस समय तक केशवदास का पूर्ण आदर ओड़छे में नहीं हुआ था, पर इन्होंने रसिक-प्रिया में लिखा है—

तिन कवि केसवदास सों कीन्हों धरम-सनेहु ;
सब सुख दै कै यह कही, रसिक-प्रिया करि देहु ॥ ४ ॥

इससे प्रकट होता है कि इंद्रजीत इस समय से प्रथम इनके शिष्य हो चुके थे। यहाँ 'तिन' से इंद्रजीत का प्रयोजन है। इसी के कुछ दिन पीछे केशवदास को जुर्माना माफ़ कराने के लिये आगरे जाना पड़ा। वहाँ जाकर यह महाराज बीरबल से मिले, और उनकी प्रशंसा में इन्होंने यह छंद पढ़ा—

पावक, पंछी, पसू, नर, नाग, नदी, नद, लोक रचै दसचारी ;
'केसव' देव, अदेव, रचे, नरदेव रचे, रचना न निवारी ।
कै बर-बीर बली बलबीर, भयो कृतकृत्य महाव्रतधारी ;
दै करतापन आपन ताहि दई करतार दुवौ कर तारी ॥५॥

इस छंद को सुनकर महाराज बीरबल इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने एक करोड़ का जुर्माना अकबर से माफ़ करा दिया, और छ लाख रुपए की हुंडियाँ, जो उनकी जेब में थीं, निकालकर केशवदास को तुरंत दे दीं। तब केशव ने परम प्रसन्न होकर यह छंद पढ़ा—

केसवदास के भाल लिख्यो विधि, रंक को अंक बनाय सँवारयो ;
छोड़े छुट्यो नहिं धोए धुयो, बहु तीरथ के जल जाय पखारयो ।
ह्वै गयो रंक ते राउ तहीं, जब बीर-बली बलबीर निहारयो ;
भूलि गयो जग की रचना, चतुरानन बाय रह्यो मुख चारयो ॥६॥

तब बीरबल ने परम प्रसन्न होकर इनसे फिर कहा कि 'माँगु'। इसको केशवदास ने यों कहा है—

यों हीं कह्यो जु बीरबल माँगु जु माँगन होय ;
माँग्यो तुव दरबार मैं मोहिं न रोकै कोय ॥ ७ ॥

जब केशवदास जुर्माना माफ़ कराकर ओड़छे गए, उसी समय से इनका बड़ा भारी मान होने लगा होगा, और तभी इन्होंने लिखा—

भूतल को इंद्र इंद्रजीत जीवै जुग-जुग
जाके राज केसौदास राज-सो करत है।

यदि इसके प्रथम इनका इतना मान होता, तो बीरबल के यहाँ यह अपने को रंक न कहते। शायद इसी समय इंद्रजीत ने इन्हें इक्कीस गाँव दिए, और एक बार प्रयाग में गंगाजी में खड़े होकर इनसे कहा कि जो चाहिए, माँग लीजिए—

इंद्रजीत तासों कह्यो माँगन मध्य प्रयाग ;
माँग्यो सब दिन एकरस कीजै कृपा सभाग ॥ ८ ॥

इससे विदित होता है कि इस समय इनकी पूरी महिमा थी। अतः इन्होंने उसका केवल स्थिर रहना माँगा। इंद्रजीत के कारण महाराजा रामसिंह भी केशवदास पर बड़ी कृपा करते थे, और इनको मंत्री तथा मित्र की भाँति मानते थे।

केशवदास के वर्णन से प्रकट होता है कि इन्होंने वरदान माँगने में धनादि की तृष्णा कभी नहीं की, और केवल प्रतिष्ठा-वर्द्धक वर माँगे। इसी समय महाराजा बीरबल काबुल के युद्ध में मारे गए। तब उनकी उदारता का वर्णन केशवदास ने यों किया—

पाप के पुंज पखावज 'केसव', सोक के संख सुने सुषमा में ;
झूठ के झालरि, झाँझ अलीक के, आवझ जूथन जानि जमा में ।
भेद के भेरी, बड़े डर के डफ, कौतुक भो कलि के कुरमा में ;
जूझत ही बलबीर बजे बहु दारिद के दरबार दमामें ॥ ६ ॥

केशवदास ने कविप्रिया में सिवा अमरसिंह तथा बीरबल के और किसी समकालीन का दान नहीं वर्णित किया, यद्यपि उसमें बहुत-से देवतों का दान कथित है ।

इससे जान पड़ता है, केशवदास अमरसिंह के यहाँ भी गए होंगे। अमरसिंह का हाल अभी हमें पूरा नहीं मालूम हुआ। एक अमरसिंह महाराणा प्रतापसिंह के पुत्र थे। संभव है, यह कवि उनके यहाँ उदयपुर गए हों, क्योंकि इनके पूर्व-पुरुषों का भी चित्तौर के महाराणा से संबंध था ।

केशवदास सं० १६४८ से १६५८ तक कविप्रिया तथा रामचंद्रिका बनाते रहे, और कार्त्तिक-सुदी ५, संवत् १६४८ वि० को, बुध के दिन, इन्होंने कविप्रिया और बुधवार, कार्त्तिक-सुदी १२, को रामचंद्रिका समाप्त की। फिर संवत् १६६७ में विज्ञान-गीता समाप्त की। केशवदास ने कविप्रिया में रामचंद्रिका और विज्ञान-गीता के बहुत-से छंद रक्खे हैं। इससे प्रकट होता है कि इन्होंने या तो कविप्रिया समाप्त करने के पीछे भी उसमें छंद बढ़ाए, या विज्ञान-गीता भी उसी पुस्तक के साथ बनती रही, और समाप्त बहुत दिन पीछे हुई ।

हमको सं० १६६७ के पीछे केशवदास के जीते रहने का कोई प्रमाण अब तक नहीं मिला। एक किंवदंती है कि इंद्रजीतसिंह के चित्त में यह भावना उठी कि उनका दरबार बहुत ही उत्तम है, परंतु लोगों के मर जाने से वह क्षीण हो जायगा। वह सोचने लगे कि किस प्रकार यह मंडली चिरस्थायिनी हो। इस पर कहा जाता है,

केशवदास ने उनको प्रेत-यज्ञ करने की सलाह दी, क्योंकि प्रेतों की आयु दस हज़ार वर्ष की होती है। कहते हैं, फिर वहाँ प्रेत-यज्ञ किया भी गया, और उसमें सब लोगों के साथ मरकर केशवदास भी प्रेत हो गए। इसी कारण इनको कविजन कभी-कभी 'कठिन काव्य के प्रेत' भी कहते हैं। यथा—"एकै दल-सहित बिलाने एक पल ही में, एक भए प्रेत, एक मींजि मारे हाथी ने।" इसका कारण यह भी है कि इनके प्रेत होने के अतिरिक्त इनका काव्य कठिन भी है। प्रेत-योनि में केशवदास का जी नहीं लगता था। एक बार यह महाशय एक कुएँ में बैठे थे। उसी में गोस्वामी तुलसीदास पानी भरने गए। कहते हैं, केशवदास ने उनका लोटा पकड़ लिया। जब तुलसीदास ने छोड़ने के लिये बहुत कुछ कहा-सुना, तब इन्होंने कहा कि हमें किसी प्रकार प्रेत-योनि से छुड़ाओ, तो हम लोटा छोड़ें। इस पर तुलसीदास ने इनसे कहा कि तुम अपनी बनाई हुई रामचंद्रिका के इक्कीस पाठ कर डालो, तो तुम्हारी प्रेत-योनि छूट जाय। केशवदास को रामचंद्रिका का पहला कवित्त ही नहीं स्मरण आता था। तुलसीदास ने इन्हें वह याद दिलाया, और केशव रामचंद्रिका के इक्कीस पाठ करके मुक्त हुए। इंद्रजीतसिंह का प्रेत-यज्ञ करना किसी इतिहास में नहीं लिखा है। अतः यह कथा केवल मनगढ़ंत जान पड़ती है। यह विख्यात बहुत है, इसी कारण हमने लिख दी। इन सब बातों का निष्कर्ष इतना ही है कि केशवदास तुलसीदास के पहले मरे। गोस्वामीजी का मृत्यु-संवत् १६८० है। अतः केशवदास ने संवत् १६७४ के लगभग शरीर छोड़ा होगा।

केशवदास के विषय में हम लोगों को इतना अवश्य ज्ञात है कि यह महाराज बुड्ढे होकर मरे थे, क्योंकि यह स्वयं कहते हैं—

'केसव' केसनि असि करी, जैसी अरि न कराहिं ;
चंद्रबदनि, मृगलोचनी, 'बाबा' कहि-कहि जाहिं ॥ १० ॥

केशवदास पंडित होने पर भी पंडितों की भाँति रूखे न थे, वरन् बुढ़ापे को इस कारण बुरा समझते थे कि चंद्रवदनी स्त्रियाँ इनको नायक की दृष्टि से न देखकर बूढ़े बाबा समझती थीं। फिर इंद्रजीतसिंह इनको गुरु की भाँति मानते थे, परंतु इन्होंने उनकी गणिकाओं तक का बड़े आदर के साथ वर्णन किया है, यहाँ तक कि उनका रायप्रवीन के साथ संपर्क तक वर्णन करने से इन्होंने मुँह नहीं मोड़ा। उसी गणिका की इन्होंने रमा, सरस्वती और शिवा तक की समता कहने में कोई दोष न समझा—

नाचत, गावत, पढ़त सब, सबै बजावत बीन ;
तिनमैं करति कबित्त यक रायप्रबीन प्रबीन ॥ ११ ॥
रतनाकर-पालित सदा परमानंदहिं लीन ;
अमल कमल कमनीय कर रमा कि रायप्रबीन ॥ १२ ॥
रायप्रबीन कि सारदा सुचि रुचि बासित अंग ;
बीना-पुस्तक-धारिनी राजहंससुत संग ॥ १३ ॥
बृषभ-बाहिनी अंग उर बासुकि लसत प्रबीन ;
सिव सँग सोहति सर्बदा सिवा कि रायप्रबीन ॥ १४ ॥
सबिता जू कबिता दई ता कहँ परम प्रकास ;
ताके कारन कबिप्रिया कीन्हीं केसवदास ॥ १५ ॥

रसिक होने के अतिरिक्त केशवदास कोरे भक्त भी न थे। इन्होंने कृष्ण की शनि से उत्प्रेक्षा कही है। यथा—"राहु मनो शनि अंक लिए"—रसिकप्रिया; और रामचंद्र के विषय में यह संदेह उपस्थित कराया कि "कैधौं कोऊ ठग हौ ठगोरी कीन्हें कैधौं तुम हरिहर श्री हौ शिवा चाहत फिरत हौ।" कोरा भक्त राम की ठग से, कृष्ण की शनि से और एक गणिका की शिवा, रमा तथा शारदा से समता कभी न करता। फिर भी केशवदास को रामचंद्र का इष्ट था। यथा—"केशवदास तहीं करयो रामचंद्र जू इष्ट।"—रामचंद्रिका।

केशवदास ने कुल मिलाकर सात ग्रंथ बनाए। इन ग्रंथों के अतिरिक्त भी इनके कुछ स्फुट छंद मिलते हैं। रसिकप्रिया, विज्ञान-गीता, कविप्रिया, रामचंद्रिका, वीरसिंहदेव-चरित्र, जहाँगीर-चंद्रिका और नख-शिख-नामक केशव-कृत ग्रंथ अब तक ज्ञात हुए हैं।

रसिकप्रिया। यह ग्रंथ सोमवार, कार्तिक-सुदी, संवत् १६४८ वि० को समाप्त हुआ। यह इंद्रजीतसिंह की इच्छानुसार बनाया गया, जैसा इसका नाम प्रकट करता है। इस ग्रंथ में रसिकों को रुचिकर वर्णन हुआ है, यहाँ तक कि वीर, रौद्र, बीभत्स, शांत आदि रसों तक में श्रृंगार-रस का पीछा नहीं छोड़ा गया। इन्होंने प्रच्छन्न और प्रकाश प्रायः सभी उदाहरणों में दिखाया।

नव-रस-कथन से मुख्य ग्रंथ का प्रारंभ हुआ है। फिर संयोग और वियोग एवं प्रच्छन्न और प्रकाश-श्रृंगार का वर्णन है। तदनंतर नायिका-जाति (पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी) दिखाकर केशवदास ने चारो प्रकार के नायकों का वर्णन किया है। आपने फिर कर्मानुसार नायिका-भेद कहा है। जैसे अधिकतर कविजनों ने इस कर्म-भेद को कहा है, वैसे विस्तार के साथ आपने नहीं कहा। फिर चारो प्रकार के दर्शन (साक्षात्, श्रवण, चित्र, स्वप्न) कहकर इन्होंने हाव-भावों का कथन किया, और इसके पश्चात् वियोग-श्रृंगार कहकर शेष आठो रसों का श्रृंगार से मिला हुआ वर्णन दिया। यह अच्छा नहीं है। अंत में चारो वृत्तियों (कैशिकी, भारती, आरभटी, सात्विकी) को दिखाकर कवि ने सोलहवाँ अध्याय भी समाप्त कर दिया। कवि ने गणिका को अति निंद्य समझकर उसका वर्णन इस ग्रंथ में नहीं किया। इसमें आपने कविता के कुल अंगों का वर्णन न करके केवल भाव-भेद और रस-भेद का किया है, और वह भी विस्तार-पूर्वक नहीं। जहाँ तक हो सका है, श्रृंगार-रस का ही अवलंब लिया गया

है। आकार में यह पद्माकर-कृत जगद्विनोद के बराबर होगा। यह केशवदास का प्रथम ग्रंथ है, अतः इसे बहुत उत्कृष्ट पाने की आशा करनी उचित नहीं। तो भी ख़राब नहीं है, और इनका प्रथम ग्रंथ होने पर भी भाषा के श्रेष्ठ ग्रंथों में इसकी गणना है।

विज्ञानगीता। यह ग्रंथ संवत् १६६७ वि० में बना। समय के अनुसार यह केशवदास का चौथा ग्रंथ है, परंतु शोक है कि उत्तमता में यह उनके अच्छे ग्रंथों में सबसे घटकर है। इसमें इक्कीस अध्याय हैं, जिनमें बारह तक महामोह और विवेक की लड़ाई का वर्णन है। शेष नव में ज्ञान कहा गया है। प्रथम में कवि-वंश तथा राजवंश संक्षेप से हैं, और एक प्रकार से ग्रंथ की प्रस्तावना भी इसी अध्याय में आ गई है। दूसरे में काम और रति की बातचीत होती है। तीसरे में दंभ और अहंकार काशी-विजय का विचार करते हैं। इसमें पेट के दो पद्य अच्छे हैं। चौथे में महामोह सेना सजकर चलता है, और सातो द्वीपों (जिनका वर्णन विष्णुपुराण में हुआ है) एवं अवतारों को देखता है। इन अंतिम तीनो अध्यायों की कविता बहुत शिथिल है। पाँचवें में कलिनाथ और उसकी रानी की बहस होती है। छठे में कलिनाथ अपनी विजयों और चमू का वर्णन करता है, तथा रानी काशी का माहात्म्य कहती है। सातवें में चार्वाक की कलि से बातचीत हुई है। आठवें में शांति एवं करुणा का वर्णन है। नवें में राजधर्म द्वारा महामोह युद्ध का उद्योग करता है, परंतु वर्षा-ऋतु के कारण लड़ाई का प्रारंभ नहीं करता। दसवें में वर्षा एवं शरद् का अच्छा वर्णन है। ग्यारहवें मे तीन स्तोत्र, पुराने संस्कृत के कवियों के ढंग पर, हैं, जो श्लाघ्य हैं। उनकी टेकें निम्न-लिखित हैं—

प्रबोधो उदो देहि श्रीबिंदुमाधो।
राखि लेहु, राखि लेहु, राखि लेहु विश्वनाथ।
नमो देवि गंगे नमो देवि गंगे।

इन तीनो स्तोत्रों द्वारा विवेक अपने देवतों को प्रसन्न करता है। बारहवें अध्याय में महामोह से विवेक का महाघोर युद्ध होता है, जिसमें उसकी पराजय कथित है। यह युद्ध बहुत ही संक्षिप्त रीति से कहा गया है। इन बारह अध्यायों में प्रथम, दशम और एकादशम को छोड़कर शेष प्रशंसनीय नहीं हैं। इनकी कथा का भाव संस्कृत के प्रबोधचंद्रोदय-नाटक से लिया गया है। तेरहवें अध्याय में माया और चौदहवें में शुकदेवजी के वर्णन हैं। पंद्रहवें में मन, शुद्धि, विवेक तथा पूजा का हाल है। यह अध्याय औरों की अपेक्षा कुछ अच्छा है। सोलहवें में राजा शिखिध्वज और उसकी रानी चुड़ाला की कथा योगवाशिष्ठ से लेकर कही गई है। सत्रहवें में ज्ञान-विज्ञान की भूमिका है। अठारहवें अध्याय में प्रह्लाद की कथा, उन्नीसवें में बलि-चरित्र एवं विप्र-महिमा और बीसवें में योग की सात भूमिकाएँ लिखी गई हैं। केशवदास ने अपने अंतिम (इक्कीसवें) अध्याय में सीधा-सादा काम-काजी योग कहा है। यह अध्याय भी बहुत ही मनोहर है। उदाहरण-स्वरूप एक छंद नीचे लिखा जाता है—

निसि-बासर वस्तु-बिचारहि कै मुख-साँचु हिए करुना-धनु है;
अघ-निग्रह, संग्रह-धर्म-कथानि, परिग्रह साधुनि को गनु है।
कहि 'केसव' भीतर जोग जगै अति बाहेर भोगनि सों तनु है;
मन हाथ सदा जिनके, तिनको बनुही घरु ही बनु है ॥१६॥

विज्ञानगीता के प्रथमार्द्ध में रूपक द्वारा मनुष्य के मोह और विवेक का युद्ध दिखाया गया है। इसमें विशेष गुण बहुत कम हैं, और इसका मुख्यांश या तो शिथिल काव्य है, या साधारण। उत्कृष्ट

काव्य तीन ही अध्यायों में पाया जाता है। इस ग्रंथ का द्वितीयार्द्ध प्रकाश रूप से ज्ञान और वैराग्य का कथन करता है। केशवदास ने संस्कृत के ज्ञान-संबंधी मुख्य-मुख्य भेदों को सूक्ष्मतया कहा है, परंतु पूर्णतया किसी विभाग का वर्णन नहीं किया। इसमें साफ़-साफ़ और क्रम-बद्ध रीति से न तो गीता का ज्ञान कहा गया है, और न योगवाशिष्ठ का। कहना पड़ता है कि श्रीमद्भगवद्गीता पढ़ने में जो अकथनीय और अलौकिक आनंद प्राप्त होता है, उसका चतुर्थांश आनंद भी विज्ञानगीता में नहीं मिलता। यह कहा जा सकता है कि इस विज्ञान-गीता द्वारा संस्कृत से अनभिज्ञ पाठकों को लाभ हो सकता है, परंतु केशवदास-जैसे पंडित को ज्ञान का अधिक क्रम-बद्ध वर्णन करना चाहिए था। इनकी गीता पढ़ने से यह ध्यान में आता है कि केशवदास और व्यासदेव की कवित्व-शक्ति में पृथ्वी और आकाश का अंतर है। यदि केशवदास ने केवल विज्ञानगीता बनाई होती, तो हम उन्हें दूसरे दर्जे का कवि कहते। भगवद्गीता पढ़ने में ज्ञान के साथ-साथ काव्य का भी पूर्ण आनंद आता है। फिर भी इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि विज्ञानगीता में सदोष काव्य नहीं है।

कविप्रिया। यह ग्रंथ संवत् १६५८ वि० की कार्त्तिक-सुदी ५, बुधवार, को समाप्त हुआ। इसमें केशवदास ने अपने कुल एवं राजकुल का वर्णन दिया है। यह इनका सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ माना जाता है। यह विचारणीय विषय है कि रामचंद्रिका इनके सब ग्रंथों में उत्तम है, या कविप्रिया? ये दोनो ही ग्रंथ उत्कृष्ट हैं, परंतु हम रामचंद्रिका को कविप्रिया से श्रेष्ठ समझते हैं। कविप्रिया में सत्रह अध्याय हैं। इसमें केशवदास ने साहित्य के दूषण, कवियों के गुण-दोष, कविता की जाँच, अलंकार, बारहमासा, नख-शिख और चित्र-काव्य लिखे हैं।

प्रथम अध्याय में राजवंश एवं द्वितीय में कवि-वंश कहा गया है। तृतीय में दोषों का वर्णन है। इन्होंने लिखा है कि—

विप्र न नेगी कीजिए, मूढ़ न कीजै मित्त ;
प्रभु न कृतघ्नी सेइए, दूषन-सहित कवित्त ॥ १७ ॥

केशवदास ने पाँच मुख्य और बारह अमुख्य दूषण कहे हैं। पाँच मुख्य दूषणों में अंध (पंथ-विरोधी), बधिर (शब्द-विरोधी), पंगु (छंद-विरोधी), नग्न (अलंकार-हीन) और मृतक (अर्थ-हीन) की गणना है। द्वादश साधारण दोष ये हैं—

अगण, हीनरस, यति-भंग, व्यर्थ (अर्थ-विरोध), अपार्थ (मतवालों अथवा बच्चों की-सी निरर्थक बात), कर्ण-कटु, पुनरुक्ति, देश-विरुद्ध, काल-विरुद्ध, लोक-विरुद्ध, न्याय-विरुद्ध और आगम-विरुद्ध।

चतुर्थ अध्याय में आपने काव्य को तीन प्रकार का कहा है—उत्तम, मध्यम और अधम। इन्होंने देव-काव्य को उत्तम, नर-काव्य को मध्यम और सदोष को अधम माना है।

केशव ने सत्यभाषिणी, असत्यभाषिणी और सत्यासत्यभाषिणी, तीन प्रकार की कवि-मति स्थिर की है। फिर इन्होंने कविता के नियम कहे हैं। पंचम अध्याय से अलंकारों का वर्णन आरंभ हुआ है। इन्होंने अलंकारों के सामान्य और विशिष्ट, दो भेद किए हैं। सामान्य अलंकारों में आपने रंग, चित्र, गति और राजश्री का वर्णन किया है। इन सामान्य अलंकारों एवं समस्त कविप्रिया में इन्होंने अपना आचार्यत्व प्रकट किया है। सफ़ेद बालों के तीन छंद उत्कृष्ट हैं। छठे अध्याय में सीता के मुख की प्रशंसा में तीन भावों में घटित होनेवाला निम्न-लिखित छंद बहुत ही बढ़िया है—

हरि-कर-मंडन, सकल दुख-खंडन,
मुकुर महि-मंडल को कहत अखंड मति ;

परम सुवास, पुनि पीउष-निवास,
परिपूरन प्रकास, 'केसौदास' भू-अकास गति ।
बदन मदन-कैसो, श्रीजू को सदन जिहि
सोदर सुधोदर दिनेसजू को मीत अति ;
सीताजू के मुख-सुषमा की उपमा को
कहि कोमल न कमल, अमल न रजनिपति ॥ १८ ॥

सातवें अध्याय में समुद्र, नगर, सूर्योदय, षट्ऋतु आदि के बहुत-से प्रकृष्ट वर्णन हैं । आठवें में राजश्री का समीचीन वर्णन किया गया है । इससे जान पड़ता है, यह राजों के बीच रहे हैं ।

नवें अध्याय से विशिष्ट अलंकारों का प्रारंभ होता है । प्राय: सभी कवियों ने अलंकारों के कथन में इसी विशिष्ट विभाग का वर्णन किया है । केशवदास ने अलंकारों में अन्य कवियों की भाँति क्रम नहीं कहा, और न सब अलंकार ही कहे हैं । तेरहवें अध्याय तक इन्हीं का वर्णन हुआ है । इसमें, बहुत स्थानों में, एक-एक अलंकार को बहुत बढ़ाकर कहा है, और उसके साथ कितने ही अलंकारों के नाम ही नहीं लिए गए । बहुतों में अन्य कवियों के कहे हुए नामों के प्रतिकूल नाम इन्होंने कहे हैं । दशम अध्याय के आक्षेपालंकार में बारहमासा भी है । पंद्रहवें अध्याय में नख-शिख और सोलहवें में यमक है । इनका नख-शिख बहुत विशद बना है । सत्रहवें अध्याय में केशवदास ने चित्र-काव्य लिखा, और उसको बड़े परिश्रम से बनाया । कविप्रिया केशवदास का बहुत श्लाघ्य ग्रंथ है, और इन्होंने इसे वैसा ही माना भी है । आपने कहा है—

सगुन पदारथ, अरथजुत, सुबरनमय सुभ साज ;
कंठमाल ज्यों कविप्रिया कंठ करौ कविराज ॥ १९ ॥
सुबरन-जटित पदारथनि भूषन भूषित मानि ;
कबिप्रिया है कबिप्रिया कबि-संजीवनि जानि ॥ २० ॥

केशवदास ने अपने किसी और ग्रंथ की इतनी प्रशंसा नहीं की। जैसे रसिकप्रिया वास्तव में रसिकप्रिया है, वैसे ही कविप्रिया भी सचमुच कविप्रिया है। केशवदास ने अपना पूरा आचार्यत्व इस ग्रंथ में प्रकट कर दिया है। इसको पढ़ने से मनुष्य कविता का विषय बहुत कुछ जान सकता है। कविता के जिज्ञासुओं को काव्य सीखने में यह ग्रंथ बड़ा उपयोगी है। यह इंद्रजीत की गणिका रायप्रवीण के लिये बना। इसमें शृंगार-रस को कवि ने बहुत कम रक्खा, और बहुत-से विषयों पर कविता की। फिर भी इसे प्रधानतः अलंकारों का ग्रंथ कहना चाहिए; क्योंकि अलंकारों के अतिरिक्त इसमें गुण-दोष, षट्ऋतु और नख-शिख के सिवा कुछ नहीं कहा गया। केशवदास के पूर्व हिंदी में केवल कृपाराम, गोप, मोहनलाल आदि ने रीति-कविता की थी, सो भी इनकी महत्ता से बहुत पीछे। रीति-काव्य में आपने दंडी तथा रुय्यक का अनुसरण किया था, न कि मम्मट और विश्वनाथ का, जैसा कि इनके पीछेवाले बहुतेरे आचार्यों ने किया। विश्वनाथ ने १९वीं शताब्दी में साहित्य-दर्पण रचा। आप पूर्वी बंगाली थे। कविप्रिया ग्रंथ कुल मिलाकर बहुत विशद बना, और इसी से केशवदास को भाषा-काव्य में आचार्य की पदवी मिली है।

रामचंद्रिका। इस ग्रंथ को केशवदास ने सं० १६५८ वि०, कार्त्तिक-सुदी १२, बुधवार को समाप्त किया। इसे इंद्रजीतसिंह ने बनवाया। कविप्रिया की भाँति रामचंद्रिका भी बड़ा ही उत्कृष्ट ग्रंथ है। इसमें इन्होंने रामचंद्र की कथा कही। यह ग्रंथ उँतालीस अध्यायों में समाप्त हुआ है। केशवदास ने रामचंद्र की उत्पत्ति के उपरांत कथा का आरंभ किया है। इन्होंने राम की बाल-लीला बिलकुल नहीं कही। आपको वाल्मीकि ने स्वप्न में राम-यशोगान करने का उपदेश दिया। उसी समय से इन्होंने रामचंद्र को इष्टदेव

माना । विश्वामित्र के अयोध्या-प्रवेश के साथ केशवदास ने अयोध्या का बड़ा ही मनोरम वर्णन किया है । इसको पढ़ने से जान पड़ता है कि राजों की सभा कैसी होती है । तुलसीदास ने महाराजा और साधारण राजा की सभा में बहुत कम अंतर रक्खा है, परंतु केशवदास नित्य सभाएँ देखते थे । वह इसमें ग़लती कैसे करते ? इन्होंने विमति से सीता-स्वयंवर में एक शंका उठवाई है, परंतु उसका कोई उत्तर नहीं दिलवाया—

रावन, बान महाबली, जानत सब संसार ;
जो दोऊ धनु कर्षि हैं, ताको कहा बिचार ? ॥ २१ ॥

यह शंका उठनी न चाहिए था, क्योंकि जो व्यक्ति पहले धनुष चढ़ाता, जनकवाले प्रण के अनुसार, उसी को जानकीजी ब्याह दी जातीं, और प्रण पूर्ण हो जाता । फिर उसके पीछे चाहे सैकड़ों मनुष्य धनुष चढ़ाया करते, परंतु उनसे और राजा जनक के प्रण से कोई संबंध न होता । रावण के धनुष न उठा सकने पर उसका बाण से यह बहाना करना कि "मैं तो इसे आज़मा चुका, और पल-भर में उठा लूँगा, अब कुछ आप भी तो उठाकर देखिए," बड़ा ही अच्छा है । वैसे ही बाण का बहाना भी देखने योग्य है । केशवदास कथा के अमुख्य वर्णनों के लिये न ठहरकर तुरंत मुख्य कथा का वर्णन करने लगते हैं । यह इनमें बड़ा गुण है । इन्होंने जेवनार में गाली बड़ी ही चटकीली गवाई, परशुराम से राम के झगड़े का महादेव को बुलाकर बहुत अच्छा निबटारा करा दिया, और जब भरत राम को वन से फेरने गए, उस समय उनको भागीरथी से समझवा दिया । यह भी झगड़ा मिटाने का अच्छा ढंग है, यद्यपि इस स्थान पर तुलसीदास का काव्य अपूर्व आनंद देता है । केशवदास ने विभीषण की कठोर बातों पर रावण को क्रोधित कराया है । जब अंगद रावण से बसीठी करने गए थे, उस

समय रावण ने उन्हें मिला लेने का पूरा प्रयत्न किया। रावण के योद्धाओं का बड़ा अच्छा परिचय दिया गया है। जब उसने कुंभकर्ण से कठोर बात कही, तब मंदोदरी ने अपने तीनों लड़कों को पुकारकर कहा कि "तुम्हारे पिता भाइयों से भिड़ते हैं, तुम उन्हें क्यों नहीं समझाते ?" इसके पीछे उसने कुंभकर्ण की बड़ी प्रशंसा की। यह वर्णन बड़ा ही स्वाभाविक और मनोरम है। मंदोदरी का वानरों से डरकर चित्रशाला में भागना तथा अंगद द्वारा उसकी दुर्गति होने पर रावण का यज्ञ छोड़ देना, परम स्वाभाविक है। इन सब वर्णनों की उत्तमता देखकर केशवदास की अपूर्व कवित्व-शक्ति की जितनी बड़ाई की जाय, थोड़ी है। सीता का अग्नि के अंक में रामचंद्र के पास जाना भी खूब बढ़िया है। रामचंद्र ने वानरों इत्यादि का वशिष्ठ से परिचय कराने में भी बहुत विशद रीति का अनुगमन किया है। हनुमान् के विषय में उन्होंने कहा—

सीता पाई, रिपु हत्यो, देख्यो तुम अरु गेहु ;
रामायण जय-सिद्धि को कपि-सिर टीका देहु ॥ २२ ॥

इसके पीछे रामचंद्रिका की कविता कुछ शिथिल पड़ गई है। रामचंद्र ने दो अध्यायों में राजश्री की निंदा की है। इसके पीछे उनका राज्याभिषेक हुआ। ऐसे समय राजश्री की निंदा अयुक्त जान पड़ती है। अभिषेक में केशवदास ने राजसी ठाट अच्छा दिखाया है। अभिषेक के पीछे अंगद ने रामचंद्र से कहा कि "अब मैं रघुवंशियों से लड़कर अपने बाप का बदला लेना चाहता हूँ।"

रामचंद्र ने कहा—

कोऊ मेरे बंस में तोसों करिहै जुद्ध ;
तब तेरो मन होइगो अंगद मोसों सुद्ध ॥ २३ ॥

केशवदास ने भी गोसाईंजी की भाँति भरत का स्वभाव एवं उनका पद बहुत ऊँचा दिखलाया है। चौगान का वर्णन अच्छा है।

केशवदास ने ओड़छे के नौचौकिया-महल के मुक़ाबले में रामचंद्र के यहाँ पाँच चौकें लिखी हैं। राजप्रासाद के वर्णन में भी इन्होंने दिखा दिया है कि कवि ऐसे-ऐसे पदार्थ देखता रहा है। केशव की कविता में राम के राजसी गुण ख़ूब प्रकट हुए हैं। जल-केलि, उपवन आदि के वर्णन एवं दूत की कटु बात का साफ़-साफ़ न कहलाना अच्छा हुआ। श्वान की फ़र्याद में मठपतियों की निंदा है। सीता-त्याग से कथा और कविता फिर बहुत उत्कृष्ट हो गई है। इसके पीछे लवणासुर का वध कहा गया है। वह ब्राह्मणों को सताता था, अर्थात् हिंदू-सभ्यता का विरोधी था। शत्रुघ्न ने उसे युद्ध-घोषणा के प्रथम अंतिम संदेश यह कहला भेजा—

महाराज श्रीराम हैं क्रुद्ध तासों;
तजौ देस को कै सजो जुद्ध मोसों॥ २४॥

फिर जब रामचंद्र ने लव-कुश को युद्धोन्मुख देखा, तब अंगद से कहा—

अंगद जीति इन्हैं गहि ल्याओ;
कै अपने बल मारि भगाओ।
बेगि बुझावहु चित्त-चिता को;
आज तिलोदक देहु पिता को॥ २५॥

अंगद की मनोकामना भी बड़ी ही स्वाभाविक थी। इसी प्रकार गुरु गोविंदसिंह को पितृहंता समझकर उनके दो मुसलमान विश्वास-पात्र सैनिकों ने उन पर प्रहार किया।

जब लव-कुश लक्ष्मण तक को जीत चुके, और हनुमान् भरत के साथ युद्ध को गए, तब उन्होंने बड़ा ही स्वाभाविक आश्चर्य प्रकट किया कि—

नाम-बरन लघु, वेष लघु, कहत रीझि हनुमंत;
इतो बड़ो विक्रम कियो, जीत्यो समर अनंत॥ २६॥

यहाँ शत्रु पर भी हनुमान् का रीझना बड़ा ही स्वाभाविक है, क्योंकि सच्चा शूर ही सच्चे शूर के विक्रम पर रीझ सकता है, और वह अवश्य रीझेगा, उसका चाहे जितना बड़ा अपकार हो गया हो।

शायद बिना विभीषण की लताड़बाज़ी के कोई रामायण पूर्ण नहीं की जा सकती, परंतु खेद है कि हमारे यहाँ केशव के सिवा संस्कृत तक के कवियों को यह न सूझा कि विभीषण ने कोई बुरा काम भी किया, या नहीं। सब कवियों ने उसकी इसी कारण बड़ी भारी प्रशंसा की कि वह रामचंद्र का भक्त था, परंतु शोक है कि उसके प्रचंड दोष पर कवियों ने ध्यान न दिया। यह सत्य है कि यदि कोई उसके राक्षसी कर्म की तीव्र आलोचना करता, तो शायद थानेश्वर और पानीपत में पृथ्वीराज और राणा साँगा को अपने अनुयायियों के उसी राक्षसी व्यवहार के कारण पराजय का असह्य और घातक दुःख न सहना पड़ता। जब आर्यों और अनार्यों का घोर युद्ध होने को था, उस समय यह क्षुद्र-हृदय विभीषण रावण के थोड़े-से अनादर से न केवल उसको, वरन् सब राक्षसों के पक्ष को छोड़कर उन्हीं के मूलोच्छेदन में प्रवृत्त हुआ! फिर अपने सगे भाई-भतीजों तक को अपने सम्मुख मरवा डालने में भी इस राक्षसाधम को तनिक पश्चात्ताप न आया। यह बराबर उनके मारे जाने की तरकीबें रामचंद्र को बताता गया। केशवदास राजों में रहते थे, और प्रत्येक मनुष्य के अपने देश तथा कुल की रक्षा के कर्तव्य एवं धर्म को खूब समझते थे। अतः इन्होंने लव द्वारा विभीषण का इन शब्दों में उपहास कराया—

तब दौरिकै बान बिभीषन लीन्हों ;
लव ताहि बिलोकत ही हँसि दीन्हों ॥ २७ ॥

लव—आउ बिभीषन तू रन-दूषन ;
एक तुही कुल को कुल-भूषन ॥ २८ ॥

जूझि जुरे, जे भले भए जी के ;
सत्रुहि आइ मिले तुम नीके ॥ २६ ॥
देवबधू जबहीं हरि ल्यायो ;
क्यों तबहीं तजि ताहि न आयो ? ॥ ३० ॥
यों अपने जिय के डर आए ;
छुद्र, सबै कुल - छिद्र बताए ॥ ३१ ॥
जेठो भैया, अन्नदा, राजा, पिता-समान ;
ताकी तैं पतिनी करी पतिनी मातु-समान ॥ ३२ ॥
को जानै कै बार तू कही न ह्वै है माय ;
सो तैंने पतिनी करी सुनु पापिन के राय ॥ ३३ ॥
सिगरे जग माँझि हँसावत है ;
रघुबंसिन पाप नसावत है ॥ ३४ ॥
धिक तो कहँ तू अजहूँ जु जियै ;
खल, जाय हलाहल क्यों न पियै ? ॥ ३५ ॥
कछु है अब तो कहँ लाज हिए ;
कहि कौन बिचार हथ्यार लिए ॥ ३६ ॥
अब जाइकै रोष कि आगि जरौ ;
गरु बाँधिकै सागर बूड़ि मरौ ॥ ३७ ॥
कहा कहौं हौं भरत को जानत हैं सब कोइ ;
तो सो पापी संग मैं, क्यों न पराजय होइ ॥ ३८ ॥

अंत में राम ने आठों पुत्रों और भतीजों को अपना सब राज्य बाँटकर उनको नीति का उपदेश दिया। केशवदास ने रामचंद्र की स्वर्ग-यात्रा का वर्णन नहीं किया। रामचंद्रिका वास्तव में महाकाव्य है, और उसके लक्षण भी उसमें मिलते हैं।

केशवदास ने पात्रों के शील-स्वभाव का भी अच्छा वर्णन किया है। इन्होंने भरत को बिलकुल दब्बू भाई नहीं दिखलाया। जैसे

सब छोटों में वह बड़े थे, वैसे ही उनका महत्त्व भी अच्छा दिखाया गया है। जब राम ने भरत से सीता के छोड़ आने को कहा, तब उन्होंने स्वयं रामचंद्र से यह कहा—

> वै माता, वैसे पिता, तुम सो भैया पाइ ;
> भरत भए अपवाद को भाजन भूतल आइ ॥ ३९ ॥

जब लव-कुश ने उनके दो भाइयों को मार डाला, तब भरत ने कहा—

> बालक रावन के न सहायक ;
> ना लवनासुर के हित लायक।
> हैं निज पातक-बृच्छन के फल ;
> मोहत हैं रघुबंसिन के दल ॥ ४० ॥
> सत्रुघ्न तज्यो तन सोदर-लाजनि ;
> पूत भए तजि पाप-समाजनि।
> हमहूँ तेहि तीरथ जाइ मरैंगे ;
> सतसंगति-दोष असेष हरैंगे ॥ ४१ ॥

रामचंद्रिका ग्रंथ भाषा-काव्य का श्रृंगार है। भाषा-साहित्य में तुलसी-कृत रामायण के सिवा ऐसा रोचक ग्रंथ एक भी नहीं है। इस ग्रंथ में, गणना में, कविप्रिया से अधिक प्रकृष्ट छंद नहीं हैं ; परंतु इसमें एक पूज्य कथा भी वर्णित है, इसी कारण इसकी रोचकता बहुत बढ़ गई है। इसे एक बार उठा लेने से रामचंद्र के लंका जीतकर अयोध्या लौटने तक का हाल पढ़ लिए बिना पुस्तक रख देने को चित्त ही नहीं चाहता। इस ग्रंथ में केशवदास छंद इतनी शीघ्रता से बदलते गए हैं कि वे कहीं अरुचिकर नहीं होते।

भाषा-साहित्य में कथा-प्रसंग-वर्णन करने की छंदानुसार, दो प्रणालियाँ हैं, एक तो गोसाईंजी की भाँति दोहे-चौपाइयोंवाली, और दूसरी केशवदास की भाँति विविध छंदोंवाली। प्रथम प्रकार में काव्य बहुत उत्कृष्ट न होने पर वर्णन रोचक नहीं रहता, परंतु

द्वितीय प्रथा में, साहित्य की विशेष उत्तमता न होने पर भी, कथा उतनी शीघ्र अरुचिकर नहीं होती। यह द्वितीय प्रथा केशवदास ने इसी ग्रंथ द्वारा चलाई है।

केशवदास भाषा-कविता के प्रायः अरुणोदय-काल में हुए। अतः इन्होंने एक रीति-ग्रंथ भी बनाया। पीछे रीति-ग्रंथ बनाने की भी परिपाटी-सी चल पड़ी। हाल ही में यह छूट भी गई है।

कथा-वर्णन करने की भी दो प्रथाएँ हैं; एक तो संस्कृत के कवियों की भाँति, दूसरी गोस्वामी तुलसीदास की भाँति। इन दोनो प्रथाओं का अंतर हम एक उदाहरण द्वारा दिखलावेंगे। संस्कृत के कवि यदि भुजा का कथन करेंगे, तो वे उसकी लंबाई का, बजुल्ले का, कलाई की गठन का और अँगूठियों का वर्णन करके उसे छोड़ देंगे; किंतु यदि गोसाईंजी भुजा का वर्णन करेंगे, तो शायद इन बातों का कथन न हो, परंतु बाहु-मूल से लगाकर उँगलियों के नखों तक का, बिना उपमा-रूपक आदि के, सीधा-सादा रूप, एक-एक रोम-पर्यंत, दिखा देंगे। संस्कृत के कवि मुख्य कथा को छोड़कर रूपकों, उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं आदि पर विशेष ध्यान देंगे, सूर्योदय, समुद्र, गंगा की तरंगों आदि पर अधिक झुकाव रक्खेंगे, नायकों के काव्य-संबंधी चुटीले भाव सुझानेवाले छोटे-छोटे कर्मों तथा भावों को कहकर उनके सहारे काव्य की छटा दिखावेंगे, और सूक्ष्म रीति पर कथा का भी सूत्र लिए रहेंगे। इधर गोस्वामीजी इन बातों पर विशेष ध्यान न देंगे, किंतु मुख्य कथा को सांगोपांग, बड़े विस्तार से, कहेंगे। यदि नैषध को पढ़िए, तो कहीं-कहीं यह भूल जाता है कि हम कोई कथा पढ़ रहे हैं। जान पड़ता है, यह कोरा काव्य है; परंतु तुलसीदास की कृति में यह कहीं नहीं भूलता कि हम कथा पढ़ रहे हैं। संक्षेपतः हम इन दोनो प्रथाओं को काव्य-संबंधी प्रथा और कथा-संबंधी प्रथा

कहेंगे। महाकवि केशवदास ने इसी काव्य-प्रथा में रामचंद्रिका कही है। ये दोनो प्रथाएँ भाषा में भी स्थिर हैं, और अपने-अपने ढंग पर दोनो अच्छी हैं। रामचंद्रिका में संस्कृत के बहुतेरे श्लोकों के अनुवाद होने से इसकी मौलिकता में कमी है। आपके यहाँ अलंकारों, विचित्र कथनों आदि का तो प्राचुर्य है, किंतु रस-परिपाक बहुत ऊँचे दरजे का नहीं है। बहुत स्थानों पर आपने हनुमन्नाटक, कादंबरी, अनर्घ राघव आदि के अनुवाद रख दिए हैं। कथा में भी बहुत स्थानों पर उसकी डोर छोड़कर कूद-सा गए हैं, जिससे सामंजस्य यथोचित न होकर ग्रंथ विविध विषयों के वर्णनों का संग्रह-सा देख पड़ने लगता है। तो भी रामचंद्रिका में आरोचन की मात्रा का अच्छा प्राचुर्य है।

केशवदास का बनाया हुआ वीरसिंहदेव पर भी एक ग्रंथ है। जहाँगीर-चंद्रिका और नख-शिख, ये इनके और दो ग्रंथ हैं।

वीरसिंहदेव-चरित्र देखा गया, तो प्रायः दोहे चौपाइयों में कथा-प्रणाली का ग्रंथ पाया गया। इसकी रचना उत्तमता में साधारण है। प्रकाशित भी हो चुका है।

अब हम यथाशक्ति केशवदास की कविता के गुण-दोष दिखाने का प्रयत्न करते हैं—

केशवदास गोस्वामी तुलसीदासजी के समकालीन कवि थे। उस समय तक भाषा-साहित्य स्थिर नहीं हुआ था। इसी कारण पंडित-समाज में इनकी कविता आदर की दृष्टि से नहीं देखी जाती थी। अतः ये दोनो कवि (हिंदी) 'भाषा' में काव्य करते कुछ हिचकते या शरमाते-से थे। गोस्वामीजी ने लिखा है—

भाषा भनिति मोरि मति थोरी ; हँसिबे-जोग, हँसे नहिं खोरी।

इसी प्रकार केशवदास ने कहा है—

उपज्यो तेहि कुल मंदमति सठ कबि केसवदास ;
रामचंद्र की चंद्रिका भाषा करी प्रकास ॥ ४२ ॥

भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास ;
भाषा - कवि भो मंदमति तेहि कुल केसवदास ॥ ४३ ॥

शायद इसी भाषा-कवि होने की ग्लानि के कारण इन दोनो कवियों ने यत्र-तत्र श्लोक भी बनाए हैं। केशवदास की भाषा व्रज-भाषा थी, परंतु कहीं-कहीं बुंदेलखंडी शब्द भी इसमें मिल गए हैं। आपकी कविता में संस्कृत के शब्द बहुतायत से आते थे। इसी कारण उसमें कहीं-कहीं श्रुति-कटु शब्द भी आ गए हैं। संस्कृत-शब्दों में मिलित वर्ण बहुत-से होते हैं, किंतु हिंदी में अधिकतर ऐसे ही वर्ण श्रुति-कटु समझे जाते हैं। केशवदास शब्दों की योजना में कर्ण-कटु नहीं मानते। इनके मत में जब अर्थ-योजना ऐसी हो कि वह कहने में अच्छी न लगे, तब कर्ण-कटु दूषण होता है। यथा—

कहत न नीको लागई सो कहिए कटु - कर्न ;
केसवदास कवित्त में भूलि न ताको बर्न ॥ ४४ ॥
बारन बन्यो बनावतनि सुबरन बली बिसालु ;
चढ़िए राज मँगाइ कै मानौ राजतु कालु ॥ ४५ ॥

इस उदाहरण में एक भी शब्द कर्ण-कटु नहीं है, परंतु अर्थ में श्रुति-कटु दोष अवश्य है। इस बात के होते हुए भी केशवदास की भाषा बहुत श्लाघ्य है। दो-चार चुने-चुने आचार्यों को छोड़कर और किसी की भी भाषा इनसे श्रेष्ठ नहीं है। बहुत लोग समझते हैं कि इनकी कविता में ओज-गुण अधिकता से है, परंतु इनकी प्रायः समस्त कविता पढ़कर हम यही कहेंगे कि उसमें माधुर्य और प्रसाद गुणों की ही प्रधानता है। इनकी भाषा के उदाहरण-स्वरूप एक छंद हम नीचे देते हैं—

सोभित मंचन की अवली गज-दंतमई छबि उज्ज्वल छाई ;
ईस मनो बसुधा में सुधारि सुधाधर-मंडल मंडि जुन्हाई ।

ता महँ 'केसवदास' बिराजत राजकुमार सबै सुखदाई ;
देवन सों मिलि देव-सभा जनु सीय-स्वयंबर देखन आई ॥४६॥

आपने अपने कथावाले ग्रंथों में छंद बहुत शीघ्र बदले। इस कारण इनकी रामचंद्रिका और भी सुहावनी हो गई है। रीति और रस-ग्रंथों में इन्होंने प्रायः लक्षण आदि दोहों में और उदाहरण सवैयों अथवा दंडकों में कहे। यह रीति इन्हीं की चलाई हुई है। बाद को भाषा के प्रायः सभी कवियों ने इनका अनुकरण किया। केवल कथा-प्रसंगवाले कवियों में से बहुतों ने गोस्वामी तुलसीदास के मार्ग पर चलकर दोहे-चौपाइयों में ही कविता की।

इन्होंने तुकांत में बड़ी कड़ाई नहीं रक्खी। कई स्थानों पर सवैए के दो पदों में एक प्रकार के तुकांत रक्खे हैं, और शेष दो में बिलकुल दूसरे प्रकार के (रामचंद्रिका, अध्याय सातवाँ, छंद चौंतीसवाँ; अध्याय चौबीसवाँ, छंद बाईसवाँ; अध्याय उंतालीसवाँ, छंद छत्तीसवाँ देखिए)। विज्ञानगीता में भी एक स्थान पर 'साधु' का दूसरा तुकांत 'करालु' रक्खा (पृष्ठ १३वाँ देखिए)। इसी प्रकार कई स्थानों में किया। इससे प्रकट होता है कि आप तुकांत को अधिक नहीं मानते थे, परंतु शोक है कि इनके पीछे कवियों ने इस स्वच्छंदता को स्थिर नहीं रक्खा। भाषा में तुकांत-हीन पद लिखने में कोई दोष नहीं, परंतु अभी इसे बहुत कम लोग मानते हैं। हाल में हमारे यहाँ तुकांत-हीन कविता भी होने लगी है।

केशवदास को अनुप्रास का इष्ट न था, जैसा कि इनके बनाए हुए पूर्वोक्त छंदों से प्रकट होगा, परंतु कभी-कभी एकआध अनुप्रास-पूर्ण पद्य भी यह लिख देते थे। यथा—

सब जाति फटी दुख की दुपटी, कपटी न रहै जहँ एक घटी ;
निघटी रुचि मीचु घटीहू घटी, जग जीव जतीन की छूटी तटी।

अघ-ओघ कि बेरी कटी बिकटी, निकटी प्रकटी गुरु ज्ञान गटी ;
चहुँ ओरन नाचति मुक्ति नटी, गुन धूरजटी जटी पंचबटी ॥४७॥

इस छंद को इन्होंने 'एषा पंचवटी' इत्यादि श्लोक देखकर बना दिया होगा। आपकी कविता में अलंकार बहुतायत से आए हैं, परंतु पूर्ण रसों के उदाहरण इनकी या बहुत-से कवियों की कविता में अधिकता से नहीं पाए जाते हैं। इन्होंने परिसंख्यालंकार बहुत स्थानों पर लिखा है ('मूलन ही को जहाँ अधोगति केशव गाइय' इत्यादि)। रामराज्य का वर्णन विशेषकर परिसंख्यालंकार ही में हुआ है। उपमा, रूपक और दृष्टांत भी अधिकता से इनके काव्य में पाए जाते हैं। विज्ञानगीता में रसों और अलंकारों के साफ़ उदाहरण बहुत कम आए हैं।

केशवदास की कविता में उत्तमोत्तम छंदों का बाहुल्य है। प्रायः प्रत्येक विषय पर इन्होंने उत्कृष्ट कविता की, और वह हरएक विषय पर सराहनीय है। केशवदास को भाषा का 'मिल्टन' कहना चाहिए। इन दोनो कवियों का पांडित्य और काव्य अत्यंत सराहनीय है, परंतु शेक्सपियर और तुलसीदास एवं सूरदास की कविता के बराबर इनकी कविता नहीं पहुँचती। जहाँ केशवदास ने प्रत्येक विषय पर विशद काव्य किया है, वहाँ यह भी कहना पड़ता है कि इनकी कविता किसी स्थान पर ऐसी नहीं है कि वैसी रचना कोई दूसरा कवि न बना सका हो। कोई भी विना तन्मय हुए अद्वितीय काव्य नहीं बना सकता। हमारे कवियों में सूरदास, तुलसीदास, देव, बिहारीलाल, भूषण आदि एक-एक विषय में आसक्त थे। अतः उस-उस विषय पर इन्होंने ऐसी उत्तम, सच्ची कविता की है, जैसी किसी भाषा का कोई भी कवि उस विषय पर नहीं लिख सका। केशवदास किसी विषय में तल्लीन होकर आत्मविस्मरण नहीं कर सकते थे, अतः इनकी कविता ऐसी कहीं नहीं हुई, जिससे जान पड़े

कि मानो कवि तन्मय होकर कह रहा है। यह महाशय बड़े पंडित और बुद्धिमान् थे, परंतु स्वभाव से कवि न थे। तो भी, अद्वितीय न होने पर भी, इनकी कविता ऊँचे दरजे की है, और हम सूरदास, तुलसीदास, भूषण, बिहारी और देव के अतिरिक्त इनको किसी हिंदी-कवि से नीचा पद नहीं दे सकते।

केशवदास ने बहुत बातों के बड़े ही हृदयग्राही कथन किए हैं। निम्न-लिखित विषयों के वर्णन विशेष रूप से प्रशंसनीय हैं—

अयोध्या, स्वयंवर, सूर्योदय, राम-विवाह, परशुराम और राम का संवाद, भरत की सेना, वर्षा, लंकादाह, उपवन, रामाश्वमेध की चमू (रामचंद्रिका में) तथा वर्षा और शरद् का वर्णन (विज्ञान-गीता में)।

केशवदास सदैव महाराजों में रहे, अतः इन्होंने बड़े आदमियों की बातचीत और उनके साज-सम्मान का बहुत ही ठीक, यथा-योग्य, वर्णन किया। उदाहरणार्थ निम्न-लिखित वार्तालाप देखिए—

विश्वामित्र और दशरथ का, विश्वामित्र और जनक का, सीता और रावण का (इसमें स्त्रियों के ऊँचे पद का पूरा विचार रहा है), सीता और हनुमान् का इत्यादि। केशवदास ने केवल रावणांगद-संवाद ऐसा कराया है, जैसा राजों की सभाओं में होना असंभव है। इस विषय में वाल्मीकिजी की कविता दर्शनीय है। केशवदास ऋषियों और राजों की बातचीत में ऋषियों के मान पर सदैव ध्यान रखते थे।

इन्होंने कहीं-कहीं अनुपयुक्त कथन भी कर दिए हैं।

रावण का दूत रामचंद्र से कुछ कहने के लिये उनके पास भेजा गया था। उसने लौटकर रावण से रामचंद्र का वर्णन निम्न-लिखित दंडक द्वारा किया—

महर्षि विश्वामित्र का राक्षसों द्वारा यज्ञ में विघ्न करने से पीड़ित होना एक आश्चर्य की बात है। यह संदेह उठता है कि ऋषि लोग तो शाप से ही अपना काम चला लेते थे, तब विश्वामित्र शाप से काम न लेकर अयोध्या क्यों दौड़े आए? इसका उत्तर कुछ प्राचीन ग्रंथों ने दे दिया है। विश्वामित्र ने कई बार क्रोध करके अपनी तपस्या का फल खो दिया था, अतः उन्होंने निश्चय कर लिया कि क्रोध न करेंगे। बिना क्रोध के शाप नहीं दिया जा सकता, इस कारण वह शाप भी नहीं दे सकते थे। गोस्वामी तुलसीदास ने इस बात को बचाकर विश्वामित्र को क्रोध के वश नहीं कराया, परंतु केशव-दास ने कह दिया—

जान्यो विस्वामित्र के क्रोध बस्यो उर आय;
राजा दसरथ सों कह्यो बचन बसिष्ठ बनाय ॥ ४६ ॥

आजकल हमारे यहाँ तीर्थ-स्थान और प्रतिमा बहुत माननीय हैं, परंतु केशवदास संभवतः इन दोनो बातों के कुछ प्रतिकूल थे। इन्होंने गोदावरी के विषय में लिखा है—

रीति मनो अबिबेक कि थापी; साधुन की गति पावत पापी।

इन्होंने रामचंद्रिका में गंगासागर से सत्संग को बड़ा बतलाया है, और विज्ञानगीता में लिखा है—

चित्त न तजत विकार न्हात जद्यपि नर गंगा।

फिर इसी ग्रंथ में कहा है कि प्रतिमा-पूजन शूद्र को करना चाहिए। इन्होंने मठपतियों की इतनी निंदा की कि उनके छूने में भी पाप बतलाया। केशवदास ने असली देव की व्याख्या रामचंद्रिका के पचीसवें अध्याय में रामचंद्र से इस प्रकार कराई—

राम रमापति देव नहिं रंग न रूप न भेव;
देव कहत ऋषि कौन को सिखऊँ जाकी सेव? ॥ ५० ॥

सत चित प्रकास प्रभेव ; तेहि वेद मानत देव ।
तेहि पूजि ऋषि रुचि मंडि ; सब प्राकृतन को छंडि ॥ ५१ ॥

इसी प्रकार विज्ञानगीता के पंद्रहवें अध्याय में लिखा है—

अजन्मु है, अमनु है ; असेष अंत सनु है ;
अनादि, अंत-हीनु है ; जु नित्य ही नवीनु है ।
अरूप है, अज्ञेय है ; अमाप है, अमेय है ;
निरीह, निर्विकार है ; सुमध्य अध्यहार है ॥ ५२ ॥
अकृत्य है, अखंडित्वै ; असेष जीव मंडित्वै ;
समस्त सक्ति-जुक्त है ; सु देव देव मुक्त है ।
ताकी पूजा करहु ऋषि, कृत्रिम देवन छंडि ;
मनसा बाचा कर्मना, निपट कपट को गंडि ॥ ५३ ॥

इसी अध्याय में इन्होंने कहा कि वासना छोड़कर प्राणायाम साधना अच्छा है। इन कथनों से प्रकट है कि केशवदास भी सूरदास की भाँति केवल एक परमेश्वर को मानते और शेष देवतों को कृत्रिम समझते थे। वासना छोड़ना एवं प्राणायाम साधना गीता का आशय है। विज्ञानगीता का, उदाहरण-स्वरूप, जो छंद ऊपर कहा गया है, वह भी गीता के आशय पर है, और उसी पर विज्ञानगीता-वाला जीवन्मुक्त का यह लक्षण भी है—

लोक करैं सुख दुःखनि कै जनि राग बिरागनि या मँह आनैं ;
डारैं उपारि समूल अहंतरु, कंचन-काँच न जो पहिचानैं ।
बालक ज्यौं भँवैं भूतल में, भव आपुन से जड़-जंगम जानैं ;
केसव बेद-पुरान प्रमान तिन्हैं सब जीवनमुक्त बखानैं ॥५४॥

इन्होंने विज्ञानगीता के इस दोहे में अद्वैत मत का बड़ा ही हृदयग्राही उदाहरण दिया है—

देव अरूप, अमेय है कहे निरीह प्रकास ;
सब जीवमंडित कहौ कैसे 'केसवदास' ? ॥ ५५ ॥

ज्यों अकास घट-घटनि में पूरन लीन न होइ ;
यों पूरन संदेह मैं रहै कहैं मुनि लोइ ॥ ५६ ॥

केशवदास कहते हैं कि मनुष्य नित्यप्रति लौट-लौटकर वही कर्म करता है, परंतु आश्चर्य कि इससे वह ऊबता नहीं। इनके मत में संसार और स्वर्ग-नरक के लक्षण यों हैं—

जोही जानौ कर्म अब सबै जगत के कंत ;
आदि सरस, मध्यम बिरस, अति नीरस है अंत ॥ ५७ ॥
जोई करै सु भोगवै यह समुझौ नृपनाथ ;
स्वर्ग-नरक, बंधन-मुकुत, मानौ मन की गाथ ॥ ५८ ॥

इस प्रकार गूढ़ ज्ञान कहकर इन्होंने साधारण मनुष्यों के लिये स्थूल ज्ञान भी कहा है। केशवदास ने दान दो प्रकार के कहे हैं—एक सुपात्रों को और द्वितीय कुपात्रों को। इनके मत में कुपात्रों को दान देने से दानी को पुण्य के बदले घोर पाप होता है। सुपात्रों को दान तीन प्रकार का होता है—सात्त्विक, राजस और तामस।

पूजिए द्विज आपने कर नारिसंजुत जानिए ;
देवदेवहि थापिकै पुनि बेद-मंत्र बखानिए।
हाथ लै कुस, गोत्र उच्चरि, स्वर्नजक्त प्रमानिए ;
दान दै कछु और दीजहि दान सात्त्विक जानिए ॥ ५९ ॥
देत नहीं अपने कर दानै ; औरन हाथ जु मंगल जानै।
दानहि देत जु आरसु आवै ; सो वह राजस दान कहावै।
बिप्रन दीजत हीन बिधानै ; सो वह जानहु तामस दानै ॥ ६० ॥
द्विज धाम देहिं जु जाय ; बहु भाँति पूजि सुराय।
कछु नाहिनै परिमान ; कहिए सु उत्तम दान ॥ ६१ ॥
द्विज कौं जु देत बुलाय ; कहिए सु मध्यम राय।
गुनि जाँचना मिस दानु ; अति हीन ता कहँ जानु ॥ ६२ ॥

दान-पात्रों का क्रम इन्होंने यों कहा है—

पहिले निज ब्रतिन देहु अबै; फिरि पावहिं नागर लोग सबै।
फिरि देहु सबै निज देसिन को; उबरो धनु देहु बिदेसिन को ॥६३॥

दान सकाम तथा अकाम एवं दक्षिण (धर्म-निमित्त) और वाम (धर्म-विरुद्ध) भी होते हैं। केशवदास ने भूमिदान को सर्वश्रेष्ठ माना है। इन्होंने दान-पात्र ब्राह्मणों को ही माना है, और उन्हीं में न्यूनाधिक गुणों के कारण उत्तमता की न्यूनाधिकता कर दी है। इन्होंने भूखों, कंगालों आदि का दान में अधिक संबंध नहीं माना, और न देश-हितकारक दानों का वर्णन किया है।

केशवदास ने हर स्थान पर ब्राह्मणों की महिमा गाई है। उदाहरणार्थ दो-चार छंद नीचे लिखे जाते हैं—

द्विज दोषी न बिचारिए, कहा पुरुष, कह नारि;
राम, बिरामन कीजिए, बाम ताड़ुका तारि ॥ ६४॥

× × ×

ब्रह्म-दोष के अग्निकण सब समूल जरि जात।

× × ×

ज्यों द्विज-दोष ते संतति नासति, त्यों गुन भाजत लोभ के आगे।

× × ×

बिप्र न जानहु ये जग-रूपै, जानहु ये सब बिष्णु-स्वरूपै।
साचारो वा निराचारो साधुर्वासाधुरेव च;
अविद्यो वा सविद्यो वा ब्राह्मणो मामकी तनुः।

× × ×

जिनके पूजे तुम भए अंतर्जामी श्रीप;
तिनकी बात हमैं कहा बूझत त्रिभुवन-दीप ॥ ६५॥

× × ×

गाय, द्विजराज, तिय काज न गोहारि लागै
भोगवै नरक घोर चोर को अभय दानि।

परंतु इसके साथ ही केशवदास शत्रु पर आनेवाली दया को भी निंद्य समझते थे—

दया धिक अरि पै आवै।

अंत में आपने सब धर्मों का सार निम्न-लिखित कलि-धर्म कहा है—

जब वेद - पुरान नसैहैं ; जप तीरथ मध्य बसैहैं ।
उपदेस जु मारि किंवारे ; कलि केवल नाम उधारे ॥ ६६ ॥

स्त्रियों के वास्ते इन्होंने केवल पतिभक्ति-धर्म कहा है—

कुब्जै, कलही, काहली, कुटिल, कृतघ्न, कुरूप ;
सपने हू न तजै तरुनि कोढ़ी हू पति भूप ॥ ६७ ॥
नारी तजै न आपनो सपने हू भरतार ;
पंगु, गुंग, बौरा, बधिर, अंध, अनाथ अपार ॥ ६८ ॥

इन्होंने अपने सब ग्रंथों में अन्य ग्रंथों के छंद बराबर लिखे हैं। इनकी कविता कुछ कठिन भी होती है, यहाँ तक कि कवियों में यह बात प्रसिद्ध है—

कबि कहँ दीन न चहै बिदाई ; पूछै केसव की कबिताई ।

केशवदास सर्वव्यापिनी दृष्टि के कवि (Poet of general vision) थे। इन्होंने रामचंद्रिका में रामचंद्र की ठग से भी समता कराई है। इसका यह प्रयोजन नहीं कि कवि उन्हें ठग कहता है, वरन् जंगल में ऐसे लोग भी मिलते थे, जो उन्हें ठग समझ बैठते थे। इसी भाँति इन्होंने हनुमान् के विषय में विभीषण से रावण को यह सलाह दिलवाई कि—

एक रंक मारि क्यों बड़ो कलंक लीजई ;
बुंद सोकिगो कहा महासमुद्र छीजई ? ॥ ६९ ॥

केशवदास ने एक महाकाव्य भी बनाया, क्योंकि रामचंद्रिका वास्तव में महाकाव्य है, और महाकाव्य के लक्षण भी इसमें मिलते हैं। इन्हीं के मतानुसार भी यह उत्तम काव्य है।

केशवदास भाषा-काव्य के एक बड़े भारी कवि थे, और देवजी आदि ने भी इनको महाकवि माना है। यथा 'केसव आदि महाकविन' इत्यादि। यह महाशय भाषा में भाम-मम्मट के समान थे।

हम अब इस प्रबंध को केशवदास-कृत रचना के कुछ उदाहरणों के साथ समाप्त करते हैं। हिंदी के अनेक रसिक सूर तथा तुलसी के अतिरिक्त केशव को ही सर्वश्रेष्ठ कवि समझते हैं। हमारी समझ में इनका नंबर छठा है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इनके पीछे मतिराम का नंबर आता है।

उदाहरण—

रामचंद्रिका

बालक मृनालनि ज्यों तोरि डारै सबै काल,
कठिन कराल त्यों अकाल दीह दुख को;
बिपति हरत हठि पदुमिनि-पात-सम,
पंक ज्यों पताल पेलि पठवै कलुष को।
दूरि कै कलंक अंक भव-सीस-ससि-सम,
राखत हैं 'केसौदास' दास के बपुष को।
साँकरे की साँकरनि सनमुख होत ही त्यों
दसमुख मुख जोवै गजमुख मुख को॥ ७०॥

बानी जगरानी की उदारता बखानी जाइ,
ऐसी मति कहौ धौं उदार कौन की भई?
देवता, प्रसिद्ध सिद्ध, ऋषिराज तप-बृद्ध,
कहि-कहि हारे सब, कहि न केहूँ लई!
भावी, भूत, बर्तमान जगत बखानत हैं,
'केसौदास' कहूँ न बखानी काहू पै गई;
पति कहै चारि मुख, पूत कहै पाँच मुख,
नाती कहै षटमुख, तदपि नई-नई॥ ७१॥

पूरन पुरान अरु पुरुष पुरान परि-
पूरन बतावै न बतावैं और उक्ति को ;
दरसन देत जिन्हैं दरसन समुझे न,
नेति-नेति कहैं बेद छाँड़ि भेद जुक्ति को ।
जानि यह 'केसौदास' अनुदिन राम-राम,
रटत रहत, न डरत पुनरुक्ति को ;
रूप देहि अनिमाहि, गुन देहि गरिमाहि,
भक्ति देहि महिमाहि, नाम देहि मुक्ति को ॥ ७२ ॥

× × ×

बोलि न बोल्यो बोल, दयो फिरि ताहि न दीन्हों ;
मारि न मारयो सत्रु, क्रोध मन बृथा न कीन्हों ।
जुरि न मुरे संग्राम, लोक की लीक न लोपी ;
दान, सत्य, सनमान, सुजस दिसि-बिदिसा ओपी ।
मन लोभ, मोह, मद कामबस भयो न 'केसवदास' भनि ;
सोइ परब्रह्म श्रीराम हैं, अवतारी अवतारमनि ॥ ७३ ॥
गाधिराज को पुत्र साधि सब मित्र सत्रु-बल ;
दान कृपान विधान बस्य कीन्हो भुवमंडल ।
कै मन अपने हाथ, जीति जग इंद्रियगन अति ;
तप-बल याही देह भए छत्रिय ते ऋषिपति ।
तेहि पुर प्रसिद्ध 'केसव' सुमति काल अतीतागतनि गुनि ;
तहँ अदभुत गति पगु धारियो बिस्वामित्र पवित्र मुनि ॥ ७४ ॥
पुनि आए सरजू सरित तीर ;
तहँ देखे उज्जल अमल नीर ।
नव निरखि-निरखि दुति गति गँभीर ;
कछु बरनन लागे सुमति धीर ॥ ७५ ॥

अति निपट कुटिल गति जदपि आप ;
वह देत सुद्ध गति छुवत आप ।
कछु आपुन अध-अध गति चलंत ;
फल पतितन कहँ ऊरध फलंत ॥ ७६ ॥
मदमत्त जदपि मातंग संग ;
अति तदपि पतित-पावन तरंग ।
बहु न्हाइ-न्हाइ जेहि जल सनेह ;
सब जात स्वर्ग सूकर सदेह ॥ ७७ ॥
देखी बन-बारी, चंचल-भारी, तदपि तपोधन मानी ;
अति तपमय लेखी, गृह-थित पेखी, जगत दिगंबर जानी ।
जग जदपि दिगंबर, पुष्पवती नर, निरखि-निरखि मन मोहैं ;
पुनि पुष्पवती तन, अति-अति पावन, गर्भ-सहित सब सोहैं ॥ ७८ ॥
पुनि गर्भ सँजोगी, रति रस-भोगी, जग जनलीन कहावै ;
गुनि जगजनलीना, नगर प्रबीना, अति पति के चित भावै ।
अति पतिहि रमावै, चित्त भ्रमावै, सौतिन प्रेम बढ़ावै ;
अब यों दिन-रातिन अद्भुत भाँतिन कवि-कुल-कीरति गावै ॥ ७९ ॥
मूलन ही की जहाँ अधोगति 'केसव' गाइय ;
होम-हुतासन-धूम नगर एकै मलिनाइय ।
दुर्गति दुर्गन ही, जु कुटिल गति सरितन ही मैं ;
श्रीफल को अभिलाष प्रकट कबिकुल के जी मैं ।
अति चंचल जहँ चलदलै, बिधवा बनी न नारि ;
मन मोह्यो ऋषिराज को अद्भुत नगर निहारि ॥ ८० ॥

× × ×

जिन हाथन हठि हरषि हनत हरिनी नृपनंदनि ;
तिन न करत संहार कहा मदमत्त-गयंदनि ?

जिन वेधत सुख लच्छ-लच्छ नृपकुँअर, कुँअरमनि ;
तिन बाननि बाराह, बाघ मारत नहिं सिंहनि ?
नृप-नाथ नाथ दसरथ, सुनिय, अकथ कथा यह मानिए ;
मृगराज राज-कुल-कलस अब बालक वृद्ध न जानिए ॥ ८१ ॥

× × ×

तरु तालीस, तमाल, ताल, हिंताल, मनोहर ;
मंजुल बजुल, तिलक, लकुच-कुल, नारिकेर बर ।
एला, ललित लवंग, संग पुंगीफल सोहैं ;
सारो, सुक-कुल कलित, चित्त कोकिल, अलि मोहैं ।
सुभ राजहंस, कलहस-कुल, नाचत मत्त मयूरगन ;
अति प्रफुलित, फलित सदा रहै 'केसवदास' बिचित्र बन ॥ ८२ ॥

× × ×

सोभित मंचन की अवली गजदंतमई छबि उज्जल छाई ;
ईस मनौ बसुधा मैं सुधारि सुधाधर-मंडल मंडि जुन्हाई ।
तामहँ 'केसवदास' बिराजत राजकुमार सबै सुखदाई ; .
देवन सों जनु देव-सभा मिलि संय-स्वयंबर देखन आई ॥८३॥

× × ×

कुंडल परसन मिस कहत, कहौ कौन यह राज ;
संभु-सरासन-गुन करौं करनालंबित आज ? ॥८४॥

रावण—

बज्र को अखर्ब गर्ब गंज्यो जेहि पर्बतारि,
जीत्यो है सुपर्ब सर्ब भाजे लै-लै अंगना ;
खंडित अखंड आसु कीन्हो है जलेस-पासु,
चंदन सों चंद्रिका सों कीन्हीं चंद-बंदना ।
दंडक में कीन्हो कालदंड हू को मान खंड,
मानो कीन्ही काल ही की काला-खंड-खंडना ;

'केसव' कोदंड बिस-दंड ऐसे खंडे अब
मेरे भुज-दंडन की बड़ी है बिडंबना ॥ ८५ ॥

बाण—

हौं जब हीं जब पूजन जात पिता-पद-पावन पाप-प्रनासी ;
देखि फिरौं तब हीं तब रावन सातौ रसातल के जे बिलासी ।
लै अपने भुजदंड अखंड करौं छिति-मंडल छत्र-प्रभा-सी ;
जानै को 'केसव' केतिक बार मैं सेस के सीसन दीनी उसासी ॥ ८६ ॥
कैटभ-सो, नरकासुर-सो पल मैं मधु-सो, मुर-सो ज्यहि मारयो ;
लोक चतुर्दस-रच्छक 'केसव' पूरन बेद-पुरान बिचारयो ।
श्री-कमला-कुच-कुंकुम-मंडित पंडित देव अदेव निहारयो ;
सो कर माँगन को बलि पै करतारहु ने कर तार पसारयो ॥ ८७ ॥

रावण—

भौंर ज्यों भँवत भूत बासुकी-गनेस-जुत,
मानौ मकरंद-बुंद माल गंगजल की ;
उड़त पराग पट-नाल-सी बिसाल बाहु,
कहा कहौं 'केसौदास' सोभा पल-पल की ।
आयुध सकल सर्वमंगलासमेत सर्ब,
पर्बत उठाय गति कीन्ही है कमल की ;
जानत सकल लोक, लोकपाल, दिगपाल,
जानत न बान, बात मेरे बाहु-बल की ? ॥ ८८ ॥

× × ×

खंडित मान भयो सबको नृप-मंडल हारि रह्यो जगती को ;
ब्याकुल बाहु, निराकुल बुद्धि, थक्यो बल-बिक्रम लंकपती को ।
कोटि उपाव किए, कहि 'केसव' केहूँ न छाँड़त भूमि रती को ;
भूरि बिभूति प्रभाव सुभावहि ज्यों न चलै चित जोगि जती को ॥ ८९ ॥

× × ×

प्रभात-वर्णन

व्योम मैं मुनि देखिए रबि लाल श्री-सुख साजहीं ;
सिंधु मैं बड़वागि की जनु ज्वाल-माल बिराजहीं ।
पद्मरागनि की किधौं दिवि धूरि-पूरित सोहई ;
सूर बाजिन की खुरी अति तिच्छता तिनकी हई ॥ १० ॥
चढ़यो गगन-तरु धाय, दिनकर बानर अरुन मुख ;
दीन्ह्यो झुकि झहराय, सकल तारका कुसुम बिन ॥ ११ ॥

× × ×

राम-जनकपुर-गमन—

सातहु दीपन के अवनीपति हारि रहे जिय मैं जब जाने ;
बीस बिसे व्रत-भंग भयो सु कहौ अब 'केसव' को धनु ताने ?
सोक कि आगि लगी परिपूरन, आइ गए घनस्याम बिहाने ;
जानकि के, जनकादिक के सब फूलि उठे तरु-पुन्य पुराने ॥ १२ ॥

× × ×

सब छत्रिन आदि दै काहू छुई न, छुए बिजनादिक बात डगै ;
न घटै न बढ़ै निसि-बासर 'केसव' लोकन को तम-तोम भगै ।
भवभूषन भूषित होत नहीं, मदमत्त गजादि-मषी न लगै ;
जल हू थल हू परिपूरन श्री निमि के कुल अद्‌भुत ज्योति जगै ॥ १३ ॥
आपने-आपने ठौरनि तौ भुवपाल सबै भुव-पालैं सदाई ;
केवल नाम ही के भुवपाल कहावत हैं, भुव पालि न जाई ।
भूपन की तुम ही धरि देह बिदेहन मैं कल कीरति गाई ;
'केसव' भूषन की भव-भूषन भू-तन ते तनया उपजाई ॥ १४ ॥
एक सुखी यहि लोक बिलोकिए, हैं वहि लोक निरे-पगधारी ;
एक इहाँ दुख देखत 'केसव', होत वहाँ सुरलोकबिहारी ।

रन राजकुमार अरूझहिंगे जू ;
बहु सम्मुख घायनि जूझहिंगे जू ।
जनु ठौरनि-ठौरनि भूमि नवीने ;
तिनके चढ़िबे कहँ मारग कीने ॥ १०७ ॥
रहि पूरि बिमाननि व्योमथली ;
तिनको जनु टारन धूरि चली ।
परिपूरि अकासहि धूरि रही ;
सु गयो मिटि सूर-प्रकास सही ॥ १०८ ॥
अपने कुल को कलह क्यों देखहिं रबि भगवंत ;
यहै जानि अंतर कियो मानौ मही अनंत ॥१०९॥
बहु तामहँ दीह-पताक लसैं ;
जनु धूम मैं अग्नि की ज्वाल बसैं ।
रसना किधौं काल कराल घनी ;
किधौं मीचु नचै चहुँ ओर बनी ॥ ११० ॥
देखि भरत की चल धुजा धूरिन मैं सुख देति ;
जुद्ध-जुरन को मनहुँ प्रति जोधन बोले लेति ॥१११॥

× × ×

स्फुट

कच स्वेत बिराजैं, कीरति राजैं, जनु 'केसव' तप-बल की ;
तनु बलित पलित जनु सकल बासना निकरि गई थल-थल की ।
कंपित सुभ-ग्रीवा, सब अँग सीवा, देखत चित्त भुलाहीं ;
जनु अपने मन प्रति, यह उपदेसति, या जग मैं कछु नाहीं ॥११२॥

× × ×

सब जाति फटी दुख की दुपटी, कपटी न रहै जहँ एक घटी ;
निघटी रुचि मीचु घटी हू घटी, जग जीव जतीन की छूटी तटी ।

अघ-ओघ की बेरी कटी बिकटी, निकटी प्रगटी गुरु-ज्ञान-गटी ;
चहुँ ओरन नाचति मुक्ति नटी गुन धूरजटी जटी पंचबटी ॥११३॥

× × ×

लंका में सीता

हिमांशु सूर-सो लगै सु बात बज्र-सी बहै ;
दिसा लगैं कृसानु ज्यों बिलेप अंग को दहै ।
बिसेष कालराति-सी कराल राति मानिए ;
बियोग सीय को न, काल लोकहार जानिए ॥ ११४ ॥

पतिनी पति बिनु दीन अति, पति पतिनी बिनु मंद ;
चंद बिना ज्यों जामिनी, ज्यों बिन जामिनि चंद ॥ ११५ ॥

× × ×

कहूँ किन्नरी किंनरी लै बजावैं ;
सुरी, आसुरी बाँसुरी गीत गावैं ।
कहूँ अच्छिनी पच्छिनी लै पढ़ावैं ;
नगीकन्यका पन्नगी को नचावैं ॥ ११६ ॥
पियैं एक हाला, गुहैं एक माला ;
बनी एक बाला नचैं चित्रसाला ।
कहूँ कोकिला कोक की कारिका को ;
पढ़ावैं सुआ लै सुकी सारिका को ॥ ११७ ॥
फिरयो देखिकै राजसाला सभा को ;
रह्यो रीझि कै बाटिका की प्रभा को ।
फिरयो बीर चौहूँ चितै सुद्ध गीता ;
बिलोकी भली सिंसुपा-मूल सीता ॥ ११८ ॥

आँसु बरषि, हियरे हरषि, सीता सुखद सुभाइ ;
निरखि-निरखि पिय-मुद्रिकहि बरनति हैं बहु भाइ ॥ ११९ ॥

यह सूर - किरन तम - दुःख - हारि ;
ससि - कला किधौं उर - सीतकारि ।
कल कीरति - सी सुभ सहित नाम ;
कै राज - सिरी यह तजी गाम ॥ १२० ॥

कै नारायन - उर सम लसंति ;
सुभ अंकन ऊपर श्री - बसंति ।
बर बिद्या - सी आनंद दानि ;
जुत अष्टापद मनु सिवा मानि ॥ १२१ ॥

जनु माया अच्छर सहित देखि ;
कै पत्रो निश्चयदानि लेखि ।
प्रिय - प्रतीहारिनी-सी निहारि ;
'श्रीरामोजय' उच्चारकारि ॥ १२२ ॥

पिय पठई मानौ सखि सुजान ;
जगभूषन को भूषन - निधान ।
निजु आई हमको सीख देन ;
यह किधौं हमारो मरमु लेन ॥ १२३ ॥

सुखदा, सिखदा, अर्थदा, जसदा, रसदातारि ;
रामचंद्र की मुद्रिका किधौं परम गुरुनारि ॥ १२४ ॥

बहुबरना, सहजप्रिया, तमगुनहरा प्रमान ;
जग मारग दरसावनी सूरजकिरन समान ॥ १२५ ॥

श्रीपुर मैं, बन - मध्य हौं, तू मग करी अनीति ;
कहि मुँदरी, अब तियन की को करिहै परतीति ? ॥ १२६ ॥

कहि कुसल मुद्रिके, रामगात ;
पुनि लछिमन सहित समान तात ;
यह उत्तर देति न बुद्धिवंत ;
केहि कारन धौं हनुमंत संत ? ॥ १२७ ॥

तुम पूछति कहि मुद्रिके, मौन होति यहि नाम ;
कंकन की पदवी दई तुम बिन या कहँ राम ॥ १२८ ॥

दीरघ दरीन बसैं 'केसौदास' केसरी ज्यों,
केसरी को देखि बन-करी ज्यों कंपत हैं ;
बासर की संपति उलूक ज्यों न चितवत,
चकवा ज्यों चंद चितै चौगुनो चपत हैं।
केकी सुनि ब्याल ज्यों बिलात जात घनस्याम,
घनन के घोरन जवासे ज्यों तपत हैं ;
भौंर ज्यों भँवत बन, जोगी ज्यों जगत रैनि,
साकत ज्यों राम नाम तेरोई जपत हैं ॥ १२९ ॥

× × ×

लंका-दहन—

जटी अग्नि-ज्वाला अटा स्वेत हैं यों ;
सरत्काल के मेघ संध्यासमै ज्यों।
लगी ज्वाल-धूमावली नील राजै ;
मानो स्वर्न की किंकिनी नाग साजै ॥ १३० ॥

लसैं पीत छत्री मढ़ी ज्वाल मानौ ;
ढके ओढ़नी लंक बच्छोज जानौ।
जरैं जूह-नारी चढ़ीं चित्रसारी ;
मनौ चेटका मैं सती सत्यधारी ॥ १३१ ॥

कहूँ रैनिचारी गहे ज्योति गाढ़े ;
मनो ईस-रोषाग्नि में काम डाढ़े।
कहूँ कामिनी ज्वाल-मालानि भोरैं ;
तजैं लाल सारी, अलंकार तोरैं ॥ १३२ ॥

कहूँ भौन-राते रचे धूमछाँही ;
ससी-सूर मानौ लसैं मेघ माहीं।

जरैं सखशाला मिली गंधमाला ;
मलै अद्रि मानो लगी दाव-ज्वाला ॥ १३३ ॥
चली भागि चौहूँ दिसा राजधानी ;
मिली ज्वालमाला फिरैं दुःखदानी
मनौ ईस-बानावली लाल लोलैं ;
सबै दैत्य-जायान के संग डोलैं ॥ १३४ ॥

लंक लगाइ दई हनुमान बिमान बचे अति उच्चरुखी है ;
पावि फटैं उचटैं बहुधा मनि, रानी रटैं बहु पानी दुखी है ।
कंचन को पघिल्यो पुर पूर, पयोनिधि मैं पसरेति सुखी है ;
गंग हजारमुखी गनि 'केसौ' गिरा मिली मानौ अपारमुखी है ॥ १३५ ॥

× × ×

स्फुट

भार के उतारिबे को औतरे हौ रामचंद्र,
किधौं 'केसौदास' भूरि भारत प्रबल दल ;
टूटत हैं तरुवर, गिरे गन गिरिबर,
सूखे सब सरवर, सरिता सकल जल ।
उचकि चलत हरि दचकनि - दचकत,
मंच ऐसे मचकत भूतल के थल-थल ;
लचकि-लचकि जात सेष के असेष फन,
भागि गई भोगवती अतल-बितल-तल ॥ १३६ ॥

× × ×

राघव की चतुरंग चमू चय धूरि उठी जल हू थल छाई ;
मानौ प्रताप-हुतासन-धूम सु 'केसवदास' अकासन माई ।
मेटिकै पंच प्रभूत किधौं बिधि रेनुमई नव रीति चलाई ;
दुःख-निवेदन को भव-भार को भूमि किधौं सुरलोक सिधाई ॥ १३७ ॥

दीनदयालु कहावत हौ हरि, हौं अति दीन दसा गहि गाढ़ो ;
रावन के अघ-ओघ मैं 'केसव' बूड़त हौं बरही गहि काढ़ो।
ज्यों गज की, पहलाद कि कीरति, त्यों ही विभीषन को जस बाढ़ो ;
आरत बंधु पुकार सुनो किन, आरत हौं तौ पुकारत ठाढ़ो ॥१३८॥
'केसव' आपु सदा ही सह्यो दुख, दासन देखि सके न दुखारे ;
जाको भयो जेहि भाँति जहाँ दुख, ताहि तहाँ तिहि भाँति उघारे।
मेरियै बार अबार कहा, कहुँ नाहिन दास के दोष बिचारे ;
बूड़त हौं महामोह-समुद्र मैं, राखत काहे न राखनहारे ॥१३९॥

× × ×

इनको बिलगु न मानिए कहि 'केसव' पल आधु ;
पानी, पावक, पौन, प्रभु, ज्यों असाधु त्यों साधु ॥ १४० ॥

× × ×

महामीचुदासी सदा पाइँ धोवै ;
प्रतीहार ह्वै कै सदा सूर सोवै।
छपानाथ लीन्हे रहै छत्र जाको ;
करैगो कहा सत्रु सुग्रीव ताको ? ॥ १४१ ॥
सका - मेघमाला, सिखी - पाककारी ;
करै कोतवाली महादंडधारी।
पढ़ै बेद ब्रह्मा सदा द्वार जाके ;
कहा बापुरो सत्रु सुग्रीव ताके ? ॥ १४२ ॥
पेट चढ़यो, पलना, पलिका चढ़ि पालकि हू चढ़ि मोद मढ़यो रे ;
चौक चढ़यो, चितसारी चढ़यो, गज-बाजि चढ़यो, गढ़ गर्ब गढ़यो रे।
ब्योम बिमान चढ़योई रहै, कहि 'केसव' सो कबहूँ न पढ़यो रे ;
चेतत नाहिं रह्यो चढ़ि चित्त, सु चाहत मूढ़ चिता हू चढ़यो रे ॥१४३॥

× × ×

लंका-युद्ध

जाके रथाग्र पर सर्प-ध्वजा बिराजै;
    औ सूर्य-मंडल-बिडंबन जोति साजै।
आखंडलीय बपु जो तनत्रानधारी;
    देवांतकै सु सुरलोक बिपत्तिकारी॥ १४४॥
जो हंसकेतु भुजदंड निषंगधारी;
    संग्राम सिंधु बहुधा अवगाहकारी।
कीन्हीं छँड़ाइ जेहि देव-अदेव-बामा;
    सोई खरात्मज बली मकराच्छ-नामा॥ १४५॥

× × ×

हन्यो बिघ्नकारी बली बीर बामै;
गयो सीघ्रगामी गए एक जामै।
    चल्यो लै सबै पर्बतै कै प्रनामै;
    न जान्यो बिसल्यौषधी कौन तामैं॥ १४६॥
लसैं ओषधी चारु भो ब्योमचारी;
कहैं देखि यों देवदेवाधिकारी।
    पुरी भौम की-सी लिए सीस राजै;
    महामंगलार्थी हनूमंत गाजै॥ १४७॥
किधौं प्रात ही काल जी में बिचारयो;
चल्यो अंसु लै अंसुमाली सँहारयो।
    किधौं जात ज्वालामुखी जोर कीन्हें;
    महामृत्यु जामें मिटै होम कीन्हें॥ १४८॥

× × ×

भगी देखिकै सकि लंकेस-बाला;
दुरी दौरि मंदोदरी चित्रसाला।

तहाँ दौरि गो बालि को पूत फूल्यो ;
सबै चित्र की पुत्रिका देखि भूल्यो ॥ १४६॥

गहै दौरि जाको, तजै ताकि ताको ;
तजै जा दिसा को, भजै बाम ताको ।
भली कै निहारी सबै चित्रसारी ;
लहै सुंदरी क्यों दरी को बिहारी ? ॥ १५० ॥

तजै दृष्टि को चित्र की सृष्टि धन्या ;
हँसी एक ताको तहीं देव-कन्या ।
तहीं हास ही देव-कन्या दिखाई ;
गही संकिकै लंक-रानी बताई ॥ १५१ ॥

सु-भ्रानी गहे-केस लंकेसरानी ;
तम-श्री मनो सूर सोभानिसानी ।
गहे बाँह ऐंचै चहूँ ओर ताको ;
मनौ हंस लीन्हे मृनाली-लता को ॥ १५२ ॥

छुटी कंठमाला, लरैं हार टूटे ;
खसैं फूल फूले, लसैं केस छूटे ।
फटी कंचुकी, किंकिनी चारु छूटी ;
पुरी काम की-सी मनौ रुद्र लूटी ॥ १५३ ॥

बिना कंचुकी स्वच्छ बच्छोज राजैं ;
किधौं साँच हू श्रीफलै सोभ साजैं ।
किधौं स्वर्न के कुंभ लावन्य पूरे ;
बसीकर्न के चूर्न संपूर्न रूरे ॥ १५४ ॥

मनो इष्टदेवै सदा इष्ट ही के ;
किधौं गुच्छ द्वै काम-संजीवनी के ।
किधौं चित्त-चौगान के मूल से हैं ;
हिए हेम के हाल गोला बिमोहैं ॥ १५५ ॥

सुनी लंक-रानीन की दीन बानी;
तहीं छाँड़ि दीन्हों महामौनमानी।
उठ्यो सो गदा लै जदा लंक-बासी;
गए भागिकै सर्व साखा-बिलासी ॥ १५६ ॥

× × ×

जुद्ध जोई जहाँ भाँति जैसी करै, ताहि ताही दिसा रोकि राखै तहीं;
आपने अस्त्र लै सस्त्र काटै सबै ताहि केहू कहूँ घाव लागै नहीं।
दौरि सौमित्रि लै बानकोदंड ज्यों खंड खंडी भुजा बीर-छत्रावली;
सैल-सृंगावली छोड़ि मानौ उड़ी एक ही बेर कै हंस-बंसावली ॥ १५७ ॥
लच्छन सुभ लच्छन बुद्धि-बिचच्छन रावन सों रिस छोड़ि दई;
बहु बानन छंडैं जे सिर खंडैं ते फिरि मंडैं सोभनई।
जद्यपि नर पंडित गुन-गन-मंडित रिपुबल-खंडित भूलि रहे;
तजि मन-बच-कायक सुर-सहायक रघुनायक सों बचन कहे ॥ १५८ ॥
ठाढ़ो रन गाजत केहुँ न भाजत तन-मन लाजत सब लायक;
सुनि श्रीरघुनंदन मुनिजन बंदन दुष्ट-निकंदन सुखदायक।
अब टरै न टारयो मरै न मारयो हौं हठि हारयो धरि सायक;
रावन नहिं मारत, देव पुकारत ह्वै अति आरत जगनायक ॥ १५९ ॥

× × ×

जेहि सर मधु, मुर मरदि महासुर मर्दन कीन्हेउ;
मारेहु कर्कस नरक, संख हति संख जु लीन्हेउ।
निष्कंटक सुर-कंटक करयो, कैटभ-बपु खंडयो;
खर, दूषन, त्रिसिरा, कबंध, तरु-खंड बिहंडयो।
सह कुंभकर्न ज्यहि संहरयो, पल न प्रतिज्ञा ते टरयो;
तेहि बान प्रान दसकंठ के कंठ दसौ खंडित करयो ॥ १६० ॥

× × ×

सिगरे तन भूषन भूषित कीने;
धरिकै कुसुमावलि अंग नवीने।

द्विज, देवनि बंदि पढ़ी सुभ गीता;
तब पावक अंक चली चढ़ि सीता ॥ १६१ ॥

सबस्रा सबै अंग सिंगार सोहैं;
बिलोके रमा, देव, देवी बिमोहैं।
पिता-अंक ज्यों कन्यका सुभ्र गीता;
लसै अग्नि के अंक त्यों सुद्ध सीता ॥ १६२ ॥

महादेव के नेत्र की पुत्रिका-सी;
कि संग्राम की भूमि मैं चंडिका-सी।
मनो रत्न-सिंहासनस्था सची है;
किधौं रागिनी राग पूरे रची है ॥ १६३ ॥

गिरा पूर में है पयो-देवता-सी;
किधौं कंज की मंजु सोभा प्रकासी।
किधौं पद्म ही में सिफाकंद सोहै;
किधौं पद्म के कोस पद्मा बिमोहै ॥ १६४ ॥

कि सिंदूर-सैलाग्र मैं सिद्ध-कन्या;
किधौं पद्मिनी सूर-संजुक्त धन्या।
सरोजासना है मनौ चारु बानी;
जपा-पुष्प के बीच बैठी भवानी ॥ १६५ ॥

मनौ ओषधी-बृंद मैं रोहिनी-सी;
कि दिग्दाह मैं देखिए जोगिनी-सी।
धरा-पुत्र ज्यों स्वर्न-माला प्रकासै;
मनौ ज्योति-सी तच्छका भोग भासै ॥ १६६ ॥

आसावरी मानिक-कुंभ सोभै
असोक-लग्ना बन-देवता-सी;
पालास-माला - कुसुमालिमध्ये,
बसंत-लछमी सुभ-लच्छना-सी।

आरक्त-पत्रा सुभचित्र-पुत्री,
मनौ बिराजै अति चारु बेखा ;
संपूर्न सिंदूर-प्रभास कैधौं,
गनेस-भाल-स्थल चंद्र-रेखा ॥ १६७ ॥

× × ×

विज्ञानगीता

लोग लगे सिगरे अपमारग, पोच भलो-बुरो जानि न जाई ;
चंचल हस्तिन को सुखदा अचला बिच दामिनि को दुखदाई ।
हंस, कलानिधि, सूर प्रभा हत, खंड सिखंडनि की अधिकाई ;
'केसव' पावसकाल, किधौं अबिवेक महीपति की ठकुराई ॥१६८॥

कविप्रिया

रतनाकर लालित सदा परमानंदहि लीन ;
अमल कमल कमनीय कर रमा कि रायप्रबीन ॥ १६९ ॥
रायप्रबीन कि सारदा सुचि रुचि-रंजित अंग ;
बीना - पुस्तक - धारिनी राजहंससुत - संग ॥ १७० ॥
बृषभ-बाहिनी अंग जुत बासुकि लसत प्रबीन ;
सिव सँग सोहति सर्बदा सिवा कि रायप्रबीन ॥ १७१ ॥

नारायन कीन्हीं मनि उर अवदात गनि,
कमला कि बानी भनि सोभा सुभ सारु है ;
'केसव' सुरभि केस सारदा सुबेस बेस,
नारद को उपदेस बिसद बिचारु है ।
सौनक ऋषि बिसेषि सीरष सिखानि लेखि,
गंगा की तरंग देखि बिमल बिहारु है ;
राजा दसरथ-सुत सुनो राजा रामचंद्र,
रावरो सुजस सब जग को सिंगारु है ॥ १७२ ॥

सीतल समीर टारु, चंद्र-चंद्रिका निवारु,
ऐसे ही तौ 'केसौदास' हरष हेरातु है;
फूलनि फैलाइ झारि डारु घनसारु चट,
चंदन को ढारु चित्त चौगुनो पिरातु है।
नीर-हीन मीन मुरझाइ जीवै नीर ही ते,
छीर के छिरीके कहा धीरज धिरातु है;
पाइहै तो पीर किधौं यौं हीं उपचारु करै,
आगि हीको डाढ़ो अंग आगि ही सिरातु है॥ १७३॥
को है दमयंती, इंदुमती, रति राति-दिन,
होहिं न छबीली छिन छबि जो सिंगारिए;
'केसव' लजात जलजात जातबेद ओप,
जातरूप बापुरो बिरूप-सो निहारिए।
मदन निरूपम निरूपननिरूप भयो,
चंद बहुरूप अनरूपक बिचारिए;
सीताजू के रूप पर देवता कुरूप को हैं,
रूप हू को रूप सो लै वारि-वारि डारिए॥ १७४॥
सारिका खात न माखन दाखन दाड़िम हू सह मेटि इठाई;
'केसव' ऊख, मयूखहु दूखत आई हौं तो पहँ छोड़ि जिठाई।
तो रदनच्छद को रस रंचक चाखि गए करि केहूँ ढिठाई;
ता दिन ते उन राखी उठाइ समेत सुधा बसुधा की मिठाई॥१७५॥
बालि बध्यो, बलिराउ बँध्यो, कर सूली के सूल कपाल थली है;
काम जर्यो जग काम पर्यो बँधि सेष धर्यो बिष हालाहली है।
सिंधु बँध्यो, किल काली नथ्यो कहि 'केसव' इंद्र कुचालि चली है;
राम हू की हरी रावन बाम, तिहूँ पुर एक अदृष्ट बली है॥१७६॥
पाप के पुंज पखावज 'केसव', सोक के संख सुने सुखमा में;
झूठ के झालर, झाँझ अलीक के, कौतुक मो कलि के कुरमा में।

मेद की भेरी, बड़े डर के डफ, आवक्र जूथ न जानी जमा में ;
जूझत ही बरबीर बजे बहु दारिद के दरबार दमामें ॥१७७॥

'केसौदास' ओरछे के आस-पास तीस कोस,
तुंगारन्य नाम बन बैरी को अजीत है ;
बिधि-कैसो बंधु बरबारन बलित बाघ,
बानर, बराहु बहु झिल्ल को अभीत है।
जम की जमाति-सो कि जामवंत-कैसो दल,
महिषसुखद स्वच्छ रिच्छनि को मीत है ;
अचल अनलवंत सिंधु-सो सरितजुत,
संभु-कैसो जटाजूट परम पुनीत है ॥१७८॥

भूति बिभूति पियूषहु की बिषईस सरीस को पाप बियो है ;
है किधौं 'केसव' कस्यप को घरु देव-अदेवनि के मन मोहै।
संत हियो कि बसैं हरि संतत सोभ अनंत कहै कबि को है ;
चंदन-नीर-तरंग-तरंगित नागर कोउ कि सागर सोहै ॥१७९॥

नीके कै केंवार दैहौं द्वार-द्वार 'केसौदास',
मेरे घर आस-पास सूरजौ न छावैगो ;
छिन में छवाय लैहौं ऊपर अटानि आज,
आँगन पटाय लैहौं जैसे मोहि भावैगो।
न्यारे-न्यारे नापदान मूँदिहौं झरोखा-जाल,
पाय है न पैंड़ो पौन आवन न पावैगो ;
माधव, तिहारे पीछे मोपहिं मरन मूढ़,
आवन कहत, सु तो कौन पैंड़े आवैगो ? ॥१८०॥

'केसव' सरिता सकल मिलत सागर मन मोहै ;
ललित लता लपटानि तरुन तन तरुवर सोहै।
रुचि चपला मिलि मेघ चपल चमकत चहुँ ओरन ;
मनभावन कहँ भेंटि भूमि कूजत मिस मोरन।

इहि रीति रमन रमनीन सों रमन लगे मनभावने ;
पिय, गमन करन का को कहै, गमन न सुनियत सावने ॥१८१॥

धिक मंगन बिनु गुनहिं गुनहिं धिक सुनत न रीझिय ;
रीझनु धिक बिनु मौज, मौज धिक देत जु खीझिय।
दीबो धिक बिनु साँचु, साँचु धिक धर्म न भावै ;
धर्म सु धिक बिनु दया, दया धिक अरि पहँ आवै।
अरि धिक चित्त न सालई, चित धिक जहँ न उदार मति ;
मति धिक 'केसव' ज्ञान बिनु, ज्ञान सुधिक बिनु हरि-भगति ॥१८२॥

कर्न-से दुष्ट ते पुष्ट हुते भट पाय सपुष्टन सासन टारे ;
सोदर सेन दुसासन-से सब साथ समर्थ भुजा उसकारे।
हाथी हजारन के बल 'केसव' खैचि थके पट को डर डारे ;
द्रौपदी को दुरजोधन पै तिल अंग तऊ उघरयो न उघारे ॥१८३॥

रसिकप्रिया

बन मैं बृषभान-कुमारि मुरारि रमैं रुचि सों रस-रूप पिए ;
कल कूजित पूजित काम-कला बिपरीत रची रति केलि किए।
मनिसोभित स्याम जराइ जरी अति चौकीं चलै चल चारु हिए ;
मखतूल के झूल झुलावत 'केसव' भानु मनौ सनि अंक लिए ॥१८४॥

'केसव' एक समै हरि-राधिका आसन एक लसे रस-भीने ;
आनँद सों तिय-आनन की दुति देखत दर्पन त्यों दुति दीने।
बाल के भाल मैं लाल बिलोकत ही भरि लोचन लालन लीने ;
सासन पोय सवासन सीग्र हुतासन मैं मनौ आसन कीने ॥१८५॥

कानन के रँगे रंग, नैनन के डोलौ संग,
नासाग्र रसना के रस ही समाने हौ ;
और कहा कहौं गूढ़ मूढ़ हौ जू जानि बाहु,
'केसौदास' प्रौढ़ रूढ़ नीके करि जाने हौ।

तन आन, मन आन, कपट-निधान कान,
साँची कहौ मेरी आन काहे को डराने हौ ;
वे तो हैं बिकानी हाथ मेरे, हौं तुम्हारे हाथ,
तुम ब्रजनाथ, हाथ कौन के बिकाने हौ ? ॥ १८६ ॥

चंचल न हूजै नाथ, अंचल न खैंचो हाथ,
सोवै नीके सारिकाऊ सुक तो सोवायो जू ;
मंद करौ दीप-दुति, चंद मुख देखियतु ;
दौरिकै दुराय आऊँ द्वार ते दिखायो जू।
मृगज, मराल-बाल बाहिरै बिडारि देउ,
भायो तुम्हें 'केसव' सु मोहूँ मन भायो जू ;
कुल के निवास ऐसे बचन-बिलास सुनि,
सौगुनो सुरति हू ते स्याम सुख पायो जू ॥१८७॥

तोरि तनी, टकटोरि कपोलन, जोरि रहे कर हौं न रहौंगी ;
पान खवाइ, जिआइ सुधा-रस, पाइँ गहे तस हौं न गहौंगी।
'केसव' चूक सबै बकसी, मुख चूमि चले यह पै न सहौंगी ;
कै मुख चूमन दे फिरि मोहिं, कै आपनी धाइ सों जाइ कहौंगी॥१८८॥

पहिले तजि आरसु आरसी देखि घरीक घस्यो घनसारहि लै ;
पुनि पोंछि गुलाब तिलोंछि फुलेल अँगौछे मैं आछे अँगौछनि कै।
कहि 'केसव' मेद-जवादि लै माँजि इते पर आँजे मैं आँजन दै ;
बहुरो दुरि देखौं तौ देखौं कहा सखि, लाज तौ नैनन लागियै है ॥१८९॥

भाल गुही गुन लाल लटैं लपटी लर मोतिन की सुख-दैनी ;
ताहि बिलोकति आरसी लै कर आरस सों यक सारस-नैनी।
'केसव' स्याम दुरे दरसी परसी उपमा मुख की अति पैनी ;
सूरज-मंडल मैं ससि-मंडल मद्धि धसी मनो धार-त्रिबैनी ॥१९०॥

सौंह दिवाइ सखी पढ़ि बारक कानन कानन आनि बसाए ;
जानै को 'केसव' कानन तैं कित ह्वै कब नैनन माँहि सिधाए।

लाज के साज धरेई रहे सब, नैनन लै मन को सु मिलाए;
कैसी करौं अब, क्यों निकसै, यों हरे-ई-हरे हियरे हरि आए ॥१११॥

जिन न निहारे ते निहारत निहारिबे को,
काहू न निहारे जिन कैसे कै निहारे हैं;
सुर नर नाग नव-कन्यन के प्रानपति,
पति देवतानि हू के हिय मैं बिहारे हैं।
याही बिधि 'केसौराय' रावरे असेष अंग,
उपमा न उपजे, बिरंचि पचि हारे हैं;
मान-मद मोचन मदन मन-मोचन को,
तिय-ब्रत-मोचन ए लोचन तिहारे हैं ॥ ११२ ॥

भाँति भली बृषभान-लली जब सों अँखिया अँखियान सों जोरी;
भौंह चढ़ाइ कछू डरपाइ बोलाइ लई हँसिकै इत भोरी।
'केसव' क्यों हूँ सु ता दिन ते रुचि कै न निहारत केती निहोरी;
जीवत है सब ही के सिंगार अँगारन ज्यों बिन चंद चकोरी ॥११३॥

है तरुनाई तरंगिनि पूर अपूरब पूरब राग रँगे पय;
'केसवदास' जहाज मनोरथ संभ्रम बिभ्रम भूरि भरे भय।
ताके तरंग तरंगति तुंग तिमिंगल सूल बिसालन के चय;
कान्ह कछू करुनामय हे, सखि तैं ही किए करुना-बरुनालय ॥ ११४ ॥

सिखै हारी सखी, डरपाइ हारी सेवकिनि,
दामिनि दिखाइ हारी निसि अधरात की;
कूकि-कूकि हारी रति, मारि-मारि हार्यो मार,
हारी उर कीरति बिगत स्रम बात की।
दई निरदई, दई वाहि कहा ऐसी मति,
जरत ज्यों रैनि-दिन ऐसे सम गात की;
कैसेहू न मानति मनाइ हारी 'केसौदास'
बोलि हारी कोकिला, बोलाइ हारी चातकी ॥ ११५ ॥

ब्रज की कुमारिका वै लीने सुक-सारिका,
पढ़ावैं कोक-कारिकानि 'केसव' सबै निबाहि ;
गोरी-गोरी-भोरी-भोरी थोरी-थोरी बैसन की,
फिरैं देवता-सी दौरी-दौरी चोराचोरी चाहि ।
बिन गुन तेरी आनि भृकुटी कमान तानि,
कुटिल कटाच्छ-बान यहै अचरजु आहि ;
एते मान ईठ ढीठ मरे को अडीठ मनु,
पीठि दै-दै मारति, सो चूकति न एकौ ताहि ॥ १६६ ॥
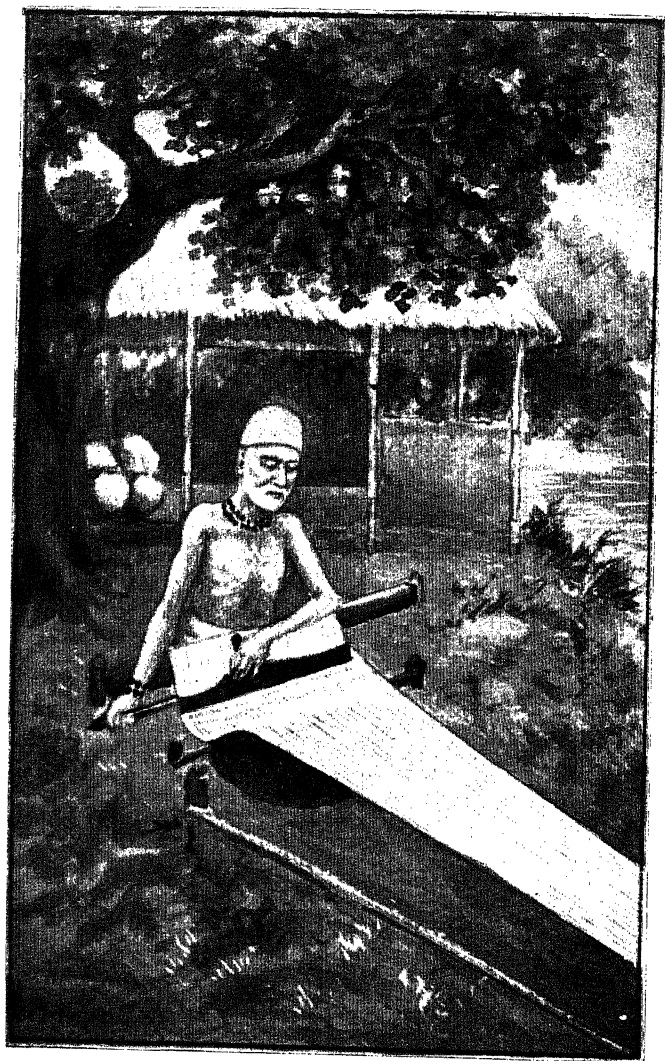
महात्मा कबीरदासजी (वास्तविक चित्र)

महात्मा कबीरदासजी

महात्मा कबीरदास का जन्म एवं मृत्यु-काल विविध ग्रंथों में अनेक प्रकार से लिखा हुआ है। कबीर-कसौटी में ये काल संवत् १४५५ तथा १५७५ माने गए हैं; भक्ति-सुधा-बिंदु-स्वाद में संवत् १४५१ तथा १५५२ और कबीर-संप्रदाय में संवत् १२०५ तथा १५०५। डॉ० हंटर ने जन्म-काल संवत् १४२७ माना है, और विल्सन ने मृत्यु-काल संवत् १५०५ बतलाया है। वेस्कट महाशय ने 'कबीर ऐंड दि कबीर-पंथ' में ये काल संवत् १४५७ और १५७५ लिखे हैं। पंडित अयोध्यासिंहजी उपाध्याय ने जन्म-काल कबीर-कसौटी का माना है, और मृत्यु-काल भक्ति-सुधा-बिंदु-स्वाद का। कबीर साहब बादशाह सिकंदर लोदी के समय में थे। इनकी अवस्था कहीं-कहीं १२० वर्ष की मानी गई है। कबीर-कसौटी में जन्म और मृत्यु-काल साफ़-साफ़ संवत् १४५५ की ज्येष्ठ-शुक्ला पूर्णिमा और १५७५ लिखे हैं। यही ठीक जँचते हैं।

आपकी माता और पिता के नाम नीमा और नीरू थे। वे जाति के जुलाहे काशीधाम में रहते थे। किसी-किसी का यह भी कथन है कि नीमा और नीरू कबीर साहब के पालक-मात्र थे, और इनका जन्म एक हिंदू विधवा (ब्राह्मणी) के गर्भ से हुआ था, जिसने लोक-लाज के भय से इन्हें लहरतारा तालाब के पास डाल दिया था। नीमा और नीरू ने इन्हें वहाँ से उठाकर पाला। हमको समझ पड़ता है कि यह कथा मनगढ़ंत है। कबीर साहब वास्तव में नीमा और

नीरू के ही पुत्र थे। इन्होंने अपने को काशी का जुलाहा बार-बार कहा, किंतु ब्राह्मणी का मातृत्व कहीं नहीं वर्णित किया। यथा —

तू ब्राम्हन, मैं कासी क जुलहा, बूझौ मोर गियाना।

कासी में हम प्रकट भए हैं, रामानंद चेताए।

इन तथा ऐसे-ही-ऐसे सैकड़ों पदों से कबीर साहब वास्तविक जुलाहे समझ पड़ते हैं। आप लड़कपन से ही धार्मिक थे, और उपदेश सुनने का चाव रखते थे। आप तिलक इत्यादि लगाकर राम-नाम जपा करते थे। कहते हैं, लोगों ने इनसे कहा कि जब तक तुम निगुरे रहोगे, तब तक तिलक-जाप आदि से पूरा फल न होगा। इसी विचार से आपने प्रसिद्ध महर्षि स्वामी रामानंद को अपना गुरु बनाया। एक जुलाहे को शिष्य बनाने से स्वामीजी की महानुभावता प्रकट होती है।

कबीर साहब के धार्मिक सिद्धांतों में बहुत-सी बातें ऐसी भी निकलती हैं, जिनसे प्रकट होता है कि आपको सूफ़ी-मत का अच्छा ज्ञान था। इसलिये, अथवा अन्य कारणों से, मौलवी ग़ुलाम-सरवर ने ख़ज़ीनतुल-आसफ़िया में आपको झाँसीवाले शेख़ तक़ी का शिष्य कहा है। यह महाशय सूफ़ी-मत के पूर्ण ज्ञाता थे। सरवर महाशय का कथन है कि कबीर साहब को हिंदू लोग 'भगत कबीर' और मुसलमान 'पीर कबीर' कहते थे। कबीर महाशय ने अपनी कविता में शेख़ तक़ी का नाम अवश्य लिया, किंतु उन्हें अपना गुरु नहीं कहा, वरन् 'सुनहु तकी तुम सेख' में आप उनसे अपना मत मनवा-सा रहे हैं। इधर कबीर साहब ने स्वामी रामानंद को कई बार साफ़-साफ़ गुरु कहा है। इससे शेख़ तक़ी का गुरुपन अग्राह्य है। स्वामी रामानंद का पांडित्य अगाध था, और उनका सूफ़ियों से प्राय: वाद हुआ करता था। इसलिये उनके पट्ट शिष्य कबीर का सूफ़ी-सिद्धांत जानना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। स्वामी

रामानंद महात्मा रामानुजाचार्य की शिष्य-परंपरा में थे। महात्माजी वैष्णव थे। उन्होंने द्विज-मात्र को अपने शिष्यत्व में लिया, किंतु शूद्रों को रामानुजीय संप्रदाय में सम्मिलित होने का अधिकार नहीं दिया। स्वामी रामानंद ने यह त्रुटि दूर करके शूद्रों को भी शिष्य बनाया, और इस प्रकार रामानुजीय संप्रदाय के अंतर्गत रामानंदी शाखा-संप्रदाय चलाया। आपने प्रसिद्ध भक्त रैदास-नामक चमार को भी शिष्य बना लिया। इतना करने पर भी स्वामी रामानंद एक जुलाहे मुसलमान को शिष्य बनाने पर तैयार न थे, और इधर कबीरदास को उन्हीं का शिष्य होने की लौ लगी थी। इसलिये आपने स्वामीजी का शिष्य बनने की एक अनोखी युक्ति निकाली। स्वामी रामानंद सूर्योदय के पूर्व मणिकर्णिका-घाट पर नित्य स्नान करने जाया करते थे। एक दिन कबीरदास उनके मार्ग की सीढ़ी पर लेट गए, और उनका पैर इनके सिर पर पड़ गया। बेचारे स्वामीजी 'राम-राम' कहकर अलग हो गए, किंतु कबीर ने तुरंत उठकर कहा—"आपने मेरे सिर पर पैर रखकर मुझे राम-नाम का मंत्र दिया है, अतः मैं आपका शिष्य हो चुका।" स्वामीजी ने कबीर की शिष्यत्व पर ऐसी भक्ति देखकर उन्हें हृदय से लगाया, और शिष्य भी मान लिया। इस प्रकार कबीर साहब महात्मा रामानंद के शिष्य हुए।

कबीर साहब अशिक्षित थे। आपने जितनी कविता बनाई, वह मौखिक थी। बीजक में आप स्वयं लिखते हैं—

मसि - कागज छूयों नहीं, कलम गही नहिं हाथ;
चारिउ जुग का महातम कबिरा मुखहिं जनाई बात।

हज़ारों पद बनाने और अविचल भक्त होने पर भी आपने कपड़ा बुनने का अपना पैत्रिक व्यवसाय कभी नहीं छोड़ा, यद्यपि सुना जाता है कि वह यह भी कहा करते थे—

कासी का मैं बासी बाँभन, नाम मेरा परबीना ;
एक बार हरि-नाम बिसारा, पकरि जोलाहा कीना।
माई, मेरे कौन बिनैगो ताना।

रचना में भी आपने बार-बार जुलाहेपन की बातों का उल्लेख किया है, जिसके उदाहरण आगे दिए जायँगे। आपका विवाह बनखंडी बैरागी की पालिता कन्या लोई के साथ हुआ था, जिससे आपके कमाल और कमाली-नामक पुत्र और कन्या उत्पन्न हुईं। लोई बड़ी सुंदरी थी, और उसने कबीर के सद्गुणों पर रीझकर इनका साथ पसंद किया था। कबीर साहब संत-संग को बहुत पसंद करते थे। एक बार इनके यहाँ कुछ संत ऐसे समय में आए, जब आतिथ्य करने को इनके पास कुछ भी न था। इस पर यह बड़े संकट में पड़े। तब लोई ने कहा—यदि आपकी इच्छा हो, तो एक साहूकार के उस बेटे से धन लाऊँ, जो मुझ पर मोहित है। कबीर ने संत-समादर के विचार से यह भी स्वीकार कर लिया, और लोई ने रात को उसके पास जाने का वचन देकर धन प्राप्त किया, जिससे संतों का आतिथ्य हुआ। रात को जाने के समय बड़े ज़ोर से पानी बरसने लगा। तब भी कबीर साहब वचन रखने के लिये अपने कंधे पर चढ़ाकर लोई को साहूकार के पुत्र के यहाँ ले गए। जब उसने यह जाना, तब कबीर साहब के पैरों पर गिरकर क्षमा माँगी, और इनका शिष्यत्व ग्रहण किया। ऐसे माता और पिता पाकर भी कमाल उच्चतम आचरण न प्राप्त कर सका। उसके विषय में स्वयं कबीरदास लिखते हैं—

बूड़ा बंस कबीर का, उपजे पूत कमाल ;
हरि का सुमिरन छोड़के घर ले आया माल।

कबीर साहब जो कपड़ा बनाकर बाज़ार में बेचने ले जाते थे, उसे कभी-कभी बेचने के स्थान पर साधुओं को दे देते, और ख़ाली हाथ

घर लौट आते थे। ऐसे पुरुष को पुत्र की धन पर आसक्ति बुरी लगा ही चाहे।

कबीर साहब ने देश-देश घूमकर लौकिक ज्ञान का उपार्जन किया। आप बलख़ तक गए। सत्य के इतने पक्षपाती थे कि जो बात असत्य ऊँचती थी, उसकी तीव्र शब्दों में आलोचना अवश्य करते थे, चाहे इनके मत से उससे थोड़ा ही-सा अंतर क्यों न हो। स्वयं संत और योगी थे, किंतु गृह-त्याग को पसंद न करने के कारण ऐसे लोगों की आपने निम्न-लिखित शब्दों द्वारा निंदा की है—

कनवा फराय जोगी जटवा बढ़ौलै, दाढ़ी बढ़ाय जोगीहोइ गैले बकरा;
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौलै, काम जराय जोगी बनि गैले हिजरा।

इसी भाँति हिंदू और मुसलमानों के सैकड़ों धार्मिक आचार-विचारों पर आपने शुद्ध भाव से तीव्र कटाक्ष किए हैं। 'झूठा रोज़ा, झूठी ईद' जैसे वाक्य आपके मुख पर सदैव रहते थे। इन कारणों से बादशाह सिकंदर लोदी तक आपकी शिकायत पहुँची, और उसने इन्हें ज़ंजीरों से बँधवाकर गंगाजी में फिकवा दिया, किंतु यह किसी प्रकार बच गए। आपने स्वयं लिखा है—

गंग-लहर मेरी टूटी ज़ँजीर; मृगछाला पर बैठे कबीर।
कहु कबीर कोउ संग न साथ; जल-थल राखत हैं रघुनाथ।

इनके माहात्म्य-विषयक बहुत-से अन्य उपाख्यान भी प्रचलित हैं, जिनमें अप्राकृतिक घटनाओं का कथन है। उनका यहाँ समावेश नहीं किया जाता। धार्मिक विरोध से ही समझ पड़ता है कि अंत में आपको अपने जन्म-स्थान तथा आजन्म के निवास-स्थान काशी को छोड़ना पड़ा, यद्यपि आपके काशी छोड़ने का एक कारण यह भी था कि आप वहाँ मरने के कारण स्वर्ग प्राप्त करना निंद्य समझते थे। कहते हैं, काशी में मरने से मनुष्य स्वर्ग को अवश्य जाता है, और

मगहर में शरीर छोड़ने से नरक को। इसी से कबीर साहब यह कह-कर काशी से मगहर चले गए कि 'जो कबिरा कासी मरै, तो रामै कौन निहोर ?' भक्ति-सुधा-बिंदु-स्वाद का कथन है कि आपने संवत् १५४९ में मगहर पधारकर तीन वर्ष के अनंतर शरीर छोड़ा। कबीर-कसौटी में इस घटना का वर्णन निम्न-लिखित है—

पंद्रह सौ पचहत्तर किय मगहर को गौन ;
माघ-सुदी एकादसी रहो पौन में पौन।
(कबीर-कसौटी)

इनका शरीरांत होने पर हिंदू तथा मुसलमान शिष्यों में इनके अंतिम संस्कार के विषय में झगड़ा होने लगा, किंतु जब शव पर से चद्दर उठाई गई, तब उसके स्थान पर फूलों का ढेर मिला। इस पर फूलों के दो भाग करके एक भाग से हिंदुओं ने काशी में कबीर-चौरा बनाया, और दूसरा भाग मुसलमानों ने गाड़कर मगहर में क़ब्र बनाई, जो अब तक मौजूद है। ये दोनो स्थान अब भी आपके पंथवालों के द्वारा पूजे जाते हैं। शव के स्थान पर फूलों-वाली कथा महात्मा नानक तथा चित्तौरवाले बाप्पा रावल के विषय में भी प्रचलित है। समझ पड़ता है, किसी ने शव हटाकर फूल रख दिए होंगे। महात्मा कबीरदास सिद्ध योगी थे। आपके धार्मिक विचार बहुत ऊँचे थे। इन बातों का कथन कुछ विस्तार के साथ आपके गुण-प्रदर्शन में किया जायगा।

कबीर साहब के बहुत-से शिष्य इनके जीवन-काल ही में हो गए थे। इनके पीछे कबीर-पंथ अब तक चल रहा है। भारत में अब भी आठ-नव लाख मनुष्य कबीर-पंथी हैं। इनमें मुसलमान बहुत थोड़े हैं, और हिंदू बहुत अधिक। कबीर साहब का मान रीवाँ-नरेश ने बहुत किया। रीवाँ-नरेश महाराजा विश्वनाथसिंह ने बीजक की टीका भी रची। कबीरदास के पीछे इनके मत की बारह शाखाएँ स्थापित

हुईं, जिनके नेता निम्न-लिखित थे—श्रुतगोपाल, भग्गूदास, नारायणदास, चूड़ामणिदास, जग्गूदास, जीवनदास, कमाल, टाकशाली, ज्ञानी, साहबदास, नित्यानंद और कमलानंद। कबीर-पंथियों में त्यागी और गृहस्थ, दोनो हैं। इनका कोई दूसरा धर्म नहीं है, वरन् हिंदू कबीर-पंथी हिंदू हैं, और मुसलमान कबीर-पंथी मुसलमान। कबीर-पंथ उनका विश्वास-मात्र है। हिंदू कबीर-पंथी अधिकतर नीच जातियों के हैं, और इस पंथ के कई गुरु भी ऐसे ही हैं। वास्तव में तो कोई नीच जाति है ही नहीं, और सब हिंदू बराबर हैं, किंतु जैसा लोग प्रायः समझते हैं, उन विचारों से समझने-भर को हिंदुओं में यहाँ ऊँच-नीची जातियों के कथन किए गए हैं।

कबीरदास ने स्वयं ग्रंथ नहीं लिखे, वरन् केवल मुख से भाखे। इनके शिष्यों ने उन्हें लिपि-बद्ध किया। ऐसी दशा में उनमें बहुत कुछ अदल-बदल हो जाना संभव है। बीजक ग्रंथ को भग्गूदास लेकर भागे थे। तभी से उनका नाम भगवानदास से भग्गूदास हो गया। विचार किया जाता है कि जब भग्गूदास ग्रंथ को लेकर भागे थे, तब उन्होंने उसमें बहुत कुछ घटाया-बढ़ाया होगा। वेस्कट महाशय का विचार है कि इस बात पर विश्वास करने के लिये दलीलें हैं कि कबीर की अधिकतर शिक्षाएँ धीरे-धीरे हिंदू-धर्म के साँचे में ढल गई हैं। हमको समझ पड़ता है कि कुछ घटाने-बढ़ाने से इन महात्मा के उपदेशों में अंतर डालना कठिन था। आपने एक ही विचार को सैकड़ों प्रकार से कहा है, और सबमें एक ही भाव प्रतिध्वनित होता है। आप राम नाम की महिमा गाते थे, एक ही ईश्वर को मानते थे, कर्मकांड के घोर विरोधी और सखी-भाव के अविचल भक्त थे। अवतार, मूर्ति, रोज़ा, ईद, मसजिद, मंदिर आदि को नहीं मानते थे। अहिंसा, मनुष्य-मात्र की समता तथा संसार की असारता को इन्होंने बार-बार गाया है। यह उपनिषदों के विचारवाले

महात्मा कबीरदास के ग्रंथ बहुत-से मिलते हैं। जो ७५ ग्रंथ अब तक खोज से प्राप्त हुए हैं, उनके नाम नीचे लिखे जाते हैं—(१) अमरमूल, (२) अनुरागसागर, (३) उग्रज्ञानमूलसिद्धांत, (४) ब्रह्मनिरूपण, (५) हंसमुक्तावली, (६) कबीर-परिचय की साखी, (७) शब्दावली, (८) पद, (९) साखियाँ, (१०) दोहे, (११) सुखनिधान, (१२) गोरखनाथ की गोष्ठी, (१३) कबीरपंजी, (१४) बलक की रमैनी, (१५) विवेक-सागर, (१६) विचारमाला, (१७) कायापंजी, (१८) रामरक्षा, (१९) अठपहरा, (२०) निर्भयज्ञान, (२१) कबीर और धर्मदास की गोष्ठी, (२२) रामानंद की गोष्ठी, (२३) आनंदराम, (२४) सागरमंगल, (२५) अनाथमंगल, (२६) अक्षर-भेद की रमैनी, (२७) अक्षर-खंड की रमैनी, (२८) अलिफ़नामा, (२९) अर्जुनामा, (३०) आरती, (३१) भक्ति का अंग, (३२) छप्पय, (३३) चौकाघर की रमैनी, (३४) ज्ञान-गूदड़ी, (३५) ज्ञान-सागर, (३६) ज्ञान-स्वरोदय, (३७) कबीराष्टक, (३८) करमखंड की रमैनी, (३९) मुहम्मदबोधनाम-माहात्म्य, (४०) पिया पहिचानबे को अंग, (४१) पुकार कबीर-कृत, (४२) शब्द अलहटुक, (४३) साधु को अंग, (४४) सतसंग को अंग, (४५) स्वाँस गुंजार, (४६) तीसा-जंत्र, (४७) जन्मबोध, (४८) ज्ञानसंबोध, (४९) मखहोम, (५०) निर्भय-ज्ञान, (५१) सतनाम या सतकबीर, (५२) बानी, (५३) ज्ञान-स्तोत्र, (५४) सतकबीर बंदीछोरो, (५५) शब्द-वंशावली, (५६) उग्रगीता, (५७) वसंत, (५८) होली, (५९) रेखता, (६०) झूलना, (६१) खसरा, (६२) हिंडोला, (६३) बारहमासा, (६४) चांचर, (६५) चौंतीसा, (६६) रमैनी, (६७) बीजक, (६८) आगम, (६९) रामसागर, (७०)

सोरठा, (७१) कबीरजी को कृत, (७२) शब्दपारखा, (७३) आदिग्रंथ, (७४) ज्ञान-बत्तीसी और (७५) ज्ञान-तिलक। उपर्युक्त ग्रंथों में बहुत-से संदिग्ध भी हैं। कई ऐसे भी नाम हैं, जो अन्य ग्रंथों के भाग-मात्र समझ पड़ते हैं। हमने खोज में मिले हुए ग्रंथों के नाम यहाँ लिखे हैं। खोज से इतर दो-ही-चार नाम उपर्युक्त नामावली में हैं। आपके मुख्य ग्रंथ बीजक और आदि-ग्रंथ हैं। इनके सभी ग्रंथों में प्राय: वे ही धार्मिक विचार प्रस्तुत हैं। इस लेख के लिखते समय हमने वेलवेडियर-प्रेस की छपी हुई चारों भाग शब्दावली, अखरावती, ज्ञान-गुदड़ी, रेखते और झूलने देखे हैं। इनके अतिरिक्त महात्मा पूर्णदास-कृत टीका-सहित बीजक तथा मनोरंजन-पुस्तकमाला की कबीर-वचनावली भी देखी गई हैं। पंडित अयोध्यासिंहजी उपाध्याय ने वचनावली को ऐसे परिश्रम और चातुरी से संगृहीत किया है कि यदि इसमें कुछ बसंवाँसी और कठिन पद भी लिखे गए होते, तो पाठकों को इस एक ही ग्रंथ से कबीरदास की पूरी कविता का अच्छा परिचय मिल जाता। इन दो बातों के न लिखने पर भी संग्रह बहुत ही अनमोल है, और उपाध्यायजी की गुणग्राहकता की साक्षी देता है। बीजक में ८४ रमैनी, ११५ शब्द, ३५३ दोहों की साखी तथा ज्ञानचौंतीसा, विप्रमतीसी, कहरा, बसंत, चांचरा, बेलि बिरहुली और हिंडोल सम्मिलित हैं। उपर्युक्त तीन भागों के अतिरिक्त शेष भाग बहुत छोटे-छोटे हैं। कबीर साहब के जो ग्रंथ हमने देखे हैं, उन सबका विषय एक ही-सा है। किसी में कोई कथा-प्रसंग नहीं, और सबमें मुक्तकों द्वारा कबीर के सिद्धांतों का कथन है। सबमें नए-नए छंदों द्वारा वे ही विचार सैकड़ों बार दुहराकर आए हैं। अतः जो पाठक केवल धार्मिक विचार जानने अथवा काव्यानंद के लिये इनके ग्रंथ पढ़ेंगे, उनके लिये इन सबका पढ़ना बड़े धैर्य का काम होगा। इसीलिये इनके

सब ग्रंथों से पढ़ने योग्य छंदों को उठाकर एक संग्रह-ग्रंथ बनाना इनके और लोक के साथ बड़ा उपकार करना है।

ऐसा ही ग्रंथ बनाकर पंडित अयोध्यासिंहजी उपाध्याय धन्यवादार्ह हुए हैं। कबीर महाशय के बहुत-से छंद नानक-पंथ के ग्रंथ साहब में संगृहीत हैं। अब हम इन महात्मा के भावों को इन्हीं के शब्दों में कहकर उनके विषय में अपने विचार लिखेंगे।

ईश्वर

कबीर साहब ने अपने ग्रंथों में सबसे अधिक ईश्वर का वर्णन किया है। इसलिये इनके ईश्वर-संबंधी विचार-प्रदर्शक कुछ छंद यहाँ लिखे जाते हैं—

(१) मोको कहाँ ढूँढ़ता बंदे, मैं तो तेरे पास में;
ना मैं छगरी, ना मैं भेड़ी, ना मैं छुरी-गँड़ास में।
नहीं खाल में, नहीं पूँछ में, ना हड्डी, ना माँस में;
न मैं देवालय, ना मैं मसजिद, ना काबे-कैलास में।
ना तो कौनो क्रिया-कर्म में, नहीं जोग-बैराग में;
खोजी होय, तो तुरतै मिलिहौं पल-भर की तालास में।
मैं तो रहौं सहर के बाहर, मेरी पुरी मवास में;
कहै 'कबीर' सुनो भइ साधो, सब साँसों की साँस में।

(२) कहूँ उस देस की बतियाँ; जहाँ नहिं होत दिन-रतियाँ।
नहीं रबि, चंद औ तारा; नहीं उजियार-अँधियारा।
नहीं तहँ पौन औ पानी; गए वहि देस जिन जानी।
नहीं तहँ धरनि-आकासा; करे कोइ संत तहँ बासा।
वहाँ गम काल की नाहीं; तहाँ नहिं धूप औ छाहीं।
न जोगी जोग से ध्यावै; न तपसी देह जरवावै;
सहज में ध्यान से पावै; सुरत का खेल जेहि आवै।
सुरंगं नाद नहिं भाई; न बाजै संख-सहनाई।

निहद्धर जाप तहँ जापै ; उठत धुन सुन्न से आवै ।
मँदिर में दीप बहु बारी; नयन बिन भई अँधियारी ।
'कबीरा' देस है न्यारा ; लखै कोइ नाम का प्यारा ।

(३) ताकर कौन रूप औ रेखा ; दूसर कौन आइ जो देखा ।
ओ ओंकार आदि नहिं बेदा ; ताकर कहुँ कौन कुल भेदा ।
सुन्न सहज मन सुमिर ते प्रकट भई एक जोत ;
ताहि पुरुष को मैं बलिहारी निरालंब जो होत ।
तहिया होत पवन नहिं पानी ; तहिया सृष्टि कौन उतपानी ।
तहिया होत कली नहिं फूला ; तहिया होत गर्भ नहिं भूला ।
तहिया होत बिद्या नहिं बेदा ; तहिया हुते सब्द नहिं स्वादा ।
तहिया हुते पिंड नहिं बासू ; नहिं घर, धरनि, न पवन अकासू ।
तहिया होत गुरू नहिं चेला ; गम्य, अगम्य न पंथ दुहेला ।
अबिगति की क्या गति कहौं, जाके गाँव न ठाँव ;
गुनो बिहूना पेखना, का कहि लीजे नाँव ।

(४) साहब मेरा एक है, दूजा कहा न जाय ;
दूजा साहब जो कहूँ, साहब खरा रिसाय ।
एक कहौं तो है नहीं, दोय कहौं तो गारि ;
है जैसा तैसा अहै, कहै 'कबीर' बिचारि ।
चार भुजा के भजन में भूलि परे सब संत ;
'कबिरा' सुमिरै ताहि को, जेहि की भुजा अनंत ।
सरगुन की सेवा करो, निरगुन का करु ज्ञान ;
निरगुन सरगुन के परे रहै हमारा ध्यान ।
साहिब सों सब होत है, बंदे ते कछु नाहिं ;
राई ते परबत करे, परबत राई माहिं ।
जाको राखै साँइयाँ, मारि सकै नहिं कोय ;
बार न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय ।

भूला-भूला क्या फिरै, सिर पर बँध गइ बेल ;
तेरा साईं तुझमें ज्यों तिल माहीं तेल ।
मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है. सो तोर ;
तेरा तुझको सौंपते क्या लागत है मोर ।
साधू मोरे सब बड़े अपनी-अपनी ठौर ;
सब्द बिबेकी पारखी सो माथे को मौर ।
समझा का घर और है, अनसमझा का और ;
जा घर में साहब बसै, बिरला जानै ठौर ।
अक्षर घट में ऊपजे व्याकुल संसय सूल :
किन अंडा निर्मायिया, कहा अंड का मूल ।
पानी हूँ ते पातला, धूआँ हू ते भीन ;
तिन हूँ ते अति ऊतला दोस्त 'कबीरा' कीन ।
गुरू झरोखे बैठिके सबका मुजरा लेय ;
जैसी जाकी चाकरी, तैसा ताको देय ।
भवसागर जल बिख भरा मन नहिं बाँधे धीर;
सबद सनेही पिउ मिला उतरा पार 'कबीर' ।

(९) मेरी नजर में मोती आया है ;

कोइ कहे हलका, कोइ कहे भारी, दोनो भूल-भुलाया है ।
ब्रह्मा, बिष्णु, महेश्वर थाके, तिनहूँ खोज न पाया है ;
सेस, सारदा पड़ि रटि हारे, संकर बहु गुन गाया है ।
है तिल के तिल के तिल भीतर, बिरले साधू पाया है ;
चहुँ दल कमल तिरपुटी साजे/निरंकार दरसाया है ।
निरंकार पद सेत सुभ्र मध खटदल कमल बताया है ;
पारब्रह्म महँ सुम मंझारा सोइ निढ़िअछर रहाया है ।
भँवर गुफ़ा में सोऽहं राजै मुरली अधिक बजाया है ;
सत्तलोक सतपुरुष बिराजै अलख अगम दोउ भाया है ।

पुरुष अनामी सब पर स्वामी ब्रह्महुँ पार जो गाया है ;
यह सब बातैं देही मंदिर प्रतिबिंब अंड जु पाया है ।
प्रतिबिंब पिंड ब्रह्मांड है नकली असली पार बताया है ;
कह 'कबीर' सतलोक सार है पुरुष नियारा पाया है ।

(६) संतो बीजक मत परमाना ;
कैयक खोजी खोजि थके, कोइ बिरला जन पहिचाना ।
चारिउ जुग औ निगम चार औ गावैं ग्रंथ अपारा ;
बिष्णु, बिरंचि, रुद्र, ऋषि गावैं, सेस न पावैं पारा ।
कोइ निरगुन-सरगुन ठहरावैं, कोई जोति बतावैं ;
नाम धनी का सब ठहरावैं, रूप को नहीं लखावैं ।
कोउ सूछम असथूल बतावैं, कोउ अच्छर निज साँचा ;
सतगुरु कहँ बिरला पहिचानै, भूला फिरा असाँचा ।
लोभ के भक्ति सरे नहिं कामा साहिब परम सयाना ;
अगम, अगोचर धाम धनी का, सबै कहैं ह्वाँ जाना ।
दिखै न पंथ, मिलै नहिं पंथी, ढूँढ़त ठौर-ठिकाना ;
कोउ ठहरावैं सून्यक कीन्हाँ जोति एक परमाना ।
कोउ कह रूप-रेख नहिं वाके, धरत कौन को ध्याना ;
रोम-रोम में परगट करता, काहे भरम भुलाना ।
पच्छ, अपच्छ, सबै पचि हारे, करता कोइ न बिचारा ;
कौन रूप है साँचा साहब नहिं कोई निरधारा ।
बहु परचय परतीति दृढ़ावै, साँचे को बिसरावै ;
कलपत कोटि जनम जुग बीतै, दरसन कतहुँ न पावै ।
परमदयालु, परमपुरुषोत्तम, तेहि चीन्है ना कोई ;
ततहर हाल निहाल करत है रीझत है निज सोई ।
बधिक कर्म करि भक्ति दृढ़ावै, नाना मत का ज्ञानी ;
बीजक-मत कोइ बिरला जानै, भूलि फिरै अभिमानी ।

कह 'कबीर' करता में सब हैं, करता सकल समाना ;
भेद बिना सब भरम परे, कोउ बूझै संत सुजाना।

उपर्युक्त दोनो पदों में कबीरदास ने थोड़े में बहुत कुछ कहा है। चहुँदल कमल, तिरपुटी, सेत सुन्न, षट्दलकमल, भँवरगुफा, मुरली (अनहद नाद), प्रतिबिंब (जीव), पिंड (शरीर), पार (परे, परब्रह्म) आदि योग तथा वेदांत-संबंधी शब्द हैं, जो कबीर का इन शास्त्रों का ज्ञान प्रकट करते हैं। ररंकार से रम्-रम् आकार अर्थात् राम-राम का प्रयोजन है। इसमें योग संबंधी नादवाले विचार भी आ जाते हैं। निर्गुण, सगुण, ज्योति, सूक्ष्म, स्थूल, अक्षर (अविनाशी), अगम, अगोचर, रेख, रूप आदि भी ईश्वर-संबंधी पक्षापक्ष-विचारों में आए हैं। इनमें बहुत-से अभावात्मक विचार हैं, और उनके संबंध में भावात्मक शब्द पक्षापक्ष-विचार में दिखाए गए हैं। मुख्यता अभावात्मक (negative) विचारों की ही रही है। यही उपनिषदों का ढंग है। परमदयालु, परमपुरुषोत्तम से सगुणवाद चल पड़ता है। कर्ता में सबका होना और सबमें कर्ता का होना अद्वैत विचार दिखलाता है। इन शब्दों से कबीरदास की बहुज्ञता प्रकट होती है। साहित्य-गौरव में भी ये दोनो पद बहुत अच्छे हैं।

(७) एकै काल सकल संसारा ; एक नाम है जगत पियारा।
त्रिया पुरुष कछु कहो न जाई ; सर्वरूप जग रहा समाई।
रूप, अरूप जाइ नहिं बोली ; हलुका गरुआ जाय न तोली।
भूख न तृखा, धूप नहि छाँहीं ; दुख-सुख-रहित रहै तेहि माहीं।
अरस-परस कुछु रूप गुन, नहिं तहँ संख्या आहि ;
कहै कबीर पुकारि कै अद्भुत कहिए ताहि।

कुसलै-कुसल कहत जग बिनसै, कुसल काल की फाँसी हो ;
कह 'कबीर' सब दुनिया बिनसल, रहल राम अविनासी हो।

बाबा अगम अगोचर कैसा ;
ताते कहि समझाऊँ ऐसा ।
जो दीसै सो तो है नाहीं, है, सो कहा न जाई ;
सैना-बैना कहि समझाऊँ गूँगे का गुर भाई ।
दृष्टि न दीसै मुष्टि न आवै बिनसै नाहि नियारा ;
ऐसा ज्ञान कथा गुरु मेरे पंडित करौ बिचारा ।
बिन देखे परतीति न आवे, कहे न कोउ पतियाना ;
समझा होइ सो सबदै चीन्है, अचरज होय अयाना ।
कोई ध्यावै निराकार को, कोइ ध्यावै साकारा ;
वह तो इन दोउन ते न्यारा, जानै जाननहारा ।
काजी कथै कतेब कुराना, पंडित बेद-पुराना ;
वह अच्छर तौ लखो न जाई मात्रा लगै न काना ।
नादी-बादी पढ़ना-गनना बहु चतुराई थीना ;
कह 'कबीर' सो परै न परलै, नाम-भक्ति जिन चीना ।

अवधू कुदरत की गति न्यारी ;
रंक निवाज करै वह राजा, भूपति करै भिखारी ।
एतै लवँगे फल नहिं लागै, चंदन फूल न फूलै ;
मच्छ सिकारी रमै जँगल में सिंघ समुद्रहिं झूलै ।
रेंड़ा रूख भया मलयागिरि, चहुँ दिसि फूटी बासा ;
तीन लोक ब्रह्मंड-खंड में देखै अंध तमासा ।
पंगुरु मेरु सुमेरु उलंघै, त्रिभुवन मुक्ता डोलै ;
गूँगा ज्ञान-बिज्ञान प्रकासै, अनहद बानी बोलै ।

(८) रूप-सरूप कछू तहँ नाहीं; ठौर-ठाँव कछु दीसै नाहीं ।
अरज तूल कछु दृष्टि न आई, कैसे कहूँ सुमारा है ।
नहिं निरगुन, नहिं सरगुन भाई, नहिं सूक्षम-अस्थूल ;
नहिं अक्षर, नहिं अबिगत भाई, ये सब जग की भूल ।

जहाँ करम की गति कछु नाहीं, कह 'कबीर' हम जाना ;
हमरी सैन लखै जो कोई, पावै पद निरबाना।
सहज कमल में झिलमिल दरसै, आपुइ बसत अपारा ;
जोति-सरूप, सकल जग ब्यापी, अघंट पुरुष है पारा।
सुन्न सहर में बास हमारा, जहँ सरबंगी आवै ;
साहब 'कबिर' सदा के संगी, सब्द महल लै आवै।
किगरी, सारँग बजै सितारा, अच्छर ब्रह्म सुन्न दरबारा ;
द्वादस भानु उए उजियारा, खटदलकँवलमँझार शब्द ररंकारा है।
कोटिन भानु उदय जो होई, एतै ही पुन-चंद्र लखोई ;
पुरुष रोम सम एक न होई, ऐस पुरुष दीदारा है।
प्रथम एक जो आवै आप, निराकार, निरगुन, निरजाप ;
नहिं तब भूमि, पवन, आकासा, नहिं तब पावक नीर निवासा।

कहै 'कबीर' बिचारि कै, जाके बर्न न गाँव ;
निराकार औ निर्गुना है पूरन सब ठाँव।

आगे सुन्य, स्वरूप अलख नहिं लखि परै ;
तत्त्व निरंजन जान, भरम जनि चित धरै।
जाके दरसन साहब दरसैं अनहद सबद सुनावै ;
माया के सुख दुख करि जानै सरगुन सुपन चलावै।

पूरि रह्यो असमान, धरनि में, जित देखो, तित साहब मेरा ;
तसबी एक दिया मेरे साहब, दास 'कबीर' दिलहि बिच फेरा।

अनहद नाद (ईश्वर-संबंधी)

पाँच तत्त्व कर पूतरा, जुक्ति रची मैं कीव ;
मैं तोहिं पूछौ पंडिता, सब्द बड़ा की जीव।
सत्त शब्द परमान, अनहद बानी जो इहै ;
और झूठ सब ज्ञान, कहै 'कबीर' बिचारि कै।

सत्रह संख्या पर अधर दीप जहँ सब्दातीत बिराजै ;
निरतै सखा बहु बिधि सोभा, अनहद बाजा बाजै ।
सहस औ द्वादसै रूह हैं संग में, करत कलोल अनहद बजाई ।
वह तानलोक ते भिन्न राज; तहँ अनहद धुनि चहुँ पास बाज ।
मुरली बजत अखंड सदा ये तहँ सोऽहं झनकारा है ।
षोडस भानु हंस को रूप ; बीना-सम धुनि बजै अनूप ।

सबद-भेद जो जानहीं, सो पूरा कँड़हार ;
कह 'कबीर' धूमचक्र है सोऽहं सबदहिं पार ।

यहि घट चंदा, यहि घट सूर; यहि घट गाजै अनहद तूर ।
यहि घट बाजै तबल निसान ; बहिरा सबद सुनै नहिं कान ।

अद्वैत (ईश्वर-संबंधी)

तत्त्वमसी इनके उपदेसा ; ई उपनिषत कहैं संदेसा ।

साधो एक रूप सब माहीं ;
अपने मनहिं बिचारि कै देखो, और दूसरा नाहीं ।
एकै तुचा, रुधिर पुनि एकै बिप्र, सूद्र के माहीं ;
कहीं नारि, कहिं नर होइ बोलैं, गैब पुरुष वह आहीं ।
आपै गुरु होइ मंत्र देत हैं, सिष होइ सबै सुनाहीं ;
जो जस गहै, लहै तस मारग, तिनके सत गुरु आहीं ।
सब्द पुकार सत्त मैं भाषौं, अंतर राखौं नाहीं ;
कहै 'कबीर' ज्ञान जेहि निर्मल, बिरले ताहि लखाहीं ।

दया कौन पर कीजए, कापर निर्दय होय ;
साँईं के सब जीव हैं कीरी, कुंजर दोय ।

बीज मध्य ज्यों बिरछा दरसै, बिरछा मद्धे छाया ;
परमातम में आतम तैसे, आतम मद्धे माया ।
ज्यों नभ मद्धे सुन्न देखिए, सुन्न अंड आकारा ;
निहअच्छर ते अच्छर तैसे, अच्छर छर बिस्तारा ।

ज्यों रवि मद्धे किरन देखिए, किरन मध्य परकासा ;
परमातम में बीज ब्रह्म इमि, जीव मध्य तिमि स्वासा ।
स्वासा मद्धे सबद देखिए, अर्थ सबद के माहीं ;
ब्रह्म ते जीव, जीव ते मन इमि, न्यारा, मिला सदाहीं ।
आपहि बीज, बृच्छ, अंकूरा, आप फूल, फल छाया ;
आपहि सूर, किरन, परकासा, आप ब्रह्म, जिव, माया ।
अंडाकार सुन्न नभ आपै, स्वास सबद अरथाया ;
निहअच्छर अच्छर छर आपै, मन जिव ब्रह्म समाया ।
आतम में परमातम दरसै, परमातम में झाँईं ;
झाँईं में परछाईं दरसै, लखै 'कबीरा' साँईं ।
ज्ञान के कारन करम कमाय ; होय ज्ञान तब करम नसाय ।
फल-कारन फूलै बनराय ; फल लागे पर फूल सुखाय ।
मिरग पास कस्तूरी बास ; आपु न खोजै, खोजै घास ।
पारै पिंड मीन लै खाई ; कह 'कबीर' लोगन बौराई ।

साधो एक आपु जग माहीं ;
दूजा करम भरम है किरतिम, ज्यों दरपन में छाहीं ।
जल-तरंग जिमि जल ते उपजै, फिरि जल माहिं रमाई ;
काया झाईं पाँच तत्त्व का बिनसे कहाँ समाई ।
आप ही भक्त भगवत है आप ही, और नहिं दूसरा, अर्ज सुनेरी ।
मुक्त होवै छुटै बँधन सेती तबै कौन मरै तिसै कौन मारै ;
अहँकार तजै, भय-रहित होवै तबै, कौन तरै तिसै कौन तारै ।
हुब्बाब तो है उठनेहि में जो है बैठने में मतलब्ब खुदा ;
हुब्बाब दर्याव 'कबीर' है जो दुजा नाम बोलै सोइ बुदबुदा ।
सुन्न का बुदबुद, सुन्न उतपन्न भया, सुन्नहीं माहिं फिरि गुप्त होई ;
जाप अजपा जपो, अलख आपै लखो, बाहरे भीतरे एक सोई ।
ओट कापै करो, उलटि आपै डरौ, जहाँ देखो, तहाँ प्रान मेरा ।

भजूँ, तो को है भजन को, तजूँ तो को है आन ;
भजन-तजन के मध्य में सो 'कबीर' मन मान।
यह तत यह तत एक है, एक प्रान दुइ गात ;
अपने जिय से जानिए मेरे जिय की बात।

उपर्युक्त छंदों में महात्मा कबीर के ईश्वर-संबंधी विचारों का सारांश लिखा गया है। इन पर विचार करने के पूर्व इस विषय से मिलते-जुलते, उपनिषदों आदि में लिखित, हिंदू-सिद्धांतों का कुछ कथन आवश्यक समझ पड़ता है। ईश्वर की पूजा एक साकार रूपादि-संबंधी है, और दूसरी निराकार अलख की। इन्हें दार्शनिक शब्दों में व्यक्त और अव्यक्त-मार्ग कहते हैं। उपासक मनुष्य भी दो प्रकार के होते हैं—एक वे, जो मुख्यतया केवल ज्ञान से काम लेते हैं, और दूसरे वे, जो प्रेम की प्रधानता रखते हैं। ये दो शुद्ध तार्किक विभाग हैं। वास्तव में प्रत्येक मनुष्य ज्ञान और प्रेम, दोनो रखता है। उपासक लोगों में अंतर इतना ही रहता है कि बुद्धि तथा प्रेम की मात्राएँ उनमें घट-बढ़ रहती हैं, अर्थात् किसी में प्रेम की न्यूनाधिक प्रधानता रहती है, और किसी में बुद्धि की। ऋषियों ने पृथक्-पृथक् स्वभाववाले मनुष्यों के योग्य पृथक्-पृथक् विद्याएँ रची हैं, जिन्हें उपासना भी कहते हैं। ये निर्गुणात्मिका तथा सगुणात्मिका होती हैं। इनके दो-दो भाग हैं—सात्त्विक तथा राजस।

राजस में कुछ-न-कुछ स्वार्थ लगा ही रहता है, किंतु सात्त्विक में नहीं। इसीलिये उपनिषदें राजसिक विद्याओं का वर्णन न करके सात्त्विक का करती हैं। सात्त्विक उपासना दो प्रकार की होती है—अहंग्रह और प्रतीक। प्रतीक शब्द प्रतिमा से संबंध रखता है, और अहंग्रह आत्मा से। अद्वैतवाद का मूलाधार 'तत्त्वमसि' (वह तू है) है। यहाँ वह से प्रयोजन ईश्वर का है, और तू से जीवात्मा का। इस वाक्य का लक्ष्य ब्रह्म है। बृहदारण्यक में

'अयमस्मि' से यही भाव निकलता है। अद्वैतवाद दोनो को एक मानता है, और ऐसा मत प्रकट करता है कि जीवात्मा का अविद्या-जन्य अहंकार ही उसे दिखलाने-भर को परमात्मा से पृथक् करते हुए समझ पड़ता है। अद्वैतवाद में प्रकृति या जीवात्मा सत् नहीं है; जो है, सो परमात्मा-ही-परमात्मा है। यह वाद उपनिषदों से निकलता है, और शंकराचार्य ने इसे पुष्ट किया। विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत-नामक चार और प्रधान मत हैं, जो ईश्वर के अतिरिक्त जीवात्मा तथा प्रकृति को न्यूनाधिक रीति से सत् अथवा सत् के समान मानते हैं।

मानुष-शरीर में सोलह चक्र माने गए हैं, जिनका योग-शास्त्र से संबंध है। योग में अभ्यास की प्रधानता है। अभ्यास ही से योगी की अधिकाधिक वृद्धि होती है। योगी समाधि में जो कुछ देखता या सुनता है, उससे इस वृद्धि की जाँच करता है। इसी देखने और सुनने का संबंध ईश्वर-संबंधी ज्योति और अनहद नाद से है। जब समाधि की अवस्था में योगी की चौदहो इंद्रियाँ निश्चल हो जाती हैं, अर्थात् वह पाँचो ज्ञानेंद्रियों, पाँचो कर्मेंद्रियों और अंतःकरण-चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) से कुछ काम नहीं लेता, तब उसको त्रिपुटी (भौहों के बीचवाले स्थान) में एक ज्योति देख पड़ती है। अभ्यास के साथ यह ज्योति क्रमशः १६ रूपों में दिखाई देती है, जिनके प्रथम नौ रूप निम्न-लिखित हैं—नीहार (ओस), धूम्र, सूर्य, वायु, अग्नि, खद्योत (जुगनू), तड़ित (बिजली), स्फटिक और चंद्र। ये नाम केवल समता-प्रदर्शन के लिये कहे गए हैं। ज्योति के इनसे ऊँचे जो और सात रूप हैं, वे केवल योगियों को ज्ञात हैं, सर्व-साधारण को नहीं बतलाए जा सकते। सुनने से संबंध शब्द (अर्थात् अनहद नाद) का है। ओ३म् की सोलह कलाएँ अथवा मात्राएँ होती हैं। इन सोलहो

पर क्रमशः पूर्ण अधिकार करने पर योगी प्रणव को समझता है। प्रणव ईश्वर का वाचक है। इसी को नाद भी कहते हैं। संसार की सब शक्तियों का मिलकर जो स्फुरण होता है, वही प्रणव या नाद है। यह नाद निरंतर हुआ करता है, इसीलिये इसे अनहद (अनाहत) कहते हैं। इसी को दशनादम् भी कहा है, जिन्हें योगी लोग सुनते हैं। नादबिंदु-उपनिषत् में ११ नाद कहे गए हैं, जिनकी उपमा इन नादों से दी गई है—१. जलधि-तरंग, २. घन-गरज, ३. भेरी, ४. निर्झर (पहाड़ी नदी), ५. मृदंग, ६. घंटा, ७. वेणु, ८. किंकिणी, ९. वंशी, १०. वीणा, ११. भ्रमर।

जो-जो पदार्थ यहाँ लिखे गए हैं, उनके शब्दों से प्रयोजन है। इस ध्वनि-संबंधी उन्नति की तीन कक्षाएँ हैं। उपर्युक्त पहली चार ध्वनियाँ प्रथम कक्षा से संबंध रखती हैं। इसी तरह नंबर ५ से ७ तक दूसरी कक्षा से और अंतिम चार तीसरी कक्षा से संबद्ध हैं। इनके आगे भी अन्य ध्वनियाँ सुन पड़ती हैं, जिनका कथन शब्दों में नहीं हो सकता। सात शब्द नीचे प्रकार के माने गए हैं, तथा इनसे ऊपर कुछ और उच्च प्रकार के शब्द कहे गए हैं। जैसे दर्शन-संबंधी १६ प्रकार ऊपर दिखलाए गए हैं, वैसे ही श्रवण-संबंधी १८ शब्द समझ पड़ते हैं। षोडश कलायुक्त पुरुष ब्रह्म है। जब ब्रह्म का पूर्ण ध्यान होता है, तब कलाओं का विचार नहीं होता, और वे (कलाएँ) मिली हुई समझी जाती हैं। ऐसी दशा में ईश्वर को निष्कल कहते हैं। जब कलाओं पर ध्यान रखकर ईश्वर पर विचार होता है, तब उसको सकल कहते हैं। परब्रह्म निष्कल है, और अपरब्रह्म सकल। इन सोलहो कलाओं की उपमा चंद्रमा की सोलहो कलाओं से दी जाती है, यहाँ तक कि ईश्वरीय और चांद्र कलाओं के नाम भी एक ही हैं, यथा—अमृत, मानद, पूष, तुष्टि, पुष्टि, रति, धृति, शशिनी,

चंद्रिका, कांति, ज्योत्स्ना, श्री, प्रीति, अंगदा, पूर्ण और पूर्णामृत। इसी उपासना को षोडशकल-पुरुष-विद्या कहते हैं, जिसमें निर्गुण-ध्यान और सगुणोपासना, दोनो सम्मिलित हैं।

अवतारों, पैग़ंबरों, सिद्धों आदि के प्रति पूजन अथवा मान प्रतीक-उपासना से ही संबंध रखता है, क्योंकि मनुष्य भी एक प्रकार की प्रतिमा-मात्र है। निर्गुण-उपासना प्रतीक-उपासना से ऊँची है, किंतु उसमें भी सगुणत्व एवं प्रतीकत्व लगा है; सो वह भी बुद्धि की अपेक्षा प्रधानतः प्रेम-मार्ग से ही संबंध रखती है। सबसे पहले प्रतीक-उपासना का दर्जा है। उससे बढ़कर सगुण-उपासना की पात्रता आती है, और उससे भी आगे निर्गुण का पद है, जो प्रेम से विशेष संबंध न रखकर प्रधानतः निर्विशेष ज्ञान का विषय है। निर्विशेष ज्ञान को ही प्रेमी लोग तल्लीनता कहते हैं। इसीलिये स्थूल प्रकार से सगुण की उपासना तथा निर्गुण का ज्ञान कहा गया है। वास्तविक ईश्वर इन दोनो से ऊपर है। ये दोनो सिखलाने-भर को हैं। जब रेखागणित सिखलाया जाता है, तब यह पढ़ाया जाता है कि रेखा में लंबाई है, किंतु चौड़ाई बिलकुल नहीं। यह बतलाने को बोर्ड पर एक रेखा भी खींची जाती है, किंतु वह स्वयं अशुद्ध है; क्योंकि बिना चौड़ाई के रेखा सोची तो जा सकती है, खींची नहीं जा सकती। फिर भी बिना इसके रेखागणित समझ में नहीं आ सकता। इसी प्रकार ईश्वर का ज्ञान देने को निर्गुण और सगुण-विचार साधन-मात्र हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक स्पिनोज़ा ने कहा है कि ईश्वर को निर्गुण बतलाने ही में हम उसमें एक गुण स्थापित करते हैं, अर्थात् यह कहते हैं कि उसमें अमुक बात का अभाव है। यह भी एक गुण ही है, यद्यपि भावात्मक न होकर अभावात्मक है। इसीलिये कहा गया है कि ईश्वर का विचार पूर्णतया शब्दों में कहा नहीं जा सकता, वरन् इशारे से समझाया जा

सकता है। अतएव कहते हैं कि ईश्वर का असली अहंग्रह भाव सगुण और निर्गुण, दोनो से ऊपर है। उपासना और ज्ञान निर्गुण और सगुण, दोनो ही में होते हैं।

निर्गुण-सगुण-विचारों का अपने यहाँ मनोरंजक इतिहास है। वेदों में तैंतीस देवताओं की मुख्यता है, और उन्हीं को यज्ञों से प्रसन्न किया जाता था। फिर भी इतना कहा गया कि वे केवल ईश्वरीय शक्ति से सबल हैं, अपनी से नहीं। वह ईश्वर कैसा है, सो वेदों में बहुत करके अकथित है। पीछे से ब्राह्मण तथा सौत्र कालीन सभ्यता में कर्मकांडीय यज्ञों का तो पूरा प्रचार रहा, किंतु ज्ञान-कांड के संबंध में यह भाव उठा कि जिन इंद्रादि देवताओं में अपना निजी बल नहीं है, वे महान् कैसे? इस प्रकार औपनिषत् ज्ञान एक ईश्वर की ओर झुका, विशेषतया उसके निर्गुण भाव पर। उप-निषदों ने बहुधा उसे अव्यय, अलोहित, अस्नाविर, अरूप आदि कहा। अनंतर यह भाव उठने लगा कि जो ईश्वर अपने से कोई विशिष्ट संबंध रखता ही नहीं, वह आराध्य नहीं है। इस प्रकार बृहस्पति के चार्वाक सिद्धांत से लोक-रक्षा करने को महर्षि कपिल, जैमिन और गौतम बुद्ध के उपदेशों ने जन्म लिया, किंतु समय पर उन्हीं से बढ़कर भारत में अनीश्वरवाद चलने लगा, जिसका समाज में प्रतिकार शुष्क निर्गुण-वाद न कर सका। तब महर्षि बादरायण व्यास ने श्रीमद्भगवद्गीता द्वारा पहलेपहल सगुणवाद का दृढ़ प्रचार किया। इसमें प्रतीकत्व आधिक्य से नहीं है। गंगा की महत्ता है, किंतु उनमें स्नान से कोई फल नहीं कथित हैं। प्रतिमा-पूजन भी गीता में नहीं है। हरप्पा और मोहंजोदाड़ो में तीसवीं-बत्तीसवीं शताब्दी संवत् पूर्व की सभ्यता निकली है। उसमें शिवलिंग पाए गए हैं, किंतु 'न तस्य प्रतिमास्ति' द्वारा वेद ने आर्यों में प्रतिमा-पूजन न आने दिया। बौद्ध-काल के पूर्व तक अनार्यों में तो प्रतिमा-पूजन मिलता है, किंतु

आर्यों में नहीं। प्रतिमा भी केवल लक्ष्मी की मिली है, सो भी सांकेतिक, और उसके पूजन का वर्णन नहीं है। बुद्ध भगवान् के पीछे यहाँ प्रतिमा-पूजन चला, जो तुर्कों, शकों, हूणों आदि के हिंदू बनने से और बढ़ा। इन्हीं लोगों के प्रभाव से पाप-स्वीकृति, तौबा आदि की नक़ल पर अपने यहाँ भी तीर्थ-स्नान आदि द्वारा पाप-विमोचन की प्रणाली चली। वेदादि में भी पाप-विमोचन पर विनतियाँ सवितर आदि से की गईं, किंतु पीछे की भाँति उसमें भारी सुगमता न थी। अब तीर्थ-स्नान, प्रतिमा-पूजन आदि के ही सहारे से हिंदू-धर्म चल रहा है। भक्ति इन्हीं पर बहुधा अवलंबित रहती है। भारत में गीता के पूर्व स्वरूप सगुणत्व के साथ निर्गुण ब्रह्म का प्रचार था, और पीछे मुख्यतया सगुणत्व का हुआ। अनंतर सगुणत्व दिनोंदिन बढ़ता आया है। दार्शनिकों का विचार है कि योग द्वारा जो ज्योति और शब्द का ज्ञान होता है (जिसका कथन ऊपर हो चुका है), वह एक प्रकार से अप्राकृतिक है। वैज्ञानिकों का कथन है कि अनहद नाद और ज्योति के ज्ञान, जो समाधि से प्राप्त होते हैं, वे भी अप्राकृतिक न होकर प्राकृतिक-मात्र हैं, और जैसा साधारण शब्दों तथा रूपों का ईश्वर से संबंध है, वैसा ही उनका भी, उससे विशेष कुछ भी नहीं; अर्थात् उन ज्योतियों तथा नादों में कोई विशेष ईश्वरीय सत्ता नहीं है, जो कुछ है, वह साधारणी सत्ता-मात्र है। उनका विचार है कि कर्णेंद्रिय को सदैव काम करने का अभ्यास है; अतः जब हम उससे कोई भी काम नहीं लेना चाहते, जैसा समाधि-अवस्था में होता है, तब वह ऐसे शब्दों को पकड़ती है, जो हमारी इच्छा-शक्ति की जाग्रत् अवस्था में उस (कर्णेंद्रिय) के लिये अति सूक्ष्म होने के कारण सुन नहीं पड़ते। ज्यों-ज्यों इसका अभ्यास बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों शक्ति बढ़ती जाती है, यहाँ तक कि समाधिस्थ मनुष्य अंत में ऐसे-ऐसे शब्द सुनने लगता है, जो उ से

अप्राकृतिक और ईश्वरीय समझ पड़ते हैं। इसी प्रकार नेत्र बंद करके समाधि लगाने से आँख में जो देखने के स्नायु हैं, उनका प्राकृतिक स्फुरण होने से उन्हें त्रिपुटी में ज्योति देख पड़ने लगती है, जिसके रूप अभ्यास-वृद्धि के साथ बदलते जाते हैं। इन्हीं रूपों को योगी ईश्वरीय ज्योति का साक्षी मानने लगता है, यद्यपि सूक्ष्मता का विचार छोड़ देने से इनमें साधारण पदार्थों के देखने से बढ़कर कोई भी मुख्य ईश्वरीयता नहीं है। यहाँ पर यह भी कह देना चाहिए कि दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों में इस विषय पर कोई वास्तविक भेद है भी नहीं, क्योंकि दार्शनिक भी इन्हें वास्तव में अप्राकृतिक नहीं मानते। वे केवल इनकी सूक्ष्मता पर ज़ोर देते हैं। इस विषय पर अपने को मत-प्रकाशन की कोई आवश्यकता नहीं है, इतना हर तरह से मानना पड़ता है कि योगी जो ज्योति देखता और शब्द सुनता है, उसके आकार-प्रकार साधारण ज्ञान से सूक्ष्मतर हैं। जब सभी बातों में ईश्वरीय शक्ति है, तब सूक्ष्म बातों में उसकी कुछ अधिकता अवश्यमेव होगी।

ऊपर के वर्णन से ज्ञात होगा कि हिंदू-मत में ईश्वरीय भाव बहुत ही ऊँचा है। अब हम कबीर साहब के ईश्वर-संबंधी कथनों पर विचार करते हैं। आपने कहा है कि ईश्वर में सब शक्तियाँ हैं, और वह सभी कुछ कर सकता है, किंतु बंदा (आदमी) नहीं कर सकता। इससे ईश्वर ही में शक्ति है, ऐसा निष्कर्ष निकलता है। कबीर ने उसे सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी आदि माना है, और एकेश्वरवाद पर बहुत बड़ा ज़ोर दिया है। 'सैना बैना' से 'गूँगे के गुड़' की भाँति समझाने में आपने शून्य, ज्योति और शब्द या अनहद नाद, इन तीन बातों पर विशेष ज़ोर दिया है। शून्यवाद अनीश्वरवाद को कहते हैं, और ईश्वरवाद में भी शून्य का वर्णन आता है। ईश्वर को बार-बार शून्य शहर का वासी आदि कहकर कबीर

साहब ने यह व्यक्त किया है कि अद्वैतवाद सत्य है, अथच ईश्वर के अतिरिक्त प्रकृति, जीवात्मा आदि कुछ भी सत् नहीं हैं, क्योंकि यदि वे सत् होते, तो ईश्वर के अतिरिक्त और भी पदार्थ होते, और वह शून्य का निवासी न होता। योग में इंद्रियों के शून्यप्राय कर देने से ही ज्योति का दर्शन होता है। इससे कबीर साहब ने शून्य का अधिक वर्णन करके यह भी दिखलाया है कि इंद्रियों की अकर्मण्यता अर्थात् लय द्वारा ज्योति-दर्शन होनेवाला योग का विचार सत्य है।

इस प्रकार 'शून्य' के कथन द्वारा कबीर साहब ने, हमारी समझ में, अद्वैत मत, योग की ज्योति एवं शब्द-संबंधी विचारों को पुष्ट किया है। शब्द, नाद आदि से आपका प्रयोजन अनहद नाद से है, जैसा आपने कहा भी है। आपने अनहद ढोल, अनहद घंट और नाद, इन तीनो बातों का इस संबंध में विशेष कथन किया है। ये सब बातें योग-शास्त्र के विचारों तथा अनुभवों से पूरी पूरी मिल जाती हैं, जैसा ऊपर वर्णित है। शब्द को आप ररंकार-सूचक मानकर राम-नाम को पूज्य समझते हैं। इतनी ही पोपलीला आपके कथनों में है, या यों कहें कि समझ पड़ती है। योग के चार स्थूल विभाग हैं—राजयोग, हठयोग, मंत्रयोग और लययोग। कबीर साहब का सिद्धांत प्रधानतः लययोग समझ पड़ता है।

ईश्वर के संबंध में आपका विचार बहुत ही ऊँचा है। इससे ऊँचा भाव आज तक शायद किसी भारी हिंदी-कवि ने नहीं प्रकट किया। आपने साफ़ कह दिया है कि ईश्वरीय विचार सगुण और निर्गुण, दोनो से ऊँचा है। यह भी प्रकट रूप से कहा गया है कि भक्ति सगुण ईश्वर की करे, और ज्ञान के लिये निर्गुण ईश्वर पर विचार करे; किंतु ये दोनो बातें समझाने-भर को हैं, क्योंकि असली ईश्वर इन दोनो से परे है। प्रतीक-उपासना की आपने पूरे बल के साथ निंदा की है। प्रतिमा, अवतार, पैग़ंबर, मुल्ला, क़ाज़ी, ब्राह्मण

आदि में से आप किसी को पूज्य नहीं मानते और सद्गुण पर ही ज़ोर देते हैं। यह महात्मा उपनिषदों की सच्ची संतान थे। इन्होंने सिवा सच्चे, चोखे ज्ञान के और कुछ भी नहीं कहा, और समझाने-बुझाने आदि के लिये किसी प्रकार ईश्वरीय विचार की सत्यता में तिल-मात्र असत्यता नहीं घुसने दी। सत्य-कथन का इस महात्मा को इतना चाव था कि चाहे भद्दापन भी आ जाय, विरोध हो जाय, स्त्री का सतीत्व तक भ्रष्ट हो जाय, किंतु मुख से असत्य बात न निकले, और कर्मों में असत्यता का आवेश न हो। हिंदू-दार्शनिक सिद्धांतों में आपने अद्वैतवाद को पूर्ण बल के साथ अपनाया, किंतु, फिर भी, उसमें कहे हुए प्रत्येक विचार को नहीं माना। अद्वैत में आपने ईश्वर की अद्वैतता-मात्र पर ज़ोर दिया है। इतना और कहना पड़ता है कि यद्यपि कबीर साहब ने भक्ति के लिये सगुण ईश्वर की उपासना ठीक कही है, तो भी इनकी रचना में उसका बहुत कम समावेश है। भक्ति का उपदेश आप अवश्य करते हैं, किंतु ईश्वर में तार्किक सत्यता स्थिर रखने के लिये उसके सगुण-वर्णन को दृढ़ नहीं करते, जिससे भक्ति के लिये कोई अवलंब कम मिलता है। ईश्वर की भक्ति क्यों की जाय? इस प्रश्न का उत्तर जो आपने दिया है, वह बहुत चित्ताकर्षक नहीं है। ईश्वर की दयालुता, कोमलता आदि के भाव आपकी रचना में कम आए हैं। आप निर्वाण आदि के ही लिये भक्ति का उपदेश करते हैं; यह कम दिखलाते हैं कि दुःखों का दमन ईश्वर ने किया, अथवा वह हमारे लिये बड़ा उत्सुक है, या हमारे कष्टों, दुःखों, दुराचरणों आदि के हटाने में तत्पर है। आपकी रचना में आत्मा की उत्सुकता परमात्मा की ओर विशेष है, किंतु परमात्मा की उत्सुकता बहुत कम है, बल्कि कुछ भी नहीं। जो थोड़ी-सी है, वह पर्याप्त नहीं। यह नहीं समझ पड़ता कि आत्मा परमात्मा के लिये क्यों इतना उत्सुक

हो ? केवल मुक्ति की चाट यथेष्ट नहीं है। प्रेम करने के योग्य बहुत-सी बातें कबीर के ईश्वर में नहीं मिलतीं। इनके ईश्वर के संबंध में उदासीन भाव से भक्ति ठीक या योग्य समझ पड़ती है (उदासीन भाव से भक्ति शांत भाव के अंतर्गत कही जा सकती है)। इसका कारण तार्किक शुद्धता ही दिखाई देती है। ईश्वरीय विचार जितना शुद्ध कबीर साहब ने कहा है, उतना हमारे किसी अन्य भारी भाषा-कवि ने नहीं कहा। स्वामी दयानंद तक ने सब कुछ छोड़कर वेदों का सहारा अवश्य ढूँढ़ा, किंतु कबीर ने कोई सहारा नहीं लिया, केवल सच्चा-सीधा ईश्वर कहा। इसीलिये उसमें कुछ शुष्कता आ गई है।

चरित राम के सगुन भवानी। तरकि न जायँ बुद्धि, बल, बानी।
यह बिचारि जे चतुर बिरागी, रामहिं भजहिं तरक सब त्यागी।

महात्मा तुलसीदास को अनन्य भक्त होकर भी ऊपर-लिखी बात कहनी पड़ी; किंतु आप राम-भक्ति को तर्क-हीन बतलाते हैं, और इतना होने पर भी संशय न होने का उपदेश एवं 'संशयात्मा विनश्यति' की धमकी विश्वासात्मिका भक्ति के बल पर देते हैं। कबीरदास के कथनों में संशयात्मक के लिये ठौर ही नहीं है। वह कहते ही नहीं कि अमुक पुस्तक ईश्वर की आज्ञा है; फिर संशय क्या किया जाय ? वह ईश्वरीय कृपाओं के उदाहरण ही नहीं देते कि कोई उन पर संदेह प्रकट करे। वेद, क़ुरान, बाइबिल आदि का अधिकार उन ग्रंथों के ईश्वरीय संबंध पर ही अवलंबित है। यदि कोई इस संबंध को न मान सके, तो उन पुस्तकों पर विश्वास कैसे करे ? कबीरदास के कथनों में ऐसे विश्वासों की आवश्यकता ही नहीं है। अन्य बहुतेरे उपदेशक कहते हैं कि हमारे कथन अमुक ग्रंथ में कथित होने, हमसे ईश्वर का अमुक संबंध होने एवं ऐसे-ही-ऐसे अन्य कारणों से मान्य हैं; किंतु महात्मा गौतम बुद्ध की

भाँति कबीर साहब मानो यही कहते हैं कि हमारे कथन ठीक होने के कारण ठीक हैं; जो उनमें भूल निकाल सकें, वे निकालें। वह स्वयं सबकी भूलें निकालने का बीड़ा उठाए बैठे थे। उनके कथनों में कोई भूल न निकाल सका। योगियों के कथन होते हैं कि हमने अमुक बात योग-बल से देखी है, इसलिये तुम्हें माननी चाहिए। यदि संदेह हो, तो संशयात्मा 'विनश्यति' की धमकी रक्खी हुई है; परंतु बाबा, सारे प्राकृतिक नियमों और अध्ययनों के फलों को किस कोने में ठूँसें, जो अंध-विश्वास के अनुयायी बनें? उत्तर यही मिलेगा कि कौन अंध-विश्वास करने को कहता है? ख़ुद योग-साधन कर देख न लो। पर साठ बरस तक श्रम करने को समय किसके पास है? फल यह है कि आप अपना योग-बल लिए बैठे रहिए, और हम अपने अविश्वास पर दृढ़ रहें। कबीर के कथनों में ऐसी बातों की आवश्यकता नहीं। आपके छंदों तथा जीवन के चरित्रों से जान पड़ता है कि आप योगी, सिद्ध, ब्रह्मानंदी और समाधिस्थ थे। आपकी गणना पैग़ंबरों और मिस्टिक (Mystic) महापुरुषों में हो सकती है। फिर भी आपने किसी को अपने ऊपर अनुचित विश्वास करने का उपदेश नहीं दिया, और सारी चितावनियाँ तथा विचार बुद्धि-ग्राह्य लिखे। इसलिये यदि इनका ईश्वर-प्रेम मोहक न हो, तो भी सत्यता की मात्रा विशेष होने से हम उसको योग्य समझते हैं, और इन्हें बहुत भारी धर्मोपदेशक मानते हैं। इतना तो भी कहना पड़ेगा कि अपनी भक्ति शुष्क देखकर ही शायद आपने उलटबाँसी आदि कहकर अपने धार्मिक उपदेश जनता तक पहुँचाने चाहे हों, किंतु इन अंतिम प्रयत्नों में केवल-मूर्ख-मोहिनी विद्या है।

उदासीन भक्ति का यह प्रयोजन हमने माना है कि ईश्वर की महत्ता को पूर्ण रूप से स्वीकार करें, उसके नियमों को दयामय समझें, किंतु नियमातिरिक्त दया को न्याय के प्रतिकूल मानकर

असाधारण व्यक्तिगत दया की आशा उससे न करें। ऐसी भक्ति का मुख्य अंग कर्तव्य-पालन है। ईश्वर से कोई विशिष्ट व्यक्तिगत संबंध असंभव है।

अवतार

(१) तेहि साहब के लागौ साथा ; दुइ कुल मेटिकै होहु सनाथा।
दसरथकुल अवतरि नहिं आया; नहीं लंक के राय सताया।
नहिं देवकि के गरभहि आया ; नहीं जसोदा गोद खेलाया।
पृथिवी रमन दमन नहिं करिया; पैठि पताल नहीं बलि छरिया।
नहिं बलि राय सों माँडी रारी; ना हरनाकुस बधल पछारी।
रूप बराह धरनि नहिं धरिया ; छत्री मारि निछत्र न करिया।
गंडक सालग्राम न सीला ; मच्छ कच्छ ह्वै नहिं जल हीला।
द्वारावती सरीर न छाड़ा ; लै जगनाथ पिंड नहिं गाड़ा।

(२) संतौ आवै-जाय सो माया ;
है प्रतिपाल काल नहिं वाके, ना कहिं गया, न आया।
क्या मकसूद मच्छ-कच्छ होना, संखासुर न संहारा ;
अहै दयालु, द्रोह नहिं वाके, कहौ कौन को मारा।
वे करता, न बराह कहावैं, धरनि धरैं नहिं भारा ;
ई सब काम नहीं साहेब के, झूठ कहै संसारा।
खंभ फारि जो बाहर होई, ताहि पतिज सब कोई ;
हिरनाकुस नख उदर बिदारै, सो नहिं करता होई।
बावन-रूप न बलि को जाँचै जो जाँचै सो माया ;
बिना बिवेक सकल जग जड़ है, माया जग भरमाया।
परसुराम छत्री नहिं मारा, ई छल माया कीन्हा ;
सतगुरु भक्ति भई नहिं जानै जीव सु मिथ्या दीन्हा।
सिरजनहार न ब्याही सीता, जल-पखान नहिं बंधा ;
वै रघुनाथ एक कै सुमिरै, जो सुमिरै सो अंधा।

गोप, ग्वाल, गोकुल नहिं आए, कर ते कंस न मारा ;
मेहेरबान है सबका साहेब, ना जीता, ना हारा।
वे करता नहिं बौध कहावैं, नहीं असुर को मारा ;
ज्ञान-हीन करता सब भरमे, माया जग संहारा।
वे करता नहिं भए कलंकी नहीं कलिंगहि मारा ;
ई छल-बल सब माये कीन्हा जतिन सतिन सब टारा।
दस अवतार ईस्वरी माया करता कै जिन पूजा ;
कहै 'कबीर' सुनौ हो संतौ, उपजै खपै सो दूजा।

माया

ई माया रघुनाथ कि बैरिनि, खेलन चली अहेरा हो ;
चतुर चिकनिया चुनि-चुनि मारे, कोइ न राखा नेरा हो।
मौनी, पीर, दिगंबर मारे, ध्यान धरंते जोगी हो ;
जंगल में के जंगम मारे, माया किनहु न भोगी हो।
बेद पढ़ंते बेदुवा मारे, पुजा करंते स्वामी हो ;
अर्थ बिचारत पंडित मारे, बाँधेउ सकल लगामी हो।
सृंगी ऋषि बन भीतर मारे, सिर ब्रह्मा का फोरी हो ;
नाथ मुछंदर चले पीठि दै, सिंगल हू में बोरी हो।
साकठ के घर करता-धरता, हरि भक्तों के चेरी हो ;
कहहि 'कबीर' सुनो हो संतौ, ज्यों आवैं त्यों फेरी हो।

माया महा ठगिनि हम जानी ;
निरगुन फाँस लिए कर डोलैं, बोले मधुरी बानी।
केसव के कमला ह्वै बैठी, सिव के भवन भवानी ;
पंडा के मूरति ह्वै बैठी, तीरथ में भइ पानी।
जोगी के जोगिनि ह्वै बैठी, राजा के घर रानी ;
काहू के हीरा ह्वै बैठी, काहू के कौड़ी कानी।

भक्तन के भक्तिनि ह्वै बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी;
कहै 'कबीर' सुनौ हो संतौ, यह सब अकह कहानी।

अवतार तथा माया-संबंधी उपर्युक्त छंदों से प्रकट हुआ होगा कि कबीर साहब अवतार, देवों, देवता आदि को माया के अंग समझते और नहीं मानते थे।

कर्म-गति

करम-गति टारी नाहिं टरी।
मुनि बसिष्ठ-से पंडित ज्ञानी सोधि कै लगन धरी;
सीता-हरन, मरन दसरथ को, बन में बिपति परी।
कहँ वह फंद, कहाँ वह पारधि, कहँ वह मिरग चरी;
सीता को हरि लैगो रावन, सुबरन लंक जरी।
नीच हाथ हरिचंद बिकाने, बलि पाताल धरी;
कोटि गाय नित पुन्न करत नृग गिरगिट-जोनि परी।
पँडवार्जुन के आप सारथी, तिन पर बिपति परी;
दुरजोधन को गरब घटायो, जदु-कुल-नास करी।
राहु, केतु औ' भानु, चंद्रमा बिधि संजोग परी;
कहत 'कबीर' सुनौ भइ साधो, होनी ह्वै के रही।

यह पद सूरदास के ऐसे ही एक पद से बहुत कुछ मिलता है। संभव है, उन्हीं का पद कबीर साहब के शिष्यों ने इनकी रचना में रख दिया हो, क्योंकि यह इनके सिद्धांतों से भी बहुत कुछ नहीं मिलता, जैसा कि नीचे के वर्णन से प्रकट होगा।

आवागमन

इस सिद्धांत पर हिंदुओं और मुसलमानों के विचारों में बहुत बड़ा अंतर है। हिंदुओं का सिद्धांत है कि प्रत्येक मनुष्य, वरन् देहधारी, जीवन में जैसे कार्य करता है, तदनुसार भविष्य में अन्य योनियाँ प्राप्त करके संसार में कर्म कमाता है। उधर मुसलमानों

का मत है कि जीवात्मा एक ही बार मनुष्य-योनि पाकर फिर उसमें कभी नहीं आता। कबीर साहब की रचना पढ़कर इस प्रश्न पर भ्रम-सा होता है, क्योंकि आप इन दोनो विरुद्ध सिद्धांतों के समर्थन में स्थान-स्थान पर छंद लिखते हैं। इसलिये यह निश्चय नहीं होता कि कर्मों के सिद्धांत पर इनका दृढ़ मत क्या था। उदाहरण—

हिंदू विचार

निर्गुन नाम बिना पछितैहौ फिरि-फिरि यहि नगरी।
कहत 'कबीर' बमा है हंसा आवागमन मिटावै।

दिवाने मन, भजन बिना दुख पैहौ।
पहिला जन्म भूत का पैहौ, सात जनम पछितैहौ;
काँटा पर के पानी पैहौ, प्यासन ही मरि जैहौ।
दूजा जनम सुवा का पैहौ, बाग बसेरा लैहौ;
टूटे पंख, बाज मँड़राने, अधफड़ प्रान गँवैहौ।
बाजीगर के बंदर ह्वैहौ, लरिकन नाच नचैहौ;
ऊँच-नीच के हाथ पसरिहौ, माँगे भीख न पैहौ।
सत्त नाम की टेर न करिहौ, मन-ही-मन पछितैहौ;
कहत 'कबीर' सुनौ भइ साधो, नरक निसानी पैहौ।

अष्ट कमल से ऊजै, लीला अगम अपार;
कह 'कबीर' चित चेतिकै आवागमन निवार।

मुसलमानी विचार

सोच समझ अभिमानी, चादर भई है पुरानी;
कह 'कबीर' धरि राखु जतन से, फेरि हाथ नहिं आनी।

जियरा ऐसा पाहुना मिलै न दूजी बार।
मानुष-तन दुर्लभ अहै, बहुरि न दूजी बार;
पका फल जो गिरि परै, बहुरि न लागै डार।

राम

राम को कबीर साहब दशरथ-नंदन अथवा अवतार समझकर नहीं जपते थे, वरन् ईश्वरीय शब्द ररंकार के संबंध में पवित्र मानते थे। इनके गुरु स्वामी रामानंद ने जो इन्हें राम का मंत्र दिया था, उससे उनका प्रयोजन अवतार ही का था। फिर भी कबीर की रचना में सैकड़ों स्थानों पर राम-नाम होते हुए भी उससे अवतार का संबंध कभी नहीं बैठता। इससे जान पड़ता है कि शिष्य होने के बहुत दिन पीछे, अपने विचार दृढ़ कर लेने पर, कबीर साहब ने इन छंदों की रचना की। इन्होंने यद्यपि गुरु-मंत्र का भाव छोड़ दिया, तथापि उसके शब्दों से श्रद्धा नहीं हटाई।

उदाहरण—

रमै घट-घटन में आपु न्यारा रहै पूर्न आनंद है राम सोई;
पाँच पच्चीस गुन सील से रहित है कौन-सी दृष्टि से राम देखा।
दसरथ-सुत तिहुँ लोकहि जाना; राम-नाम का मर्म है आना;
अब सुनि लेहु जवाहिर मोती खरा खोट नहिं बूझा।
सिव, गोरख अस जोगी नाहीं, उनहूँ को नहिं सूझा;
बड़-बड़ साधू बाँधे झोरे, राम भाग दुइ कीन्हा।
'रा-रा' अच्छर पाखर लीन्हा, 'मा' हि भरम तजि दीन्हा;
राम के नाम ते पिंड ब्रह्मांड सब, राम को नाम सुनि मर्म बानी।
निर्गुन निरंकार के पार परब्रह्म है तासु को नाम रंकार जानी;
रसना राम-राम गुन पीजे; गुनातीत निर्मूलक लीजै।
निर्गुन ब्रह्म जपौ रे भाई; जेहि सुमिरत सुधि-बुधि सब पाई;
कहै 'कबीर' वह अक्कस तहकीक कर राम का नाम जो पृथी लाया।

ज्ञान

ज्यों अँधरे को हाथिया सब काहू को ज्ञान;
अपनी-अपनी कहत हैं, काको धरिए ध्यान।

ज्ञानी से कहिए कहा कहत 'कबीर' लजाय ;
अंधे आगे नाचते कला अकारथ जाय ।
ज्ञानी भूले ज्ञान कथि निकट रह्यो निज रूप ;
बाहर खोजैं बापुरे, भीतर बस्तु अनूप ।
जौलौं तारा जगमगै, तौलौं उगै न सूर ;
तौलौं जिय जग कर्म बस, जौलौं ज्ञान न पूर ।

उपर्युक्त प्रथम तीन दोहों में झूठे ज्ञान की निंदा की गई है, सच्चे की नहीं । तीसरे दोहे में बुद्धि की निंदा और प्रतिभा की स्तुति हुई है । चौथे में सच्चे ज्ञान की महिमा गाई गई है ।

भक्ति और प्रेम

अर्ब-खर्ब लौं द्रव्य है, उदय-अस्त लौं राज ;
भक्ति-महातम ना तुलै, ये सब कौने काज ।
और कर्म सब कर्म हैं, भक्ति-कर्म निष्कर्म ;
कहै 'कबीर' पुकारिकै भक्ति करौ तजि भर्म ।
जो जन बिरही नाम के सदा मगन मन माहिं ;
ज्यों दर्पन की सुंदरी किनहूँ पकरी नाहिं ।
बिरह-बान जिहि लागिया, औषध लगत न ताहि ;
सुसुकि-सुसुकि मरि-मरि जियै उठै कराहि-कराहि ।
सपने में साईं मिले, सोवत लिया जगाय ;
आँखि न खोलूँ डरपता मति सपना ह्वै जाय ।
सब ही तरु तर जायकै, सब फल लीन्हों चीखि ;
फिरि-फिरि 'कबिरा' माँगता दरसन ही की भीखि ।
यह तौ घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं ;
सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठै घर माहिं ।
हिरदे में महबूब है, हरदम का प्याला ;
पीएगा कोइ जौहरी, गुरु-मुख मतवाला ।

पियत पियाला प्रेम का सुधरे सब साथी;
आठ पहर झूमत रहै जस मैगल हाथी।
बंधन काटे मोह के बैठा निरसंका;
वाके नजर न आवता, क्या राजा रंका।
धरती तो आसन किया तंबू असमाना;
चोला पहिरा खाक का रह पाक समाना।
गही टेक छोड़ै नहीं, जीभ चोंच जरि जाय;
ऐसो तप्त अँगार है, ताहि चकोर चबाय।

उपर्युक्त छंदों से प्रकट है कि कबीर के चित्त में भक्ति एवं ईश्वरीय प्रेम की मात्रा अथाह थी।

जप

अजपा जाप जपौ मन लाई; जाके जपे मिटै दुचिताई।
लूटि सकै तौ लूटिए सत्तनाम की लूटि;
पाछे फिरि पछिताहुगे प्रान जाहिं जब छूटि।
दुख में सुमिरन सब करै, सुख में करै न कोय;
जो सुख में सुमिरन करै, तौ दुख काहे होय।

यत्न

द्वार धनी के परि रहै, धका धनी का खाय;
कबहुँक धनी निवाजई, जो दर छाँड़ि न जाय।
जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ गहिरे पानी पैठि;
मैं बपुरा बूड़न डरा, रहा किनारे बैठि।

जप और यत्न को सभी संत लोग पसंद करते हैं। इन्हें कबीर साहब ने भी अच्छा कहा है। उक्त पाँचो छंद ऐसे लोकप्रिय हुए कि कहावतों में परिणत हो गए हैं। महात्मा कबीरदास का प्रभाव उत्तरी और मध्य भारत में बहुत अधिक पड़ा है। सिवा गोस्वामी तुलसीदास के और किसी का प्रभाव इन प्रांतों में कबीर साहब

से बढ़कर नहीं पड़ा। इस कथन का प्रयोजन स्वामी शंकराचार्य से पीछेवाले महात्माओं से है।

गुरु

गुरु दयाल कब करिहौ दाया ;
काम, क्रोध, हंकार बियारै, नाहीं छूटै माया।
जौ लगि उत्पति बिंदु रचो है साँच कभूँ नहिं पाया ;
पाँच चोर सँग लाय दियो है, इन सँग जन्म गँवाया।
तन-मन डस्यो भुवंगम भारी, लहरै वार न पारा ;
गुरु गारुड़ी मिल्यो नहिं कबहीं, बिष पसरयो बिकरारा।
कह 'कबीर' दुख कासों कहिए, कोई दरद न जानै ;
देहु दिदार दूर करि परदा, तब मेरो मन मानै।

चकई बिछुरी रैनि की आय मिली परभात ;
सतगुरु से जे बीछुरे मिलैं दिवस नहिं रात।
गुरु गोबिंद दोऊ खड़े, काके लागौं पाँय ;
बलिहारी गुरु आपने, गोबिंद दिया बताय।
'कबिरा' ते नर अंध हैं गुरु को कहते और ;
हरि रूठे गुरु ठौर हैं, गुरु रूठे नहिं ठौर।

उपर्युक्त छंदों से प्रकट है कि कबीर साहब गुरु का मान बहुत अधिक करते थे। ईश्वर के पीछे आप गुरु को ही मानते थे।

सखी-संप्रदाय से आत्मा का वर्णन

कबीर साहब ने आत्मा को स्त्री मानकर ईश्वर में प्रायः पति-भाव स्थापित किया है। रूपक की भाँति इन दोनो के विवाहों के भी अनेक बार अनेक प्रकार से वर्णन किए गए हैं। आपकी भक्ति सखी-संप्रदाय की थी। इनकी रचनाओं में शृंगार-पूर्ण वर्णन इस संबंध में बहुत आया है; किंतु उनमें भी शृंगार का आभास-मात्र है। प्रत्येक स्थान पर पाठक को भासित होता जाता है कि शृंगार

कहने ही भर को है, वास्तविक वर्णन जीवात्मा तथा परमात्मा ही का है। इन कारणों से आपका शृंगार-वर्णन अरुचिकर हो गया है, और उसे पढ़कर अधिकतर स्थानों में काव्यानंद नहीं आता। आपके ऐसे थोड़े ही इस प्रकार के छंद हैं, जिनमें काव्य का स्वाद मिलता है। कई स्थानों पर भावों में जीवात्मा और परमात्मा का विचार इतना दृढ़ है कि उत्प्रेक्षा, रूपक आदि के ऊपरी कथन को सत्य मानने से स्त्री के काम इतने उन्मत्तता-पूर्ण हो गए हैं कि कोई कुलटा भी उतनी निर्लज्जता न दिखलावेगी। ऐसे स्थानों पर जीवात्मा एवं परमात्मा का ही विचार मानने से वर्णन ठीक बैठता है, और ऊपरी स्त्रीवाला कथन मिलाने से रूप बिलकुल बिगड़ जाता है। स्त्री पति से मिलने को इतनी उत्सुक है कि ऊँचे रपटीले रास्ते में चढ़ती चली जाती है। रास्ता विकट है, पैर आगे नहीं पड़ता; वह गिर-गिर पड़ती है, किंतु चली ही जाती है। पति महाशय ऊपर बैठे हैं। उनको इसकी रत्ती-भर भी परवा नहीं कि ऐसे स्थान पर पहुँचने में उनकी स्त्री की क्या दशा होगी? ऐसे अधिकतर वर्णनों में पति की ओर से पूर्ण उदासीनता देख पड़ती है, किंतु स्त्री को इतना प्रेम है कि मिलने के लिये उसका प्राण ही निकला जाता है। अपने पिता से कहती है कि बाबा, मेरा विवाह कोई अच्छा वर ढूँढ़कर करा दो, और जब तक ऐसा वर न मिले, तब तक तुम्हीं वर का काम करो। यहाँ पिता से गुरु का प्रयोजन है, और पति से ईश्वर का। मतलब यह कि जब तक ईश्वर से पूरी लगन लग न सके, तब तक उसके स्थान पर गुरु को ही मानना चाहिए। इतना ही आध्यात्मिक विचार सीधे ढंग से बहुत अच्छा बैठता है, किंतु पुत्री द्वारा पिता से यह कहलाना बड़ा ही गर्हित है। रूपक सच्चा वह है, जिसमें उसके दोनो पक्षों में भाव ठीक उतर जाय। जब तक वर्णन दोनो पक्षों को न निबाहे, तब तक उसका

रूपक, उत्प्रेक्षा आदि के रूप में कथन ही वृथा है। कबीर साहब के अधिकांश शृंगार-पूर्ण कथन इस कसौटी पर कसने से ओछे बैठते हैं। इसीलिये इनकी रचना में आध्यात्मिक विषय तो बहुत अच्छा, ऊँचा और आनंदप्रद है, किंतु उसमें साहित्यिक मज़ा वैसा नहीं आता। इनके होली, चाँचरा, विवाह आदि के वर्णन इन्हीं विचारों से ओछे पड़ते हैं। कहते तो हैं कि होली खेलो, किंतु पिचकारी मारते हैं ज्ञान की, जिसका प्रयोजन यह निकलता है कि होली न खेलकर उससे बिलकुल विपरीत आचरण द्वारा ज्ञानोपार्जन करो। यदि ऐसी शिक्षा देनी है, तो दीजिए, हम बड़ी प्रसन्नता से सुनने को तैयार हैं; किंतु मिथ्या आशा न दिलाइए। ऐसी दशा में साहित्यानंद का पूर्ण अभाव हो जाता है। जो कहना हो, वही ठीक-ठीक कहिए, किंतु और का और न हो। यदि अन्योक्ति आदि में वर्णन करना हो, तो ऐसा मौक़ा निकालिए, जिसमें अन्योक्ति आदि की आवश्यकता जान पड़े। यथा—

> वहि सजा अरजा रहति यहि हौं चाहति सैन;
> हे रतौंधि, यह बात मम सैन समै बिसरै न।
>
> (दासकवि)

यहाँ कथन तो रतौंधी से किया जा रहा है, किंतु प्रयोजन है नायक के चेताने का। साफ़ कहने से साथवाले जान जाते, इससे रतौंधी को संबोधन करके बात कही गई। मौक़ा अन्योक्ति के लिये अच्छा है, अतः काव्यानंद आता है। इसी प्रकार बहुत स्थानों पर कबीर साहब ने भी अन्योक्तियाँ, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि से गर्भित कथन अच्छे भी किए हैं, किंतु आपके अधिकतर ऐसे विवरण फीके हो गए हैं। उदाहरण—

(१) दिन दस नैहर खेलि ले, सासुर निज भरना;
बहियाँ पकरि पिय लै चले, तब उजुर न करना।

इक अँधियारी कोठरी, दुजे दिया न बाती ;
देहि उतारि ताहीं धराँ जहँ संग न साथी ।
इक अँधियारी कूइयाँ, दुजे लेजुर टूटी ;
नैन हमारे अस ढुरैं, मनो गागर फूटी ।
लगन सुनत गवने कै, मुँह कुम्हिलाइन हो ;
लै रे उतारिन तेहि धरा, जहँ दिसि न दुवार हो ।

(१) यार बुलावै भाव से, मो पै गया न जाय ;
धन मैली, प्यू ऊजला, लागि न सक्कूँ पाँय ।
जहाँ गैल सिलसिली चढ़ौं गिरि-गिरि परौं ;
उठहुँ सँभारि-सँभारि चरन आगे धरौं ।
समझ-सोच पग धरौं जतन से बार-बार डिग जाय ;
ऊँची गैल राह रपटीली पाँव नाहिं ठहराय ।
अधर भूम जहँ महल पिया का हम पै चढ़ो न जाय ;
दूती सद्गुरु मिले बीच में दीन्हों भेद बताय ।

(२) दुलहिनी गाओ मंगलचार, हमारे घर आए राजा राम भरतार ।
तन रति कर मैं मन रति करिहौं, पाँचो तत्त्व बराती ;
रामदेव मोहिं ब्याहन आए, मैं जोबन - मद - माती ।
सरिर सरोवर बेदी करिहौं, ब्रह्मा बेद उचारा ;
रामदेव सँग भाँवरि लैहौं, धन-धन भाग हमारा ।
सुर तैंतीसौ कौतुक आए, मुनिवर सहस अठासी ;
कह 'कबीर' मोहिं ब्याहि चले हैं पुरुष एक अबिनासी ।
बालम आओ हमारे गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे ।
सब कोइ कहै तुम्हारी नारी, मोको यह संदेह रे ;
एकमेक ह्वै सेज न सोवै, तब लग कैसो नेह रे ।
अन्न न भावै, नींद न आवै, गृह बन धरै न धीर रे ;
ज्यौं कामी को कामिनि प्यारी, ज्यौं प्यासे को नीर रे ।

है कोइ ऐसा पर-उपकारी, पिय सों कहै सुनाय रे;
अब तो बेहाल 'कबीर' भए हैं, बिन देखे जिउ जाय रे।
सेजरिया बैरिन भइ, हमको जागत रैन बिहाय।
हम तो तुम्हारी दासी सजना, तुम हमरे भरतार;
दीनदयाल, दया करि आओ समरथ सिरजनहार।
कै हम प्रान तजत हैं प्यारे, कै अपनी करि लेव;
दास 'कबीर' बिरह अति बाढ़ेव, हमको दरसन देव।

(४) खेलि ले नैहरवा दिन चारि।

पहिली पठौनी तिन जन आए नौवा, बाम्हन, भाट रे;
बाबुलजी, पैयाँ तोरी लागौं अबकी गवन दे टारि रे।
दुसरी पठौनी आपै आए लैकै डुलिया - कहार रे;
धरि बहियाँ डुलिया बैठारिन, कोउ न लगै गुहार रे।
लै डुलिया जाइ बन माँ उतारिन, कोई न संगी हमार रे;
कहैं 'कबीर' सुनो भइ साधो, इक घर हैं दस द्वार रे।

उपर्युक्त छंदों के विषय में हम अपना मत ऊपर लिख आए हैं। छंदावली नंबर ३ में स्त्री का पद पुरुष की अपेक्षा बहुत ही नीचा और आश्रित है। जीवात्मा और परमात्मा के विचार में सब ठीक है। नंबर ४ में पति यमराज ही हो गया है। स्त्रियों के विषय में कबीर साहब का मत यों भी उनकी उचित महिमा के प्रतिकूल था। आपने लिखा है—

साँप - बीछि को मंत्र है, माहुर झारे जात;
बिकट नारि पाले परी, काटि करेजा खात।

अन्योक्ति

हे गुनवंती बेलरी, तुव गुन बरनि न जाय;
जर काटे ते हरिअरी, सींचे ते कुम्हिलाय।

बेलि कुढंगी, फल बुरे, फुलवा कुबिधि बसाय ;
मूल बिना सो तूमरी, सरोपात करुवाय ।
हम जान्यो कुलहंस हौ, ताते कीन्हों संग ;
जो जनत्यौं बक-बरन हौ, छुवन न देत्यौं अंग ।

रूपक

कुबुधि कमानी चढ़ि रहो कुटिल बचन का तीर ;
भरि-भरि मारै कान लौं, सालै सकल सरीर ।

झीनी-झीनी बीनी चदरिया ।
काहे क ताना, काहे कि भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया ;
इँगला-पिंगला ताना-भरनी, सुखमन तार ते बीनी चदरिया ।
आठ कँवल, दस चरखा डोलैं, पाँच तत्त्व, गुन तीनी चदरिया ;
साईं को सियत मास दस लागै, ठोंकि-ठोंकि कै बीनी चदरिया ।
सो चादर सुर, नर, मुनि ओढ़ी, ओढ़ि कै मैली कीनी चदरिया ;
दास 'कबीर' जतन ते ओढ़ी, ज्यों-की-त्यों धरि दीनी चदरिया ।

उपर्युक्त चद्दर का रूपक बहुत ही अच्छा बना है । इसमें योग-संबंधी शब्द भी अच्छे हैं । आपने रूपक बहुत कहे हैं ।

उल्टबाँसी और सांकेतिक पद

कबीर साहब ने उल्टबाँसी बहुत-सी कही हैं । इनमें देखने को तो उल्टा कथन किया जाता है, किंतु आध्यात्मिक अर्थ लगाने से वह ठीक बैठ जाता है । इसीलिये इन्हें उल्टबाँसी कहते हैं । इन्हीं से मिलते हुए बहुत-से ऐसे कथन हैं, जो संकेत में किए गए हैं, और जिनका अर्थ साधारण पाठक कठिनता से लगा सकते हैं । "पाँच पचीस को दमन करो !" एक ऐसा ही वाक्य है । इसी प्रकार के बहुत-से कथन ऋग्वेद में भी पाए जाते हैं । वैदिक साहित्य का कुछ स्वाद इन महात्मा की रचना में कहीं-कहीं मिलता है । उदाहरण—

(१) बाँधे अष्ट कष्ट नौ सूता ।

यहाँ अष्ट से योग, कष्ट से ज्ञान, नौ से नवधा भक्ति और सूत से जीव का प्रयोजन है।

(२) चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, राई ना ठहराय ;
आवागमन कि गम नहीं, तहँ सकलो जग जाय।

यहाँ चिउँटी से बानी का प्रयोजन लिया गया है, और राई से बुद्धि का।

(३) संतो जगत नींद ना कीजै ;
काल न खाय, कल्प नहिं ब्यापै, देह जरा नहिं छीजै।
उलटा गंग समुद्रहि सोखै ससि औ' सूरहि ग्रासै ;
नौ ग्रह मारि रोगिया बैठो, जल में बिंब प्रकासै।
बिनु चरनन को दुहुँ दिसि धावै, बिनु लोचन जग सूझै;
संसय उलटि सिंह को ग्रासै, ई अचरज कोइ बूझै।
औंधे घड़ा नहीं जल बूड़ै, सीधे सों जल भरिया ;
जेहि कारण नर भिन्न-भिन्न करैं, गुरु प्रसादैं तरिया।
बैठि गुफा मैं सब जग देखै, बाहर कछू न सूझै ;
उलटा बान पारधिहि लागै, सूरा होय सो बूझै।
गायन करे कबहुँ नहि गावैं, अनबोला नित गावै ;
नटवट बाजा पेखनि पेखै, अनहद हेत बढ़ावै।
कथनी बदनी निजु कै जोवै, ई सब अकथ कहानी ;
धरती उलटि अकासहि बेधै, ई पुरुषन की बानी।
बिना पिया के अमिरित अँचवै, नदी नीर भरि राखै ;
कहै 'कबीर' सो जुग-जुग जीवै, राम-सुधा-रस चाखै।

इसका अर्थ पूर्णदास ने लिखा है। यहाँ सब लिखना अनावश्यक है।

(४) तेहि पानी दुइ परबत, दरिया लहर समानी।

(५) संतो अचरज यक भौ भारी, पुत्र धइल महतारी।

पिताहि के सँग भई बावरी, कन्या रहल कुमारी ;
खसमहिं छाँड़ि ससुर सँग गवनी, सो किन लेहु बिचारी।
भाई के सँग ससुरे गवनी, सासुहि सावन दीन्हा ;
ननद-भौज परपंच रचो है, मोर नाम कहि लीन्हा।
समधी के सँग नाहीं आई, सहज भई घरबारी ;
कहै 'कबीर' सुनो हो संतो, पुरुष जनम भो नारी।

ऐसे-ऐसे उलटे कथनों से भी सीधे अर्थ निकलते हैं। जिसे अर्थ देखना हो, वह टीका पढ़े। सीधा अर्थ फीका क्या अशुद्ध है, किंतु आध्यात्मिक शुद्ध। इसे अन्योक्ति भी कहते हैं।

(६) पहले जनम पुत्र का भयऊ, बाप जन्मिया पाछे ;
बाप पूत की एकै नारी, ई अचरज कोइ काछे।
इंदुर राजा टीका बैठे, बिषहर करै खवासी ;
स्वान बापुरा धरनि ढाकनो, बिल्ली घर में दासी।
कार दुकार कार करि आगे, बैल करै पटवारी ;
कहै 'कबीर' सुनो हो संतो, भैंसे न्याव निबारी।

(७) जो चरखा जरि जाय बढ़ैया ना मरै ;
कातूँ सूत हजार चरखुला जिन जरै।
बाबा मोरा ब्याहु कराओ अच्छा बरहि तकाय ;
जौलों अच्छा (बर) ना मिलै तौलौं तुमहि बिहाय।
प्रथमै नगर पहुँचतै परि गौ सोक सँताप ;
एक अचंभा देखिया, बिटिया ब्याहिल बाप।

(८) माटि क कोट, पषान को ताला; सोइ के बन सोई रखवाला।
भूकि-भूकि कूकुर मरि गयऊ, काज न एक सियार से भयऊ।
मूस बिलारी एक सँग कहु कैसे रहि जाय ;
अचरंज यह देखा हो संतो, हस्ती सिंहहि खाय।

मधुर बचन हैं ओषधी, कटुक बचन हैं तीर ;
स्रवन द्वार ह्वै संचरै, सालैं सकल सरीर।
मूरख को समुझावते ज्ञान गाँठि को जाय ;
कोइला होय न ऊजरो नौ मन साबुन लाय।
मूरख सों क्या बोलिए, सठ सों कहा बसाय ;
पाहन में क्या मारिए, चोखा तीर नसाय।
जब दिल मिला दयाल सों, तब कुछ अंतर नाहिं ;
पाला गलि पानी भया, यों हरिजन, हरि माहिं।

कर्मकांड

कबीर साहब ने कर्मकांड पर सदैव घोर अश्रद्धा प्रकट की—

मूड़ मुड़ाए हरि मिलैं, सब कोइ लेइ मुड़ाय ;
बार-बार के मूड़ते भेड़ न बैकुँठ जाय।
पूजा, सेवा, नेम, ब्रत, गुड़ियन का-सा खेल ;
जब लग पिउ परसे नहीं, तब लग संसय मेल।
आचारी सब जग मिला, मिला बिचारि न कोय ;
कोटि अचारी वारिए, एक बिचार जो होय।
जहँ गाहक तहँ हौं नहीं, हौं जहँ गाहक नाहिं ;
बिनु बिबेक भटकत फिरैं पकरि सब्द की छाहिं।
'कबिरा' सोई पीर है, जो जाने पर-पीर ;
जो पर-पीर न जानई, सो काफिर बेपीर।
नेति-नेति जेहि बेद कह, जहाँ न मन ठहराय ;
मन-बानी को गम नहीं, ब्रह्म कहा किन आय।
पद गावै लवलीन ह्वै, कटै न संसय-फाँस ;
सबै पछोरे थोथरा एक बिना बिसवास।
अनजाने को नरक सरग है, हरि जाने को नाहीं।
कर्ता एक और सब बाजी ; ना कोइ पीर, मसायख, काजी।

बाजी ब्रह्मा, बिष्णु, महेसा ; बाजी इंदर, चंद, गनेसा।
बाजी जलचर सकल जहाना ; बाजी जान जमी, असमाना।
बाजी बरनौ इस्मृति-बेदा ; बाजीगर का लखै न भेदा।
जिन दुनिया में रची मसीद ; झूठा रोजा, झूठी ईद।
कहु दो भिस्त कहाँ ते आई ; किनके हित तुम छुरी चलाई ?
कर्ता किरतिम बाजी लाई ; हिंदु तुरुक दुइ राह चलाई।
साँच एक अल्ला का नाम ; ताको झुक-झुक करो सलाम।
कह 'कबीर' कछु आन न कीजै ; राम-नाम जपि लाहा लीजै।

अहिंसा

अहिंसा का आपने सदा प्रतिपादन किया। मुसलमान होकर भी कबीर साहब ने हिंसा से पूर्ण घृणा दिखलाई, जिससे एवं अन्य बातों से जान पड़ता है कि आप चित्त से हिंदू थे—

मैं तुहिं पूछौं मुसलमाना ; लाल जर्द का ताना-बाना।
काजी, काज करौ तुम कैसा ; घर-घर जबै कराओ वैसा।
बकरी, मुरगी किन कर माया ; किसके हुकुम तुम छुरी चलाया।
दर्द न जानैं पीर कहावैं ; बैता पढ़ि-पढ़ि जग समुझावैं।
कह 'कबीर' सैयद कहलावैं ; आप सरीखा जगत भुलावैं।

दिन-भर रोजा धरत हौ, राति हनत हौ गाय ;
एक खून, एक बंदगी, कैसे खुसी खुदाय।

उपदेश

कबीर साहब ने उपदेश और चेतावनियाँ भी बहुत अच्छी कही हैं—

और के छिए लेत हौ सींचा ; तुमसों कहहु कौन है नीचा।
जासु नाम है गर्व-प्रहारी ; सो कस गर्बहि सकै सँभारी।

जो तू साँचा बानियाँ, साँची हाट लगाव ;
अंदर झाड़ू देय कै कूरा दूरि बहाव।

अति का भला न बोलना, अति की भली न चूप ;
अति का भला न बासना, अति की भली न धूप ।
मोर-तोर की जेवरी बटि बाँधा संसार ;
दास 'कबीरा' क्यों बँधै जाके नाम अधार ।
मन मथुरा, दिल द्वारका, काया कासी जानु ;
दस द्वारे का देहरा, तामें जोति पिछानु ।
बड़ा हुआ, तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूरि ;
पंथी को छाया नहीं, फल लागै अति दूरि ।
प्रभुता को सब कोउ भजै, प्रभु को भजै न कोय ;
कह 'कबीर' प्रभु को भजै, प्रभुता चेरी होय ।
जहँ आपा तहँ आपदा, जहँ संसौ तहँ सोग ;
कह 'कबीर' कैसे मिटैं चारो दीरघ रोग ।
निंदक एकहु मति मिलै, पापी मिलै हजार ;
इक निंदक के सीस पर कोटि पाप को भार ।
चलौ-चलौ सब कोइ कहै, पहुँचै बिरला कोय ;
एक कनक अरु कामिनी, दुर्गम घाटी दोय ।
मद तो बहुतक भाँति का, ताहि न जानै कोय ;
तन-मद, मन-मद, जाति-मद, माया-मद सब लोय ।
बिद्या-मद अरु गुनहु मद, राज-मद, उनमद्द ;
इतने मद को रद करै, तब पावै अनहद्द ।
सुख का सागर सील है, कोइ न पावै थाह ;
सब्द बिना साधू नहीं, द्रव्य बिना नहिं साह ।
जो जल बाढ़ै नाउ में, घर में बाढ़ै दाम ;
दोऊ हाथ उलीचिए, यह सज्जन को काम ।
माँगन गे सो मरि रहे, मरे सो माँगन जाहिं ;
तिनसे पहिले वे मरे, होत करत जे नाहिं ।

गो-धन, गज-धन, बाजि-धन और रतन-धन-खान ;
जब आवै संतोष-धन, सब धन धूरि-समान।
नीचे-नीचे सब तरे जेते बहुत अधीन ;
चढ़ि बोहित अभिमान की बूड़े ऊँच कुलीन।
सबते लघुताई भली, लघुता से सब होय ;
जस दुतिया को चंद्रमा सोस नवै सब कोय।
रूखा-सूखा खायकै ठंढा पानी पीव ;
देखि बिरानी चूपरी मति ललचावै जीव।
'कबिरा' साईं मुझको रूखी रोटी देय ;
चुपरी माँगत मैं डरूँ रूखिहु छीनि न लेय।
आधी औ' रूखी भली, सारी सों संताप ;
जो चाहैगा चूपरी बहुत करैगा पाप।
'कबिरा' बैरी सबल हैं एक जीव रिपु पाँच ;
अपने-अपने स्वाद को बहुत नचावैं नाच।
हिरदै भीतर आरसी मुख देखा नहिं जाय ;
मुख तौ तब ही देखता दिल की दुबिधा जाय।
जूआ, चोरी, मुखबिरी, व्याधि, घूस, परनारि ;
जो चाहै दीदार को एती बस्तु निवारि।
'कबिरा' मैं तो तब डरौं जो मुझ ही में होय ;
मीचु, बुढ़ापा, आपदा सब काहू में सोय।
लंबा मारग, दूरि घर, बिकट पथ, बहु मार ;
कह 'कबीर' कस पाइए दुरलभ गुरु-दीदार।
एक कर्म है बोवना, उपजै बीज बहूत ;
एक कर्म है भूँजना, उदै न अंकुर सूत।
कह बहियाँ बल आपनो, छाँड़ु बिरानी आस ;
जाके आँगन है नदी, सो कस मरै पियास।

ऊपर की दोऊ गईं, हिय की गईं हिराय ;
कह 'कबीर' चारिउ गईं, तासों कहा बसाय ?
रचनहार को चीन्हि ले, खाने को क्या रोय ;
दिल-मंदिर में पैठि करि तानि पिछौरा सोय।
सबसे आछी मधुकरी भाँति-भाँति का नाज ;
दावा काहू का नहीं, बिना बिलायत राज।
बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय ;
जो दिल खोजूँ आपना, मुझ-सा बुरा न होय।
प्रेम-प्रीति का चोलना पहिरि 'कबीरा' नाच ;
तन-मन तापर वारहूँ, जो कोइ बोलै साँच।

चेतावनी

ऐसी गति संसार की, ज्यौं गाड़र की ठाट ;
एक पड़ी जेहि गाड़ में, सबै जाय तेहि बाट।
चलती चक्की देखिकै दिया 'कबीरा' रोय ;
दुइ पट भीतर आयकै साबुत गया न कोय।
काम, क्रोध, मद, लोभ की जब लग घट में खान ;
कहा मूर्ख, कह पंडिता, दोनों एक समान।
माया तजी तो क्या भया, मान तजा नहिं जाय ;
मान बड़े मुनिवर मिले, मान सबन को खाय।

मन

मन के विषय में भी इन महात्मा ने अच्छे-अच्छे छंद कहे हैं—

केसन कहा बिगारिया, जो मूड़ौ सौ बार ;
मन को क्यों नहिं मूड़िए, जामें विषय-बिकार।
मन के मते न चालिए, मन के मते अनेक ;
जो मन पर असवार है, सो साधू कोइ एक।

मन-मुरीद संसार है, गुरु-मुरीद कोइ साधु ;
जो मानै गुरु-बचन को, ताको मता अगाधु ।
'कबिरा' मन तौ एक है, भावै सोई पाय ;
भावै गुरु की भक्ति कर, भावै बिषय कमाय ।
मन के बहुतक रंग हैं, छिन-छिन बदलै सोय ;
एकै रँग में जो रहै, ऐसा बिरला कोय ।
मनुवा तौ पंछी भया, उड़िकै चला अकास ;
ऊपर ही ते गिरि परा, या माया के पास ।
मन-कुंजर महमंत था, फिरता गहिर गँभीर ;
दोहरी, तेहरी, चौहरी परि गइ प्रेम-जँजीर ।
'कबिरा' मनहि गयंद है, आँकुस दै-दै राखु ;
बिस की बेली परिहरौ, अमिरित का फल चाखु ।
मन माया तौ एक है, माया मनहि समाय ;
तीनि लोक संसै परा, काहि कहूँ समुझाय ।
मन-सागर, मनसा-लहरि, बूड़े-बहे अनेक ;
कह 'कबीर' ते बाँचिहैं जिनके हृदय बिबेक ।
नैनन आगे मन बसै पलि-पलि करै जो दौर ;
तीनि लोक मन-भूप है, मन-पूजा सब ठौर ।
तन-बोहित, मन काग है, लख जोजन उड़ि जाय ;
कबहीं दरिया अगह बहि, कबहीं गगन समाय ।
मन के हारे हार है, मन के जीते जीत ;
कह 'कबीर' प्यौ पाइए मन ही की परतीत ।
तीन लोक टीड़ी भई उड़िया मन के साथ ;
हरिजन हरि जाने बिना परे काल के हाथ ।
बाजीगर का बंदरा ऐसा जिउ मन साथ ;
नाना नाच नचाय कै राखै अपने हाथ ।

मन-गयंद मानै नहीं, चलै सुरति के साथ;
दीन महावत क्या करै, अंकुस नाहीं हाथ।
मन स्वारथ आपहि रसिक बिषय लहरि फहराय;
मन के चलते तन चलै, ताते सरबसु जाय।
देस-देस हम बागिया ग्राम-ग्राम की खोरि;
ऐसा जियरा ना मिला, जो ले फटकि-पछोरि।

मेरा तेरा मनुवा कैसे एक होय रे।
मैं कहता हूँ आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी,
मैं कहता सुरझावनहारी, तू राखा उरझोय रे।
मैं कहता तू जागत रहना, तू रहता है सोय रे;
मैं कहता निरमोही रहियो, तू जाता है मोय रे।
जुगन-जुगन समुझावत हारा, कहा न मानत कोय रे;
तू तो रंडी फिरै बिहंडी सब धन डारे खोय रे।
सतगुरु धारा निरमल बाहै, वामें कायर धोय रे;
कहत 'कबीर' सुनो भइ साधो, तबही वैसा होय रे।

नीति

सिहों के लेहँड़े नहीं, हंसों की नहि पाँति;
लालों की नहि बोरियाँ, साधु न चलैं जमाति।
लघुता ते प्रभुता मिलै, प्रभुता ते प्रभु दूरि;
चींटी लै सक्कर चली, हाथी के सिर धूरि।
नवन-नवन बहु अंतरा, नवन-नवन बहु बान;
ये तीनो बहुतै नवैं चीता, चोर, कमान।
'कबिरा' सीप समुद्र की खारा जल नहिं लेय;
पानी पावै स्वाति का सोभा सागर देय।
ऊँचा जाति पपीहरा, पियै न नीचा नीर;
कै सुरपति को जाँचई, कै दुख सहै सरीर।

हंसा, बक यकरंग लखिय, चरैं एक ही ताल ;
छीर-नीर ते जानिए, बक उघरै तेहि काल।
गुनिया तो गुन को गहै, निरगुन गुनहि घिनाय ;
बैलहि दीजै जायफर, क्या बूझै, क्या खाय।
बना-बनाया मानवा बिना बुद्धि बेतूल ;
कहा लाल लै कीजिए बिना बास का फूल।
प्रेम-प्रीति सों जो मिलै, तासों मिलिए धाय ;
अंतर राखे जो मिलै, तासों मिलै बलाय।
खुलि खेलौ संसार में, बाँधि न सक्कै कोय ;
घाट जगाती क्या करै, जो सिर बोझ न होय।
सब काहू का लीजिए साँचा सब्द निहारि ;
पच्छपात नहिं कीजिए कहै 'कबीर' बिचारि।

तीव्र आलोचना

कबीर साहब सत्य-प्रिय तथा भारी उपदेशक होने के कारण अनुचित बातों की तीव्र आलोचना करने से कभी नहीं चूकते थे—

बावन-रूप छल्यो बलि राजा ; ब्राह्मण कीन्ह कौन को काजा।
ब्राह्मण ही सब कीन्ही चोरी ; ब्राह्मण ही को लागल होरी।
अंध सो दर्पन बेद-पुराना ; दरबी कहा महारस जाना।

संतौ पाँड़े निपुन कसाई।

कहै 'कबीर' सुनौ हो संतौ, कलि माँ ब्राह्मण खोंटे।

फूटी आँखि बिबेक की लखै न संत असंत ;
जाके सँग दस-बीस हैं, ताको नाम महंत।

तीव्र आलोचना के बहुत-से उदाहरण अन्य प्रसंगों में ऊपर आ चुके हैं, और आगे भी आवेंगे।

मृत्यु

अन्य उपदेशकों की भाँति आप भी श्रोताओं को मृत्यु की याद प्रायः दिलाया करते हैं—

कौनौ ठगवा नगरिया लूटल हो।
चंदन-काठ के बनल खटोलना, तापर दुलहिन सूतल हो।
उठौ री सखी, मोरि माँग सँवारौ, दुलहा मोसे रूसल हो;
आए जमराज, पलँग चढ़ि बैठे, नैनन आँसू टूटल हो।
चारि जने मिलि खाट उठाइन, चहुँ दिसि धू धू ऊठल हो;
कहत 'कबीर' सुनौ भइ साधो, जग से नाता छूटल हो।

साधो ई मुरदन के गाँव।
पीर मरे, पैगंबर मरिगे, मरिगे जिंदा-जोगी;
राजा मरिगे, परजा मरिगे, मरिगे बैद औ' रोगी।
चंदौ मरिहैं, सूरजौ मरिहैं, मरिहैं धरनि-अकासा;
चौदह भुवन चौधरी मरिहैं, इनहुन के का आसा।
नौ हू मरिगे, दस हू मरिगे, मरिगे सहस-अठासी;
तैंतिस कोटि देवता मरिगे, परिगे काल कि फाँसी।
नाम अनाम रहै जो सद ही, दूजा तत्त न होई;
कहैं 'कबीर' सुनौ भइ साधो, भटकि मरै मति कोई।

नाथ मुछंदर नहिं बचे, गोरख, दत्त औ' व्यास;
कहैं 'कबीर' पुकारि सब परे काल की फाँस।

पानी केरा बुदबुदा, असि मानुस की जात;
देखत ही छिप जायगा ज्यों तारा परभात।

जुआ, जरा, बालापन बीत्यो, चौथि अवस्था आई;
जस मुसवा को तकै बिलैया, तसि जम घात लगाई।

जंत्र बजावत हौं सुना टूटि गए सब तार;
जंत्र बिचारा क्या करै, गया बजावन हार।

कहावतें

इन्होंने ऐसी विलक्षण रचना की है कि इनके सैकड़ों पद कहावतों के रूप में आज सब छोटे-बड़ों की जिह्वा पर हैं—

जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ गहिरे पानी पैठि ;
हौं बौरी बूड़न डरी, रही किनारे बैठि ।
संत नाम कड़ुवा लगै, मीठा लागै दाम ;
दुबिधा में दोऊ गए, माया मिली न राम ।
साध कहावन कठिन है, लंबा पेड़ खजूर ;
चढ़ै तो चाखै प्रेम-रस, गिरै तो चकनाचूर ।
आछे दिन पाछे गए, गुरु से किया न हेत ;
अब पछितावा क्या करै, चिड़ियाँ चुग गईं खेत ।
काल्हि करन सो आजु कर, आजु करन सो अब्ब ;
पल में परलै होयगी, बहुरि करैगा कब्ब ।
माटी कहै कुम्हार से, तू क्या रूँदै मोहिं ;
यक दिन ऐसा होयगा, मैं रूँदूँगी तोहिं ।
आया है सो जायगा, राजा, रंक, फकीर ;
इक सिंहासन चढ़ि चला, इक बँधि जात जँजीर ।
आस-पास जोधा खड़े, सबै बजावैं गाल ;
माँझ महल से लै चला, ऐसा काल कराल ।
मलिया आवत देखि कै कलियाँ करैं पुकार—
फूली-फूली चुनि लईं, काल्हि हमारी बार ।
दस द्वारे का पींजरा, तामें पंछी पौन ;
रहिबे को आचरज है, गए अचंभा कौन ।
जो तोको काँटा बवै, ताहि बोय तू फूल ;
तोहिं फूल के फूल हैं, वाको हैं तिरसूल ।
दुरबल को न सताइए, जाकी मोटी हाय ;

बिना जीव की साँस से सार भसम ह्वै जाय ।
पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय ;
ढाई अच्छर प्रेम के पढ़ै, सो पंडित होय ।
परनारी पैनी छुरी, मति कोउ लाओ अंग ;
रावन के दस सिर गए परनारी के संग ।
छिमा बड़ेन को चाहिए, छोटेन को उतपात ;
कहा बिष्णु को घटि गयो जो भृगु मारी लात ?
मरि जाऊँ, माँगू नहीं अपने तन के काज ;
परस्वारथ के कारनै मोहिं न माँगत लाज ।
बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल ;
जो नर बकरी खात हैं, तिनके कौन हवाल ।
देह धरे का दंड है, सब काहू को होय ;
ज्ञानी भुगतै ज्ञान ते, मूरख भुगतै रोय ।
फुलवा भार न लै सकै, कहै सखिन सों रोय ;
ज्यों-ज्यों भीजै कामरी, त्यों-त्यों भारी होय ।
एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय ;
जो तू सेवै मूल को, फूलै-फलै अघाय ।

कैसे दिन कटिहैं, जतन बताए जैयो ।
वहि पार गंगा, वहि पार जमुना, बिचवा मड़ैया हमका छवाए जैयो ।

मुखड़ा क्या देखै दरपन में ; तेरे दया-धरम नहिं तन में ।
आम कि डार कोयलिया बोलै, सुवना बोलै बन में ।
ऐंठी धोती, पाग लपेटी, तेल चुआ जुलफन में ;
कहै 'कबीर' सुनो भइ साधो, वे क्या चढ़िहैं रन में ।

तोहिं मोरि लगन लगाए रे फकिरवा ।
सोवत ही मैं अपने मँदिर में, सबदन मारि जगाए रे फकिरवा ;
बूड़त ही भव के सागर में, बहियाँ पकरि समुझाए रे फकिरवा ।

एकै बचन बचन नहिं दूजा, मोसों बंद छोड़ाए रे फकिरवा ;
कहै 'कबीर' सुनो भइ साधो, सत्त नाम-गुन गाए रे फकिरवा।

संतों के नाम

कबीरदास के जो ग्रंथ हमने देखे हैं, उनमें रामानंद, गोरख, सुकुंदर, तकी और रैदास के नाम आए हैं—

साधन माँ रैदास संत हैं, सुपच रिषी से भगिया ;
घट-घट है अबिनासी सुनौ तकी तुम सेख।
कहत 'कबीर' सुनौ हो गोरख, तरै सहित परिवारा।
कासी में हम प्रगट भए हैं, रामानंद चेताए।

दसौ दिसा ते क्रोध की उठी अपरबल आगि ;
सीतल संगति साधु की तहाँ उबरिए भागि।

हिंदुआनी और मुसलमानी मतों पर विचार

आदम आदिहि सुधि नहिं पाई ; मामा हौवा कहँ ते आई।
तब नहिं हते तुरुक औ' हिंदू ; माय के रुधिर, पिता के बिंदू।
तब नहिं होते गाय कसाई ; तब बिसमिल्ला किन फरमाई।
तब नहिं होते कुल औ' जाती ; दोजख-भिस्त कौन उतपाती।
मन-मसले की सुधि नहिं जाना ; मति भुलान दुइ-तीन बखाना।

जो खुदाय मसजीद बसतु है, और मुलुक केहि केरा ;
तीरथ मूरत राम निवासी, दुइ माँ किनहु न हेरा।
पूरब दिसा हरी को बासा, पच्छिम अलह मुकामा ;
दिल में खोजि दिलहि माँ देखौ, इहै करीमा, रामा।

चौदह तबक किया निरवारा, अब नीचे का सुनो बिचारा ;
सात तबक में छा रखवारा, भिन-भिन सुनो पसारा है।
सेस, धवल, बाराह कहाई, मीन, कच्छ औ' कुरम रहाई ;
सो छा रहे सात के माही, यह पाताल पसारा है।
पेटहि काहु न बेद पढ़ाया, सुनति कराय तुरुक नहिं आया ;

जो तुम ब्राह्मन ब्राह्मनि जाए; और राहि तुम काहे न आए?
जो तू तुरुक तुरुकिनी जाया, पेटै काहे न सुनति करावा?
कारी, पीरी दूहो गाई, ताकर दूध देहु बिलगाई।
छाँडु कपट नर अधिक सयानी, कह 'कबीर' भजु सारँगपानी,
दुइ जगदीस कहाँ ते आए, कहु कौने भरमाया?

अल्ला, राम, करिम, केसव, हरि, हजरत नाम धराया।
गहना एक कनक ते गहना, तामें भाव न दूजा;
कहन-सुनन को दुइ करि थापे, यक नेवाज, यक पूजा।
वही महादेव, वही मुहम्मद, ब्रह्मा, आदम कहिए;
कोइ हिंदू, कोइ तुरुक कहावै, एक जमी पर रहिए।
बेद-किताब पढ़ैं, वै कुतबा, वै मुलना, वै पाँड़े;
बिगत-बिगत कै नाम धरायो यक माटी के भाँड़े।
कह 'कबीर' वे दोनो भूले, रामहिं किनहुँ न पाया;
वे खसिया, वे गाय कटावैं, बादै जनम गँवाया।
गुप्त-प्रकट है एकै मुद्रा; काको कहिए बाँभन-सुद्रा।
झूठ गरब भूलै मति कोई; हिंदू, तुरुक झूठ कुल दोई।

बहुरि नहिं आवना या देस।

जो-जो गए बहुरि नहिं आए, पठवत नहिं संदेस;
सुर, नर, मुनि औ' पीर, औलिया, देवी, देव, गनेस।
धरि-धरि जनम सबै भरमे हैं, ब्रह्मा, बिष्णु, महेस;
जोगी-जंगम औ' संन्यासी, दीगंबर, दरवेस।
चुंडित, मुंडित, पंडित लोई सरग, रसातल, सेस;
कोइ रहीम, कोइ राम बखानै, कोइ कहै आदेस।
नाना भेख बनाय सबै मिलि ढूँढ़ि फिरे चहुँ देस;
कहै 'कबीर' अंत ना पैहो बिन सतगुरु-उपदेस।

ना जानें तेरा साहिब कैसा है।
महजिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहिब तेरा बहिरा है;
चींटी के पग नेवर बाजै, सो भी साहब सुनता है।
साँच कहौं तो मारन धावैं, झूठे जग पतियाना;
आतम मारि पषानहि पूजैं, उनमें कछू न ज्ञाना।
बहुतै देखे पीर-औलिया, पढ़ैं किताब-कुराना;
कह हिंदू मोहिं राम पियारा, तुरुक कहैं रहिमाना।
हिंदु-तुरुक की एक राह है, सद्गुरु इहै बताई;
कहै 'कबीर' सुनो हो संतो, राम न कहेउ खोदाई।
जिन दुनिया में रची मसीद; झूठा रोजा, झूठी ईद।
साँच एक अल्ला का नाम; ताको नय-नय करौ सलाम।
कहु धौं भिस्त कहाँ ते आई; किसके हित तुम छुरी चलाई?
करता किरतिम बाजी लाई; हिंदु, तुरुक दुइ राह चलाई।
अरे, इन दोउन राह न पाई।
हिंदू अपनी करै बड़ाई, गागर छुवन न देई;
बेस्या के पाँयन तर सोवै, यह देखो हिंदुआई।
मुसलमान के पीर औलिया मुरगी-मुरगा खाई;
खाला केरी बेटी ब्याहैं, घरहि में करैं सगाई।
बाहर से यक मुर्दा लाए, धोय-धाय चढ़वाई;
सब सखियाँ मिलि जेंवन बैठीं, घर-भर करै बड़ाई।
हिंदुन की हिंदुआई देखी, तुरुकन की तुरुकाई;
कहै 'कबीर' सुनौ भइ साधो, कौन राह ह्वै जाई।

मुसलमानी विचारों का प्रभाव

तासु के बदन की कौन महिमा कहौं, भासती देह अति नूर छाई।
सुन्य के बीच में बिमल बैठक, जहाँ सहज असथान है गैब केरा।
छोड़ि नासूत मलकूत जबरूत को और लाहूत हाहूत बाजी;
जाय जाहूत में खुदा खाविंद जहँ, वहीं मकान साकेत साजी।

(यहाँ मुसलमानी स्थान मलकूत, जबरूत, लाहूत आदि को लिखते हुए कवि ने वहीं साकेत का कथन कर दिया, जो विष्णु का स्थान है।)

मुरसिद नैनों बीच नबी है।
कर नैनों दीदार महल में प्यारा है।
सत्त पुरुष इक बन पच्छिम दिस तासों करौ निहोर।

हिंदूपन का प्रभाव

खाला केरी बेटी ब्याहैं घर ही करैं सगाई।
सुनति कराय तुरुक जो होना, औरत को क्या कहिए।
अरध सरीरी नारि बखानी, ताते हिंदू रहिए।

इन कथनों से प्रकट है कि कबीर साहब के विचार बहुत ऊँचे थे। आप हिंदू-मुसलमानों के अंतर को बिलकुल नापसंद करते थे, और दोनो को एक करना चाहते थे। आपकी रचना में नूर, ग़ैब, मलकूत, जबरूत, लाहूत, ख़ुदा, अल्ला, क़ाज़ी, मशायख़ (शैख़ की जमा), मुरशिद, दीदार, नबी, किताब आदि के कथन आने से आपके चित्त पर मुसलमानों का प्रभाव प्रकट होता है। इसी विचार से आपने पश्चिम में ईश्वर का स्थान बतलाया है। ख़ाला की संतानों का आपस में विवाह अनुचित समझना तथा सुन्नत से मुसलमान होने को न मानना एवं उपनिषदों के सिद्धांतों का समादर करना आपके ऊपर हिंदू-प्रभाव प्रकट करते हैं। सैकड़ों छंदों से प्रकट है कि आपकी रचना और विचारों पर हिंदू-प्रभाव बहुत अधिक था। आपके ईश्वर-संबंधी विचार हिंदुओं के हैं। इसी प्रकार उपदेश आदि में भी हिंदू-विचार ही हैं। कहा जा सकता है कि आप मुसलमाननुमा हिंदू थे, अर्थात् कहने को तो मुसलमान थे, किंतु थे वास्तव में हिंदू। मुसलमानी विचारों से नबी हिदायत करनेवाले को कहते हैं। कहा जाता है,

१,२४,००० नबी हो गए हैं। नबियों से बढ़कर दरजा किताबियों का है, जिनमें चार प्रधान हैं। पैग़ंबर ईश्वर के बसीठी को कहते हैं। चारो मुख्य पैग़ंबरों के नाम हैं—मूसा, दाऊद, ईसा और मुहम्मद। इनकी किताबें क्रम से तौरेत, ज़ुबूर, इंजील और क़ुरआन हैं। इनके अनुयायियों को क्रम से यहूदी (या मूसवी), ईसाई और मुसलमान कहते हैं। मूसा के पूर्व इब्राहीम भी मुख्य थे। इन दोनो के धर्म एक ही हैं, केवल खान-पान के विचार मूसा ने जोड़े। इब्राहीम की पुस्तक छोटी-सी है, जिसे सहीफ़ा इब्राहीमी कहते हैं। तौरेत को Old Testament भी कहते हैं। इंजील New Testament है। दोनो मिलकर बाइबल हैं। ज़ुबूर कोई पुस्तक नहीं है, वरन् तौरेत में जो दाऊद की शिक्षाएँ हैं, वे ही ज़ुबूर कही जा सकती हैं। दाऊदी कोई धर्म नहीं है, वरन् मूसवी उन्हें भी बुज़ुर्ग मानते हैं। मुसलमानों का विचार है कि इन चार पैग़ंबरों में से किसी को भी माननेवाला किताबी है, क्योंकि वह किसी-न-किसी ईश्वरीय किताब को मानता है। उनके विचार से हिंदू किताबी नहीं, मुशरिक हैं, अर्थात् ईश्वर का शरीकदार (साझी) मानते हैं। यह मुसलमानी विचार अशुद्ध है, क्योंकि हिंदू भी एकेश्वरवादी हैं।

कबीर साहब के विषय में कुछ अन्य साधारण कथन

आपने प्रायः सब मुक्तक पद्य लिखे। आप ५ तत्त्व और २५ प्रकृतियों का प्रायः कथन करते हैं (पाँच तत्त पच्चीस प्रकिरती तीनो गुनन मिलावै)। रूपक आपने बहुत कहे हैं। जीव-सीव ऐसा कथन बहुत आया है। सीव से ईश्वर का प्रयोजन लगाया गया है, यद्यपि शिव को आप ईश्वर नहीं मानते। आपने अवतारों, प्रतिमाओं तथा त्रिमूर्ति की प्रायः निंदा की है, किंतु जो ग्रंथ हमारे देखने में आए हैं, उनमें पैग़ंबरों की खुली-खुली निंदा नहीं है, यद्यपि

आप उन्हें मानते नहीं हैं। रोज़ा, ईद, मसजिद, शैख़, सैयद आदि की आपने खुली-खुली निंदा की है। उस समय ऐसे कथन करने में बड़े साहस की आवश्यकता थी, क्योंकि तब इतनी स्वतंत्रता न थी, जितनी अब है। तब मनुष्य अपने नए विचारों के कारण प्राण-दंड तक पा सकता था, जैसा कि मंसूर का हाल हुआ। इसलिये कबीर साहब के निर्भीक वाक्य उनके भारी साहस के भी साक्षी हैं। आपके छंदों में अपने ही विचार अधिकता से हैं। अन्यों के विचारों को आप अपने शब्दों में कम कहते थे, किंतु कहीं-कहीं ऐसा भी हो गया है। यथा—

बालपना सब खेलि गँवाया, तरुन भया नारी-बस का रे;
बिरध भया कफ-बाय ने घेरा, खाट पड़ा न जाय खसका रे।

ये पद मोह-मुद्गर

बालस्तावत्क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः;
वृद्धस्तावच्चिंतामग्नः पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः।

के आधार पर हैं।

कबीर साहब भी दुःखवादी समझ पड़ते हैं। यथा—

जो देखा सो दुखिया देखा, तन धरि सुखी न देखा;
उदै-अस्त की बात कहत हौं, ताकर करौ बिबेखा।
बाटे-बाट सब कोइ दुखिया, क्या गिरही, बैरागी;
सुकाचार्य दुख ही के कारन गरभै माया त्यागी।
जोगी दुखिया, जंगम दुखिया, तापस को दुख दूना;
आसा-तृष्णा सब घट व्यापै, कोइ महल नहिं सूना।
साँच कहौ, तौ सब जग खीझै, झूठ कहा नहिं जाई;
कह 'कबीर' तेई भे दुखिया, जिन यह राह चलाई।
यह संसार कगद की पुड़िया, बूँद परे घुल जाना है;
यह संसार काँट की बाड़ी, उलझ-पुलझ मर जाना है।

यह संसार झाड़ औ' झाँखर, आगि लगे बरि जाना है;

कहत 'कबीर' सुनौ भइ साधो, सतगुरु-नाम ठिकाना है ।

कबीर साहब होली, वसंत, चाँचरा आदि के वर्णन करने में उन विषयों पर बहुत कम कहकर मुख्य कथन अपने प्रिय सिद्धांतों का करते हैं, जैसे गोस्वामी तुलसीदास मिथिला, दंडक आदि सभी विषयों के सहारे केवल राम का कथन करते हैं ।

कबीर साहब ने अपने अधिकांश छंद संतों को संबोधित करके कहे हैं । "कहै कबीर सुनो भइ साधो" इस प्रकार कहकर शेष पद में उस भजन के उपयुक्त कथन किए हैं । आप प्रतीकोपासना और कर्म-कांड को निंद्य कहकर एकेश्वरवाद, अहिंसा, गुरु, जप, भक्ति, सदाचार, सद्विचार और सत्य पर ज़ोर दिया करते हैं । सब बातों पर विचार करने से आप बहुत बड़े उपदेशक समझ पड़ते हैं । और, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, गोस्वामी तुलसीदास के पीछे उत्तरी और मध्य-भारत पर गत बारह सौ वर्षों में आप ही का प्रभाव जनता पर सबसे अधिक पड़ा है ।

साहित्य-संबंधी विचार

आपने तुकांत-हीन कविता भी लिखी है । यथा—

सतगुरु की परतीति, सत्तनाम निज सार है ;

सोई मुक्ति-सँदेस सुनो साधु सब भाव से ।

जब रीतियों, नियमों आदि का मान आपने किसी बात में नहीं किया, तब साहित्य-संबंधी नियमों को ही क्यों मान देते ? आपकी रचना में छंदोभंग बहुत पाए जाते हैं । संभव है, यह त्रुटि लिखने-वालों की भूल से आ गई हो, क्योंकि आपने हाथ से क़लम छुआ ही नहीं । यद्यपि आपने पढ़ने-लिखने पर कभी ध्यान नहीं दिया, और लेखनी तक हाथ से नहीं छुई, तथापि आपकी रचनाओं से पांडित्य का पता लगता है । इन्होंने उस काल के अद्वितीय विद्वान्

स्वामी रामानंद का शिष्य होना दिखला दिया है। इनकी रचना में अनेकानेक स्थानों पर योग, अद्वैतवाद आदि से संबंध रखनेवाले शब्द बहुत आए हैं, जो पांडित्य को प्रकट करते हैं। इसके उदाहरण-स्वरूप केवल एक पद यहाँ लिखा जाता है—

सबका साखी मेरा साईं।
ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर लौं, औ' अव्याकृत नाईं।
सुमति पचीस पाँच से कर ले, यह सब जग भरमाया;
अकार, उकार, मकार मातरा इनके परे बताया।
जाग्रत, सुपन, सुषुप्ति, तुरीया, इनते न्यारा होई;
राजस, तामस, सात्त्विक, निरगुन, इनतें आगे सोई।
सुछम, थूल, कारन महँ कारन, इन मिलि भोग बखाना;
तेजस, बिस्व, पराग आतमा, इनमें सार न जाना।
परा, पसंती, मधमा, बैखरि, चौबानी ना मानो;
पाँच कोष, नीचे कर देखो, इनमें सार न जानो।
पाँच ज्ञान औ' पाँच कर्म की ये दस इंद्री जानो;
चित सोइ अंतःकरन बखानो, इनमें सार न मानो।
कुरम, सेस, किरकिला, धनंजय, देवदत्त कहँ देखो;
चौदह इंद्री, चौदह इंद्रा, इनमें अलख न पेखो।
ततपद, त्वंपद और असीपद बाच्य-लच्छ पहिचाने;
जहदलच्छना अजहद कहते अजहद-जहद बखाने।
सतगुरु मिलि सत-सब्द लखावै, सार-सब्द बिलगावै;
कहत 'कबीर' सोई जन पूरा, जो न्यारा करि गावै।

यहाँ ईश्वर का वर्णन है। अव्याकृत सांख्य का शब्द है, जिससे अप्रकट का प्रयोजन है। २५ की संख्या सांख्य-शास्त्र की २४ पदार्थ-संख्या तथा २५वाँ साक्षी पुरुष मिलाकर पूरी होती है। पंच से विकार (काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार), पंचप्राण, पंचेंद्रिय,

पंचतन्मात्राएँ (क्षिति, जलादि के मूल) आदि का प्रयोजन लिया जा सकता है। ओ३म् हमारे यहाँ बहुत पुनीत है। अकार, उकार, मकार मात्रा से उसी ओ३म् का प्रयोजन है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, राजस, तामस, सात्विक, सूक्ष्म, स्थूल, कारण-शरीर, तैजस, विश्व, प्राज्ञ, आत्मा आदि अद्वैत-मत से संबंध रखते हैं। परा, पश्यंती, मध्यमा और बैखरी चौबानी (चार बानी) योग तथा निरुक्ति से संबद्ध हैं। पंच कोषों का संबंध वेदांत से है। कूर्म, शेष, किरकिला, धनंजय, देवदत्त आदि दस प्राणों के भेद हैं। १४ इंद्रियाँ पंच ज्ञानेंद्रिय, पंच कर्मेंद्रिय और अंतःकरण-चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) को मिलाने से होती हैं। चौदह इंद्रा का मतलब प्रत्येक इंद्रिय का देवता है। तत्पद, त्वपद, असी-पद से तत्त्वमसि का प्रयोजन है, जो अद्वैत-मत का मूल-मंत्र है। वाचक लक्ष्य, जहद्, अजहद्लक्षणा का वर्णन काव्य, वेदांत और न्याय में आता है। इन बातों से प्रकट है कि इस एक पद में इन महात्मा ने हिंदू-शास्त्रों का अपना विस्तृत ज्ञान दिखला दिया है।

कबीर साहब ने खड़ी बोली में भी रचना की है। कुछ ग़ज़लें भी कहीं। साधारणतः आपकी भाषा बनारस की है—

हमन है इश्क़ मस्ताना, हमन को होशियारी क्या ;
रहें आज़ाद या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या।
जो बिछुड़े हैं पियारे से, भटकते दर-ब-दर फिरते ;
हमारा यार है हममें, हमन को इंतिज़ारी क्या।
ख़लक सब नाम अपने को बहुत कर सर पटकती है ;
हमन गुरुनाम साँचा है, हमन दुनिया से यारी क्या।
न पल बिछुड़ें पिया हमसे, न हम बिछुड़ें पियारे से ;
उन्हीं से नेह लागा है, हमन को बेक़रारी क्या।

'कबीरा' इश्क़ का माता, दुई को दूर कर दिल से ;
जो चलना राह नाज़ुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या ।
कोइ कुच्छ कहै, कोइ कुच्छ कहै, हम अटके हैं जहँ अटके हैं ;
नित सुरत कमल पर अमल किया, महबूब नाम से भटके हैं ।
संसार बिचार के छोड़ दिया, हम इसी बात पर सटके हैं ;
इस दास 'कबीर' के झुलने में सब पंडित, काजी फटके हैं ।

अपने विषय में कथन

कबीर साहब ने अपने को पैग़ंबर ज़ोर देकर तो नहीं कहा, किंतु कहीं-कहीं इसकी ध्वनि अवश्य निकलती है । वह ऊँचे थे, और अपने को वैसा ही समझते भी थे । उनका विचार था कि संसार उनके सिद्धांतों पर चलकर लाभ उठा सकता और मुक्त हो सकता है । इतना होने पर भी आपने यावज्जीवन कपड़ा बनाने का काम नहीं छोड़ा, और कविता में भी अपना जुलाहापन अनेक स्थानों पर दर्शाया । आपको जुलाहा होने की ग्लानि न थी, वरन् उसे आप अच्छा समझते थे ।

उदाहरण—

बसीठीपन-संबंधी

साधु-संत तेई जना, जिन मानल बचन हमार ;
आदि, अंत, उत्पति, प्रलय देखहु दृष्टि पसार ।
अंध भया सब डोलतो, कोय न करै बिचार ;
कहा मोर मानै नहीं, क्यों छूटै भ्रम-जार ।
कासी में हम प्रगट भए हैं, रामानंद चेताए ;
समरथ का परवाना लाए, हंस उबारन आए ।
घर-घर हम सबसों कही, सब्द न सुनै हमार ;
ते भवसागर डूबहीं लख चौरासी धार ।
सुर, नर, मुनिजन, औलिया ये सब उरली तीर ;
अलह राम की गम नहीं, तहँ घर किया 'कबीर' ।

अठवें चकरि अनुरोध बखाना, तहाँ जोलहदी ताना ताना ;
जाका नाम कबीर बखाना, सो संतन सिर धारा है।
जोग-जुगति सों रंगमहल में पिय पायो अनमोल रे ;
कहे 'कबीर' अनंद भयो है, बाजत अनहद ढोल रे ।
ब्रह्मा, बिष्णु, महेस न सेसवा ; जोगि न, जंगम, मुनि दरबेसवा ।
आदि न अंत, न काल कलेसवा ; दास 'कबीर' ले आए सँदेसवा ।
सार सब्द गहि चलु वहि देसवा ।
सो चादरि सुर, नर, मुनि ओढ़ी, ओढ़ि कै मैली कीनी चदरिया ;
दास 'कबीर' जतन ते ओढ़ी, ज्यों-की-त्यों धरि दीनी चदरिया ।
एक नाम है अगम गँभीरा ; तहवाँ अस्थिर दास कबीरा ।
छाँड़े लोक अमृत की काया, जग में जोलह कहाया ;
चौरासी की बंदि छुड़ाया, निरअच्छर बतलाया ।
साधु सबै मिलि आरति गावैं, सुकिरिति भोग लगाया ;
कहै 'कबीर' सब्द टकसारा, जम . सों जीव छुड़ाया ।

जुलाहेपन से संबंध रखनेवाले

अस जोलहा कोइ मर्म न जाना ; जिन जग आनि पसारेनि ताना ।
कहैं 'कबीर' राम-रस-माते जोलहा-जाति कबीरा हो ।
मन दीया कहिं और ही, तन साधन के संग ;
कह 'कबीर' कोरी गजी, कैसे लागै रंग ।
कहैं 'कबीर' सूत भल काता ; रहँट न होय मुक्तिकर दाता ।

उपसंहार

महात्मा कबीरदास के विषय में हमें जो कुछ कहना था, वह हम ऊपर कह चुके । हिंदी-नवरत्न के अन्य कवियों की रचनाओं के उदाहरण हमने समालोचना-विभाग में थोड़े ही देकर अंत में कुछ विशेषता से लिखे हैं । महात्मा कबीरदासजी की रचनाओं के उदाहरण हम समालोचना के भीतर ही बहुत-से देते आए हैं ।

इसीलिये अंत में उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं रह गई। कहा जा सकता है कि इनके उदाहरण कुछ अधिकता से आए हैं। इनकी रचना ऐसी समझ पड़ी कि हमें कुछ अधिक उदाहरण देना अच्छा लगा। जितने उदाहरण दिए गए हैं, वे या तो काव्य-गौरव के कारण, या उनमें विशेष विचार होने के कारण आए हैं। अरसक ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं दिया गया, जिसमें इन दोनो में से एक भी बात न हो।

कबीरदास को हमने पहले सेनापति की श्रेणी में रक्खा था। यह हमारी सभी श्रेणियों में उच्चतम है, और इसके कवि नवरत्न-वालों के सिवा और सबसे अच्छे हैं। इधर हिंदी-नवरत्न की द्वितीयावृत्ति निकालने में विचार उठा कि इस ग्रंथ में कबीरदास को न रखना ठीक नहीं है; परंतु जिन कवियों को एक बार नवरत्न में लिख चुके हैं, उनमें से किसी को निकालना भी हमें अच्छा नहीं लगा। उधर कठिनता यह हुई कि कवियों के नव स्थान पर दस कवि अलग-अलग आने से ग्रंथ ही 'नवरत्न' कैसे रह जायगा? इसीलिये पुराने नवो कवियों को रखकर इन्हें भी स्थान देना आवश्यक जान पड़ा। आप वास्तव में पैग़ंबर (ईश्वर के बसीठी), मिस्टिक, सिद्ध, योगी, ब्रह्मानंदी, समाधिस्थ आदि पहले हैं, और कवि पीछे। इसीलिये हमने हिंदी के नवरत्नों में आपको सातवाँ नंबर दिया, और मतिरामजी को त्रिपाठी-बंधु (ख) में रख दिया है।

कबीरजी ने अपनी रचना साहित्यानंद-प्रदान के लिये न करके उपदेशार्थ की। जो पैग़ंबर आदि की उपाधियाँ यहाँ लिखी गई हैं, वे यों ही उदाहरणार्थ नहीं लिखी गईं, वरन् हमारे कबीर साहब उन गुणों से वास्तव में भूषित समझ भी पड़ते हैं। ब्रह्मा-नंदी कवि भी होता है, या नहीं, यह प्रश्न कठिन है। हमें तो

समझ पड़ता है कि वह कवि भी है, और ऊँचे दरजे का साहित्य ऐसे ही लोग रच सकते हैं। ब्रह्मानंद का उद्‌गार कविता में अच्छा होगा, क्योंकि यह उसका अच्छा माध्यम है। यह निर्विवाद समझ पड़ता है कि जितने लोगों ने हिंदी-रचना की है, उनमें गोरखनाथ, रामानंद, कबीर, तुलसी, सूर, नानक आदि सर्वोत्कृष्ट पुरुष हैं। ईश्वर-संबंधी भाव कबीरदास ने प्राय: सबसे ऊँचे कहे हैं। विचार-पूर्वक पढ़ने से प्रकट होगा कि हिंदी का कोई भी भारी कवि इस विषय में इनकी बराबरी नहीं कर सका है। हिंदी-नवरत्न में ईश्वरीय विचार से आप सबसे ऊँचे मनुष्य हैं, इसमें हमें संदेह नहीं। संभव है, कोई अन्य महाशय गोस्वामी तुलसीदास तथा महात्मा सूरदास को इनसे बढ़कर या इनके बराबर बतलावें। हमारी समझ में ये महात्मा लोग कबीरदास की ईश्वर-संबंधी धार्मिक उच्चता को नहीं पहुँचे। इसमें हिंदू-मुसलमान का विचार करना भूल की बात है। फिर, वास्तव में, कबीरदासजी के ईश्वरीय विचार उपनिषदों पर ही अवलंबित हैं।

व्यक्तित्व में बहुत ऊँचा कहने के पीछे जब कविता के विषय में कथन करना पड़ता है, तब लेखनी कुछ रुकने लगती है। यह निर्विवाद है कि कबीर साहब उच्च कोटि के कवि भी हैं। वर्तमान भारत के कवि-शिरमौर स्वयं श्रीरवींद्रनाथ ठाकुर ने इन्हें सत्कवि मानकर इनके बहुत-से पदों का अँगरेज़ी में अनुवाद किया है। उस अनुवाद-ग्रंथ के देखने से भी कबीर साहब का साहित्यिक गौरव ऊँचा जान पड़ता है। इनके मूल पदों में अव्वल दरजे का साहित्य-गौरव मिलता है; पर इनकी रचना बहुत विस्तृत है, और चुने हुए छंदों को छोड़कर सब कहीं उसमें वैसा आनंद नहीं आता। ख़ास-ख़ास मौक़ों को छोड़कर, काव्य-दृष्टि से, वह अवश्य फीकी लगती है। फिर भी हमारा दृढ़ सिद्धांत है कि फीके छंदों के कारण

किसी की अच्छी रचनाओं का मान न घटना चाहिए। कवि का मान सर्वोच्च छंदों से है, साधारण से नहीं। यदि साधारण को छोड़कर केवल उच्च कविता से कोई ऊँचे स्थान का अधिकारी हो, तो हम साधारण छंदों को इतना तक भुला देंगे, मानो उसने उन्हें रचा ही नहीं। महात्मा कबीरदास के ग्रंथों में कम-से-कम प्रायः १०० पृष्ठ ऐसे निकल सकते हैं, जिनमें उच्च कोटि की कविता है। शेष भागों में उन्हीं विचारों के बार-बार आने तथा किसी विशेष चमत्कार के न होने से वैसा काव्यानंद नहीं मिलता। यदि उन भागों को छोड़ दें, तो ये १०० पृष्ठ अवश्य उत्तम मिलते हैं। इनमें ईश्वर-संबंधी उच्चातिउच्च विचार हैं। मनोरंजकता की मात्रा भी कम नहीं है। इन्हें हिंदी-नवरत्न के कवियों की रचनाओं से मिलाने पर हमें केवल काव्य की दृष्टि से इन महाकवि का स्थान मतिराम और चंद के बीच में समझ पड़ता है। ऐसा कथन साहस से ख़ाली नहीं है, क्योंकि इतने बड़े महात्मा को किसी भी दृष्टि से तुलसी और सूर को छोड़कर और किसी से कम कहना सुननेवालों को अच्छा नहीं लगेगा, ऐसा भय है। विशेष करके कबीर साहब एक पंथ के भी प्रवर्तक थे। इन विचारों से हम आपको हिंदी-साहित्यकारों में तुलसी और सूर के पीछे प्रायः सर्वोत्कृष्ट मानते हैं, किंतु केवल साहित्य की दृष्टि से मतिराम के पीछे समझते हैं। आशा है, पाठक लोग हमें क्षमा करेंगे; और यदि कोई मतभेद हो, तो हमारा यह कथन हठवाद न समझेंगे, क्योंकि संसार रुचि-प्रधान है। एक को जो वस्तु अच्छी लगती है, वही दूसरे को ख़राब।

यदि कबीर साहब साहित्य की दृष्टि से ग्रंथ बनाते, तो इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस कोटि की इनकी रचना है, उससे बहुत

श्रेष्ठ लिख सकते। आपमें सत्कवि होने के सब गुण थे, केवल इच्छा न थी। आपने सत्कवि होना चाहा ही नहीं। आप तो उपदेशक और धर्म-प्रचारक थे। आप काव्य, कवि होने को न करके, धर्म-प्रचारार्थ करते थे। जहाँ तक हमें स्मरण है, आपने अपने को कवि कहा भी नहीं। लोक-प्रियता में आपकी रचना केवल गोस्वामी तुलसीदास के पीछे है, जैसा ऊपर कहा जा चुका है। रचना में उद्दंडता अच्छी है। हम उसमें धर्मोपदेशक और गुरु के ओजस्वी वाक्य प्रचुरता से पाते हैं, किंतु मित्र कवि की मीठी मनोमोहिनी वाणी कम मिलती है। गुरु-पद के अधिकारी होने से आप उच्च शिक्षा कर्कश शब्दों तक में देते, किंतु मित्र न होने से मधुरता का समावेश रचना में नहीं कर सके हैं। मृदुलता-पूर्ण हास्य, शृंगार, वीर आदि रसों का आस्वादन आप कम कराते हैं। अद्भुत रस, भयानक रस, शांत रस, बीभत्स रस आदि के लिये आपके छंद देखने योग्य हैं।

आपका प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ, जब हिंदी अपनी पूर्व-माध्यमिक दशा में थी। आपके पहले सत्कवियों में केवल चंद बरदाई, खुसरो और विद्यापति ठाकुर की गणना है। ऐसे समय में उत्पन्न होकर अनेकानेक ग्रंथों द्वारा आपने हिंदी-साहित्य का बड़ा उपकार भी किया। संसार में आपका मान अच्छा हुआ। रीवाँ के तत्कालीन महाराजा वीरसिंहदेव आपके शिष्य थे। इनके विषय में मिश्रबंधु-विनोद में हमने निम्न-लिखित सम्मति प्रकट की थी—

"इन्होंने खरी बातें बहुत उत्कृष्ट और साफ़-साफ़ कही हैं, अथच इनकी कविता में हर जगह सचाई की झलक देख पड़ती है। इनके-से बेधड़क कहनेवाले कवि बहुत कम देखने में आते हैं। कबीरजी का अनुभव बहुत बढ़ा-चढ़ा, और दृष्टि अत्यंत पैनी थी। कहीं-कहीं इनकी भाषा में कुछ गँवारूपन आ जाता है, पर उसमें उद्दंडता

की मात्रा अधिक होती है। आपने प्रायः साधारण बातों ही में ज्ञान कहा है। इनके कथन देखने में तो साधारण समझ पड़ते हैं, पर उनमें गूढ़ आशय छिपे रहते हैं। इन्होंने रूपकों, दृष्टांतों, उत्प्रेक्षाओं आदि में धर्म-संबंधी ऊँचे विचारों एवं सिद्धांतों को सफलता-पूर्वक व्यक्त किया है। साधारण भजनों में प्रायः कबीरदास ने संसार की असारता दिखलाई है।"

उक्त कथन को हम अब भी ठीक मानते हैं। आपकी रचना तथा जीवन की सर्वोत्कृष्ट बातें सिद्धता और हिंदू-मुसलमानों को मिलाने के प्रयत्न हैं। आपका जीवन एवं काव्य धन्य है।

कबीर-पंथ में हिंदू-मुसलमान दोनो हैं। उसमें यौगिक क्रियाओं का भी समावेश है। वह गोरख-पंथ से कुछ-कुछ मिलता है। सिक्ख-धर्म में आपके वचनों का मान है। दादूदयाल आदि अनेक महात्मा भी इनके सिद्धांतों का मान करते थे।

---

(८)

महाकवि चंद बरदाई

महाकवि चंद बरदाई वास्तव में हिंदी के प्रथम कवि हैं। इनके पहले भी प्रायः ३८ कवि हो गए हैं, परंतु उन सबकी रचना में महत्ता कम मिलती है। चंद बरदाई की कविता से प्रकट होता है कि वह प्रौढ़ रचना है, और छंद आदि की रीतियों पर उसमें ऐसा अनुगमन हुआ है कि जान पड़ता है, यह महाशय दृढ़ रीतियों पर चलते थे, और स्वयं इन्हीं ने हिंदी-काव्य-रचना की नींव नहीं डाली। उस समय वंदीजन, चारण आदि राजों-महाराजों के यहाँ प्रायः रहा करते थे, और उनका यह काम ही था कि हिंदी-कविता में राजा का यशोगान करें। स्वयं कवि चंद ने लिखा है कि गुजरात में एक बार राजा भोराभीमंग के राजकवि से उनसे वाद हुआ। इससे भी उस समय दरबारों में कवियों के उपस्थित रहने का प्रमाण मिलता है। कवियों की उस काल इतनी चाह थी कि चित्तौर के रावल समरसिंह का ब्याह जेठ पृथ्वीराज की भगिनी पृथाकुँअरि से हुआ, तब उन्होंने कलेवा करने के समय दायज में कवि चंद के पुत्र जल्हन कवि को लेकर ही भोजन किया। यह हाल रासो में लिखा है। रासो के समाप्त करने के पहले ही कवि चंद का शरीर-पात हो गया। तब उनके इसी पुत्र (जल्हन) ने उसका अंतिम भाग लिखकर ग्रंथ समाप्त किया। इन सब बातों से प्रकट है कि उस समय हिंदी-कविता का अच्छा प्रचार था, पर तत्कालीन अन्य कवियों के बहुतेरे ग्रंथ ऐसे उत्कृष्ट न थे कि आठ सौ वर्षों के

पीछे भी अब तक जीवित रहते, अथच उनका प्रचार रहता। क्षेपक-बाहुल्य के कारण रासो के कथनों का ऐतिहासिक मूल्य संदिग्ध भी है। उस समय के और उससे पहले के प्रधान ग्रंथों में काल के कुचक्र ने केवल इस एक ग्रंथ-रत्न के अतिरिक्त कुछ को ही सजीव रक्खा। कराल काल ने शेष सब ग्रंथों को निगलकर अपने उदर-समुद्र में सदा के लिये लीन कर लिया, जहाँ से अब उनका निकलना ऐसा ही दुःसाध्य है, जैसा स्थिर महासागर में फेके गए लोहे के एक छोटे-से टुकड़े का। अतः यद्यपि वास्तव में कवि चंद हिंदी के प्रथम कवि न थे, तथापि वह हिंदी के प्रथम उत्कृष्ट कवि अवश्य थे। काल ने अब प्रायः ३८ कवियों को छोड़ अन्य सभी के यशों को चर्वित करके चंद ही को हिंदी का प्रायः प्रथम उत्कृष्ट कवि बना भी दिया है।

कवि चंद ने अपने जन्मादि का कुछ वर्णन नहीं किया, और राजकीय घटनाओं के संवत् लिखते हुए भी अपने विषय में कोई सन्-संवत् नहीं लिखा। हम लोग इतना अवश्य जानते हैं कि आप जगात-गोत्र के भाट थे, और लाहौर में जन्मे थे; पर इससे अधिक—जन्म, पूर्व-पुरुष आदि के विषय—निश्चयात्मक रीति पर कुछ नहीं जानते। चंद के कथनानुसार पृथ्वीराज का जन्म संवत् १२०६ वि० में हुआ। ओझाजी कहते हैं कि यह जन्म-काल सं० १२२१ से पूर्व नहीं हो सकता। अनुमान से जान पड़ता है कि यह पृथ्वीराज से अवस्था में कुछ बड़े थे, क्योंकि एक तो पृथ्वीराज इनकी सलाहों को आदर से सुनते थे, दूसरे, एक स्थान पर उनके अपनी सलाह न मानने पर आपने लिखा कि राजा ने धन और वय से मत्त होकर मेरी सम्मति नहीं मानी। यदि यह राजा से बड़े न होते, तो ऐसा लिखने का इन्हें साहस ही न होता। फिर यदि ऐसा लिखते भी, तो राजा इन पर अवश्य रुष्ट हो जाते, पर पृथ्वीराज का इनसे रुष्ट होना पाया नहीं जाता। ऐसा लिखने के पीछे भी इनका पूर्ववत्

मान बना रहा। इसके सिवा पृथ्वीराज की भगिनी पृथाकुँअरि के विवाह के समय उनका पुत्र जल्हन ऐसा गुणी हो चुका था कि रावल समरसिंह ने उसे हठ करके दायज में माँग लिया। वह उस समय संभवतः २१ वर्ष का होगा, और चंद शायद ४१ साल के हों। इसके पीछे संवत् १२२८ में पृथ्वीराज ने एक ख़ज़ाना पृथ्वी के नीचे खुदवाकर पाया, जिसका वर्णन रासो के ७३८वें पृष्ठ में है। रासो के अनुसार पृथ्वीराज की मृत्यु संवत् १२४९ में, ४३ वर्ष की अवस्था में, हुई। उसी समय चंद की भी मृत्यु हुई, क्योंकि वह राजा के साथ ही मारे गए। १२४९ वि० में चंद की अवस्था संभवत: ६६ वर्ष की हो। अत: उनका जन्म-काल ११८३ वि० के लगभग समझ पड़ता है। इनकी अवस्था इससे बहुत अधिक भी नहीं जान पड़ती, क्योंकि यदि अधिक बुड्ढे होते, तो मृत्यु-पर्यंत युद्धों में न सम्मिलित रह सकते। इस दूसरे हिसाब से भी इनकी अवस्था पृथ्वीराज से प्रायः २३ वर्ष अधिक निकलती है, जो अनुमान से भी मिलती है। चंद की मृत्यु पृथ्वीराज के साथ ही हुई, यह बात प्रसिद्ध है। अत: चंद संवत् १२४९ में मरे। कहते हैं, जब शहाबुद्दीन ग़ोरी पृथ्वीराज को पकड़ ले गया, तब राजा को छुड़ाने के विचार से चंद ग़ोर-देश को गए, और वहीं मारे गए। कहीं-कहीं यह भी लिखा है कि पृथ्वीराज और चंद एक ही दिन उत्पन्न हुए। पृथ्वीराज-संबंधी रासो की घटनाएँ संदिग्ध होने से कवि चंद-संबंधी भी उपर्युक्त कथन असंदिग्ध नहीं हैं।

चंद के पिता राव बेनू थे। चंद लाहौर में उत्पन्न हुए, और अजमेर में इनका पालन-पोषण हुआ। यह पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर की राजधानी थी। यहीं चंद पृथ्वीराज के साथ रहने लगे, और यहीं आप पृथ्वीराज के तीन प्रधान मंत्रियों में से एक हो गए। पृथ्वीराज के शेष दोनो मंत्रियों के नाम कैमास और गुरुराम पुरोहित थे। कैमास तीनो

में प्रधान था। चंद अजमेर से लेकर मृत्यु-पर्यंत सदैव पृथ्वीराज के साथ रहे, और युद्धों में भी लड़ते रहे। जो हाल रासो में वर्णित है, उसमें एक प्रकार से चंद की भी जीवनी है। इनकी स्त्री बड़ी गुणवती थी, और रासो उसी से कहा गया। बीच-बीच में उसने बहुत-से प्रश्न भी किए। चंद का पुत्र जल्हन बड़ा गुणी था। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, रावल समरसिंह उसे दहेज़ में ले गए, और वह उसी समय से चित्तौर में रहने लगा। यह रावल समरसिंह चित्तौर-नरेश एवं वर्तमान उदयपुर के महाराणा के पूर्व-पुरुष कहे गए हैं। रावल समरसिंह का समय प्रसिद्ध ऐतिहासिक ओझाजी सं० १३५८ बतलाते हैं, किंतु हमारा विचार है कि वह समरसिंह दूसरे थे, और रासोवाले पहले (देखिए हमारा भारत का इतिहास)। दूसरे समरसिंह के पूर्व-पुरुष पहले समरसिंह के पुत्र करणसिंह थे। यह कथन टाड-कृत राजस्थान के भी अनुकूल है। सं० १५१७वाले महाराणा कुंभकर्ण के शिलालेख में मेवाड़-नरेशों के वर्णन में समरसिंह का नाम नहीं है, किंतु महाराणा राजसिंहवाले सं० १७३२ के शिलालेख में है। एक बार कैमास पृथ्वीराज की ओर से गुजरात के राजा भोराभीमंग से लड़ने गया, पर भीमंग की भेजी हुई एक खत्रानी पर ऐसा आसक्त हुआ कि पृथ्वीराज को छोड़ भीमंग से मिल गया, और उसने नागौर पर उनका अधिकार करा दिया। यह दशा देख चंद बरदाई एक सेना-सहित नागौर जाने लगे। मार्ग में भीमंग के दल से युद्ध भी हुआ, पर उसको घोर समर में पराजित करके, यह वीर कवि जान पर खेलकर कैमास के पास जा पहुँचा। इसे देखकर कैमास को ऐसी लज्जा लगी कि वह सिर न उठाता था। तब चंद ने उसे समझाया कि भूल सबसे हो जाती है, पर भूल का न सुधारना ही मुख्य रूप से निंद्य है। इस पर चंद और कैमास ने मिलकर युद्ध में भोराभीमंग के दल को पराजित कर

नागौर पर फिर पृथ्वीराज का अधिकार कराया। फिर दोनो दिल्ली लौट आए। इस वर्णन से स्पष्ट प्रकट होता है कि चंद बरदाई कोरे कवि ही नहीं, अपितु प्रचंड युद्धकर्ता अथच राजनीतिज्ञ भी थे। इस युद्ध का ऐतिहासिक मूल्य संशयाकीर्ण है।

पृथ्वीराज के यहाँ चंद की ऐसी प्रतिष्ठा थी, जैसी ख़ास राजा के भाई की हो। एक बार चंद द्वारकापुरी को दर्शनार्थ गए। उस समय इनके साथ बहुत-से हाथी, सैकड़ों घोड़े और हज़ारों पैदल गए। मार्ग में आप चित्तौर के समीप भी ठहरे। तब पृथ्वीराज की भगिनी पृथाकुँअरि स्वयं इनके डेरे पर इनसे मिलने आईं। अनंतर यह कविजी चित्तौर जाकर महारानी के भाई की भाँति दो-चार दिन पहुनई में वहाँ रहे। महारानी पृथाकुँअरि रावल समरसिंह की पटरानी थीं। यह हाल भी रासो में लिखा है। इससे इन कविरत्न के सम्मान का हाल स्पष्ट प्रकट होता है। द्वारका से पलटते समय चंद कवि पृथ्वीराज के शत्रु भोराभीमंग के यहाँ गए। वहाँ भी आपने पृथ्वीराज का यशोगान किया। इसी अवसर पर चंद ने वहाँ के राजकवि को वाद में हराया। क़न्नौज के महाराज जयचंद के भतीजे का विवाह एक परम सुंदरी राजकुमारी से हो रहा था। बरात भी जा चुकी, पर राजकुमारी की इच्छा पृथ्वीराज के साथ विवाह करने की थी। यह सुनकर पृथ्वीराज ने सेना लेकर वहाँ जाने का विचार किया। यही झगड़ा जयचंद से फिर शत्रुता के उभड़ने का प्रधान कारण हुआ। चंद ने इस अवसर पर पृथ्वीराज को ऐसा करने से बहुत रोका, पर उन्होंने न माना। इसी पर चंद ने लिखा है कि धन-वयोमत्त राजा ने उनकी सम्मति का आदर न किया। यदि चंद की सम्मति मानी जाती, तो पृथ्वीराज का जयचंद से झगड़ा एवं वैर न बढ़ता, और न शहाबुद्दीन ग़ोरी पृथ्वीराज को पराजित कर सकता।

चंद बरदाई का एकमात्र ग्रंथ पृथ्वीराज-रासो है, परंतु इसी एक ग्रंथ में २४०० से ऊपर पृष्ठ हैं। यह ग्रंथ मानो उस काल का प्राचीन इतिहास है। यह अपने समय का बड़ा मनोहर और ऐसा इतिहास बतलाता है, जो अन्यत्र विस्तार से अप्राप्य है। रासो अपने समय के परम दुष्प्राप्य सजीव इतिहास का ज्ञान कराता है। इस ग्रंथ-रत्न में पृथ्वीराज के समकालीन प्रायः सभी भारत-वर्षीय राजों का सविस्तर वर्णन मिलता है। इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि रासो का बतलाया हुआ इतिहास एवं घटना-चक्र बहुत संदिग्ध है। इस बात का विशेष कथन आगे आवेगा। दुर्भाग्य-वश यह ग्रंथ अप्राप्य हो गया था। यह देखकर काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ने साहस-पूर्वक, यथेष्ट धन ख़र्च करके, इसे प्रकाशित किया। पंडितवर मोहनलाल-विष्णुलालजी पंड्या ने रासो पर बहुत अधिक और परम प्रशंसनीय श्रम किया, और इसके विषय में बहुत-सी बातें खोज करके निकालीं। उनके साथ बाबू राधाकृष्णदास एवं रा० ब० बाबू श्यामसुंदरदासजी ने भी इसके विषय में प्रचुर श्रम किया। यह ग्रंथ इन्हीं तीनो सज्जनों की संपादकता में प्रकाशित हुआ। दो भागों के पीछे बाबू राधाकृष्णदास की अकाल मृत्यु हो गई। शेष भागों का संपादन पूर्वोक्त दो ही महाशय करते थे। अनंतर पंड्याजी का भी पीछा हो गया। संपादकों ने रासो के फ़ुट-नोटों में, अर्थ-पाठांतर आदि भी दिए हैं, जो संतोष-दायक हैं। स० १६४० के लगभग मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह ने चंद की रचनाओं को एकत्र कराया। कहा जाता है, समय-समय पर रासो के तीन संपादन हुए, और इसमें बहुत कुछ घट-बढ़ गया है। फिर भी रासो का प्राचीन भाग असली अवश्य है। घटने-बढ़ने का फल यही हुआ कि इसमें बहुत-से नवीन भाग मिल गए, और बहुत-सी ऐतिहासिक अशुद्धियाँ आ गईं। कहते हैं, समय के

साथ प्राचीन रासो ग्रंथ छितर गया था, और तब सं० १६२६ से ४२ तक मेवाड़-नरेश महाराणा अमरसिंह ने किसी कवि द्वारा उसे संपादित कराया। इस ग्रंथ की सं० १६४२ की एक प्रतिलिपि काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में प्रस्तुत है।

रासो से प्रकट होता है कि जैसे-जैसे घटनाएँ होती गईं, वैसे-ही-वैसे उसकी रचना भी हुई। ऐसा नहीं हुआ कि सब घटनाओं के पीछे वह एक साथ बनाया गया हो। इसी कारण, जैसे कविगण किसी घटना के वर्णन में प्राय: कह दिया करते हैं कि इस घटना से आगे चलकर बहुत उपद्रव अथवा लाभ हुए हैं, जो आगे लिखे जायँगे, वैसे कथन रासो में नहीं पाए जाते। इसमें प्रत्येक घटना का बड़ा ही सजीव, पूर्ण एवं भव्य वर्णन है। प्रत्येक में मंत्रियों से जैसी-जैसी सलाहें ली गईं, और जिस-जिस मंत्री ने जो-जो कहा, वह सब रासो में लिखा है, चाहे वे अनुमतियाँ नितांत साधारण ही क्यों न हों। इसी प्रकार युद्धों में जितने दिनों तक जो युद्ध रहा, जिसमें जो जैसा लड़ा, और जिस प्रकार अपनी अथवा शत्रु की चमू रक्खी गई, सो सब पूर्णता के साथ कहा गया है। बहुधा युद्धों में चंद ने अपनी तथा शत्रु-सेना की शोभा का वर्णन प्राय: सर्वत्र भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। इसी प्रकार उन्होंने न-जाने कितने युद्धों के वर्णन दिए हैं, परंतु उन सबमें पार्थक्य वर्तमान है। इससे भी प्रकट होता है कि चंद ने घटनाओं के साथ-ही-साथ रासो को बनाया, नहीं तो एक ही प्रकार की घटनाएँ लिखने में एक ही-से वर्णन हो जाते, और उनमें वैचित्र्य बहुत कम रहता। प्रक्षिप्त भागों के बाहुल्य से ऐसे कथन भी कुछ संशयाकीर्ण हो जाते हैं। संभवत: क्षेपककारों ने भी पुरानी कथन-प्रणाली स्थापित रक्खी।

इन बातों के रहते हुए भी पंडितवर, महामहोपाध्याय, रायबहादुर

पं० गौरीशंकर-हीराचंद ओझा को रासो के असली ग्रंथ होने में संदेह हो गया। उनका यह मत है कि रासो को किसी ने सोलहवीं या सत्रहवीं शताब्दी में, चंद के नाम से, बनाया। इस संदेह की पुष्टि में दो प्रधान कारण दिए जाते हैं; एक तो यह कि रासो में प्रति सैकड़े १० के लगभग अरबी-फ़ारसी आदि के शब्द हैं, और दूसरे, इसमें लिखी हुई घटनाओं के सब संवत् अशुद्ध हैं। कहा जाता है, चंद के समय हिंदी में इतने विदेशी शब्दों का होना असंभव है, क्योंकि मुसलमानों के आने के पीछे ही उनके शब्द हिंदी में आ सकते थे।

विदेशी शब्दों के विषय में पंडितवर मोहनलाल-विष्णुलालजी पंड्या का यह मत है कि रासो में इतने अधिक विदेशी शब्द नहीं हैं, और थोड़े-बहुत ऐसे शब्दों का होना शंका का कारण नहीं हो सकता। बाबू श्यामसुंदरदास का मत है कि रासो में सैकड़े-पीछे प्राय: १० ऐसे शब्द हैं, किंतु इसके कारण कोई संदेह न होना चाहिए। भारत में शहाबुद्दीन के साथ ही यवनों का प्रवेश नहीं हुआ। उसके प्रायः पौने दो सौ वर्ष पहले से ही महमूद ग़ज़नवी की चढ़ाइयाँ होने लगी थीं, और पंजाब का एक बड़ा भाग मुसलमानों के अधिकार में चला गया था। महमूद से भी तीन सौ वर्ष पहले सिंध तथा मुलतान के देशों पर मुसलमानों का अधिकार हो गया था। अतः पंजाबी-भाषा में मुसलमानी शब्दों का मिलना स्वाभाविक ही था। फिर, चंद बरदाई का जन्म लाहौर में हुआ, जहाँ उस समय मुसलमानों ही का अधिकार था। चंद ने अपना बाल्य-काल इसी स्थान पर बिताया। स्वयं पृथ्वीराज के यहाँ शहाबुद्दीन का भाई हुसैन और उसका पुत्र, दोनो रहते थे। उन्हें जागीर भी मिली थी। पृथ्वीराज के राज्य की सीमा मुसलमानी राज्य से मिली हुई थी। ऐसी दशा में व्यापारिक संबंध से भी मुसलमानों का आतायात हिंदुओं के बीच अवश्य रहता होगा। इन सब कारणों

से चंद की भाषा में मुसलमानी शब्दों का होना स्वाभाविक था, और इन शब्दों को देखकर हम रासो के असली होने के विषय में कोई संदेह नहीं उठा सकते। इतनी और भी बात है कि रासो का एक भाग ही असली समझ पड़ता है, और उसका बृहदंश प्रक्षिप्त है। ऐसी दशा में पूरे ग्रंथ में शब्दों के पड़ते से कोई दृढ़ निष्कर्ष नहीं निकलता, क्योंकि उसमें प्रक्षिप्त भागों का भी पड़ता शामिल है।

चंद के दिए हुए संवतों में घटनाओं का काल अटकलपच्चू नहीं लिखा गया। इतिहास द्वारा विदित समय से चद के कहे हुए संवत् प्रायः सदा ६० वर्ष कम होते हैं, और यही अंतर एक-दो नहीं, प्रायः प्रत्येक घटना के संवत् में देख पड़ता है। यदि चंद के किसी संवत् में ६० जोड़ दें, तो इतिहास से सिद्ध यथार्थ संवत् निकल आता है। चंद ने पृथ्वीराज के जन्म, उनके दिल्ली में गोद जाने, कन्नौज जाने तथा अंतिम युद्ध के क्रमशः १११५, ११२२, ११५१ और ११५८ संवत् दिए हैं। इनमें ६० जोड़ देने से प्रत्येक घटना का यथार्थ संवत् निकल आता है (पृथ्वीराज-रासो, पृष्ठ १४० देखिए)। प्रत्येक घटना में केवल ६० साल का अंतर होने से प्रकट है कि कवि इन घटनाओं के संवतों से अनभिज्ञ न था, नहीं तो यदि किसी में ६० वर्षों का अंतर पड़ता, तो किसी में इससे कम या ज़्यादा का। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि रासो में साधारण विक्रमीय संवत् का प्रयोग नहीं हुआ। उसमें किसी ऐसे संवत् का प्रयोग हुआ है, जो वर्तमान काल के प्रचलित विक्रमीय संवत् से ६० वर्ष पीछे था। अब देखना चाहिए कि चंद ने इस विभिन्नता का कुछ संकेत भी दिया है कि नहीं। रासो के १३८वें पृष्ठ पर ये दो दोहे मिलते हैं—

एकादस सै पंचदह बिक्रम साक अनंद ;
तेहि रिपु जयपुर हरन को भय पृथिराज नरिंद ।

एकादस सै पंचदह विक्रम जिमि ध्रम सुत्त ;
त्रतिय साक पृथिराज को लिख्यो विप्र गुन गुप्त।

इससे प्रकट है कि चंद कवि ११११ विक्रम-अनंद संवत् में पृथ्वीराज का जन्म बताता है। अत: वह साधारण संवत् न लिखकर 'अनंद' संवत् लिखता है। अनंद का अर्थ साधारणतः आनंद कहा जा सकता है, पर इस स्थान पर आनंद का अर्थ लगाने से ठीक अर्थ नहीं बैठता। यदि आनंदद शब्द होता, तो आनंद-वाला अर्थ बैठ सकता था। अत: प्रकट होता है कि चंद अनंद संज्ञा का कोई विक्रमीय संवत् लिखता है। यह अनंद संवत्, जान पड़ता है, साधारण संवत् से ९० वर्ष पीछे था। पंडितवर पंड्याजी ने लिखा है कि तत्कालीन चित्तौर-नरेश समरसिंह और उनकी महारानी पृथा के कुछ पट्टे-परवाने आदि भी मिले हैं, जो असली जान पड़ते हैं। इनमें भी इसी अनंद संवत् में समय दिया गया है, जो साधारण संवत् से ९० वर्ष पीछे है। उन्होंने यह भी कहा है कि बाप्पा रावल आदि के भी समय इसी संवत् से मिलाए जा सकते हैं। नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज में जो पुराने आज्ञा-पत्र (पृथ्वीराज, समरसिंह आदि के) मिले हैं, उनमें भी इसी संवत् का प्रयोग हुआ है। अतः जान पड़ता है, उस समय राजों के यहाँ यही अनंद संवत् प्रचलित था।

अनंद संवत् किस प्रकार चला, और साधारण संवत् से वह ९० वर्ष पीछे क्यों है, इसके विषय में पंड्याजी ने कई तर्क दिए हैं, पर दुर्भाग्य-वश उनमें से किसी पर हमारा मत नहीं जमता। बाबू श्यामसुंदरदास ने भी एक कारण बतलाया है, पर वह भी हमें ठीक नहीं जान पड़ता। यदि अनंद संवत् का पता न लगे, तो भी क्षेपकों के बाहुल्य से सन्-संवतों का गड़बड़ रासो के असली भागों के प्रतिकूल नहीं जा सकता। यह भी मानना ही पड़ेगा कि रासो की

है कि तेजसिंह के पुत्र और जैत्रसिंह के पौत्र समरसिंह सं० १३५८ तक चितौर के राजा थे, किंतु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि सं० १२४६ में मरनेवाले समरसिंह थे ही नहीं। हमारा मत है कि वह पहले समरसिंह थे, और सं० १३५८वाले दूसरे। केवल दूसरे समरसिंह के अस्तित्व से पहले का अस्तित्व नहीं कटता। खुमान-रासो आदि के आधार पर टाड महाशय भी पृथ्वीराज के बहनोई समरसिंह का अस्तित्व मानते हैं। महाराणा कुंभा द्वारा अकथित होने का एक यह भी कारण हो सकता है कि इनका वास्तविक महत्ता रासो के कथनों से बहुत कम हो। इस अकथन से अनस्तित्व अनिश्चित है, और यदि समरसिंह का अस्तित्व असिद्ध भी हो, तो यह कथन भी क्षेपक मानकर रासो के प्राचीन भाग दृढ़ रहते हैं।

रासो में गुजरात के भीमदेव को पृथ्वीराज से लड़ाई कथित है। भीमदेव का राजत्व-काल सं० १२३५ से १२६८ तक है। इसी बात से ओझाजी अनुमान करते हैं कि शहाबुद्दीन के समय भीमदेव बिलकुल बाल्यावस्था में था। उधर इतिहास कहता है कि अपने पूर्ववर्ती राजा तथा भाई दूसरे मूलराज के समय में भीमदेव ने शिहाबुद्दीन गोरी को युद्ध में पराजित किया था, और तब वह भाई के स्थान पर राजा भी हो गया। ऐसी दशा में उसका पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर को युद्ध में मारना तथा पृथ्वीराज की उससे लड़ाई असंभव नहीं। हाँ, उसका पृथ्वीराज द्वारा मारा जाना-मात्र प्रक्षिप्त है। ओझाजी भीमदेव की सं० १२३५ में बाल्यावस्था का निराधार अनुमान करके स्वयं रासो के प्रतिकूल अशुद्ध दोषारोपण करते हैं। इतिहास भी १२३५ के पूर्व भीमदेव को भारी युद्धकर्ता बतलाता है।

कुछ लोगों का विचार है कि रासो में थोड़े-बहुत प्रक्षिप्त भाग अवश्य हैं। यह विचार उसमें कई ऐतिहासिक अशुद्धियों तथा

भाषा-वैषम्य पर निर्भर है। कुछ भाषा नई देख पड़ती है, और कहीं-कहीं पुरानी तथा कुछ स्थानों पर पुरानी की नक़ल-सी। ओझाजी महाशय यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि रासो सब-का-सब जाली है, और उसका कोई भाग प्राचीन नहीं। उसके जाली होने में आपको इतनी प्रसन्नता होती है कि इसके समर्थन में कैसी भी भद्दी दलील हो, वह बावन तोले पाव रत्ती ठीक जँचती है, और इस बात पर इतनी दृढ़ता है कि रासो के किसी अंश को पृथ्वीराज का समकालीन माननेवाले हठवादी-मात्र समझ पड़ते हैं। आप कहते हैं, यह कथन भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि रासो पहले छोटा था, और पीछे लोगों ने उसे बढ़ा दिया होगा, क्योंकि चंद के वंशधर कवि यदुनाथ ने सं० १८०० के अपने ग्रंथ वृत्तविलास में रासो का वही आकार बतलाया है, जो उसका वर्तमान आकार है। आपका विचार है—"जदुनाथ के यहाँ अपने पूर्वज का बनाया हुआ मूल-ग्रंथ अवश्य होगा, जिसके आधार पर उसने उक्त ग्रंथ का परिमाण लिखा होगा।" आपकी समझ में सं० १२४८ से सं० १८०० तक रासो में कोई क्षेपक का बढ़ना असंभव था, और यदुनाथ पूरे ६०० वर्षों के रासो-संबंधी आकार के ख़ज़ांची बने-बनाए हैं। आपका यह भी विचार है कि प्रमार, परिहार, सोलंकी और चौहान को अग्नि-वंशी पहलेपहल चंद ही ने कहा, और जब सोलहवीं शताब्दी तक के किसी अन्य ग्रंथ में वे अग्नि-वंशी न कहे जाकर सूर्य या चंद्र-वंशी कहे गए हैं, तब उन्हें अग्नि-वंशी कहनेवाला रासो भी प्राचीन ग्रंथ न होगा। सं० १४६० के हम्मीर महाकाव्य में चौहान अग्नि-वंशी नहीं कहे गए हैं। यह भी कोई दृढ़ तर्क नहीं है। ये क्षत्रिय यज्ञ के कारण अग्नि-वंशी कहलाए। यज्ञ के प्रथम भी ये प्रस्तुत थे ही, और उस काल सूर्य या चंद्र-वंशी आदि कहलाते ही होंगे। ऐसी दशा में यदि कुछ ग्रंथों में इनके पुराने वंश कहे

का राजकवि सम्मानार्थ चंद्रराज कहता है, और जिसके उपमान बनने से एक राजकुमार तक की महत्ता समझी गई। जयानक उसे अच्छे छंदों का बनानेवाला भी कहता है। चंद के विषय में वह श्लोक इस प्रकार है—

तनयश्चन्द्रराजस्य चन्द्रराज इवाभवत्;
संग्रहं यस्सुवृत्तानां सुवृत्तानामिव व्यधात।

ओझाजी का विचार है कि यह चंद्रराज वह 'चंद्रक' कवि हो सकता है, जिसका नाम विक्रमीय ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध-वाले कश्मीरी क्षेमेंद्र कवि लेते हैं। किंतु क्षेमेंद्र किसी छोटे-से कवि चंद का कथन करते हैं, जिसे वे चंद्रक-मात्र कहते हैं। इधर जयानक किसी महापुरुष चंद्र का वर्णन चंद्रराज करके करता है। ये चंद्रक और चंद्रराज एक नहीं समझ पड़ते। चंद्र-कृत रासो देखने से प्रकट है कि वह राजमंत्री तथा पूज्य व्यक्ति एवं अच्छा कवि था। जयानक भी एक चंद को अच्छा कवि कहकर उससे राजकुमार की उपमा देने में राजकुमार का ही सम्मान समझता है। हमारी समझ में इन कथनों से रासोकार चंद के अस्तित्व का अच्छा समर्थन होता है।

चंदीय भाषा के विषय में ओझाजी की निम्न-लिखित सम्मति है—

"दोहों और कुछ-कुछ कवित्तों की भाषा तो ठिकाने की है, पर त्रोटक आदि छोटे छंदों में तो कहीं-कहीं अनुस्वारांत शब्दों की ऐसी भरमार है, जैसे किसी ने संस्कृत-प्राकृत की नक़ल की हो। साथ ही कहीं-कहीं भाषा अपने असली प्राचीन साहित्यिक रूप में पाई जाती है, जिसमें प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों के साथ-साथ शब्दों के रूप और विभक्तियों के रूप पुराने ढंग के हैं। कहाँ पर कितना अंश असली है, इसका निर्णय असंभव होने के कारण यह ग्रंथ न तो भाषा के इतिहास के और न साहित्य के इतिहास के जिज्ञासुओं के काम का रह गया है।"

इस सम्मति से भी प्रकट है कि इसके कुछ भाग पुराने अवश्य हैं। ऐसी दशा में भाषा की साक्षी कुछ प्रक्षिप्त भागों की वस्तुति बतलाने के अतिरिक्त चंदीय अनस्तित्व को बिलकुल प्रमाणित नहीं करती, वरन् उसका प्राचीन अस्तित्व सिद्ध करती है। अतएव हमारा और ओझाजी का केवल इतना मतभेद रह जाता है कि उनकी राय में इसमें क्षेपकों के बाहुल्य से प्राचीन होकर भी ग्रंथ बेकार है, किंतु हम बेकार नहीं समझते, वरन् आदर के साथ इसे साहित्य के इतिहास-ग्रंथ में स्थान देते हैं। क्षेपकों के न्यूनाधिक अस्तित्व से इतना हम भी कहेंगे कि इसमें कथित घटनाएँ ऐतिहासिक काम की तब तक न होंगी, जब तक वे अन्य दृढ़ आधारों से भी समर्थित न हों। इतिहास की दृष्टि से बेकार होकर भी रासो साहित्यिक दृष्टि से एक श्रेष्ठ ग्रंथ है, और इनका कुछ भाग बारहवीं शताब्दी का अवश्य चंद-कृत है। केवल इतने छोटे मतभेद पर ओझाजी को ऐसा कहना अयोग्य था कि चंद था ही नहीं, और पूरा-का-पूरा रासो सोलहवीं शताब्दी का है। स्वयं उन्हीं की जाँच से इसके कुछ भाग अवश्य प्राचीन हैं।

अब हम ओझाजी के कुछ अन्य विचारों पर सम्मति प्रकट करेंगे। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने कुछ तत्कालीन पट्टे-परवानों की नक़ल खोज में छापी है, जिनसे चंद, तत्पुत्र जल्हन, पृथा कुँअरि (पृथ्वीराज की बहन) तथा समरसिंह के संबंध प्रकट होते हैं। आप इनको जाली कहते हैं। हम इस कथन को साहस-मात्र समझते हैं। इनसे चंद-संबंधी हमारे बहुतेरे कथनों को पुष्टि मिलती है। यदि ये न होते, तो भी वे कथन अन्य प्रकार से समर्थित हैं। आप पृथा कुँअरि का अस्तित्व इस वास्ते नहीं मानते कि एक समरसिंह सं० १३२८ तक प्रस्तुत थे, और इधर रासो एक समरसिंह की

कवित्त (छुप्पय)

सम बनिता बर बंदि चंद जंपिय कोमल कल ;
सबद ब्रह्म इह सत्ति अपर पावन कहि निर्मल ।
जिहित सबद नहिं रूप रेख आकार ब्रह्म नहिं ;
अकल अगाध अपार पार पावन त्रयपुर महिं ।
तिहिं सबद ब्रह्म रचना करौं गुरु प्रसाद सरसे प्रसन ;
जद्यपि सुउकुति चूकौं जु गति कमलबदनि कवि तहँ हसन ।

अष्टादश पुराण कहने के बाद चंद महाशय अपनी लघुता बताते और फिर खल-स्वभाव कहकर सरस्वती, शिव तथा गणेश की स्तुति करते हैं। इस प्रकार ९४ छंदों में वंदना तथा भूमिका कहकर आपने क्रमशः परीक्षित, वशिष्ठ, आबूगिरि-उत्पत्ति, ऋषियों के यज्ञ, चहुवान-उत्पत्ति तथा क्षत्रियों के ३६ वंशों की उत्पत्ति आदि की कथाएँ कही हैं। इसके पीछे चहुवानों के वंश का वर्णन किया और बीसलदेव की उत्पत्ति कहकर आना का जन्म कहा। आना ने अपनी माता से सुना कि बीसलदेव ने खूब मृगया खेली, और फिर वह नपुंसक हो गया, परंतु पुनः पुरुषत्व प्राप्त करके उसने अनुचित आचरण किया। बीसलदेव ने बालुकाराय से युद्ध किया, और फिर गौरी वैश्या का सतीत्व नष्ट कर डाला। वैश्या ने उसे शाप दिया, जिसके अनुसार रूप ने उसे डस लिया, और वह मर गया। तदनंतर उसकी चिता से ढूँढा-नामक राक्षस उत्पन्न हुआ। ढूँढा ने बीसलदेव के पुत्र सारंगदेव को मारकर अजमेर उजाड़ दिया। यह सुन सारंगदेव का पुत्र आना ढूँढा के पास गया। ढूँढा ने प्रार्थना से प्रसन्न होकर उसे अजमेर दे दिया, और वह स्वयं हारिफ ऋषि से उपदेश ग्रहण कर महात्मा हो गया। आनाजी ने आनासागर बनवाया, जो अब तक एक प्रसिद्ध तालाब है। आनाजी का प्रपौत्र सोमेश्वर था, जिसके पुत्र पृथ्वीराज हुए।

आनाजी के पीछे उनका पुत्र जयसिंह राजा हुआ, और उसके पीछे उसका पुत्र आनंददेव गद्दी पर बैठा। इन्हीं के पुत्र महाराजा सोमेश्वर हुए। दिल्ली के राजा अनंगपाल की पुत्री पृथ्वीराज की माता थी। चंद ने पृथ्वीराज की कथा अपनी स्त्री की इच्छा के अनुसार कही। मंगलाचरण में, प्रायः साठ पृष्ठों में, दशावतार की कथा कही गई है, जो उत्कृष्ट है। ये सब उपर्युक्त वर्णन २५७ पृष्ठों में समाप्त हो गए हैं। शेष ग्रंथ में पृथ्वीराज की कथा, विस्तार-पूर्वक, वर्णित है। पृथ्वीराज का शत्रुओं से प्राय: युद्ध हुआ करता था। रासो में अधिकतर पृथ्वीराज के युद्धों, विवाहों एवं मृगया के ही वर्णन हैं। अत:, विस्तार-भय से, अधिक न कहकर, हम रासो के अनुसार, यहाँ पृथ्वीराज के शत्रुओं, शत्रुता के कारणों और युद्धों का दिग्दर्शन कराए देते हैं—

शत्रु	शत्रुता के कारण तथा परिणाम
(१) भोराभीमंग (गुजरात का राजा)	पृथ्वीराज के सामंत कन्ह ने एक बार इसके भाइयों को कहा-सुनी में मार डाला। यह सलष की कन्या इंछिनी को चाहता था, पर पृथ्वीराज ने उससे विवाह कर लिया। इसने पृथ्वीराज के पिता को एक युद्ध में मारा। अंत को, कई युद्धों के बाद, पृथ्वीराज ने इसे मार डाला। पृथ्वीराज द्वारा भीमंग-वध अनैतिहासिक है।
(२) नाहरराय (मंडोवर का राजा)	एक विवाह के कारण इससे युद्ध हुआ। इसने प्रथम अपनी कन्या पृथ्वीराज से ब्याहने को कहा था, पर पीछे यह नट गया। अंत को यह पराजित हुआ, और विवाह संपन्न हुआ।

गए, तो इससे रासो के प्रतिकूल कुछ भी सिद्ध नहीं होता, वरन् यह बात उसकी प्राचीनता-व्यंजक है। यह तो प्रकट ही है कि दो-तीन शताब्दियों से ऐसे सब क्षत्रिय निर्विवाद रूप से अपने को अग्नि-वंशी कहते आए हैं। यदि यह बात पहलेपहल रासो द्वारा सोलहवीं शताब्दी में ही उठाई गई होती, तो इतना शीघ्र सर्वमान्य कभी न हो जाती। चंद्र-वंशी नानूराम के पास सं० १४५५ की लिखी हुई रासो की एक प्रति पंडित हरप्रसाद शास्त्री द्वारा कही गई है। यह बात यदि सत्य हो, तो रासो की प्राचीनता बहुत पीछे जाती है।

रासोकार पृथ्वीराज द्वारा शिहाबुद्दीन का सात बार हारना कहता है, किंतु इतिहास उसका एक ही बार हारना लिखता है। इतिहास बहुधा मुसलमानी कथनों पर अवलंबित है, जिनमें उनकी हीनता का घटाना स्वाभाविक था। फिर भी यह ऐतिहासिक अशुद्धता समझ पड़ती है, जो क्षेपकों के कारण हो सकती थी, अथवा चंद द्वारा अपने स्वामी के अनुचित प्रताप-कथन का फल हो। पृथ्वीराज की अवस्था, उनके विवाह तथा कुछ और बातों में भी ओझाजी ने ऐतिहासिक भूलें दिखलाई हैं। संभव है, अधिक ग्रंथ-पठन से उनका समर्थन हो सके। विवाहों के विषय में कुछ अत्युक्ति अवश्य समझ पड़ती है। फिर भी, संभव है, कुल-नामादि एकमात्र साधारण भूल के कारण हो ओझाजी पूरे निबंधों को अशुद्ध कहते हों। पुरातत्त्ववेत्ता लोग इस विषय पर जाँच करेंगे। अपने को तो साहित्य से प्रयोजन है। ऊपर के कथनों से यह अवश्य सिद्ध है कि रासो के कुछ अंश पृथ्वीराज के समकालीन और कुछ क्षेपक हैं। भाषा और घटनाओं पर पूर्ण विचार करने से इन दोनो भागों की मात्राएँ न्यूनाधिक सिद्ध हो सकती हैं। फिर भी इतना हर हालत में दृढ़ है कि चंद पृथ्वीराज का समकालीन था, और उसने

तथा उसके पुत्र जल्हन ने रासो बनाया, जिसमें पीछे के कवियों ने थोड़ा-बहुत घटाया-बढ़ाया है। इससे अधिक छान-बीन हम रासो के ही पंडितों पर छोड़ते हैं।

यह बड़ा भारी ग्रंथ लगभग २५०० पृष्ठों का है, और इसमें कई प्रकार के वर्णन आए हैं, जिनमें युद्ध और शृंगार प्रधान हैं। मंगलाचरण में कवि ने एक छंद में आदि-देव, गुरु आदि की स्तुति करके फिर तीन षट्पद में (जिन्हें वह कवित्त कहते हैं) धर्म, कर्म एवं मुक्ति की स्तुति की है। इसके पीछे वह पुराने कवियों की स्तुति करते हैं, जिनमें व्यास, शुकदेव, श्रीहर्ष, कालिदास, डंडमाली और जयदेव का उल्लेख हुआ है। इनमें सब कवि संस्कृत के हैं, पर शायद डंडमाली प्राकृत का कवि हो। चंद ने कहा है कि इसने गंगा-नदी का वर्णन किया। यथा—

सतं डंडमाली उलाली कवित्तं ; जिनै बुद्धि तारंग गंगा सरित्तं।

तदनंतर चंद की स्त्री उनसे प्रश्न करती है, और तब वह ईश्वर-प्रभाव, पुराणादि का वर्णन करते हैं। ईश्वर के संबंध में चंद ने प्रथम तो एक निराकार, निर्गुण ब्रह्म का कथन किया, पर अंत में ब्रह्मा की उत्पत्ति कहकर अन्य देवतों की भी चर्चा कर दी। आपने यहाँ विष्णु एवं शिव का विवरण नहीं दिया। ईश्वर-वर्णन १८१ पृष्ठ पर अच्छा है। उक्त वंदना से, उदाहरण-स्वरूप, दो पद्य नीचे लिखे जाते हैं—

साटक (शार्दूलविक्रीड़ित छंद)

आदीदेव प्रनम्य नम्य गुरुयं बानीय बंदे पयं
सिष्टं धारनधारयं बसुमती लच्छीस चर्नाश्रयं ;
तंगुं तिष्ठति ईस दुष्ट दहनं सुनाथ सिद्धि श्रयं
थिर्चर्जंगम जीव चंद नमयं सर्बेस बर्दामयं।

यह रासो का प्रथम छंद है।

अंत में यह फिर बदरीनारायण को चला गया। अनंगपाल की भी ऐतिहासिक शुद्धता संदिग्ध है।

(८) कर्नाटक-युद्ध — पृथ्वीराज ने विजय-लालसा से यह युद्ध ठाना था। अंत को कर्नाटकी नाम की एक रूपवती वेश्या पाकर यह वहाँ से प्रसन्नता-पूर्वक लौट आया।

(९) गज्जरराय — यह भीम का साथी था। इसने पृथ्वी-राज के बहनोई समरसिंह की राजधानी चित्तौर पर धावा किया था। पृथ्वीराज ने इसे भी हराया।

(१०) भीम (उज्जैन का राजा) — इसने पहले अपनी कन्या इंद्रावती का विवाह पृथ्वीराज से करने का वचन दिया, पर पीछे से यह नट गया। युद्ध में इसे हराकर पृथ्वीराज ने यह विवाह किया।

(११) भान (काँगड़ा का राजा) — इसने पृथ्वीराज के दूत का अनादर किया। यह पराजित हुआ, और अपनी कन्या इसने पृथ्वीराज को ब्याह दी।

(१२) पंचाइन (चंदेरी का राजा) — यह रणथंभौर के राजा भान की कन्या हंसावती से विवाह करना चाहता था, पर भान ने अपनी कन्या पृथ्वीराज को ब्याह दी। इसी पर पंचाइन से युद्ध हुआ, और वह पराजित हुआ।

(१३) बालुकाराय — यह जयचंद का आश्रित राजा था। उन्हीं के कारण पृथ्वीराज से दो बार लड़ा, और अंत को मारा गया।

(१४) परिमाल (महोबे का राजा) कन्नौज से संयोगिता-हरणवाले युद्ध से पलटते समय पृथ्वीराज के थोड़े-से सामंत राह भूलकर महोबे चले गए, और झगड़ा होने पर कुछ को परिमाल ने वध कर डाला। इस पर पृथ्वीराज ने प्रचंड कोप करके परिमाल के हितू मलिखान को सिरसा में मारा, और महोबे पहुँचकर, आल्हा, ऊदन आदि को पराजित करके, अथच परिमाल को जीतकर, महोबा खोद डाला। इस युद्ध में पृथ्वीराज की सेना को भी बड़ी हानि हुई।

इन सब राजाओं का उस काल अस्तित्व तथा सब कथित युद्धों की सत्यता इतिहास से स्थापित नहीं होती। समझ पड़ता है कि इन वर्णनों के कई भाग प्रक्षिप्त हैं।

इस वर्णन से विदित होता है कि चौदह प्रधान शत्रुओं में नव से शत्रुता का कारण पृथ्वीराज के ब्याह थे। यदि इन्हें विवाह करने का इतना भारी शौक़ न होता, तो ४३ वर्ष की ही अल्पावस्था में ऐसा पराक्रमी राजा शिहाबुद्दीन से हारकर काल-कवलित न होता, और भारत उस समय यवनों के अधिकार में न जाता। पृथ्वीराज जितने पराक्रमी, शूर तथा उदार थे, उतने ही अदूरदर्शी तथा हठी भी। इन्हीं कारणों से बड़े-बड़े सामंत और बृहत् सेना रखने पर भी एक क्षुद्र शत्रु से हारकर यह राजपाट और जीवन तक खो बैठे। पृथ्वीराज ने दस विवाह किए, और एक वेश्या को रक्खा। रासो के देखने से प्रकट होता है कि इनके प्रायः तीन ही काम थे—विवाह, आखेट और युद्ध।

ऊपर कहा जा चुका है कि रासो का प्रथम संपादन सं० १६४० के लगभग हुआ, और कुल तीन संपादन हुए। इनमें क्षेपक बहुत मिल

(३) ज़ियाउद्दीन मुद्गलराय मेवाती	इसने कर नहीं दिया था, पर इसे पराजित होना पड़ा।
(४) शिहाबुद्दीन ग़ोरी	इसकी चित्ररेखा नाम की एक परम सुंदरी वेश्या थी। इसका भाई हुसैन उससे फँस गया। इस पर इन दोनो में खटपट हुई, और हुसैन पृथ्वीराज की शरण आया। इसी पर ग़ोरी से बहुत बार युद्ध हुए, और सदा वह हारा। कई बार पकड़ा भी गया, पर दुर्भाग्य-वश पृथ्वीराज ने उसे दंड लेकर हर बार छोड़ दिया। इतिहास इसका एक ही बार पकड़ा जाना कहता है। पृथ्वीराज ने अपनी बहन पृथाकुँअरि का विवाह जब रावल समरसिंह से किया, तब इनके सब सामंतों के साथ शिहाबुद्दीन ने भी रावल को दहेज़ दिया। अंत को, ११९३ ई० में, उसने राजा को युद्ध में पकड़ लिया, और मार डाला। उसके बाद वह भारत का बादशाह हो गया। फिर पश्चिम के घक्करों ने उसे भी मार डाला, पर उसके दास कुतबुद्दीन के हाथ से भारत का राज्य नहीं छूटा। इस भाग के कुछ कथन रासो पर न होकर इतिहास पर आश्रित हैं।
(५) कुमोदमनि (कुमाऊँ का राजा)	यादवराज विजयपाल की पुत्री पद्मावती का इससे विवाह होता था, पर पृथ्वीराज ने इसे पराजित करके पद्मावती से अपना विवाह किया।

(६) जयचंद (कन्नौज का राजा)

यह भी वैसे ही अनंगपाल का दौहित्र था, जैसे पृथ्वीराज, पर उस (अनंगपाल) ने राज्य पृथ्वीराज ही को दिया। देवगिरि के राजा यादवराज की कन्या शशिव्रता से इसके भतीजे का विवाह होता था, पर पृथ्वीराज ने शशिव्रता को हरकर उससे अपना विवाह किया। इन दोनो बातों से, विशेषकर अंतिम बात से, कुढ़कर जयचंद ने एक यज्ञ में पृथ्वीराज की मूर्ति का अपमान किया। इस पर पृथ्वीराज ने यज्ञ विध्वंस कर डाला, और उसकी पुत्री संयोगिता को हरकर उससे विवाह किया। इन्हीं कारणों से जयचंद ने शिहाबुद्दीन से मिलकर, अदूरदर्शिता से पृथ्वीराज का सर्वनाश करवा डाला, पर दूसरे ही साल, ११६४ ई० में, शिहाबुद्दीन ने इसे मारकर बनारस का भी राज्य ले लिया। जयचंद के वर्णन में रासो में कई ऐतिहासिक भूलें हैं।

(७) अनंगपाल

यह पृथ्वीराज का नाना था। इसने दिल्ली का विशाल राज्य प्रसन्नता-पूर्वक पृथ्वीराज को देकर बदरीनाथ की यात्रा की, पर इसके वंशधर तोंवर राजपूतों ने पृथ्वीराज से अप्रसन्न होकर इसे बहकाया, और उनसे लड़ा दिया। इसके पराजित होने पर पृथ्वीराज इसके पैरों पर गिर पड़ा, और उसने इसे बहुत प्रसन्न किया।

पकड़ा या जीता हो, जिसे घटाकर मुसलमानी ऐतिहासिकों ने एक ही बार रक्खा हो, और चंद ने बढ़ाकर कई बार कर दिया हो। एक यह अंतर अवश्य पड़ता है कि चंद ने शिहाबुद्दीन को सुल्तान कहा है, किंतु जब तक उसने पृथ्वीराज को जीता, तब तक वह सुल्तान का भाई-मात्र था। उस सुल्तान के मरने पर शिहाबुद्दीन पीछे से सुल्तान हुआ। यह अवश्य है कि वह शिहाबुद्दीन को बहुत अधिक मानता था, जिससे संभव है, उस काल के हिंदुओं को उसके सुल्तान होने का ही भ्रम हो गया हो। संभव है, शत्रुओं पर आतंक जमाने को उसके सैनिक उसके सुल्तान न होने पर भी उसे सुल्तान ही कहते हों, जिससे चंद को भ्रम हो गया हो।

पृथ्वीराज के समसामयिक जिन १४ लोगों के नाम ऊपर दिए गए हैं, उनमें से गुजरात-नरेश भीम, मंडोवर के नाहरराय, शिहाबुद्दीन ग़ोरी, क़न्नौज के जयचंद, और महोबे के राजा परिमाल ऐतिहासिक पुरुष हैं। कुमाऊँ-पति कुमोदभानु, चंदेरी के पंचाइन, उज्जैन-पति भीम, काँगड़ा-पति भान और बालुकाराय की चर्चा इतिहास में नहीं है। मुद्गलराय मेवाती और गज्जराय साधारण पुरुष-मात्र थे। पृथ्वीराज के ससुर आबू-पति सलष का पता इतिहास में मिलता है। इतिहास बनारस को जयचंद की राजधानी बतलाता है, न कि क़न्नौज को, किंतु समझ पड़ता है कि क़न्नौज उसकी दूसरी राजधानी थी। चंद कवि ने पृथ्वीराज का वर्णन विशेषकर दिल्ली के संबंध में किया है, किंतु इतिहास का कथन है कि पृथ्वीराज अजमेर में राज्य करते थे, और उनकी ओर से गोविंदराय दिल्ली का शासन-चक्र चलाते थे। चंद ने महाराजा सोमेश्वर के समय में दिल्ली में पृथ्वीराज का विशेष वर्णन किया है। आपने यह भी लिखा है कि पिता के पीछे पृथ्वीराज दिल्ली तथा

अजमेर, दोनो के स्वामी हुए। इतिहास में पृथ्वीराज-कृत कर्नाटक-युद्ध का उल्लेख नहीं है।

जो मोटी-मोटी ऐतिहासिक भूलें रासो में हैं, वे प्रक्षिप्त वर्णनों के कारण समझ पड़ती हैं। बहुत-से वर्णनों के मुख्यांग ठीक हैं तथा उपांग संदिग्ध। संवतों में भी कई गड़बड़ हैं, जो क्षेपकों के कारण हो सकते हैं।

रासो प्रायः संवत् १२२५ से १२४८ तक बनता रहा। यह वह समय था, जब प्राकृत अपभ्रंश भाषाओं का अंत हो रहा था, और हिंदी का प्रचार। प्राकृत का अंतिम व्याकरण-कर्ता हेमचंद्र हुआ, जिसकी मृत्यु संवत् १२२६ में हुई। अपने समयानुसार रासो में प्राकृत-मिश्रित भाषा है, पर चंद कवि शब्दों को प्रायः शुद्ध रूप में भी लिखते थे। अपनी भाषा के विषय में उन्होंने यह श्लोक कहा है—

> उक्तिधर्मविशालस्य राजनीतिनवं रसम्;
> षटभाषाश्च पुराणञ्च कुरानं कथितं मया।
>
> (रासो, पृष्ठ २३)

चंद की भाषा में माधुर्य एवं प्रसाद की मात्रा कम तथा ओज की विशेष है। प्राकृत-रूप-मिश्रित भाषा लिखने के कारण चंद ने अनुस्वार से द्वितीया के स्थान पर प्रथमा का भी काम ले लिया है। इनकी भाषा से इनका अगाध पांडित्य प्रकट होता है। इन्होंने संस्कृत के अच्छे-अच्छे शब्द लिखे तथा पुराणों की कथाओं का अच्छा ज्ञान दिखाया है, यद्यपि संस्कृत के ग्रंथ उस समय अनुवादित नहीं हुए थे। इनकी भाषा ऐसी कठिन है कि एकाएक पूरी समझ में नहीं आती। कठिन छंदों का प्रायः आशय-मात्र समझ में आता है। पूर्णतया समझने को परिश्रम की आवश्यकता है। इनकी भाषा में कई भाषाओं का मिश्रण एवं प्राकृत-प्राधान्य होने के कारण वह

गए, और ग्रंथ में छान-बीन, घटाव-बढ़ाव प्रचुरता से हुए। ऐसी दशा में कुछ ऐतिहासिक अशुद्धियों का आ जाना स्वाभाविक था। अतएव रासो में लिखे हुए उपर्युक्त कथनों को जब ऐतिहासिक घटनाओं से मिलाया जाता है, तब कुछ गड़बड़ पड़ती ही है। हमने अपने भारतीय इतिहास के द्वितीय भाग में, पृष्ठ ३६६ से ३७२ पर्यंत, चौहानों के वंश का हाल लिखा है। उसके देखने से विदित होगा कि महाराजा पृथ्वीराज के निकटवाले पूर्व-पुरुषों के विषय में भी ऐतिहासिकों में मत-भेद है, और उनका वर्णन, विविध आधारों में, अनेक प्रकार से है। टाड साहब राजपूताने के हिंदू ऐतिहासिकों के आधार पर चलकर इस प्रकार पृथ्वीराज की वंशावली लिखते हैं—बीसलदेव—सारंगदेव—आनाजी—सोमेश्वर—पृथ्वीराज (चर्महरदेव भाई)—रैनसी। यह वंशावली चंद के वर्णन से बहुत कुछ मिलती हुई है। उधर चित्तौर में एक शिलालेख मिला है, जिसके अनुसार अजय के पुत्र आना सं० ११५० वि० में जीवित थे। बीसलदेव इन्हीं आना के पुत्र कहे गए, जिनके पौत्र पृथ्वीराज थे। स्मिथ महाशय किसी काश्मीरी-ग्रंथ के आधार पर पृथ्वीराज को बीसलदेव का भतीजा मानते हैं। डफ़ महाशय ने अजमेर के चौहान-राजों की जो वंशावली लिखी है, उसमें चार विग्रहराज लिखे हुए हैं, जो नरेश नंबर ३, १२, १८ तथा २२ थे। इन्हीं में एक बीसलदेव था। तीसरे विग्रहराज के पुत्र प्रथम पृथ्वीराज लिखे हैं, जिनके पुत्र अजयराज या सल्हण थे। कहीं-कहीं आनाजी के पुत्र जयसिंह भी अजयराज लिखे हैं। अजयराज के पुत्र अरुणराज थे, जिनके पुत्र चौथे विग्रहराज तथा दूसरे पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर लिखे हुए हैं। डफ़ ने अजयराज का संवत् ११८७, अरुणराज का १२०७ एवं दूसरे पृथ्वीराज का १२२७ लिखकर चौथे विग्रहराज तथा सोमेश्वर के बीच पृथ्वीभट

नाम का एक और राजा लिखा है। जान पड़ता है, स्मिथ महाशय ने चौथे विग्रहराज को असली बीसलदेव मानकर पृथ्वीराज को बीसलदेव का भतीजा लिखा है। वास्तव में तीसरे विग्रहराज बीसलदेव थे। यदि उनके पुत्र पहले पृथ्वीराज का उपनाम आनाजी मानें, तो चंद के अनुसार भी वंशावली प्रायः मिल जाती है, क्योंकि ऐसी दशा में आनाजी के पुत्र अजयराज मिलते हैं, और उनके अरुणराज, जिनका दूसरा नाम आनंददेव हो सकता था। इन्हीं के पुत्र सोमेश्वर थे, जो पृथ्वीराज के पिता थे। इस हिसाब से केवल इतना भेद पड़ता है कि चंद ने आनाजी को बीसलदेव का पौत्र लिखा है और डफ़ ने पुत्र। बीसलदेव के पुत्र सारंगदेव ने बहुत कम समय तक राज्य किया, और वह ढूँढा द्वारा मारे गए। उन्हीं के पुत्र आनाजी थे। संभव है, थोड़े ही काल तक राज्य करने के कारण उनका नाम डफ़ की नामावली से छूट गया हो, और उनके स्थान पर उनका पुत्र बीसलदेव पौत्र न लिखा जाकर पुत्र लिख दिया गया हो। इस प्रकार की क्षुद्र भूलें पौराणिक राजवंशों में भी मिलती हैं। हर हालत में अंतर यदि है भी, तो बहुत थोड़ा। बीसलदेव के पूर्व की वंशावली में चंद ने पूरे नाम लिखने का प्रयत्न न करके, केवल कुछ विशेष नाम-मात्र गिना दिए हैं। अतएव, हमारी समझ में, ऐतिहासिक विचारों से चंद-कृत पृथ्वीराज की वंशावली थोड़ी-बहुत मिल जाती है। फिर भी उपर्युक्त कई कारणों से रासो के लिये यह कोई भारी प्रश्न नहीं है।

अब पृथ्वीराज-संबंधी घटनाओं के विषय में चंद ने जो लिखा तथा उनके समसामयिक लोगों का जो कथन किया, उस पर विचार करना शेष है। चंद बरदाई ने पृथ्वीराज द्वारा शिहाबुद्दीन का कई बार पकड़ा जाना लिखा, किंतु इतिहास में ऐसा होना एक ही बार माना गया है। हो सकता है, पृथ्वीराज ने उसे दो-तीन बार

वर्तमान हिंदी से बहुत भिन्न है, और मिलित वर्णों तथा अनुस्वारों का बाहुल्य एवं चंदह, नरिंदह आदि शब्दों के प्राचीन रूपों का प्रयोग होने से, पढ़ने में, एक प्रकार की दूसरी ही भाषा जान पड़ती है, परंतु फिर भी, ध्यान-पूर्वक देखने पर, वह वर्तमान हिंदी से बहुत कुछ मिलती-जुलती भी है। चंद ने उस समय की प्रचलित हिंदी लिखी, और हम लोग आजकल की हिंदी लिखते हैं। क्षेपकों में पीछे की भी हिंदी है। यह मानना ही पड़ेगा कि उस समय के देखते वर्तमान हिंदी ने बड़ी उन्नति कर ली है; पर चंद की हिंदी अब भी अपने बालकपन से ही एक अलौकिक आनंद देती है। जन्म-ग्रहण के थोड़ा ही पीछे हिंदी ने जो रूप पाया, उसका प्रत्यक्ष ऐतिहासिक प्रमाण चंद की हिंदी है।

यह कवि संस्कृत के सुप्रसिद्ध कवि श्रीहर्ष के समकालिक थे। इन्होंने श्लोकों से मिलते हुए कई प्रकार के छंद कहे हैं। आपके साटक एक प्रकार से हिंदी के श्लोक हैं। इनकी मात्रा छंद की कविता में बहुत है, और ये मनोहर हैं। षट्पद छंद का भी चंद ने विशेष आदर किया है। ये छंद अपनी मनोहरता के कारण आदरणीय भी हैं। इनके अतिरिक्त चंद ने बहुत-से छंद लिखे हैं, और किसी को इतनी दूर नहीं चलाया कि वह अरुचिकर हो जाय। चंद ने कथा और छंद ऐसे क्रम-बद्ध प्रकार से कहे कि जान पड़ता है, वह ही इस प्रथा के चलानेवाले नहीं हैं। वरन् यह रीति उस समय के काव्यों में स्थिर थी। चंद ने एक-आध छंद ऐसा भी कह दिया, जिसका अब पता लगना कठिन है। यथा वथूवा-छंद, रासो, पृष्ठ ८। पंड्याजी ने इसे रिड्डक-छंद माना है। उदाहरणार्थ यह लिखा जाता है—

प्रथम सु मंगल मूल श्रुतबिय, स्मृति सत्य जल सिंचिय,
सुतरु एक घर ध्रम्म उभ्यो;

त्रिषट साष रम्मिय त्रिपुर, बरन पत्त मुख पत्त सुभ्यो।
कुसुम रंग भारह सुफल, उकति अलंब अभीर;
रस दरसन पारस रमिय, आस असन कवि कीर।

चंद ने श्लोक भी अच्छे-अच्छे, संस्कृत में, कहे हैं।

इन महाकवि ने युद्ध और शृंगार-रस का कथन तो उत्कृष्ट किया ही है, अन्य प्रकार के भी अनेकानेक बढ़िया वर्णन रासो में वर्तमान हैं।

आपने कई स्थानों पर, गोस्वामी तुलसीदास की भाँति, देवताओं की विनतियाँ बहुत विशद कही हैं। यथा शिव-स्तुति (४३ तथा ७७ पृ०), ईश्वर-स्तुति (१६० पृ०), भूमि-देवी-वर्णन (५८६ पृ०), सूर्य आदि के वर्णन (१३१६ तथा १३१७ पृ०), देवी-स्तुति (४१२ पृ०)। चंद ने नीति, वसंत (१२८७, १५०४, १५०७ पृ०), उपवन (५५३ पृ०), बाग़ (५१२ पृ०), पक्षी (२४२ पृ०), तलवार (१२२५ पृ०), मृगया (१५१२, ४७६ पृ०), सवारी (५११ पृ०), ख़ेमे (४८५ पृ०), सिंह (५७८ पृ०), वन, वर्षा, शरद् (७६४ पृ०), पकवान, भोजन, राज्याभिषेक (५१६ पृ०), विवाह-तैयारी (६४१ पृ०), नख-शिख (५६२ पृ०) आदि सभी परमोत्कृष्ट कहे। पृष्ठ १०८४, १०८७ में पृथ्वीराज की रानियों के वर्णन, ८०१-८०२ में नख-शिख, ७७१, १२८१, १३४३ में शृंगार-रस आदि के अच्छे कथन हैं। पृथ्वीराज की भगिनी पृथाकुँअरि (६१५ पृ०) के चित्रण में भी नख-शिख (६१२ पृ०) अच्छा कहा गया है। हंसावती के कथन में संयोग-शृंगार मनोहर है। वियोग का भी यत्र-तत्र कथन विशद हुआ है। षट्ऋतु (१५७८, १५८८ पृ०) और नख-शिख (१२४२, ५६३, ५६६ पृ०) चंद ने कई बार और कई प्रकार से कहे। १५६ पृष्ठ पर पृथ्वीराज की शोभा वर्णन करने में कवि ने उपमाएँ अच्छी-अच्छी दीं। कैमास जिस स्त्री

पर लुब्ध होकर, कुछ दिनों के लिये पृथ्वीराज का साथ छोड़, भोराभीमंग का साथी हो गया था, उसके वर्णन का एक छंद यहाँ लिखते हैं—

चंद बदन, चख कमल, भौंह जनु भ्रमर गंधरत ;
कीर-नास, बिंबोष्ठ दसन दामिनी दमकत।
भुज मृनाल, कुच कोक, सिंह-लंकी, गति बारुन ;
कनक कंति-दुति देह, जंघ कदली-दल आरुन।
अलसंग नयन मयनं मुदित, उदित अनंगह अंग तिहि ;
आनी सुमंत्र-आरंभ-बर, देखत भूलत देव जिहि।

पृथक्-पृथक् वर्णनों में इन कविरत्न ने उपमा, रूपक आदि के भी परमोत्कृष्ट कथन किए हैं (पृष्ठ ७७३, ७७४, ८२१, ११२४, ११२५, १२०४, १२०५, १४१८ आदि)।

चंद ने प्रभात एवं सूर्य का कई बार बढ़िया वर्णन किया (१२११, १२१७, १२२५, १२२३ पृ०)। दो-चार स्थानों पर योगियों की क्रियाओं का भी विवरण है (१४५०, १२३५, १२४६ पृ०)। पृथ्वीराज के गुण तथा कीर्ति आदि के बहुत अच्छे वर्णन कई बार किए गए हैं (१२८४, १२८१, १४५५ पृष्ठ में तेज और आकार का निर्णय आदि)।

इन कविरत्न ने शोभा को हरएक स्थान पर देखा है। क्या देवता, क्या स्त्री, क्या सिंह, क्या मृगया, क्या युद्ध, क्या क़न्नौज आदि, सभी स्थानों और बातों में उसका ध्यान नहीं छोड़ा, और कविता में भली भाँति सन्निवेश किया (पृष्ठ १४७२, १६२३, १६६७, १५७३, १५७४, ५५०, ५५२, ५७३, ५७८, ५७६, ५६६ आदि)।

यह युद्ध-प्रधान ग्रंथ है। अतः इसमें युद्ध का वर्णन बहुत बार और कितने ही प्रकार का हुआ है (पृष्ठ ७०६, ७०८, ८१५,

१२२५, १२२६, ११३४, ११३५, १३७५, १३७६, १३८१, १३८२ आदि)। चंद ने युद्ध तो प्रायः उचित कहे हैं, पर कवियों की विस्तारकारिणी प्रकृति के वशवर्ती होकर सेना-संख्या में अत्युक्ति कर दी है। जयचंद एवं सुलतान के दल की गणना में इन्होंने क्रमशः ३० और १८ लाख मनुष्य कहे हैं, जो सर्वथा असंभव है।

इन महाकवि ने स्त्रियों के रूप, शृंगार, शोभा आदि के भी कई बार श्लाघ्य वर्णन किए हैं (पृष्ठ ५५०, ५६२, ५६६, ५७३, ६४५, ६४६, ६५२, ६५३, ७७६, ७८१, ८०१, ८०४, १२४२, १२४३, १०८४, १०८७, १२८१, १३०४, १३०५, १३५३, १४८२ आदि)।

चंद ने शिव का भी शृंगार अच्छा कहा (पृष्ठ १५७३, १५७४)। इन्होंने ये और ऐसे-ही-ऐसे अन्य सैकड़ों वर्णन रासो में बड़ी उत्तमता से किए। पृष्ठ आदि का जहाँ हवाला है, वहाँ नागरी-प्रचारिणी सभावाली रासो की प्रति का है।

चंद बरदाई जैसे भाषा के प्राचीन कवि थे, वैसे ही संस्कृत के आदि-कवि महर्षि वाल्मीकि की भाँति वर्णन भी प्रायः पूर्ण और मनोहर करते थे। काव्य-प्रौढ़ता में चंद का पद बहुत बड़ा हुआ है, और जितने विषयों के इन महाकवि ने उत्कृष्ट तथा पूर्ण कथन किए हैं, उतने के प्रायः अन्य भाषा-कवियों ने नहीं किए। चंद को नवरत्नों में रियायत से अथवा पुराने कवि होने के कारण नहीं स्थान दिया गया है, वरन् इनकी काव्य-प्रौढ़ता ही के कारण इन्हें यह सम्मान मिला है। अब यह जाना-माना गया है कि रासो का बृहदंश सत्रहवीं शताब्दी का है, और वह चंद के असली भागों से बहुत कुछ हिल-मिल गया है। यहाँ जो चंद का वर्णन है, वह रासो का समझना चाहिए। ये चंद अवश्य ही, और उनके प्राचीन कथन रासो में हैं ही। यदि कोई परिश्रम करके रासो के प्राचीन

भाग अलग छापे, तो समालोचना भी अधिक मान्य बने । अभी तो पूरे रासो पर साहित्यिक कथन किए गए हैं । रासो भी हिंदी का एक अमूल्य रत्न है, और प्रत्येक हिंदी-रसिक को इसे पढ़ना चाहिए । इस लेख के भाषा-संबंधी भाग में रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास के एक उस लेख से भी सहायता ली गई है, जो उन्होंने कृपया हमारे पास भेज दिया था ।

अब चंद की कविता के और भी उदाहरण आगे लिखे जाते हैं—

भयो जनम पृथिराज द्रुग्ग करहरिय सिखर गुर ;
भयो भूमि भुरचाल धमकि-धसमसिय अरिन पुर ।
गड़न कोट सेलोट नीरसरितन बहु बड्ढिय ;
भौचक भय भूमिया चमक चक्रिन चित चड्ढिय ।
खुम्मान थान खल-भल परिय ग्रंभपात भय ग्रंभनिय ;
बैताल बीर बिकसे मनहु हुंकारत सह देव निय ।

× × ×

करिय नवनि कवि चंद छंद अलेक पड्ढि कर ;
तूँ सुरपति सम कुँअर देव सामंत समो बर ।
अगिन कन्ह जल चंद पवन गोइंद प्रबल बल ;
धरा चंद बल धीर तेज चामंड जलन खल ।
रवि तेज कहर कूरंभ सब चंद अमृत आबू धनी ;
दिगपाल सबल सामंत सब रहै दबिव धरती धनी ।

× × ×

पीत बसन आरुहिय रत्त तिलकावलि मंडिय ;
छुट्टिय चचल चाल अलक गुंथिय सिर छंडिय ।
सीसफूल मनिबंध पास नग सेत रत्त बिच ;
मनो कनक-साखा प्रचंड काली बप्पम रुच ।

मनु सोम सहायक राहु होइ कोटि भान सोभा गही ;
अद्भुत द्वंद्य ससि अहि गल्यो साथ सुरंग भनावही ।

× × ×

हरितकनककांति कापि चंपेव गोरी ;
रसितपदुमगंधा फुल्ल-राजीव-नेत्रा ।
उरजजलज-सोभा नाभि-कोसं सरोजं ;
चरन-कमलहस्तीलीलया राजहंसी ।

× × ×

मुक्ताहार-बिहार सारसुबुधा अबुधा बुधा गोपनी ;
सेतं चीर सरीर नीर गहिरा गौरी गिरा जोगनी ।
बीनापानि सुबानि जानि दधिजा हंसा रसा आसिनी ;
लंबोजा चिहुरार भार जघना बिघना घना नासनी ।

× × ×

तस्मै स्यामसुरंगवामनयनं मनमत्थरक्षी कला ;
सुष्य धामय तेज दीपक कला लावन्य लच्छी अहा ।
रूपं रंजितमंजुमाल कलया बासंत-आवली ;
अव्वं कच्छुन काम धीरज गवै धन्यौ दुती दंपती ।

× × ×

वेस्या बंछित भूप रूप मनसा श्रंगारहारावली ;
सोयं सूरति लच्छि अच्छि लगु न वेली सुकामावली ।
का बनैं कबि उक्ति जुक्ति मनयं त्रैलोक्यमं साधनं ;
सोयं बाल तिरत्त उष्ट बिद्रुमं कामोद जोगेश्वरं ।

× × ×

क्रम उघरीय किपाट चौर भग्गंत रोर तनु ;
चक चक्की संमिलहि उघरि सतपत्र मत्त जनु ।
भृंगभृंगि सम भ्रमहि बजि मारुत सौरभ चलि ;
गय उडगन ससि घटिय बढ़िय आकास किरनिकर ।

सँबिधि सुरंग ब्यापार चन रबि रत्तौ भुष दिष्षयौ ;
भासकर सहसकर कंमकर नव कर कमुद बिलष्षयौ ।
कंठय भूषन छंद प्रकासय ; बारह अच्छरि बिमल भासय ।
अठय मंजुन मत्त प्रमानय ; कंठय भूषन छंद बषानय ।
उग्गिरतं रत अंमर भासय ; भानु सुदेव दिवालय थानय ।
पाप हरै तन क्रम्म प्रनासय ; कौ अम तात अमुलय भासय ।
तात बरन्नय पून्न पुरय ; अंधकमोदनि को मत सूरय ।
अंग जवासुर ग्रीषम थानय ; अर्क पलासन काम बिरामय ।
कौ सुनि तात सर्नो सर सूरय ; भासकरै करुना मति पूरय ।
है कर संस्रति भाष प्रकारय ; तारय नाथ दिनं मति तारय ।
है वर अोष करं गिर पारय ; मान्हुँ देव दिवालय साजय ।
भंजन कुंजअसूषत षंडय ; सो धरि ध्यान धरंत बिरंचय ।
एकघरी धरि ध्यान न दिष्षय ; मुक्ति सलच्छिय संपन अष्षिय ।
सरद चंद प्रतिब्यंब तिमर तान गयंद घर ;
ब्रह्म बिष्णु अंजुज उदत आनंद नंद हर ।
इक चक्र निहुँ दिसै चलत दिगपाल तुंग तन ;
कमल पानि सारी अरुन्न संसार जियन जन ।
उत्तुंग बीर छुच्छुव पवन मिरारंभ सप्तह सुमुष ;
कबि चंद छंद इमि उच्चरे हरो मित्त दोइ दीन दुष ।

× × ×

सिसिर समय दिन सरपगत मधु माधव बल मंडि ;
भार कष्टदम बेल तरु पत्र पुरातन छंडि ।
नूतन रत मंजरि धरिय परिमल प्रगटि सुबास ;
छत्र रुचिर छबि काम जनु अलि तुट्टत सुर रास ।
आगम बसंत तरु पत्र झार ; उठि किसल नइय रँग रत्तधार ।
अंकुरित पत्र गहरति डार ; लहलहत जंग अट्ठार भार ।

मधु पुंज गुंज कमलनि अधीन ; जनु काम कोक संगीत कीन ।
तरु तरनि कूकि कोकिल सभार ; बिरहिनी दीन दंपति अधार ।
कलरव करंत षग-द्रुमति शोर : निसि बीति सिसिर रतिराज भोर ।
त्रिय पुरुष चषनि रुचि अनँग बढ्ढि ; दंपति अनंग बिरहिनी जढ्ढि ।
इम अवनिराज रिति गवन कीन ; नव मुग्ध मध्य कंतन अधीन ।
ग्रह-ग्रहनि गान गायंत नारि ; मन हरित मुग्ध मध्या धमारि ।
तन भरति रत्त रँग पीत पानि ; हिय मोद प्रगट तन धरन जानि ।
इम हुअ बसंत आगम अवन्नि ; मदमत्त करिय जनु गजनवन्नि ।
मसि भींज दिननि पिय तन बनंग ; अवतार अवनि जनु धरि अनंग ।
मुष हुर्ष गंडमंडल प्रकास ; फरकंत अधर मधु रस बिलास ।
बिगसंत कमल छबि नयन मंडि ; बंधूक अरुन रुचि षंडि छंडि ।
मधुमास सुक्क निसि रुचिर चंद ; यहि गंध पवन छबि सीत मंद ।
हुअ रोम पंचसर अंच देह ; कलमलिय उवलिय बनिता सनेह ।
निसि प्रथम प्रहर तट गवन कीन ; सुभ सोभ बाग मन हुअ अधीन ।
सगपन्न धार इक लिय चढ़ाइ ; जललैब इक्क अँग पवन पाइ ।
पिष्षे सुबाग बानिक रसाल ; निरषत नयन सोभा बिसाल ।

× × ×

एक सुपुत्रिय पंग दीय दच्छिन सुदेव ग्रह ;
मानहीन माननिय रूप उप्पम रंभा कह ।
कमल अनूपम काज कछू ओपम मन मानिय ;
सुबर काम रति बाम मनो फेरिय सो आनिय ।
लच्छन बतीस बयसंधि इह सो ओपम अगकथ्थयौ ;
चंदनहौ सुमनमथ चित्त रथ चंदनेमति चित रथ्थयौ ।
संजोग संधि जोबन प्रवेस ; चित मंडि सुनौ संभरि नरेस ।
श्रीषंड-पंक कुंकम सुरंग ; मानो सुकरो कर मरदि गङ्ग ।

उप्पमा नष्ष आवै न कव्वि; तिन पड़ी होइ मयुषन सरव्वि।
इक अंग उपम कहिये सुदुत्ति; तारकन तेज द्रप्पन सुमुत्ति।
पिंडुरी अंग झलकत सुरूर; मनु रत्त रंग कंचन कि चूर।
ओपम्म नष्ष फिर कहि उपाइ; कन्नर कली फूलंत राइ।
पिंडुरी पाइ सोभंत वाम; अँभओन षंभ सोवन्न बाम।
उर जंघ दंड ओपम निरंग; गज सुंड डिंभ कै ओन रंग।
नित्तंबतुंग इन भाइ कव्वि; धरि चक्र सँवरि दुज काम रव्वि।
नित्तंब भाग उत्तंग छुड; मनु तुलत काम धरि लंक दंड।
अंकह प्रमान मुट्ठीत घट्टि; बैनी ढलक्क दीसंत पुट्टि।
चिंतै सुकव्वि ओपम्म ओर; नागिनि सो हेम-षंभह सुजोर।
राजीव रोम अंकुरिव बार; मानो पपील वंधी बिलार।
गति हंस चलत मुक्कन बिचार; सिखवंत रूप गहि बाँधि भार।
कुच सरल दरस नारिंग रंग; मरदे के कुंक कंचन उपंग।
जोबन प्रसंग इइ रूप हद्द; छुर करी हरी, मुक्कै मसद्द।
तब लग्गि होत हमथान मत्ति; जब लग्गि आन सैसव कि रत्ति।
अधबीच बात हम सुनी तास; कढ़ि लेषि लोग आवै न हास।
कलग्रीव रहे त्रिवलोय चाहु; बैठोति चंद आसनति राहु।
धर अधर अरुन दीसै सुरंग; जानै कि बिंब फल-चंद अंग।
ओपम सु चंद बरदाइ लीन; मनु अगर चंद मिलि संग कीन।
मधु-मधुर बानि सद्दपहति रंग; कलयंठ कंठ केकीन लंघ।
बर दसनपंति दुति यों सुभाइ; मोत्तक चंद जुब्बन बनाइ।
नासिक अनूप बरनी न जाइ; मनु दीप भवन निघ्घातपाइ।
सुंदरि बदन्न दूनौ बनाइ; मनु रथ्थ रव्वि दीरहि मनाइ।
कहँ लगि कहों चहुआन-बाम; सैसव सुषाल कंपैति काम।
अंबुज नयन्न मधुकर सहित्त; षंजन चकोर चमकंत चित्त।
बैनातिसाल सोभै बिसाल; मनो अरध उरग चढ़ि कनक साल।

स्रवननि सहचरि बचन चित्त गुरुजन संभारिय;
रसन बचन चाहंत पन सु अप्पनौ बिचारिय।
समभिलाष गंध्रब्ब भयौ किलकिंचित नारिय;
नयन उमड़ि जलबिंदु बदन अंसू परि भारिय।
उपमान हुहै कबि चंद कहि बाल जदिन मुर संभयौ;
उफ्फेन श्रमौ मभ्भह रह्यौ ससि कलंक उफ्फनि गयौ।
दिगु रत्ते करि बाल भौंह बंको करि षिझिझय;
सो ओपम बरदाइ चंद राजस मन भज्जिय।
सैसव, जुबन नरिंद परस्पर लरत बिमानं;
मनु सम रष्षत बाल दुहुन सों षीझत आनं।
मोहनि तीर जाने छुरी दुहुन बीच अड्डी करी;
सो रूप देषि संजोगि कौ डठि सहचरि मंतह हरी।
स्यामंगं कलधूननूतषिखरं मधुरे मधू वेष्ठिता;
बीते सीत सुगंध मंद सरमा आलोल संचेष्टिता।
कंठो कंठ कुलाहले मुकलया कामस्य उद्दीपने;
रत्ते रत्त बसंत मत्त सरसा संजोग भोगायते।
मजरि अंब फुल्लिग कदंब रयनी दिप दीसं;
भवर भाव भुल्लै भ्रमंत मकरंदव सीसं।
बहत बात उज्जलति मौर अति बिरह अगनि किय;
कुहुकुहंत कलकंठ पत्र राषप रति अग्गिय।
पय लगि प्रानपति बीनवौं नाह नेह मुझ चित धरहु;
दिन-दिन अवद्धि जुब्बन घटय कंत बसंत न गम करहु।
धुत्र चलिय बग पवन भ्रमत मकरंद कँवल कलि;
भय सुगंध तहँ जाइ करत गुंजार अलिय मिलि।
बलहीना डगमगहि भाग आवै भोगी जन;
उरधर लगै समूह कंपि भौ सीत भयतनन।

लत परी ललित सब पहुप रति तन सनेह बल पवित किय ;
निकरै अंग अंबुज हरुम्र सीत सुगंध सुभद लिय।
लै बंध सुरथट्ट इंकित मधू, उन्मत्त भ्रंगी धुनी ;
कंद्रप्पे सुमनो बसंत रमनं, प्रासो धनं पावनं।
कामं तेग मनं धनुद्धय सजनं, भीतं बियोगी मुनी ;
बिरहिन्या तन ताप पत्त सरसा संजोगिनी सोभनं।

× × ×

षट रिति बारह मास गय, फिरि आयो रु बसंत ;
सो रिति चंद बताउ मुहि, तिया न भावै कंत।
जौ नलिनी नीरहि तजै सेस तजै सुरतंत ;
जौ सुबास मधुकर तजै, तौ तिय तजै सु कंत।
रोस भरै उर कामिनी, होइ मलिन सिर अंग ;
यह रिति त्रिया न भावई, सुनि चुहान चतुरंग।

× × ×

चरने रत्तय पत्तगाइ रितए कंजाय चंद्रानने ;
मातंगं गयहंसमत्तगमने जंवाय रंभायने।
मध्यं छीन मृगेंद्रभारजघना नाभि च कामालये ;
सिंभे बिंभ उरउज रयों नयनयौ एनै समौ भालये।
तल चरन अरुन तिरत्तये ; जल नलिन सोक सपत्तये।
नष - पंति कंतिय मुत्तए ; जनु चंद अम्रत जुत्तए।
नग जरित नूपुर बज्जए ; कलहंस सब दुबि लज्जए।
गति मत्त गरब गयंदए ; छबि कहत कबिबर चंदए।
गहि पिंड कनक बिमानयं ; रँग रंग बंदन सानयं।
कर करिय जघनि ओपमं ; रँग फटिक केसरि सोपमं।
घन जघन सघन नितंबयं ; छिन काम केलि बिलंबयं।
कटि सोभ बर मृग राजयं ; कहि चंद यों कबिराजयं।

बनि नाभि कोस सुकंजयं ; मनु काम अमरय रंजयं ।
रव मधुर मृदु कटि किंकिनी ; झलमलत नगफननी कनी ।
सजि उदर त्रिवलि त्रिरेषयौ ; कुच जवन मंडि सुभेषयौ ।
बनि रोमराजि सपतयं ; प्रतिबिंब बेनि सुभंतयं ।
उर उरज अलज बिराजहीं ; कलधौत श्रीफल लाजहीं ।
उर पुहुपहार उहासियं ; इक होत जोजन बासियं ।
गर लजित कंठ तु कामिनी ; कलयंठ कोक सु धामिनी ।
रुचि चिबुक बिंद सु स्यामए ; जनु कमल बसि अलिधामए ।
बलि पुहुपतिलक सुनासिका ; जनु कीर चुंचप्रहासिका ।
तिन मुत्ति बेसर सोभए ; ससि सुक्र मिलि रबि लोभए ।
तस नयन षंजन कंजए ; मृगराज सुर मन रंजए ।
आटंक नग जर जगमगै ; बिय चक्र करि ससि पर जगै ।
बिय भौंह बंकित अंकुरी ; जनु धनुक कामति संकुरी ।
तसु मध्य तिलक जराइ कौ ; रबि चंद मिल रस आइ कौ ।
गुथि केस चिक्कन बेनियं ; जनु ग्रसित अहि ससि एनियं ।
सित दिव्य अंमर अंमरं ; नह मलिन होत अडंबरं ।
अँगबास बास सुगंधयं ; सँग चलत मधुव्रत संगयं ।
सम उदधि मथि कोनौ हरी ; फटि फेन प्रगटित सुंदरी ।

×　　　×　　　×

गजपंति चल्लिय जलदहल्लिय गरज नग धन भुल्लियं ;
हलहलन घंटन घोर घुंघर नाग दुंभर डुल्लियं ।
गत लगि गिरिवर पुरहि तरवर हलहि धरवर धावहीं ;
झलकंत दंत कि पंत बग धन धाम कज्ज सति गावहीं ।
गज बहत मद हद मनहुँ घन मद छुट्टि छिछ्छन उब्भरै ;
पग जोरि-जोरि मरोरि सुर जनु दिष्ष सुरपति लुब्भरै ।

बनि पीलवाननि ढाल हाथनि बनिय बैरष साजही ;
मनु सिषर गिरिवर काम अंगन छत्र चमर कि राजही ।
बहु अंधधुंधन चलत मग्गन सुनत बज्जन च्छही ;
वै कोट ओटन अगद मग्गत सिषर गिररद भज्जही ।
दल मुष्य मंडिय मेघ छंडिय मनहु सुरपति वजूरं ;
सुर सोम सोमह मज्झ मोमह गेह तजि भ्रज भज्जरं ।
परि देस-देसन शौरि दौरिय सुनिय संभरि रज्जयं ;
बर भंगि बाजिय सिलह संजिय बढ़े भोरा अज्जयं ।

× × ×

सुनि एक राइ संभरि नरेस ; षुरसान षान बंधे असेस ।
धनु धनुक धार अज्जुन समान ; मनि रतन निद्धि जस आसमान ।
बर तेज ओज जम जोर-जोर ; अरि छिपै तेज मनु चंद चोर ।
जिन बान तेग गज सुक्कि मद्द ; चतुरंग सजि चव कलन हद्द ।
इह जोग बीर मुर्यौ न बीर ; बेधन्त सत्त बर एक तीर ।
कनवज्ज रीति बजि जेय कंध ; इह धक्कि राज सह होइ निध ।
जोगिनो भूप औधूत रूप ; कह कहौं रूप पंषा अनूप ।
अध्धर तपंत पल्लव सु बास ; मंजरिय तिलक षंजरिय पास ।

× × ×

अलि अलक कंठ कलयंठ मंत ; संयोगि भोग बर भुअ बसंत ।
मधुरे हिमंत-रितुराज मंत ; परसपर प्रेम सो पियन कंत ।
लुट्टहित भोर सुग्गंध बास ; मिलि चंद कुंद फूले अकास ।
बन बग्ग मग्ग हलि अंब मोर ; सिर दरत जानि मनमथ्थ चोर ।
चलि सीत, मंद, सुगंध बात ; पावक्क मनो बिरहनी पात ।
कुह-कुह करंत कलयंठ जोट ; दल मिलहि जानि आनंग कोट ।
तरु पल्लव पीतअरु रत्त नाल ; हरि चलहिं जानि मनमथ्थ पील ।
कुसमेष कुसम नव धनुष साज ; मंगी सुपंति गुन गरुअ गाज ।

संचर सुवान सो मनहु नेह, विद्धारि जानि जुव जननि देह ।
उच्चलिय चलिय चंपक सरूप ; प्रजरहि प्रकट कंद्रप्प कूर ।
कर पत्तपत्त केलुकि सुकलि ; बिहरंत रत्त, बिक्कुरत कत्ति ।
परिरंभ अनिल कंदलि कुरान ; सिर धुनहि सरस धुनि जान तान ।
अंकुर अमूर अभिराम रम्म ; नन करहिं पीय परदेस गम्म ।
फूलिग पलास तजि पत्त रत्त ; रनरंग मम्मिर जीतौ बसंत ।
छिप्पहि तपंन जिहि कंत दूरि ; थकि कोकि-कोकि जल रहिय पूरि ।
संजोग भोग जुवतिन प्रबीन ; पै कंठ नादि दुह भगिय लीन ।
रबिजोग भोग ससि नीय थान ; दिन धरयौ देव पंचमि प्रमान ।

× × ×

तन पंच प्रकारं, कहि समरारं, तत उच्चारं, तिद्धारं ;
सुति ध्यान प्रसंसं, नसगति संसं, बसयति हंसं, जिद्धारं ।
मन पच दुआरं, मभय निनायं, रुक्कि सवारं, अनहद्द ;
सुष्मन सबद्दं, चिंतय जद्दं, नासिक तद्दं, तन भद्दं ।
गुहगव्य सु थानं चिंतिय ध्यानं, ब्रह्म गियानं, रमि सोयं ;
मन सून्य रमंतं, झिलमिल मंतं, नन भुल्लि जंतुं, सा जोयं ।
तजि कामय क्रोधं, गुरु बच सोधं, संभ्रत बोधं सब्धानं ;
अगुर प्रमानं, मोंह बिचानं, निगम न जानं, तिज्जानं ।
गुर मुष्षय वत्तं, चिंतिय गत्तं, सिद्ध रमंतं, मुनि मोतो ;
षट मद्दयं थानं, पिंड समानं, मंडि सुध्यानं दिठ जोती ।
तब लाष्षय रूपं, भजि भ्रम कूपं, दीरघ नूपं, सो भूपं ;
सब नसिय संसं, मुक्ति रमंसं, जोगय जंसं, सो रूपं ।

---

(१)

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का जन्म भादों-सुदी ७, संवत् १९०७ वि० को, काशीपुरी में, हुआ। हर्ष का विषय है कि इन महाकवि की जीवनी इनके वात्सल्य-भाजन गोलोकवासी बाबू राधाकृष्णदास और आरा-निवासी बाबू शिवनंदनसहायजी ने लिखी। प्रथम पुस्तक में ११४ और द्वितीय में ४४६ पृष्ठ हैं। ये दोनो ग्रंथ बहुत ही संतोषदायक हैं। इन दोनो महाशयों का श्रम प्रशंसनीय है। हम लोग इस विषय में बाबू शिवनंदनसहाय के बहुत ही कृतज्ञ हैं कि उन्होंने परिश्रम करके भारतेंदु की भारी जीवनी देखने का हम लोगों को अवसर दिया। इस जीवनी में बाबू साहब ने गद्य-काव्य भी अच्छा किया है, और कई स्थानों पर इसकी भाषा पढ़ने में बड़ा आनंद आता है। इस कथन के उदाहरण-स्वरूप हम पाठकों से इनके पृष्ठ २३७ को पढ़ने का अनुरोध करेंगे। इन दोनो जीवनियों के अतिरिक्त 'सरस्वती' के प्रथम भाग में भी इनकी छोटी-सी जीवनी दी हुई है। इनके विषय में बहुत कुछ इन तीनो जीवनियों से विदित हो जाता है, अतः हम उसे यहाँ संक्षेप में लिखते हैं।

इनके मूल-पुरुष राय बालकृष्ण थे, जिनके प्रपौत्र प्रसिद्ध सेठ अमीचंद और पौत्र बाबू हर्षचंद हुए। इन्हीं के पौत्र बाबू हरिश्चंद्र और दौहित्र बाबू राधाकृष्णदास थे। भारतेंदु के पिता बाबू गोपालचंद्र, उपनाम गिरिधरदास, एक सत्कवि हो गए हैं। इनका

वर्णन इनकी कविता की समालोचना में अलग लिखा गया है। मुकुंदी बीबी भारतेंदु की बड़ी और गोविंदी बीबी छोटी बहन थीं, और बाबू गोकुलचंद्र छोटे भाई। गोकुलचंदजी के दो पुत्र और दो पौत्र अद्यावधि वर्तमान हैं। भारतेंदु के दो पुत्र और विद्यावती नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई। इनके पुत्र शैशवावस्था ही में परलोक-गामी हुए। कन्या और उसके पाँच पुत्र ईश्वर की कृपा से विद्यमान हैं।

इनकी बुद्धि ऐसी प्रखर थी कि केवल पाँच वर्ष की अवस्था में, जब कि और बालक शुद्ध बोलना तक नहीं जानते, इन्होंने निम्न-लिखित दोहा बनाया—

> लै ब्योंड़ा ठाढ़े भए श्रीअनिरुद्ध सुजान ;
> बानासुर की सैन को हनन लगे बलवान।

इनकी माता का देहांत सं० १९१२ में और पिता का सं० १९१७ में हुआ। इनको पैत्रिक संपत्ति लाखों रुपयों की मिली थी, अतः केवल १० वर्ष की अवस्था में यह संपन्न घर के स्वच्छंद बालक हो गए। एक बार इनके पिता तर्पण कर रहे थे। इन्होंने उनसे पूछा—"बाबूजी, पानी में पानी मिलाने से क्या लाभ?" इस पर क्रुद्ध होकर उन्होंने कहा कि तू हमारे घर को डुबोवेगा। इसी प्रकार इन्होंने "करन चहत जस चारु कछु कछुवा-भगवान को" इस पद का, केवल ६ वर्ष की अवस्था में, एक चमत्कार-पूर्ण अर्थ सभा में लगाया था, जिस पर प्रसन्न होकर इनके पिता ने कहा—"तू मेरा नाम चलावेगा।" इनके पिता के ये दोनो वाक्य यथार्थ हुए, जैसा कि इनकी जीवनी से प्रकट होगा। बाल्यावस्था में यह बड़े उपद्रवी थे, यहाँ तक कि एक बार तीन कोस तक बराबर दौड़ते ही चले गए।

भारतेंदु के हिंदी, फ़ारसी और अँगरेज़ी के प्रथम शिक्षक

क्रमशः पं० ईश्वरीदत्त तिवारी, मौलवी ताजअली और बाबू नंद-किशोर थे। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद के मकान पर एक स्कूल था। उसमें भी कुछ दिन तक यह पढ़े। इसी कारण यह राजा साहब को भी गुरुवत् मानते थे। इन्होंने कुछ दिन बनारस के क्वींस कॉलेज में भी शिक्षा पाई। पढ़ने में इन्होंने कभी मन नहीं लगाया; फिर भी अपनी बुद्धि की तीव्रता से यह अपने सब सहपाठियों से श्रेष्ठतर परीक्षा देकर अध्यापकों को आश्चर्य में डाल देते थे। ११ वर्ष की अवस्था में पढ़ना छोड़कर सकुटुंब जगन्नाथजी की यात्रा की। इन्होंने मराठी, बँगला, गुजराती, मारवाड़ी आदि अनेक भाषाएँ समय-समय पर स्वयं सीख लीं। इनके काव्यगुरु पंडित लोकनाथ थे।

१४ वर्ष की अवस्था में, बाबू गुलाबराय की कन्या मन्नोदेवी से, इनका विवाह हुआ। इन्होंने सं० १९२३ में कुचेसर की, सं० १९२८ में हरिद्वार, लाहौर, अमृतसर आदि की और सं० १९३४ में पुष्कर-क्षेत्र की यात्राएँ कीं। इस साल प्रयाग में एक व्याख्यान भी दिया। सं० १९३६ में सरयूपार की यात्रा की। उसी वर्ष काशी-नरेश के साथ आपने वैद्यनाथजी के दर्शन किए। सं० १९३८ में यह, महाराणा सज्जनसिंह से मिलने को, मेवाड़ पधारे। वहीं श्रीनाथद्वारे के दर्शन भी किए। सं० १९४० में बलिया गए। डुमराँव, पटना, कलकत्ता, हरिहर-क्षेत्र और इलाहाबाद भी प्रायः आया करते थे।

इनमें स्वदेश-प्रेम की मात्रा विशेष थी। इनके काव्यों और कार्यों से इसके बहुतेरे उदाहरण मिल सकते हैं। उनमें से कुछ का वर्णन यहाँ किया जाता है—

(१) इन्होंने सं० १९२३ में चौखंभा-स्कूल स्थापित किया, जिसमें बिना फ़ीस दिए बालक पढ़ते थे। असमर्थों को भोजन,

वस्त्र, पुस्तक आदि की सहायता भी दी जाती थी। इस स्कूल को भारतेंदु ने १२ वर्ष तक अपने ही व्यय से चलाया। फिर म्युनिसिपैलिटी और सरकार ने भी कुछ-कुछ सहायता दी। धीरे-धीरे यह हाईस्कूल हो गया, और अब तक हरिश्चंद्र-हाईस्कूल के नाम से इनकी कीर्ति बढ़ा रहा है।

(२) सं० १९२५ में आपने 'कविवचनसुधा' नाम की मासिक पत्रिका निकाली। यह दूसरे साल पाक्षिक हो गई, और इसमें गद्य-काव्य भी दिया जाने लगा। कुछ काल के उपरांत यह साप्ताहिक हुई, और इसमें काव्य, सामाजिक, राजनीतिक आदि सभी विषयों के लेख निकलने लगे। इसे भारतेंदुजी ने ७½ साल तक बड़ी योग्यता और उत्तमता से चलाया। तदनंतर यह अन्य हाथों में आकर लोगों की सहानुभूति खो बैठी। फिर, भारतेंदु के अस्त होने पर, जब इसने एक दिन भी अपना कालम काला नहीं किया, अथच शोक में एक अक्षर भी नहीं लिखा, तब सबकी आँखों में घृणास्पद होकर, उसी साल, अपना मुँह काला कर, इस संसार से कूच कर गई।

(३) सं० १९३० में इन्होंने 'हरिश्चंद्र-मैगज़ीन' निकाली। यह आठ मास चलकर 'हरिश्चंद्र-चंद्रिका' के नाम से प्रकाशित होने लगी। सं० १९३९ में भारतेंदुजी ने इसे मोहनलाल-विष्णुलाल पंड्या को दे दिया। उनके प्रबंध में थोड़े ही समय के बाद चंद्रिका अस्त हो गई। सं० १९४० में भारतेंदुजी ने 'नवोदिता' के नाम से इसे फिर निकाला, परंतु तीन ही मास प्रकाशित होकर यह सदैव के लिये अदृश्य हुई।

(४) सं० १९३० में इन्होंने स्त्रियों के उपकारार्थ, गवर्नमेंट की इच्छानुसार, 'बाल-बोधिनी' नाम की पत्रिका निकाली, परंतु वह भी चार ही वर्ष चली।

(५) सं० १९२७ में इनके द्वारा कवितावर्द्धिनी सभा स्थापित हुई। इसमें प्रसिद्ध कवि सरदार, सेवक, बाबा दीनदयाल गिरि, नारायण कवि, द्विजकवि (मन्नालाल) आदि उपस्थित होते थे। भारतेंदु स्वयं पुस्तक-रचना करते थे, तथा पुरस्कार एवं प्रशंसा-पत्र देकर और-और लेखकों को भी इस काम के वास्ते उत्साहित करते थे। इसी सभा से पंडित अंबिकादत्त व्यास, द्विज बलदेव आदि को प्रशंसा-पत्र मिले।

(६) सं० १९३० में इन्हीं महाशय ने 'तदीय समाज' स्थापित किया। इसमें सभ्यों से कई नियम पालन करने को प्रतिज्ञा-पत्र लिखाया जाता था। इन नियमों में हिंसा-निषेध एवं स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार भी था। इस समाज से 'भगवद्भक्ति' नाम की मासिक पत्रिका भी निकलती थी, जो कुछ दिन चलकर बंद हो गई। यह समाज इनको बहुत प्रिय था।

(७) इसी संवत् में इन्होंने 'पेनोरीडिंग-क्लब' क़ायम किया। उसमें सुलेखकों के लिखे हुए अच्छे अच्छे लेख भी पढ़े जाते थे। एक बार बाबू साहब उसमें श्रांत पथिक का वेष बनाकर गए, और गठरी पटक, पैर फैलाकर, इस ढंग से बैठे कि दर्शकगण अत्यंत ही प्रसन्न हुए। इसी में एक बार थिएटर का स्टेज बनाकर यह चूसा पैग़ंबर बने। कई गज़ काग़ज़ जोड़कर जन्मपत्री की भाँति लपेटे हुए आप हाथ में लिए थे, जिसे खोलते और अपने उपदेश पढ़ते जाते थे। इस पाँचवें पैग़ंबर के उपदेशोंवाला लेख हास्य-रस में व्यंग्य से सच्चे उपदेश का अच्छा नमूना है।

(८) सं० १९३१ में इनके द्वारा वैश्यहितैषिणी सभा स्थापित हुई। अपनी स्थापित सभाओं के अतिरिक्त अन्यान्य सभाओं और देशहितैषी कार्यों में भी यह सहायक रहते थे।

(९) सं० १९३२ में इन्होंने श्रीनिंबार्क, श्रीरामानुज, श्रीमध्व

और श्रीविष्णुस्वामी-नामक वैष्णवों के चार संप्रदायों में प्रविष्ट, प्रवीण और पारंगत नाम की तीन परीक्षाएँ नियत कीं। इनमें परीक्षोत्तीर्ण व्यक्तियों को पारितोषिक भी देते थे।

(१०) इन्होंने सामाजिक सुधार पर भी ध्यान दिया, और अपनी पुत्री के विवाह में अश्लील गीतों का गाना बंद कर दिया। इस विषय में इनकी कविता में स्थान-स्थान पर बहुत कुछ पाया जाता है।

इनकी जीवन-यात्रा की प्रायः सभी बातों का निचोड़ जिंदादिली है, और वह इनके सभी कार्यों से प्रकट होती है। शतरंज अच्छी खेलते, गाने-बजाने का शौक़ रखते और ख़ुद भी कई बाजे बजाते थे। कबूतर उड़ाने का व्यसन था। ताश भी खेलते थे। हुकुम, चिड़िया, ईंट और पान के स्थान पर इन्होंने शंख, चक्र, गदा और पद्म रक्खे। इसी प्रकार बीबी, बादशाह की जगह देवी-देवतों के रूप थे। बुढ़वामंगल के मेले में आप बड़ा उत्सव करते थे। उदारता इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि कवियों, पंडितों आदि को हज़ारों रुपए दान कर देते थे। जिसने इनकी कोई चीज़ पसंद की, वह तुरंत उसकी नज़र हुई। दीपमालिका को इतर के चिराग़ जलाते थे, और देह में लगाने के वास्ते तो सदैव तेल के स्थान पर इतर ही बर्ता जाता था। सारांश यह कि रुपए को पानी की तरह बहाते थे। इनकी यह दशा सुनकर महाराज काशी-नरेश ने एक दिन इनसे कहा, "बबुआ, घर को देखकर काम करो।" इस पर इन्होंने तुरत उत्तर दिया, "हुज़ूर! यह धन मेरे बहुत-से बुज़ुर्गों को खा गया है; अब मैं इसको खा डालूँगा।" सं० १९२७ में यह अपने छोटे भाई से अलग हुए थे, और थोड़े ही वर्षों में इन्होंने अपने हिस्से की समस्त पैत्रिक संपत्ति उड़ा डाली। अपने ननिहाल की कई लाख

रुपयों की संपत्ति के यह और इनके छोटे भाई उत्तराधिकारी थे। इनकी उड़ाऊ दशा देखकर इनकी नानी ने कुल संपत्ति का हिबानामा इनके अनुज के नाम लिख दिया, परंतु बिना इनकी रज़ामंदी के वह क़ानून के अनुसार ठीक न था। अपनी नानी के कहने पर इन्होंने तुरंत उस पर हस्ताक्षर कर दिए, और इस प्रकार अपने भाग के दो-ढाई लाख रुपए छोड़ देने में कुछ भी आगा-पीछा नहीं किया। यह काम इन्हीं का-सा दरियादिल आदमी कर सकता था। आपके जीवन एवं साहित्य का सबसे बड़ा प्रभाव देश और हिंदी-साहित्य में जातीयता का वर्द्धन था। आप ही ने हिंदी में धार्मिक के स्थान पर देशभक्त जातीयता का भारी प्रचार किया।

इनमें हास्य की मात्रा इतनी थी कि होली में लकड़ी का बड़ा मोटा कुंदा कमर में बाँधकर कबीर गाते गलियों में निकलते थे। पहली एप्रिल को अँगरेज़ी सभ्यता के अनुसार मनुष्य दिल्लगी के लिये कोई भी झूठ बोल सकता है। भारतेंदु उस दिन कुछ-न-कुछ अवश्य करते थे। एक बार आपने नोटिस दी कि महाराज-विजयानगरम् की कोठी में एक योरप के विद्वान् सूर्य और चंद्रमा को पृथ्वी पर उतारेंगे। हज़ारों मनुष्य वहाँ एकत्र हुए, परंतु कुछ न देखकर लज्जित हो लौट गए। एक बार प्रकाशित कर दिया कि एक बड़े प्रसिद्ध गायक हरिश्चंद्र-स्कूल में मुफ़्त गाना सुनावेंगे। जब हज़ारों आदमी एकत्र हुए, तब परदा खुला, और एक मनुष्य विदूषक के वस्त्र पहने, उलटा तानपूरा लिए, घोर खर-स्वर करने लगा। यह देख लोग हँसते हुए शरमाकर घर लौट गए। एक बार इन्होंने एक मित्र से नोटिस दिला दी कि एक मेम रामनगर के पास खड़ाऊँ पर सवार होकर गंगाजी को पार करेगी, और खड़ाऊँ न डूबेगी। हज़ारों लोग एकत्र हुए, परंतु न कहीं मेम, न खड़ाऊँ। पीछे सब समझे कि यह भी मज़ाक़ था।

चाहिबे की चाह, काहू की न परवाह, नेही
नेह के दिवाने सदा सूरत निमानी के;
सरबस रसक के, दास दास प्रेमिन के,
सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधा रानी के।

मेवाड़-यात्रा में इन्हें भय हुआ कि इनका अंतकाल निकट आ गया। उस समय इन्होंने अपने अनुज से पत्र द्वारा अपनी स्त्री को प्रसन्न रखने तथा मल्लिका की भी लाज रखने का आग्रह किया। इनका सम्मान साधारण जन-समाज एवं राजों-महाराजों में बहुत अधिक था। और, होता क्यों न? ऐसे पुरुष-रत्न इस स्वार्थी संसार में कहाँ देख पड़ते हैं? और सब बातें छोड़कर हम इनके सम्मान के विषय में केवल एक बात यहाँ लिखते हैं। संवत् १९३७ में पं० रामशंकर व्यास ने 'सारसुधा निधि' नामक पत्र में इन्हें 'भारतेंदु' की पदवी से विभूषित करने का प्रस्ताव छपवाया। उसी समय समस्त पत्रों एवं सब मनुष्यों ने मुक्त कंठ से इन्हें भारतेंदु कहना शुरू कर दिया, और तभी से इन्हें यह उपाधि मिली। हिंदी, हिंदू और हिंद के प्रचंड दुर्भाग्य से संवत् १९४० में यह महाशय क्षय-रोग से पीड़ित हुए, और सब कुछ दवा होने पर भी ६ जनवरी, संवत् १९४१ को पौने दस बजे, रात के समय, यह भारत का चंद्र संसार को रोता छोड़ अस्त हो गया।

इन महाकवि ने केवल ३५ वर्ष इस संसार को सुशोभित किया, और प्रायः १८ वर्ष की अवस्था से काव्य-रचना आरंभ की। पहले यह केवल गद्य लिखते थे, पीछे से पद्य भी लिखने लगे। इस १७ वर्ष के अल्प काल में इन्होंने १७५ ग्रंथ बनाए। ७५ ग्रंथ इनके द्वारा संपादित, संगृहीत या उत्साह देकर बनवाए हुए और भी वर्तमान हैं। यों तो इन्होंने पाँच वर्ष की आयु में ही एक दोहा बनाया था, परंतु १६ या १७ वर्ष की अवस्था से काव्य-रचना आरंभ कर दी। इन्होंने अपनी समस्त रचनाओं के प्रकाशित करने का स्वत्व बाबू रामदीनसिंह,

अध्यक्ष खड्गविलास-प्रेस, को दे दिया था, जिन्होंने इनके मुख्य-मुख्य ग्रंथों को 'हरिश्चंद्रकला' के नाम से, छ भागों में, प्रकाशित किया।

प्रथम भाग (नाटकावली)

(१) 'नाटक'-नामक ४६ पृष्ठों के लेख में इन्होंने नाटक के लक्षण, नाटक बनाने की रीति तथा नाटक का इतिहास लिखा। इनके अतिरिक्त और बहुत-सी जानने योग्य बातें नाटक के विषय में वर्णित हैं, जो पढ़ने योग्य हैं। इसकी रचना संवत् १९४० में हुई।

(२) 'सत्यहरिश्चंद्र' नाटक संवत् १९३२ में बना। यह आर्य-क्षेमेश्वर-कृत 'चंडकौशिक' के आशय पर बनाया गया, परंतु उसका अनुवाद नहीं है। यह एक स्वतंत्र ग्रंथ है, और भारतेंदु की उत्कृष्ट रचनाओं में इसकी गणना है। इसमें महाराज हरिश्चंद्र की सत्य-परीक्षा का वर्णन है। राजों के यहाँ पूर्व काल में जिस प्रकार ऋषियों का आदर होता था, वह इसमें पूर्ण रूप से दिखलाया गया है। महारानी शैव्या के स्वप्न में आनेवाली विपत्ति का दिग्दर्शन करा दिया गया है। राजा हरिश्चंद्र की सत्यप्रियता इतनी बढ़ी हुई थी कि स्वप्न में भी पृथ्वी का दान देने पर दानपात्र के न मिलने से वह विकल थे, और सोचते थे कि इसका क्या प्रबंध करूँ? विश्वामित्र और हरिश्चंद्र की बातचीत से यह साफ़ प्रकट होता है कि ऋषि को पृथ्वी का लेना अभीष्ट नहीं था; वह किसी उपाय से राजा को सत्य-भ्रष्ट-मात्र करना चाहते थे। ऐसे समय हरिश्चंद्र के मुख से यह वाक्य कहलाना बहुत ही योग्य और स्वाभाविक था—

चंद टरै, सूरज टरै, टरै जगत-ब्योहार;
पै दृढ़ श्रीहरिचंद को टरै न सत्य-विचार।
बेंचि देह-दारा-सुवन होय दास हू मंद;
रखिहै निज बच सत्य करि अभिमानी हरिचंद।

इस ग्रंथ में कवि ने विश्वामित्र का तक़ाज़ा, गंगा-वर्णन, हरिश्चंद्र का स्त्री और अपने को बेचना, श्मशान-वर्णन और रोहिताश्व के मरने पर शैब्या और हरिश्चंद्र का विलाप आदि स्थल बहुत ही उत्कृष्ट कहे हैं। इससे भारतेंदु की कवित्व-शक्ति का परिचय मिलता है। इस नाटक का अभिनय इनके सामने, बलिया में, संवत् १९४० में, हुआ। इसमें ८२ पृष्ठ हैं। कथा मूल-रूप में भी अनैतिहासिक है। इसका वर्णन केवल अष्ट पुराणों में है, किंतु लोक में ख्याति बहुत है।

(३) 'मुद्राराक्षस' विशाखदत्त-कृत संस्कृत-नाटक का अनुवाद है। यह अनुवाद इतना बढ़िया हुआ है कि किसी स्वतंत्र ग्रंथ से कम आनंददायक नहीं है। ग्रंथ १०६ पृष्ठों का है। इसमें चंद्रगुप्त को राज्य देने और राक्षस को उनका मंत्री करा देने के कारण चाणक्य और राक्षस मंत्री में ख़ूब ही नीति की चोटें चली हैं। अंत में चाणक्य से हारकर राक्षस को चंद्रगुप्त का मंत्री बनना ही पड़ा। नीति का जटिल विषय होने पर भी इसकी भाषा ऐसी मीठी है कि पाठ करने में बड़ा ही आनंद आता है। नाटक में चंद्रगुप्त के कौशल का पतन बहुत अनुचित और इतिहास-विरुद्ध है। मंत्री राक्षस की जितनी प्रशंसा की गई है, वैसी बुद्धिमत्ता के उनके काम नहीं दिखाए गए हैं। केवल स्वामिभक्ति तथा ईमानदारी समुचित साधन नहीं हैं। यह कथा भी अनैतिहासिक है। चाणक्य तीन पुश्तों तक चंद्र के घराने में सचिव रहे। राक्षस शायद कात्यायन हों, क्योंकि वह नंद-वंश के मंत्री थे।

(४) 'धनंजय-विजय' कांचन-कृत संस्कृत-नाटक का अनुवाद है। इसमें गद्य का गद्य और पद्य का पद्य में अनुवाद है। यह भी स्वतंत्र ग्रंथ की भाँति मनोहर है। यह १६ पृष्ठों का है। संवत् १९३० में बना।

(५) 'कर्पूरमंजरी' को राजशेखर कवि ने प्राकृत में बनाया था। उसी का यह ३२ पृष्ठों का अनुवाद संवत् १९३२ में बना। इसमें एक प्रेम-कहानी कही गई है। हास्य का भाग विशेष है।

(६) 'चंद्रावली-नाटिका' ख़ास इन्हीं की बनाई है। इसमें किसी ग्रंथ का अनुवाद या छाया नहीं है। यह ४५ पृष्ठों की है, और इसकी रचना संवत् १९३३ में हुई। इसका समर्पण बहुत ही अच्छा है—

भरित नेह नव-नीर नित बरसत सुरस अथोर ;
जयति अपूरब-घन कोऊ लखि नाचत मन मोर।

यह दोहा इनको बहुत पसंद था, और इनकी बहुत-सी रचनाओं में वंदना के स्थान पर लिखा गया है। इस पुस्तक में भी यह वंदना में दिया गया है। इस नाटिका में चंद्रावली का प्रेम वर्णित है, और ग्रंथ आद्योपांत प्रेमालाप से परिपूर्ण है। ऐसा प्रेम से छलकता हुआ कोई दूसरा ग्रंथ हमने नहीं देखा। इस ग्रंथ में सिवा प्रेम के दूसरा वर्णन नहीं है। इसको सर्व-साधारण ने इतना पसंद किया कि एक महाशय ने व्रजभाषा में और द्वितीय ने संस्कृत में इसका अनुवाद किया। इस ग्रंथ में शुकदेवजी, नारद, चंद्रावली के प्रेम छिपाने, प्रेमोन्मत्तता, यमुना और योगिनी के वर्णन बड़े ही हृदयग्राही हैं। नाटकों में यह और सत्यहरिश्चंद्र भारतेंदु को बहुत पसंद थे। वास्तव में ये दोनो ग्रंथ इनकी रचना और भाषा-साहित्य के शृंगार हैं। इन ग्रंथों की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। इस ग्रंथ से विदित होता है कि यह महाशय गद्य में भी शुद्ध व्रजभाषा का प्रयोग कर सकते थे। स्टेज पर खेलने में यह नाटक मनोरंजक न होगा, क्योंकि इसमें विषय-परिवर्तन बहुत कम है, और स्टेज के योग्य कई अन्य बातों का भी अभाव है। इसमें नाटकत्व कम है, और साधारण काव्य विशेष।

(७) 'विद्यासुंदर' की कथा का वर्णन चौर कवि ने संस्कृत की चौर-पंचाशिका में किया था। उसके आधार पर श्रीयुत यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने बँगला में विद्यासुंदर-नामक नाटक बनाया। उसी ग्रंथ का अनुवाद भारतेंदु ने किया। यह ग्रंथ संवत् १९२५ में, केवल १८ वर्ष की अवस्था में, इन्होंने बनाया, परंतु फिर भी इसकी भाषा ऐसी मधुर है, और इसमें ऐसे-ऐसे उत्कृष्ट छंद हैं कि उनकी प्रशंसा किए बिना रहा नहीं जाता। उदाहरणार्थ इस ग्रंथ का एक छंद नीचे दिया जाता है—

हमहूँ सब जानतीं लोक कि चालन, क्यों इतनो बतरावती हौ;
हित जामैं हमारो बनै, सो करौ, सखियाँ तुम मेरी कहावती हौ।
'हरिचंदजू' यामैं न लाभ कछू, हमैं बातन क्यों बहरावती हौ?
सजनी, मन हाथ हमारे नहीं, तुम कौन को का समुझावती हौ?

(८) 'भारत-जननी'-नाटक किसी अन्य कवि ने भारत-माता-नामक बँगला-नाटक से अनुवादित किया था। इसको भारतेंदु ने शोधकर प्रकाशित किया। इसमें भारत-संतानों की वर्तमान दुर्दशा का एवं गौण रूप से भूत-गौरव का वर्णन है। स्वदेश-भक्ति-पूर्ण एक होली भी बड़ी मनोहर कही गई है। ग्रंथ १२ पृष्ठों में समाप्त हुआ, और प्रशंसनीय है। स्वदेशानुराग की इसमें बहार है।

(९) 'भारत-दुर्दशा' इनका स्वतंत्र नाटक है, जो सं० १९३७ में लिखा गया। इसमें बड़ा ही उग्र एवं हृदयग्राही वर्णन है। भारत की वर्तमान दुरवस्था एवं उसके कारणों का बहुत ही सजीव चित्र खींचा गया है। इसमें इन्होंने फूट, वैर, कलह, सुस्ती, संतोष, खुशामद, कायरता, बहु धर्म, छुआछूत, शराब, पुराणों के वाक्य, जाति, ऊँच-नीच, विवाहों में जन्मपत्री का मिलाना, बहु विवाह, बाल-विवाह, अपव्यय, अदालत, फ़ैशन, सिफ़ारिश, उपाधि, विधवा-

विवाह न करना, विलायत-गमन की रोक, बहुत देवी, देवता, भूतों और प्रेतों के पूजन आदि बातों की निंदा की है, और यह व्यक्त किया है कि भारतवर्ष में टिकस, क्षुधा-पीड़ा, अकाल, महँगी, रोग आदि की जो विपत्तियाँ हैं, और हिंदोस्तानी जो काफ़िर, काले, नीच पुकारे जाते हैं, ये सब बातें उपर्युक्त अवगुणों ही के कारण हैं। भारत-दुर्दैव और सत्यानाश फ़ौजदार की बातचीत में पहले भारत की वर्तमान दशा का वर्णन है, तदनंतर क्रमशः रोग, आलस्य, मदिरा और अंधकार का प्रवेश हुआ है। इसके पीछे छ हिंदोस्तानी सभ्यों की एक सभा का वर्णन है, जिसमें एक बंगाली, एक महाराष्ट्र, एक संपादक, एक कवि और दो देशी भद्र पुरुष विद्यमान थे। सभा में सब सभ्यों के व्याख्यान हुए हैं, और कवि ने जिस देश के लोग जैसी हिंदी बोलते हैं, तथा जिस देश के जैसे विचार हैं, उनका ठीक उसी प्रकार से वर्णन किया है। इसमें युक्त-प्रदेशीय सभ्यों का बोदापन और कवि का अकर्मण्यता अच्छी दिखलाई गई हैं। इस ग्रंथ में तुलसीदास की चौपाइयाँ बहुत ही मज़ाक़ के साथ लिखी गई हैं। प्रायः सभी स्थानों पर हास्य-मिश्रित वर्णन किया गया है; परंतु, फिर भी, उस हास्य में गूढ़ आशय छिपे हुए हैं। इस ग्रंथ से भारतेंदु का अपार देश-प्रेम एवं उत्कृष्ट और ज़ोरदार कविता करने की शक्ति प्रकट होती है। यह २२ पृष्ठों का एक बड़ा ही अनोखा ग्रंथ है, जिससे जातीयता टपकी पड़ती है।

(१०) 'नीलदेवी' एक जातीयता-पूर्ण काल्पनिक नाटक है। इसमें अमीर अब्दुलशरीफ़ख़ाँ का महाराजा सूर्यदेव के देश पर धावा करने का वर्णन है। अमीर की ओर सब बातचीत शुद्ध उर्दू में है। यह २० पृष्ठों का अपूर्व ग्रंथ संवत् १९३७ में बना। इसमें प्रत्येक वर्णन आद्योपांत बहुत ही अच्छा है। देव-वाक्य सुनकर रोएँ खड़े हो जाते हैं। पागल का पार्ट भी अनोखा है। कवि ने मानो

सच्चा पागल लाकर दिखला दिया है। इसमें क्षत्रियों के युद्धोत्साह में कवि ने वीर-रस का चित्र सामने खड़ा कर दिया, और उद्दंडता की हद कर दी है। यह नाटक बलिया में भारतेंदु के सम्मुख खेला भी गया था। इस ग्रंथ से इनका उत्कट स्वदेश-स्नेह देख पड़ता है, और प्रकट होता है कि यह वीर-कविता भी परम मनोहर कर सकते थे।

(११) 'माधुरी' सं० १९४० में बनी। बाबू राधाकृष्णदास ने लिखा है कि यह किसी अन्य कवि का बनाया हुआ ग्रंथ है। इसमें वृंदावन का वर्णन है, और केवल ८ पृष्ठों में प्रेम कहा गया है।

(१२) 'पाखंडविडंबन' संवत् १९२९ में बनाया गया। यह प्रबोधचंद्रोदय के तृतीय अंक का अच्छा अनुवाद है। इसमें ११ पृष्ठ हैं।

(१३) 'अंधेर-नगरी' संवत् १९३८ में बनी। यह १४ पृष्ठों का जातीयता-पूर्ण प्रहसन एक ही दिन में बना। इसमें सौदा बेचनेवालों की आवाज़ों एवं मुक़द्दमे का वर्णन अच्छा है। इसके मूल-ग्रंथ बँगला और गुजराती में हैं।

(१४) 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' २० पृष्ठों का छोटा-सा प्रहसन संवत् १९३० में बना। इसमें मांस खानेवालों और मद्यपों की बहुत निंदा है। कवि ने ब्राह्मणों की भी निंदा की है। इसमें शास्त्रार्थ एवं उन्मत्तता के वर्णन बहुत उत्कृष्ट हैं। हास्य-रस का अच्छा कौतूहल है, किंतु भोज्याभोज्य वस्तुओं पर इतना ज़ोर दिया गया है कि अनौचित्य तक आ गया है।

(१५) 'विषस्य विषमौषधम्' में एक महाराजा के सिंहासन-च्युत होने का इतिहास हास्यमय वर्णन में कहा गया है, और परस्त्रीगमन की निंदा है। यह प्रायः गद्य ही में है। यह ९ पृष्ठों का

ग्रंथ संवत् १९३३ में बनाया गया। इनके कई अन्य ग्रंथों की भाँति यह भी मनोहर है।

(१६) 'दुर्लभ बंधु' शेक्सपियर-कृत 'मर्चेंट ऑफ़ वेनिस' का अनुवाद है। इसमें ८४ पृष्ठ हैं। यह संवत् १९३१ में बना। यह भी एक परमोत्कृष्ट अनुवाद है, और अँगरेज़ी से अनुवादित होने पर भी इसमें भाव बिगड़ने नहीं पाए हैं।

(१७) 'सतीप्रताप' एक अपूर्ण नाटक था, जिसे बाबू राधाकृष्णदास ने पूर्ण किया। इसमें २८ पृष्ठ हैं, और इसका भारतेंदु-कृत भाग संवत् १९४० में बना। इसमें पतिव्रता-शिरोमणि सावित्री का वर्णन है। पातिव्रत का श्रेष्ठ चित्र तथा उसका अच्छा फल दिखाया गया है। बाबू राधाकृष्णदास ने इसे पूर्ण भी ठीक किया है; रूप बिगड़ने नहीं पाया है।

(१८) 'रत्नावली' में केवल ४ पृष्ठों का अनुवाद संवत् १९२५ में हुआ था, और फिर यह अपूर्ण रह गया।

(१९) 'प्रेमयोगिनी' एक बड़ा ही विशद ग्रंथ बन रहा था, परंतु दुर्भाग्य वश वह अपूर्ण ही रह गया। इसका केवल प्रथम अंक बना, जिसमें २६ पृष्ठ हैं। इस नाटक में भारतेंदु अपने विषय में बहुत कुछ लिख रहे थे। इसके नायक रामचंद्र स्वयं वही हैं। समस्त ग्रंथ बहुत बड़ा होता, और इसमें उनके चित्त की वृत्तियाँ बहुत कुछ जान पड़तीं; परंतु शोक है कि यह अमूल्य ग्रंथ अपूर्ण रह गया। इसमें बनारसी, महल्ला की, माड़वारी और गुजराती भाषाओं में कविता की गई है। रोज़ की बोल-चाल तथा साधारण घटनाओं का कथन है, और इस कारण बड़ा ही स्वाभाविक एवं प्राकृतिक वर्णन है। यद्यपि यह महाशय वल्लभीय संप्रदाय के थे, तथापि इन्होंने गोस्वामियों के निकृष्ट आचरणों की यह कहकर निंदा कराई है कि "भाई! माखौ लूटैं, मेहरुओं

लूटै।" इसमें काशी की निंदा एवं स्तुति बड़ी बढ़िया कही गई है। इसी भाँति मिसिर, झगटिया और कहार की बातचीत एवं भूरीसिंह और दूकानदारों का मज़ाक़ बहुत अच्छा है। यह ग्रंथ अनोखा और प्राकृतिक है। इसकी कविता बहुत ही मनोहर एवं अव्वल दरजे की है। यह ग्रंथ संवत् १९३२ में बना, परंतु न-जाने क्यों अपूर्ण रह गया।

द्वितीय भाग (इतिहास-समुच्चय)

नाटकों के अतिरिक्त भारतेंदु में इतिहास-प्रेम भी बहुत था। हमारे अन्य सत्कवियों में से किसी ने इतिहास-विषयक इतने ग्रंथ नहीं लिखे।

(१) 'काश्मीर-कुसुम' की भूमिका में भारतेंदु ने इतिहास का अभाव, राजतरंगिणी का चार भागों में बनना, उसकी समालोचना, हर्षदेव का कथन और काश्मीर के वर्तमान राजघराने का वर्णन किया है। कुसुम में इन्होंने एक चक्र दिया है, जिसमें राजसंख्या, नाम, समय गत कलि, डायर के मत से, कनिंघम के मत से, विल्सन के मत से, राज्यकाल और विशेष वर्णन सूक्ष्मतया कहे गए हैं। इसमें बड़ा परिश्रम किया गया है, और इनके ऐतिहासिक ग्रंथों में यह इन्हें सबसे अधिक पसंद था। इसमें ३५ पृष्ठ हैं।

(२) 'महाराष्ट्र देश का इतिहास' केवल ६ पृष्ठों में है। इसमें कोई नई बात नहीं है।

(३) रामायण के समय में बहुत-सी ऐसी बातों का कथन है, जो उस काल थीं, परंतु भ्रम-वश कुछ लोग उन्हें आधुनिक समझने लगे हैं। वे बातें निम्न-लिखित हैं—मुशुंडी, जैन-भिक्षुक, कौशल्या का घोड़ा काटना, मुनियों का मांस न खाना, गोलोक का वर्णन, सड़क का होना, काग़ज़ पर लिखा जाना, जल-सेना, मनु-स्मृति के श्लोकों का होना, इस बात का ज्ञान कि चंद्र सूर्य के

प्रकाश से चमकता है, गुलाबपाश, संस्कृत का बोला जाना। इस ग्रंथ में १० पृष्ठ हैं।

(४) 'अगरवालों की उत्पत्ति' ७ पृष्ठों में।

(५) 'खत्रियों की उत्पत्ति' १४ पृष्ठों में।

(६) 'बादशाहदर्पण' में दिल्ली के बादशाहों का हाल है। इसमें भी चक्र द्वारा ही वृत्तांत सूक्ष्म रूप से वर्णित है। तदनंतर उनका अलग वृत्तांत कहा गया है। कुल २२ पृष्ठ हैं।

(७) 'उदयपुरोदय' में २७ पृष्ठों द्वारा बाप्पा रावल के समय तक का इतिहास लिखा गया है।

(८) 'पुरावृत्तसंग्रह' में ४६ पृष्ठों द्वारा स्फुट ऐतिहासिक विषय एवं दान-पत्रादि का वर्णन है।

(९) 'चरितावली' में ३० पृष्ठ हैं। इसमें इन महाशयों के चरित्र लिखे हैं—विक्रम, कालिदास, रामानुज, शंकर, पुष्पदंताचार्य, वल्लभाचार्य, सूरदास, सुकरात, नेपोलियन, महाराजा जंगबहादुर, द्वारकानाथ मित्र, श्रीराजाराम शास्त्री, लार्ड मेओ, लार्ड लारेंस और तृतीय सिकंदर ज़ार। कई महापुरुषों की कुंडलियाँ भी इस ग्रंथ में दी हुई हैं। इन कुंडलियों में रावण की भी है।

(१०) 'पंच पवित्रात्मा' में मुहम्मद, अली, बीबी फ़ातिमा, इमामहसन और इमामहुसैन के जीवन-चरित्र वर्णित हैं। यह ग्रंथ १२ पृष्ठों में है।

(११) 'दिल्ली-दरबार-दर्पण' में संवत् १९३३ के दिल्ली-दरबार का मनोहर वर्णन, २५ पृष्ठों में, किया गया है।

(१२) 'कालचक्र' में १० पृष्ठों द्वारा संसार की बड़ी-बड़ी घटनाओं के समय-निरूपण किए गए हैं।

भारतेंदु के ऐतिहासिक विषयों से विदित होगा कि इन्होंने अच्छे-अच्छे विषयों को वर्णनार्थ चुना। और, चुनते क्यों न? इतने बड़े

लेखक और कवि होकर यह महाशय अपना समय कैसे अनुचित विषयों पर खोते ? इन्होंने इतिहासों का लंबा-चौड़ा वर्णन कभी नहीं दिया, और थोड़े ही स्थान में बहुत कुछ कह देने का सदैव प्रयत्न किया। वर्तमान खोजों से जो नई ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है, वह इनके लिखे हुए कई वर्णनों को पूरा बना सकती है।

शेष चार भागों में विविध विषयों के कथन हैं। 'भक्तमाल उत्तरार्द्ध' में नाभादास के पीछे के भक्तों का वर्णन है। इसमें कविता बिलकुल नाभादास की-सी और उसी रीति पर की गई है। यदि इसको नाभादास के ग्रंथ में मिला दें, तो अंतर जानना कठिन हो जायगा। इसमें ३६ पृष्ठ और छप्पय-छंद विशेष हैं।

पंचम भाग का काव्य कुल मिलाकर प्रशंसनीय है। इसमें पदों का आधिक्य है, परंतु सवैयों और घनाक्षरियों का अभाव नहीं है। इसमें कई भाषाओं में कविता की गई है। विषयों में प्रायः प्रेम का प्राधान्य रक्खा गया है। ऐसे वर्णन और विषयों से अच्छे भी हैं। कविता की दृष्टि से इनके प्रथम और पंचम भाग ही विशेष प्रशंसा-पात्र हैं।

भारतेंदु की रचना विस्तार में बड़ी है, किंतु नाटकावली के अतिरिक्त उसका प्रचार नहीं है। यदि इनके ग्रंथों से उत्कृष्ट भाग छाँटकर भारतेंदु-सुधा बनाई जाय, तो शायद शेष उत्कृष्ट रचना का भी कुछ विशेष मान लोक में हो जाय। अब हम भारतेंदु की कविता के कुछ गुण नीचे लिखते हैं—

(१) इनके काव्य में जातीयता के पीछे सबसे अधिक और बढ़िया वर्णन प्रेम का है। इन्होंने ऐसा अनोखा हृदय पाया था कि उसमें प्रेम की मात्रा अथाह थी। अतः इनके सब लेखों में उसी की विशेषता रहती थी। इसके उदाहरण 'चंद्रावली-नाटिका' और

पंचम भाग के प्राय: सभी ग्रंथ कहे जा सकते हैं । इनमें ईश्वरीय तथा सांसारिक, दोनों प्रकार का प्रेम विशेष रूप से था, और इन दोनो के वर्णन इनके काव्य में हर जगह मौजूद हैं ।

(२) यह महाशय अपने समय के प्रतिनिधि कवि थे । जो-जो बड़ी घटनाएँ इनके समय में हुईं, प्राय: उन सभी पर इन्होंने कविता की । महाराज मल्हारराव गायकवाड़ का पदच्युत होना, दिल्ली-दरबार, युवराज का आगमन, मिस्र और अफ़ग़ानिस्तान में युद्ध आदि सभी विषयों पर इन्होंने काव्य-रचना की । इसी प्रकार उस समय भारतवर्ष को जिन-जिन बातों की आवश्यकता थी, उसमें जो-जो दोष थे, उन सबका इन्होंने सविस्तर वर्णन किया है । हिंदी-साहित्य को जिन-जिन बातों की आवश्यकता थी, प्राय: उन सभी विषयों पर इन्होंने साहित्य-रचना की है । ऐसा उन्नतिशील और प्रतिनिधि कवि भाषा-साहित्य में कोई दूसरा नहीं हुआ ।

(३) इनको हिंदूपन और जातीयता का सदैव बड़ा ध्यान रहता था । इतना अधिक स्वदेशाभिमान शायद ही किसी में उस समय हो ! स्वदेश-प्रेम से इन कविवर का हृदय परिपूर्ण था । भारतेंदु के बराबर हिंदोस्तान के दोषों पर आँसू बहानेवाला एवं उसके महत्त्व पर अभिमान करनेवाला कोई भी अन्य कवि हिंदी के साहित्य में न होगा । हिंदोस्तान के विषय में इन्होंने बहुत ही प्रेम-गद्गद होकर काव्य किया । यह पुरुष-रत्न हिंदी, हिंदू और हिंदोस्तान के वास्ते कल्पवृक्ष हो गया है । हास्य के ग्रंथों तक में इन्होंने देश-हित का चिंतवन नहीं छोड़ा । 'नीलदेवी' और 'भारत-दुर्दशा'-ग्रंथ इस विषय के प्रबल प्रमाण हैं ।

(४) इनकी कविता में हास्य की मात्रा भी अधिक रहती थी । इन्होंने उसका प्रयोग ऐसी रीति से किया है कि वह कविता बहुत

ही उत्कृष्ट मालूम होती है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' और 'अंधेर-नगरी' तो मानो इनके रूप हैं। और-और जगहों पर भी इसकी मात्रा बहुत पाई जाती है।

(५) इनके काव्य में ज़ोरदारी (Force) भी बहुत अधिक है। भाषा-कवियों में से कम की रचना में इतना ज़ोर पाया जाता है। 'नीलदेवी' और 'भारत-दुर्दशा' में इसके उदाहरण अधिकता से मिलेंगे।

(६) इनमें विविध विषयों की यथावत् प्रकार से वर्णन करने की शक्ति बहुत प्रबल थी। इन्होंने प्राकृतिक तथा अन्य सभी प्रकार के वर्णन बहुत ही उत्कृष्ट किए। सौंदर्य के तो उपासक ही थे, अतः प्रत्येक विषय में सुंदरता पर इनकी निगाह पहुँच जाती थी। इसके उदाहरण सभी स्थानों पर मिलते हैं। फिर भी गंगा, यमुना, काशी, शुकदेव, नारद, श्मशान, हरिश्चंद्र का बिकना आदि के वर्णन और सभा के व्याख्यान, कपटिया, दलाल इत्यादि की बातचीत विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। जैसे जी लगाकर इन्होंने रचना की, वैसे ही इन्हीं के सामने प्रायः इनके सभी नाटकों के अभिनय भी हो गए।

(७) इन्होंने अपनी कविता में रूपकों का समावेश भी विशेष रूप से किया है। उदाहरण-स्वरूप चंद्रावली-नाटिका में योगिनी और वियोगिनी का रूपक देखिए।

(८) इन महाशय ने पुरानी प्रथा के नायिका, अलंकार, छंद, रीति आदि विषयों पर एक भी ग्रंथ नहीं बनाया। रसों में इन्होंने ९ पुराने रसों के अतिरिक्त वात्सल्य, सख्य, भक्ति और आनंद नाम के चार नए रस माने, जिनको कुछ पंडितों ने भी प्रामाणिक समझा। इसी प्रकार शृंगार-रस में भी इन्होंने कई नए भेद माने हैं, जिनका विशेष वर्णन इनकी जीवनी (खड्गविलास-

प्रेसवाली) के ११८ पृष्ठ में हुआ है। इसी जीवनी में इनके ग्रंथों का समय भी दिया हुआ है।

(९) इनके समय तक हिंदी-भाषा में उपन्यास प्रायः नहीं लिखे गए थे। अतः इन्होंने लोगों को उपन्यास लिखने के लिये प्रोत्साहित किया। आपने स्वयं भी दो उपन्यास लिखने आरंभ किए थे, परंतु वे अपूर्ण ही रह गए। उनके नाम हैं 'एक कहानी कुछ आप-बीती कुछ जग-बीती' और 'हम्मीर-हठ'।

(१०) इन्होंने राजनीतिक और सामाजिक सुधारों पर भी बहुत कुछ बातें लिखी हैं, जो इनके ग्रंथों में यत्र-तत्र मिलती और भारत-दुर्दशा-नाटक में विशेष रूप से पाई जाती हैं। धार्मिक सुधारों का भी इन्होंने वर्णन किया है।

(११) इन्होंने पद्य में ब्रज-भाषा और गद्य में खड़ी बोली का विशेष आदर किया है। तो भी उर्दू, खड़ी बोली, ब्रज-भाषा, मारवाड़ी, गुजराती, बँगला, पंजाबी, मराठी, राजपूतानी, बनारसी, अवधी आदि सभी भाषाओं में इन्होंने काव्य किया, जो प्रायः सरस है। इन्होंने गद्य और पद्य प्रायः बराबर लिखे हैं। परिवर्तन-काल (सं० १८९०-१९२५) में खिचड़ी अथवा विशुद्ध हिंदी के प्रयोग में मतभेद था। राजा शिवप्रसाद खिचड़ी को चाहते थे, और राजा लक्ष्मणसिंह तथा स्वामी दयानंद सरस्वती संस्कृत-शब्द-गर्भित विशुद्ध हिंदी को। भारतेंदु ने प्रचलित उर्दू-शब्दों को भी अपनाया तथा अन्य प्रकार से संस्कृत-शब्द-संगुंफित विशुद्ध हिंदी का आदर किया। समय के साथ अब फिर सांस्कृत संगुंफन बढ़ रहा है।

भारतेंदु की रचना से उदाहरण—

सत्यहरिश्चंद्र

अहा! स्थिरता किसी को भी नहीं है। जो सूर्य उदय होते ही पद्मिनी-वल्लभ और लौकिक तथा वैदिक, दोनो कर्मों का प्रवर्तक था,

जो दोपहर तक अपना प्रचंड प्रताप क्षण-क्षण बढ़ाता गया, जो गगनांगण का दीपक और काल-सर्प की शिरोमणि था, वह इस समय परकटे गिद्ध की भाँति अपना सब तेज गवाँकर, देखो, समुद्र में गिरा चाहता है।

प्रेमयोगिनी

झपटिया—कहो मिसरजी, तोरी नींद नाहीं खुलती, देखो संख-नाद होय गवा, मुखियाजी खोजत रहे।

मिश्र—चले तौ आइत्थै, अधियै राति के संखनाद होय, तौ हम का करैं ? तोरे तरह से हम हूँ के घर में से निकसि के मंदिर में घुस आवना होता, तौ हम हूँ जल्दी आवते। हियाँ तौ दारानगर से आवना पड़त है। अबहीं सुरजौ नाहीं उगे।

झपटिया—का हो जगेसर ! ई नाहीं कि जब संखनाद होय, तब झटपट अपने काम से पहुँचि जावा करौ।

जलधरिया—अरे चलते तौ आवत्थई। का भहराय पड़ी ! का सुत्तल थारै रहलो ? हम हूँ के झापट कंधे पर रखके यहर-ओहर घूमै के होतै तब न ! हियाँ तो गगरा ढोवत-ढोवत कंधा छिल जाला।

चंद्रावली

अहा ! संसार के जीवों की कैसी विलक्षण रुचि है ? कोई नेम-धर्म में चूर है, कोई ज्ञान के ध्यान में मस्त है, कोई मत-मतांतर के झगड़ों में मतवाला हो रहा है। हरएक दूसरे को दोष देता है, अपने को अच्छा समझता है। कोई संसार ही को सर्वस्व मानकर परमार्थ से चिढ़ता है। कोई परमार्थ ही को परम पुरुषार्थ मानकर घर-बार तृण-सा छोड़ देता है। अपने-अपने रंग में सब रँगे हैं। जिसने जो सिद्धांत कर लिया है, वही उसके जी में गड़ रहा है, और उसी के

खंडन-मंडन में वह जन्म बिताता है। पर वह जो परम प्रेम अमृत-मय एकांत भक्ति है, जिसके उदय होते ही अनेक प्रकार के आग्रह स्वरूप ज्ञान-विज्ञानादिक अंधकार नाश हो जाते हैं, और जिसके चित्त में आते ही संसार का निगड़ आप-से-आप खुल जाता है, किसी को नहीं मिली। मिले कहाँ से? सब उसके अधिकारी भी तो नहीं हैं। और भी जो लोग धार्मिक कहाते हैं, उनका चित्त स्वमत-स्थापन और परमत-निराकरण-रूप वाद-विवाद से, और जो विषयी हैं, उनका अनेक प्रकार की इच्छा-रूपी तृष्णा से, अवसर तो पाता ही नहीं कि इधर झुकैं। अहा! इस मदिरा को शिवजी ने पान किया है, और कोई क्या पिएगा? जिसके प्रभाव से अर्द्धांग में बैठी पार्वती भी उनको विकार नहीं कर सकतीं। धन्य है, धन्य! और दूसरा ऐसा कौन है?"

भारत-दुर्दशा

मदवा पी लै पागल, जोबन बीत्यो जात;
बिनु मद जगत सार कछु नाहीं, मानु हमारी बात।
पी प्याला छक-छक आनँद सों नितहि साँझ अरु प्रात;
झूमत चलु डगमगी चाल से मारि लाज को लात।
हाथी मच्छड़, सूरज जुगनू जाके पिए लखात;
ऐसी सिद्धि छोड़ि मन मूरख काहे ठोकर खात।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति

पी ले अवधू के मतवाले प्याला प्रेम-हरी-रस का रे;
घिघिकिट घिघिकिट घिघिकिट धाधा बजै मृदंग थाप कसका रे।
बहार आई है भर दे बादए-गुलगूँ से पैमाना;
रहे लाखों बरस साक़ी, तेरा आबाद मैख़ाना।
सँभल बैठो अरे मस्तो, ज़रा हुशियार हो जाओ;
कि साक़ी हाथ में मै का लिए पैमाना आता है।

नीलदेवी

सोओ सुख-निंदिया प्यारे ललन।
नैनन के तारे दुलारे मेरे बारे,
सोओ सुख-निंदिया प्यारे ललन।
भइ आधी रात, बन सनसनात,
पसु-पच्छी कोउ आवत न जात,
जग प्रकृति भई मनु थिर लखात,
पातहु नहिं पावत तरु न हलन।
झलमलत दीप सिर धुनत आय,
मनु प्रिय पतंग हित करत 'हाय',
सतरात बैन आलस जनाय,
सनसन लगि सीरी पवन चलन।
सोए निसि के सब नींद घोर,
जागत कामी, चिंतित चकोर;
बिरहिनि, बिरही, पाहरू, चोर,
इन कहँ छिन रैनिहु हाय कल न।"

अंधेर-नगरी

चूरन अमलबेद का भारी, जिसको खाते कृष्ण मुरारी।
मेरा पाचक है पँचलोना, जिसको खाता स्याम सलोना।
हिंदू-चूरन इसका नाम, बिलायत-पूरन इसका काम।
चूरन ऐसा हट्टा-कट्टा, कीना दाँत सभी का खट्टा।
चूरन चला दाल की मंडी, इसको खाएँगी सब रंडी।
चूरन अमले सब जो खावैं, दूनी रिशवत तुरत पचावैं।
चूरन नाटकवाले खाते, इसकी नकल पचाकर लाते।
चूरन सभी महाजन खाते, जिससे जमा हजम कर जाते।
चूरन खाते लाला लोग, जिनको अकिल-अजीरन-रोग।

चूरन खावैं एडिटर जात, जिनके पेट पचै नहिं बात।
चूरन पूलिसवाले खाते, सब कानून हजम कर आते।

प्रेमयोगिनी

तोहरे आँखि में चरबी छाई माल न चाप्यो गोजर;
कैसी दून कि सूझि रही है असमानी के ऊपर।
कहाँ कि ई तू बात निकासी खासी सत्यानासी;
भूखे पेट कोऊ ना सुतता ऐसी है ई कासी।
देखी तुमरी कासी लोगो, देखी तुमरी कासी।
आधी कासी भाँड़-भँड़रिया, बाँभन औ' संन्यासी;
आधी कासी रंडी-मुंडी, राँड़, खानगी खासी।
लोग निकम्मे, भंगी, गंजड़, लुच्चे, बेबिसवासी;
महा आलसी, झूठे, सोहदे, बेफिकरे, बदमासी।
मैली गली भरी कतवारन, सड़ी चमारिन पासी;
नीचे नल ते बदबू उबलै, मनो नरक-चौरासी।
फिरैं उचक्का, दै-दै धक्का, लूटैं माल मवासी;
कैद भए की लाज तनिक नहिं बेसरमी नंगासी।
साहेब के घर दौरे जावैं, चंदा देइँ निकासी;
चढ़ै बोखार नाम मंदिर का सुनतै होयँ उदासी।
घर की जोरू, लड़के भूखे, बने दास औ' दासी;
दाल कि मंडी रंडी पूजैं, मानो इनकी मासी।
आप माल कचरैं, छानैं उठि भोरै कागाबासी;
बाप कि तिथि दिन बाँभन आगे धरैं सरा औ' बासी।
करि ब्यौहार साख बाँधैं मनु पूरी दौलति दासी;
घालि रुपैया, काढ़ि देवाला, माल डकारैं ठासी।
काम-कथा अमिरित-सी पीवैं, समुझैं ताहि बिलासी;
राम-नाम मुँह ते नहिं निकसै, सुनतै आवै खाँसी।

विद्यासुंदर

धिक है वह देह औ' गेह सखी, जेहिके बस नेह को टूटनो है ;
उन प्रानपियारे बिना यहि जीवहि राखि कहा सुख लूटनो है।
'हरिचंदजू' बात ठनी सो ठनी, नित की कुलकानि सों छूटनो है ;
तजि आन उपाय अनेक भटू, अब तौ हमको बिख घूटनो है।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने अनेकानेक विषयों को लिया, और सबमें इनको सफलता प्राप्त हुई। इन्होंने भक्ति, तीर्थ, व्रत, धर्म, वीर, श्रृंगार, हास्य, करुणा, बीभत्स, राजनीति, समाज, प्राकृतिक दृश्य आदि सभी विषयों पर काव्य किया, और अपनी क़लम का ज़ोर दिखलाया। सबमें इनको कृतकार्यता प्राप्त हुई। शुद्ध हिंदी में गद्य लिखने के तो मानो यह एकमात्र सुधारक थे। इनके प्रथम राजा लक्ष्मणसिंह तथा राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद भी गद्य के लेखक थे, परंतु प्रथम ने बहुत करके केवल अनुवाद और द्वितीय ने उर्दू-मिश्रित भाषा में प्रबंध लिखे। सबसे प्रथम साहित्य-पूर्ण सर्वांग-सुंदर गद्य के लेखक भारतेंदु ही हुए। उस समय से अब तक सैकड़ों गद्य-लेखक हो गए, और विद्यमान हैं। यह भी ठीक है कि अब गद्य-लेखन-प्रणाली ने, तुलना की दृष्टि से, ख़ासी उन्नति कर ली है; तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि कोई लेखक कुल मिलाकर इनसे श्रेष्ठ हुआ, या है। दो-चार वर्तमान लेखकों की भाषा इनसे कुछ गंभीर और परिमार्जित अवश्य है, परंतु कुल मिलाकर भारतेंदु के लेखों में रोचकता वर्तमान सुलेखकों से भी अधिक है। भारतेंदु उत्तम गद्य-लेखन के जन्मदाता और अद्यापि सर्व-श्रेष्ठ गद्य-लेखक हैं। जितनी भाषाओं में इन महाकवि को काव्य-रचना करने की क्षमता थी, उतनी में काव्य रचने की शक्ति या योग्यता हमारे अन्य किसी भी एक कवि में नहीं है, और न कभी थी ही।

भारतेंदु के पहले हिंदी में नाटकों का अभाव-सा था, और स्वतंत्र

नाटक का परमोत्कृष्ट ग्रंथ एक भी न था। इन महाकवि ने इस त्रुटि के दूर करने का पूरा प्रयत्न किया, और एक-एक करके १८ नाटक-ग्रंथ बनाए, जिनमें से, कहा जाता है, दो इनके नहीं हैं। इनमें से ६ ग्रंथ ख़ास इन्हीं के मस्तिष्क की उपज हैं, और शेष संस्कृत आदि से अनुवादित। एक अँगरेज़ी का भी अनुवाद है। इनके अनुवादों में ऐसा आनंद आता है, जैसा स्वतंत्र ग्रंथों में आना चाहिए। वर्तमान कवियों में गद्यानुवाद कई लोग ऐसा ही कर लेते हैं, परंतु पद्य-विभाग में भी रोचक अनुवाद करना इन्हीं का हिस्सा था।

इनके स्वतंत्र नाटकों में सभी अत्युत्कृष्ट हैं, परंतु, उनमें भी, सत्यहरिश्चंद्र, चंद्रावली और नीलदेवी बहुत ही श्लाघ्य बने हैं। आपने अच्छे नाटक बनाए। इन नाटकों की गणना संस्कृत के श्रेष्ठ नाटकों के साथ हो सकती है। शेक्सपियर के सब नाटक इनकी बराबरी नहीं कर सकते। भारत-दुर्दशा और प्रेमयोगिनी भी अपने ढंग के अपूर्व नाटक हैं। सती-प्रताप से भारतीय स्त्री-धर्म का उच्चातिउच्च आदर्श प्रकट होता है। अंधेर-नगरी और वैदिकी हिंसा भी अच्छे मनोरंजक प्रहसन हैं, यद्यपि ये अनुवाद-से हैं।

इतिहास और धर्म-प्रेम भी इनकी कविता से भली भाँति प्रकट होते हैं। यह सच है कि इनकी कोरी कविता भाषा के प्रशंसनीय कवियों की रचनाओं की समता नहीं कर सकती, परंतु नाटकों को भी मिला लेने से इनका पद बहुत ऊँचा हो जाता है। वर्तमान काल में हिंदी-भाषा की इतनी उन्नति किसी एक व्यक्ति के द्वारा नहीं हुई, जितनी कि भारतेंदु के द्वारा। इस एक ही व्यक्ति ने हिंदी-भाषा में कितने ही नए विषयों को उपस्थित कर दिया। कितने ही प्रकार के लेख और लेखक इनकी रचनाएँ पढ़कर तैयार हो गए। सचमुच यह वर्तमान हिंदी के जनक हो गए हैं। आशु-कविता करने की शक्ति इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि आप धाराप्रवाह से

नए छंद कहते चले जाते थे, और जिह्वा नहीं रुकती थी। कविता से इतना प्रेम था कि यह सोते में भी उसी के आनंद में निमग्न रहते थे। यहाँ तक सुना जाता है कि इन्होंने सोते में भी कुछ छंद बनाए।

हम भाषा के ६ प्रसिद्ध और सर्वोत्कृष्ट कवियों में इनकी भी गणना करते हैं। अब विस्तार के साथ इनकी रचना के कुछ उदाहरण देकर हम यह ग्रंथ समाप्त करते हैं। उदाहरण—

सत्यहरिश्चंद्र

प्रगटहु रविकुल-रवि, निसि बीती, प्रजा-कमलगन फूले;
मंद परे रिपुगन तारा-सम जन-भय तम उनमूले।
नसे चोर, लंपट खल लखि जग तुव प्रताप प्रगटायो;
मागध, बंदी, सूत चिरैयन मिलि कल-रोर मचायो।

* * *

नव उज्जल जल-धार हार-हीरक-सी सोहति;
बिच-बिच छहरत बूँद मध्य मुक्ता, मनि पोहति।
लोल लहर लहि पवन एक पै यक इमि आवत;
जिमि नरगन मन बिबिध मनोरथ करत, मिटावत।
सुभग स्वर्ग - सोपान - सरिस सबके मन भावत;
दरसन, मज्जन, पान त्रिबिध भय दूर मिटावत।
कहूँ बँधे नव घाट उच्च गिरिबर-सम सोहत;
कहुँ छतरी, कहुँ मढ़ी, बढ़ी मन मोहत जोहत।
धवल धाम चहुँ ओर फरहरत धुजा-पताका;
घहरत घंटा-धुनि, धमकत धौंसा, करि साका।
धोवत सुंदरि बदन करन अति ही छबि पावत;
बारिज नाते ससि-कलंक मनु कमल मिटावत।

सुंदरि ससि-मुख नीर मध्य इमि सुंदर सोहत ;
कमल-बेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत ।
दीठि जहाँ जहँ जाति, रहति तित ही ठहराई ;
गंगा-छबि 'हरिचंद' कछू बरनो नहिं जाई ।

* * *

हम प्रतच्छ हरिरूप, जगत हमरे बल चालत ;
जल-थल नभ थिर मो प्रभाव मरजाद न टालत ।
हम हीं नर के मीत सदा साँचे हितकारी ;
यक हम ही सँग जात तजत जब पितु, सुत, नारी ।
सो हम नित थित यक सत्य मैं, जाके बल सब जग जियो ;
सोइ सत्य परिच्छन नृपति को आजु भेष हम यह कियो ।

* * *

सोई मुख, सोई उदर, सोई कर-पद दोय ;
भयो आजु कछु और ही परसत जेहि नहिं कोय ।
हाड़, माँस, लाला, रकत, बसा, तुचा सब सोय ;
छिन्न-भिन्न, दुरगंधमय मरे मनुज के होय ।
फूल-बोझ हू जिन न सहारे, तिन पै बोझ काठ बहु डारे ।
सिर-पीड़ा जिनकी नहिं हेरी, करत कपाल-क्रिया तिन केरी ।
छिन हू जे न भए कहुँ न्यारे, तेऊ बंधुगन छोड़ि सिधारे ।
जो दृग-कोर महीप निहारत, आजु काक तेहि भोज विचारत ।
भुजबल जे नहिं भुवन समाए, ते लखियत मुख कफन छिपाए ।
नरपति प्रजा भेद बिनु देखे, गने काल सब एकहि लेखे ।
सुभग, कुरूप, अमृत-बिख-साने, आजु सबै यक भाव बिकाने ।
कुरु, दधीचि, काऊ अब नाहीं, रहे नाम ही ग्रंथन माहीं ।

* * *

साँझ सोई पट लाल कसे कटि, सूरज खप्पर हाथ लह्यो है ;
पच्छिन के बहु सब्दन के मिस जीव-उचाटन मंत्र कह्यो है।
मद्य-भरी नर-खोपरी सो ससि को नव बिंबहु धाइ गह्यो है ;
दै बलि जीव पसू यह मत्त ह्वै काल कपालिक नाचि रह्यो है।
सूरज धूम बिना की चिता, सोई अंत में लै जल माहिं बहाई ;
बोलैं घने तरु बैठि बिहंगम, रोवत सो मनु लोग-लुगाई।
धूम अँध्यार, कपाल निसाकर, हाड़ नछत्र, लहू-सी ललाई ;
आनँद हेतु निसाचर के यह काल मसान-सी साँझ बनाई।

* * *

रुरुआ चहुँ दिसि ररत, डरत सुनिकै नर-नारी ;
फटफटाइ दोउ पंख उलूकहु रटत पुकारी।
अंधकार-बस गिरत काक अरु चील्ह करत रव ;
गिद्ध, गरुड़, हड़गिल्ल भजत लखि निकट भयद दव।
रोवत सियार, गरजत नदी, स्वान भूँकि डरपावई ;
सँग दादुर-झींगुर-रुदन-धुनि मिलि स्वर तुमुल मचावई।

मुद्राराक्षस

भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर ;
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन-मोर।
कौन है सीस पै, चंद्रकला, कहा याको है नाम, यही त्रिपुरारी ;
हाँ यही नाम है भूलि गई किमि जानत हू तुम प्रानपियारी।
नारिहि पूछत चंदहि नाहिं कहै बिजया जदि चंद लबारी ;
यों गिरिजै छलि गंग छिपावत ईस हरैं सब पीर तुम्हारी।
पादप्रहार सों जाइ पताल न भूमि सबै तनु-बोझ के मारे ;
हाथ नचाइबे सों नभ मैं इत के उत टूटि परैं नहिं तारे।

देखन सों जरि जाहिं न लोक, न खोलत नैन कृपा उर धारे;
यों थल के बिनु कष्ट सों नाचत सर्व हरैं दुख सर्व तुम्हारे।

* * *

सदा दंति के कुंभ को जो बिदारै; ललाई नए चंद-सी जौन धारे।
जँभाई समै काल-सो जौन बाढ़ै; भला सिंह को दाँत सो कौन काढ़ै।

* * *

काल सर्पिनी नंदकुल क्रोध-धूम-सी जौन;
अजहूँ बाँधन देत नहिं अहो सिखा मम कौन?
दहन नंद-कुल-वन सहज अति प्रज्वलित प्रताप;
को मम क्रोधानल पतँग भयो चहत अब आप?

* * *

प्रिया दूरि, धन गरजहीं अहो दुःख अति घोर;
औषध दूरि हिमाद्रि पै, सिर पै सर्प कठोर?

* * *

जे बात कछु जिय धारि भागे, भले सुख सों भागहीं;
जे रहे तेहू जाहिं, तिनको सोच मोहि जिय कछु नहीं।
सत सैन हू सों अधिक साधिनि काज की जेहि जग कहै;
सो नंद-कुल की खननहारी बुद्धि नित मोमैं रहै।

* * *

नृप सों, सचिव सों, सब मुसाहेब गनन सों डरते रहौ;
पुनि बिटहु जे अति पास के, तिनको कह्यो करते रहौ।
मुख लखत बीतत दिवस-निसि, भय रहत संकित प्रान है;
निज उदर पूरन हेतु सेवा-वृत्ति स्वान-समान है।

* * *

जहँ लौं हिमालय के सिखर सुरधुनी-कन सीतल रहैं;
जहँ लौं बिबिध मनि-खंड-मंडित समुद दच्छिन दिसि बहैं।

तहँ लौं सबै नृप आइ भय सों तोहिं सीस झुकावहीं;
तिनके मुकुट-मनि-रँगे तुव पद निरखि हम सुख पावहीं।

* * *

मूरख स्वामि लहि गिरै चतुर सचिव हू हारि;
नदी-तीर-तरु जिमि नसत जीरन ह्वै लहि बारि।

धनंजयविजय

लीकहु नहिं लखि परत चक्र की ऐसे धावत;
दूरि रहत तरु-बृंद छिनकु मैं आगे आवत।
जदपि बायु-बल पाइ धूरि आगे गति पावत;
पै हय निज खुर-वेग पीछे ही मारि गिरावत।
फेरत धनु टंकारि, दरप सिव-सम दरसावत;
साहस को मनु रूप काल-सम दुसह लखावत।
जय लछिमी-सम बीर धनुष धरि रोष बढ़ावत;
को यह, जो कुरुपतिहिं गिनत नहिं इत ही आवत?

* * *

कंचन-बेदी बैठि बड़ोपन प्रगट दिखावत;
सूरज को प्रतिबिंब जाहि मिलि जाल तनावत।
ब्रह्म-उपनिषद्-भेद जानि भय दूरि भजावत;
कौरव-कुल-गुरु पूज्य द्रोन आचारज आवत।

कर्पूरमंजरी

मंद-मंद लै सिरिस-सुगंधहि सरस पवन यह आवै;
करि संचार मलय-पर्वत पै बिरहिनि-ताप बढ़ावै।
कामिनिजन के बसन उड़ावत, काम-धुजा फहरावै;
जीवन प्रानदान सो बितरत बायु सबन मन भावै।
देखहु लहि ऋतुराजहि उपबन फूली चारु चमेली;
लपटि रहीं सहकारन सों बहु मधुर माधवी-बेली।

फूले बर बसंत बन-बन मैं कहुँ मालती नवेली ;
तापै मदमाते-से मधुकर गूँजत मधुरसरेली ।

*   *   *

फूलैंगे पलास बन आगि-सी लगाय क्रूर,
कोकिल कुहूकि कल-सबद सुनावैगो ;
त्यौंही सखी लोक सबै गावैगो धमारि, धीर-
हरन अबीर बीर सब ही उड़ावैगो ।
सावधान होहु री बियोगिनी सँभारि तन,
अतन तनक ही मैं तापन ते तावैगो ;
धीरज नसावत, बढ़ावत बिरह, काम
कहर मचावत बसंत अब आवैगो ।

*   *   *

राजा (आश्चर्य से)—अहाहा ! जैसे रूप का खज़ाना खुल गया, नेत्र कृतार्थ हो गए । यह रूप, यह जोबन, यह चितवन, यह भोलापन ! कुछ कहा नहीं जाता । मालूम होता है, यह नहाकर बाल सुखा रही थी, उसी समय पकड़ आई है । अहा ! धन्य है इसका रूप ! इसकी चितवन कलेजे में से चित्त को जोराजोरी निकाले लेती है । इसकी सहज शोभा इस समय कैसी भली मालूम पड़ती है । अहा ! इसके कपड़े से जो पानी की बूँदें टपकती हैं, वे ऐसी मालूम होती हैं, मानो भावी वियोग के भय से वस्त्र रोते हैं । काजल आँखों से धो जाने से नेत्र कैसे सुहावने हो रहे हैं, और बहुत देर तक पानी में रहने से कुछ लाल भी हो गए हैं । बाल हाथों में लिए है, उनसे पानी की बूँदें ऐसी टपकती हैं, मानो चंद्रमा का अमृत पी जाने से दो कमलों ने नागिनी को ऐसा दबाया है कि उसकी पूँछ से अमृत बहा जाता है । भीगे वस्त्र से छोटे-छोटे इसके कठोर कुच अपनी ऊँचाई और श्यामताई से यद्यपि प्रत्यक्ष

हो रहे हैं, तो भी यह उन्हें बाँह से छिपाना चाहती है, और वैसे ही गोरी-गोरी जाँघें इसकी चिपके हुए भीगे वस्त्र से यद्यपि चमकती हैं, तो भी यह उनको दबाए देती है, वरंच इसी अंग उघरने से यह लजाकर सकपकानी-सी भी हो रही है, और योगबल से, खिंच आने से, जो कुछ डर गई है, इससे और भी चौकन्नी हो-होकर भूले हुए मृग-छौने की भाँति अपने चंचल नेत्र नचाती है।

❀ ❀ ❀

विच०। गोरे तन कुंकुम सुरँग प्रथम न्हवाई बाल;
राजा। सो तो जनु कंचन तप्यो होन पीत सों लाल।
विच०। इंद्रनील-मनि-पैंजनी ताहि दई पहिराय;
राजा। कमल-कली जुग घेरिकै अलि मनु बैठे आय।
विच०। सजी हरित सारी सरिस जुगल जंघ कहँ घेरि;
राजा। सो मनु कदली-पात निज खंभन लपट्यो फेरि।
विच०। पहिराई मनि-किंकिनी छीन सु कटि-तट लाय;
राजा। सो सिंगार-मंडप बँधी बंदनवार सुहाय।
विच०। गोरे कर कारी चुरी चुनि पहिराई हाथ;
राजा। सो साँपिनि लपटी मनहुँ चंदन-साखा साथ।
विच०। निज कर सों बाँधन लगी चोली तब वह बाल;
राजा। सो मनु खींचत तीर भट तरकस ते तेहि काल।
विच०। लाल कंचुकी मैं उगे जोबन जुगल लखात;
राजा। सो मानिक-संपुट बने मन-चोरी हित गात।
विच०। बड़े-बड़े मुक्तान सों गल अति सोभा देत;
राजा। तारागन आए मनो निज पति ससि के हेत।
विच०। करनफूल जुग करन मैं अति ही करत प्रकास;
राजा। मनु ससि लै द्वै कुमुदिनी बैठ्यो उतरि अकास।

विच० । बाला के जुग कान मैं बाला सोभा देत ;
राजा । स्रवत अमृत ससि दुहुँ तरफ पियत मकर करि हेत ।
विच० । जियरजन खंजन-दृगनि अंजन दियो बनाय ;
राजा । मनहुँ सान फेरयो मदन जुगल बान निज लाय ।
विच० । चोटी गुँथि पाटी सरस करिकै बाँधे केस ;
राजा । मनहुँ सिंगार इकत्र ह्वै बँध्यो बार के बेस ।
विच० । बहुरि ओढ़ाई ओढ़नी अतर-सुबास बसाय ;
राजा । फूल-लता लपटी किरन रबि-ससि की मनु आय ।
विच० । यहि बिधि सों भूषित करी भूषन-बसन बनाय ;
राजा । काम बाग झालरि लई मनु बसंत ऋतु पाय ।

❀ ❀ ❀

मनभावनि भइ साँझ सुहाई ;
दीपक प्रगटि कमल सकुचाने, प्रफुलित कुमुदिनि निसि ढिग आई ।
ससिप्रकास पसरित तारागन उगन लगे नभ मैं अकुलाई ;
साजत सेज सबै जुवतीजन पीतम हित हिय हेत बढ़ाई ।
फूले रैनि फूल बागन मैं, सीतल पवन चली सुखदाई ;
गौरी-राग सरस सुर सब मिलि गावत कामिनि काम-बधाई ।

❀ ❀ ❀

तजौ गरब अब चंद तुम, भूलौ मति मन माहिं ;
क्रोध, हसनि, भ्रू भंग छबि, तुममैं सपनेहुँ नाहिं ।

चंद्रावली

पिंग जटा को भार सीस पै सुंदर सोहत ;
गल तुलसी की माल बनी जोहत मन मोहत ।
कटि मृगपति को चरम, चरन मैं घुँघरू धारत ;
नारायन, गोबिंद, कृष्ण ये नाम उचारत ।

लै बीना कर बादन करत तान सात सुर सौं भरत ;
जग-अघ छिन मैं हरि कहि हरत जिहि सुनि नर भवजल तरत ।
जग तूँबन की बीन परम सोभित मन भाई ;
लै अरु सुर की मनहुँ जुगल गठरी लटकाई ।
आरोहन, अवरोहन के कै द्वै फल सोहैं ;
कै कोमल अरु तीव्र सुर भरे जग मन मोहैं ।
कै श्रीराधा अरु कृष्ण के अगनित गुनगन के प्रगट ;
ये अगम खजाने द्वै भरे, नित खरचत तौ हूँ अघट ।

❀ ❀ ❀

प्यारे !

क्या लिखूँ ! तुम बड़े दुष्ट हो, चलो भला सब अपनी बीरता हमी पर दिखानी थी । हाँ ! भला मैंने तो लोक, वेद, अपना, बिराना, सब छोड़कर तुम्हें पाया, तुमने हमें छोड़के क्या पाया ? और जो धर्म-उपदेश करो, तो धर्म से फल होता है, फल से धर्म नहीं होता । निर्लज्ज, लाज भी नहीं आती । मुँह ढको, फिर भी बोलने बिना डूबे जाते हो ! चलो वाह ! अच्छी प्रीति निबाही । जो हो, तुम जानते ही हो, हाय कभी न करूँगी । यों ही सही, अंत मरना है । मैंने अपनी ओर से खबर दे दी । अब मेरा दोष नहीं, बस ।

केवल तुम्हारी

❀ ❀

देखि घन स्याम घनस्याम की सुरति करि
जिय मैं बिरह-घटा घहरि-घहरि उठै ;
त्यौं हीं इंद्रधनु, बगमाल देखि बनमाल
मोती-लर पी की जिय लहरि-लहरि उठै ।
'हरिचंद' मोर-पिक-धुनि सुनि बंसी-नाद
बाँकी छबि बार-बार छहरि-छहरि उठै ;

देखि-देखि दामिनि की दुगुन दमक पीत-
पट-छोर मेरे हिय फहरि-फहरि उठै।

❀ ❀ ❀

जोगिनि मुख पर लट लटकाई ;
कारी, घूँघरवारी प्यारी देखत सब मन भाई।
छूटे केस, गेरुआ बागे सोभा दुगुन बढ़ाई ;
साँचे-ढरी प्रेम की मूरति अँखियाँ निरखि सिराई।

❀ ❀ ❀

तरनितनूजा-तट तमाल - तरुवर बहु छाए ;
झुके कूल सों जल-परसन-हित मनहुँ सुहाए।
किधौं मुकुर मैं लखत उझकि सब निज-निज सोभा ;
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा।
मनु आतप-बारन तीर को सिमिटि सबै छाए रहत ;
कै हरि-सेवा हित नै रहे निरखि नैन, मन सुख लहत।
कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन ;
कहुँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन।
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत ब्रज-सोभा ;
कै उमँगे प्रिय-प्रिया-प्रेम के अनगिन गोभा।
कै करिकै कर बहु पीय को टेरत निज ढिग सोहई
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन [illegible]-मोहई
कै पिय-पद-उपमान जानि यहि निज उर धारत ;
कै मुख करि बहु भृंगन मिसि अस्तुति उच्चारत।
कै ब्रज हरि-पद-परस हेत कमला बहु आईं ;
कै ब्रज-तियगन-बदन-कमल की झलकत झाईं।
कै सात्त्विक अरु अनुराग दोउ ब्रज-मंडल बगरे फिरत ;
कै जानि लच्छमी-भौन यहि करि सतधा निज जल धरत।

परत चंद प्रतिबिंब कहूँ जल मधि चमकायो ;
लोल लहरि लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो।
मनु हरि-दरसन हेत चंद जल बसत सुहायो ;
कै तरंग-कर मुकुर लिए सोभित छबि-छायो।
कै रास-रमन मैं हरि-मुकुट-प्राभा जल दिखरात है ;
कै जल-उर हरि-मूरति बसति ता प्रतिबिंब लखात है।
कबहुँ होत सत चंद, कबहुँ प्रगटत दुरि भाजत ;
पवन-गवन-बस बिंब रूप जल मैं बहु साजत।
मनु ससि भरि अनुराग जमुन-जल लोटत डोलै ;
कै तरंग की डोर हिंडोरन करति कलोलै।
कै बाल-गुड़ी नभ मैं उड़ी सोहत इत-उत धावती ;
कै अवगाहत डोलत कोऊ ब्रजरमनी जल आवती।
मनु जुग पच्छ प्रतच्छ होत मिटि जात जमुन-जल ;
कै तारागन गगन लुकत प्रगटत ससि अविकल।
कै कालिंदी नीर-तरंग जिते उपजावत ;
तितने ही धरि रूप मिलन हित तासों धावत।
कै बहुत रजत-चकई चलत, कै फुहार-जल उच्छरत ;
कै निसिपति मल्ल अनेक बिधि उठि बैठत कसरत करत।
कूजत कहुँ कलहंस, कहूँ मज्जत पारावत ;
कहुँ कारंडव उड़त, कहूँ जल-कुक्कुट धावत।
चक्रवाक कहुँ बसत, कहूँ बक ध्यान लगावत ;
सुक, पिक जल कहुँ पियत, कहूँ भ्रमरावलि गावत।
कहुँ तट पर नाचत मोर बहु, रोर बिबिध पंछी करत ;
जलपान, न्हान करि सुख-भरे तट-सोभा सब जिय धरत।

❀ ❀ ❀

पचि मरत वृथा सब लोग जोग-सिर-धारी ;
साँची जोगिनि पिय बिना बियोगिनि नारी ।
बिरहागिनि-धूनी चारो ओर लगाई ;
बंसी-धुनि की मुद्रा कानों पहिराई ।
अँसुअन की सेली गल मैं लगत सुहाई ;
तन धूरि जमी, सोइ अंग भभूति रमाई ।
लट उरझि रही सोइ लटकाई लट कारी ;
साँची जोगिनि पिय बिना बियोगिनि नारी ।
यह है सुहाग का अचल हमारे बाना ;
असगुन की मूरति खाक न कभी चढ़ाना ।
सिर सेंदुर देकर चोटी गूँथ बनाना ;
कर चूरी, मुख में रंग तमोल जमाना ।
पीना प्याला भर रखना वही खुमारी ;
साँची जोगिनि पिय बिना बियोगिनि नारी ।
है पंथ हमारा नैनों के मत जाना ;
कुल, लोक, वेद सब औ' परलोक मिटाना ।
सिवजी-से जोगी को भी जोग सिखाना ;
'हरिचंद' एक प्यारे से नेह बढ़ाना ।
ऐसे वियोग पर लाख जोग बलिहारी ;
साँची जोगिनि पिय बिना बियोगिनि नारी ।

❀ ❀ ❀

कहै को चंद-बदन की सोभा ;
जाको देखत नगर-नारि को सहजहि ते मन लोभा ।
मनु चंदा आकास छोड़ि कै भूमि लखन को आयो ;
कैधौं काम बाम के कारन अपनो रूप छिपायो ।

भौहँ कमान कटाच्छ बान-से अलक भ्रमर घुँघरारे ;
देखत ही बेधत हैं मन-मृग, नहिं बचि सकत बिचारे।

भारत-दुर्दशा

रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई ;
हा-हा ! भारत-दुर्दसा न देखी जाई। ध्रुव।
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन, बल दीनो ;
सबके पहिले जेहि सभ्य बिधाता कीनो।
सबके पहिले जो रूप-रंग-रस-भीनो ;
सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो।
अब सबके पीछे सोई परत लखाई।
हा-हा ! भारत-दुर्दसा न देखी जाई।
जहँ भए साक्य, हरिचंद्रऽरु नहुस, जजाती ;
जहँ राम, जुधिष्ठिर, बासुदेव, सरजाती।
जहँ भीम, करन, अर्जुन की छटा दिखाती ;
तहँ रही मूढ़ता, कलह, अबिद्या राती।
अब जहँ देखहु, तहँ दुःख-हि-दुःख दिखाई ;
हा-हा ! भारत-दुर्दसा न देखी जाई।
लरि बैदिक, जैन डुबाईं पुस्तक सारी ;
करि कलह बुलाई जवन-सैन पुनि भारी।
तिन नासी बुधि, बल, बिद्या, धन बहु बारी ;
छाई अब आलस-कुमति-कलह अँधियारी।
भय अंध, पंगु सब दीन-हीन बिलखाई ;
हा-हा ! भारत-दुर्दसा न देखी जाई।
अँगरेज राजसुख-साज सजे सब भारी ;
पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी।

ताहू पै महँगी काल-रोग बिस्तारी ;
दिन-दिन दूने दुख ईस देत हा-हारी।
सबके ऊपर टिक्कस की आफति आई ;
हा-हा ! भारत-दुर्दसा न देखी जाई।

❀ ❀ ❀

उपजा ईश्वर-कोप से आया भारत बीच ;
छार-खार सब हिंद करूँ मैं तो उत्तम, नहिं नीच।
मुझे तुम सहज न जानो जी ;
मुझे यक राच्छस मानो जी।
कौड़ी-कौड़ी को करूँ मैं सब को मुहताज ;
भूखे प्रान निकालूँ इनका, तो मैं सच्चा राज ॥ मुझे०॥
काल भि लाऊँ, महँगी लाऊँ और बुलाऊँ रोग ;
पानी उलटा कर बरसाऊँ, छाऊँ जग में सोग ॥ मुझे०॥
फूट, बैर औ' कलह बुलाऊँ, लाऊँ सुस्ती, जोर ;
घर-घर में आलस फैलाऊँ, छाऊँ दुख घनघोर ॥ मुझे०॥
काफ़िर, काला, नीच पुकारूँ तोड़ूँ पैर औ' हाथ ;
दूँ इनको संतोष, खुसामद, कायरता भी साथ ॥ मुझे०॥
मरी बुलाऊँ, देस उजाड़ूँ महँगा करके अन्न ;
सबके ऊपर टिकस लगाऊँ, धन है मुझको धन्न ॥ मुझे०॥

❀ ❀ ❀

रचि बहु बिधि के बाक्य पुरानन माहिं घुसाए ;
सैव, साक्त, बैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए।
जाति अनेकन करी, नीच अरु ऊँच बनायो ;
खान-पान-संबंध सबन सों बरजि छुड़ायो।
जन्म-पत्र बिन मिले ब्याह नहिं होन देत अब ;
बालकपन में ब्याहि प्रीति, बल नास कियो सब।

करि कुलीन के बहुत ब्याह बल, बीरजु मारयो ;
बिधवा-ब्याह-निषेध कियो, बिभिचार प्रचारयो।
रोकि बिलायत-गमन, कूप-मंडूक बनायो ;
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो।
बहु देबी, देवता, भूत-प्रेतादि पुजाई ;
ईस्वर सों सब बिमुख किए हिंदू घबराई।

❀ ❀ ❀

दुनिया में हाथ-पैर हिलाना नहीं अच्छा ;
मर जाना पै उठ के कहीं जाना नहीं अच्छा।
बिस्तर पै मिस्ल लोथ पड़े रहना हमेशा ;
बंदर की तरह धूम मचाना नहीं अच्छा।
सिर भारी चीज़ है, इसे तकलीफ़ हो, तो हो ;
पर जीभ बिचारी को सताना नहीं अच्छा।
फ़ाक़ों से मरिए, पर न कोई काम कीजिए ;
दुनिया नहीं अच्छी है, ज़माना नहीं अच्छा।
सिजदे से गर बिहिश्त मिले, दूर कीजिए ;
दोज़ख़ हि सही, सर का झुकाना नहीं अच्छा।
मिल जाय हिंद ख़ाक में, हम काहिलों को क्या ;
ऐ मीरे-फ़र्श रंज उठाना नहीं अच्छा।

❀ ❀ ❀

दूध सुरा, दधि हू सुरा, सुरा अन्न, धन, धाम ;
बेद सुरा, ईस्वर सुरा, सुरा स्वर्ग को नाम।
जाति सुरा, बिद्या सुरा, बिनु मद रहै न कोइ ;
सुधरी आजादी सुरा, जगत सुरामय होइ।
ब्राह्मन, छत्री, बैस्य अरु सैयद, सेख, पठान ;
दे बताय मोहिं कौन, जो करत न मदिरा-पान।

पियत भट्ट के ठट्ट अरु गुजरातिन के बृंद ;
गौतम पियत अनंद सों, पियत अग्र के नंद।
होटल मैं मंदिरा पियैं, चोट लगै नहिं लाज ;
लोट लिए ठाढ़े रहत, टोटल दीबे काज।
मद्यहि के परभाव सों रचत अनेकन ग्रंथ ;
मद्यहि के परकास सों लखत धरम को पंथ।
मद पी बिधि जग को करत, पालत हरि करि पान ;
मद्यहि पी कै नास सब करत संभु भगवान।
सोक-हरनि, आनँद-करनि, उमँगावनि सब गात ;
हरि मैं तप बिनु लय-करनि केवल मद्य लखात।

❀ ❀ ❀

छठा दृश्य

स्थान—गंभीर वन का मध्य भाग

(भारत एक वृक्ष के नीचे अचेत पड़ा है)

[भारत-भाग्य का प्रवेश]

भारत-भाग्य—(गाता है—राग चैती-गौरी)

जागो, जागो रे भाई ;
सोवत निसि बैस गँवाई, जागो, जागो रे भाई।
निसि की कौन कहै, दिन बीत्यो, कालराति चलि आई ;
देखि परत नहिं हित-अनहित कछु परे बैरि-बस जाई।
निज उद्धार-पंथ नहिं सूझत, सीस धुनत पछिताई ;
अबहूँ चेति पकरि राखौ किन, जो कछु बची बड़ाई।
फिरि पछिताए कछु नहिं ह्वै है, रहि जैहौ मुँह बाई ;
सोवत निसि बैस गँवाई, जागो, जागो रे भाई।

(भारत को जगाता है, और भारत जब नहीं जगता, तब अनेक यत्न से फिर जगाता है। अंत में हारकर उदास होकर)

हाय ! भारत को आज क्या हो गया है ? क्या निस्संदेह परमेश्वर इससे ऐसा ही रूठा है ? हाय ! क्या भारत के फिर वे दिन न आवेंगे ? हाय ! यह वही भारत है, जो किसी समय सारी पृथ्वी का शिरोमणि गिना जाता था ?—

भारत के भुज-बल जग रच्छित ; भारत-विद्या लहि जग सिच्छित ।
भारत-तेज जगत बिस्तारा ; भारत-भय कंपत संसारा ।
जाके तनिकहिं भौंह हिलाए ; थर-थर कंपत नृप डर पाए ।
जाके जय की उज्जल गाथा ; गावत सब महि मंगल साथा ।
भारत-किरन जगत उजियारा ; भारत-जीव जियत संसारा ।
भारत वेद, कथा, इतिहासा ; भारत वेद-प्रथा परकासा ।
फिनिक, मिसिर, सीरीय, युनाना ; भे पंडित लहि भारत-ज्ञाना ।
रह्यौ रुधिर जब आरज-सीसा ; ज्वलित अनल-समान अवनीसा ।
साहस, बल इन सम कोउ नाहीं ; तबै रह्यौ महिमंडल माहीं ।
कहा करी तकसीर तिहारी ; रे बिधि, रुष्ट याहि की बारी !
सबै सुखी जग के नर-नारी ; रे विधना, भारतहि दुखारी !
हाय रोम ! तू अति बड़भागी ; बबर तोहिं नास्यो जय लागी ।
तोरे कीरति-थंभ अनेकन ; ढाहे गढ़ बहु करि प्रन टेकन ।
मंदिर, महलनि, तोरि गिराए ; सबै चिह्न तुव धूरि मिलाए ।
कछु न बची तुव भूमि-निसानी ; सो बरु मेरे मन अति मानी ।
भारत-भाग्य न जात निहारे ; थाप्यो पग ता सीस उघारे ।
तोर्यो दुर्गन, महल ढहायो ; तिनही मैं निज गेह बनायो ।
ते कलंक सब फेरत फेरे ; ठाढ़े अजहूँ लखो घनेरे ।
कासी, प्राग, अजोध्या-नगरी ; दीन-रूप सम ठाढ़ीं सगरी ।
चंडालहु जेहि निरखि घिनाई ; रहीं सबै भुव मुँह-मसि लाई ;
हाय पंचनद, हा पानीपत ; अजहुँ रहे तुम धरनि बिराजत ।
हाय चितौर, निलज तू भारी ; अजहुँ खरो भारतहि मँझारी ।

इन ही के क्रोध कीन्हे प्रकास, सब काँपत भूमंडल, अकास।
इन ही के हुंकृति-शब्द घोर, गिरि काँपत हैं सुनि चारि ओर।
जब लेत रहे कर मैं कृपान, इन ही कहँ हो जग तृन-समान।
सुनि के रन-बाजन खेत माहिं, इन ही कहँ हो जिय संक नाहिं।

याही भुव महँ होत हैं हीरक, आम, कपास;
इत ही हिम-गिरि, गंग-जल, काव्य-गीत परकास।
जाबाली, जैमिनि, गरग, पातंजलि, सुकदेव;
रहे भारतहि अंक मैं कबहिं सबै भुवदेव।
याही भारत मध्य मैं रहे कृष्ण-मुनि-व्यास;
जिनके भारत-गान सों भारत-बदन प्रकास।
याही भारत मैं रहे कपिल, सूत, दुरबास;
याही भारत मैं भए साक्यसिंह संन्यास।
याही भारत मैं गए मनु, भृगु आदिक होइ;
तब तिनसों जग मैं रह्यो घृना करत नहिं कोइ।
जासु काव्य सों जगत मधि अब लौं ऊँचो सीस;
जासु राज-बल, धर्म की तृषा करहिं अवनीस।
सोई व्यास अरु राम के बंस सबै संतान;
ये मेरे भारत भरे, सोइ गुन, रूप समान।
सोई बंस, रुधिरहु वही, सोई मन बिस्वास;
वही बासना, चित वही, आसय वही बिलास।
कोटि-कोटि ऋषि पुन्य-तनु, कोटि-कोटि अति सूर;
कोटि-कोटि बुध, मधुर कबि मिले इहाँ की धूर।
सोइ भारत की आज यह भई दुर्दसा हाय;
कहा करैं, कित जायँ, नहिं सूझत कछू उपाय।

(भारत को फिर उठाने की अनेक चेष्टा करके उपाय निष्फल होने पर रोकर)

हा ! भारतवर्ष को ऐसी मोह-निद्रा ने घेरा है कि अब इसके उठने की आशा नहीं। सच है, जो जान-बूझकर सोता है, उसे कौन जगा सकेगा ?

हा दैव ! तेरे विचित्र चरित्र हैं। जो कल राज करता था, वह आज जूते में टाँका उधार लगवाता है। कल जो हाथी पर सवार फिरते थे, वे आज नंगे पाँव वन की धूल उड़ाते फिरते हैं। कल जिनके घर लड़के-लड़कियों के कोलाहल से कान नहीं दिया जाता था, आज उनका नाम-लेवा और पानी-देवा कोई नहीं बचा, और कल जो घर अन्न-धन-पूत लक्ष्मी हर तरह से भरे-पुरे थे, आज उन घरों में तूने दिया बालनेवाला भी नहीं छोड़ा !

हा ! जिस भारतवर्ष का सिर व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, पाणिनि, शाक्यसिंह, बाण भट्ट प्रभृति कवियों के नाम-मात्र से, अब भी, सारे संसार से, ऊँचा है, उस भारत की यह दुर्दशा ! जिस भारतवर्ष के राजा चंद्रगुप्त और अशोक का शासन रूम, रूस तक माना जाता था, उस भारत की यह दुर्दशा ! जिस भारत में राम, युधिष्ठिर, नल, हरिश्चंद्र, रंतिदेव, शिवि इत्यादि पवित्र-चरित्र लोग हो गए हैं, उसकी यह दशा ! हाय, भारत भैया, उठो। देखो, विद्या का सूर्य पश्चिम से उदय हुआ चला आता है। अब सोने का समय नहीं है। अँगरेज़ों का राज्य पाकर भी न जगे, तो कब जगोगे ? मूर्खों के प्रचंड शासन के दिन गए। अब राजा ने प्रजा का स्वत्व पहचाना। विद्या की चर्चा फैल चली। सबको सब कुछ कहने-सुनने का अधिकार मिला, देश-विदेश से नई-नई विद्या और कारीगरी आई। तुमको उस पर भी वे ही सीधी बातें, भाँग के गोले, ग्राम्य गीत, वही बाल्य-विवाह, भूत-प्रेत की पूजा, जन्मपत्री की विधि, वही थोड़े में संतोष, गप हाँकने में प्रीति और सत्यानाशी चालें !

हाय ! अब भी भारत की यह दुर्दशा ! अरे, अब क्या चिता पर सँभलगा ? भारत भाई, उठो, देखो, अब यह दुःख नहीं सहा जाता। अरे, कब तक बेसुध पड़े रहोगे ? उठो, देखो, तुम्हारी संतानों का नाश हो गया। छिन्न-भिन्न होकर सब नरक की यातना भोगते हैं, उस पर भी नहीं चेतते। हाय ! मुझसे तो अब यह दशा नहीं देखी जाती। प्यारे, जागो (जगाकर और नाड़ी देखकर) हाय ! इसे तो बड़ा ही ज्वर चढ़ा है। किसी तरह होश में नहीं आता। हा भारत ! तेरी क्या दशा हो गई। हे करुणासागर भगवान् ! इधर भी दृष्टि कर। हे भगवती राजराजेश्वरी ! इसका हाथ पकड़ो। (रोकर) अरे, कोई नहीं, जो इस समय अवलंब दे। हा, अब मैं जीकर क्या करूँगा। जब भारत-ऐसा मेरा मित्र इस दुर्दशा में पड़ा है, और मैं उसका उद्धार नहीं कर सकता, तो मेरे जीवन को धिक्कार है ! जिस भारत का मेरे साथ अब तक इतना संबंध था, उसकी ऐसी दशा देखकर भी मैं जीता रहूँ, तो बड़ा कृतघ्न हूँ। (रोता है) हा विधाता ! तुझे यही करनी थी। (आतंक से) छिः-छिः, इतना क्लैब्य क्यों ? इस समय यह अधीरजपना ! बस, अब धैर्य। (कमर से कटार निकालकर) भाई भारत ! मैं तुम्हारे ऋण से छूटता हूँ। मुझसे वीरों का कर्म नहीं हो सकता, इसी से कायर की भाँति प्राण देकर उऋण होता हूँ। (ऊपर हाथ उठाकर) हे सर्वांतर्यामी ! हे परमेश्वर ! जन्म-जन्म मुझे भारत-सा भाई मिले, जन्म-जन्म गंगा-यमुना के किनारे मेरा निवास हो। (भारत का मुँह चूमकर और गले लगाकर) भैया, मिल लो। अब मैं बिदा होता हूँ। भैया, हाथ क्यों नहीं उठाते ? मैं ऐसा बुरा हो गया क्या कि जन्म-भर के वास्ते बिदा होता हूँ, तब भी ललककर मुझसे नहीं मिलते ? मैं ऐसा ही अभागा हूँ, तो ऐसे अभागे जीवन ही से क्या ? बस, यह लो ! (कटार का छाती में आघात और साथ ही यवनिका-पतन)

नीलदेवी

धनि-धनि भारत की छत्रानी ;
बीर-कन्यका, बीरप्रसविनी, बीरबधू जग जानी ।
सती-सिरोमनि, धरम-धुरंधर, बुधि-बल-धीरज-खानी ;
इनके जस की तिहूँ लोक मैं अमल धुजा फहरानी ।

* * *

सब मिलि गाओ प्रेम-बधाई ;
यहि संसार रतन यक प्रेमहि, और बादि चतुराई ।
प्रेम बिना फीकी सब बातैं कहहु न लाख बनाई ;
जोग, ध्यान, जप, तप, ब्रत, पूजा प्रेम बिना बिनसाई ।
हाव-भाव, रस-रंग-रीति बहु काव्य-केलि-कुसलाई ;
बिना लोन बिजन सो सब ही प्रेम-रहित दरसाई ।
प्रेमहि सों हरि हू प्रगटत हैं, जदपि ब्रह्म जगराई ;
तासों यहि जग प्रेम सार है, और न आन उपाई ।

* * *

इस राजपूत से रहो हुशियार, ख़बरदार ;
ग़फ़लत न ज़रा भी हो ख़बरदार ख़बरदार ।
ईमाँ कि क़सम दुश्मने-जानी है हमारा ;
काफ़िर है, ये पंजाब का सरदार, ख़बरदार ।
अज़दर है, भभूका है, जहन्नुम है, बला है ;
बिजली है, ग़ज़ब इसकी है तलवार, ख़बरदार ।
दरबार में वह तेग़े-शररबार न चमके ;
घर-बार से बाहर से भी हरबार ख़बरदार ।
इस दुश्मने-ईमाँ को है धोके से फँसाना ;
लड़ना न मुक़ाबिल कभी ज़िनहार, ख़बरदार ।

* * *

सावधान सब लोग रहहु सब भाँति सदाही ;
जागत ही सब रहैं रैनि हूँ सोवहिं नाहीं ।
कसे रहैं कटि राति-दिवस सब बीर हमारे ;
अस्व-पीठि सों होहिं चारजामे जनि न्यारे ।
तोड़ा सुलगत चढ़े रहैं घोड़ा बंदूकन ;
रहैं खुली ही म्यान प्रतंचे नहिं उतरैं छन ।
देखि लेहिंगे कैसे पामर जवन बहादुर ;
आवहिं तो चढ़ि सनमुख कायर, कूर सबै जुर ।
देहैं रन को स्वाद तुरंतहि तिनहिं चखाई ;
जो पै यक छन हू सनमुख ह्वै करहिं लराई ।

❀ ❀ ❀

पीकदानो चपरगट्टूखाँ है बस, नाम हमारा ;
यक मुफ़्त का खाना है सदा काम हमारा ।
हमरा जो कहैं रात, तो हम चाँद दिखा दें ;
रहता है सिफ़ारिश से भरा जाम हमारा ।
कपड़ा किसी क, खाना कहीं, सोना किसी जा ;
ग़ैरों ही से है सारा सरंजाम हमारा ।
हो रंज जहाँ, पास न जाएँ कभी उसके ;
आराम जहाँ हो, है वहाँ काम हमारा ।
ज़र दीन है, ईमान है, क़ुरआँ है, नबी है ;
ज़र ही मेरा अल्लाह है, ज़र राम हमारा ।

❀ ❀ ❀

सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ यहि नासा ;
अब तजहु बीरवर, भारत की सब आसा ।
अब सुख-सूरज को उदै नहीं इत ह्वैहै ;
सो दिन फिरि इत अब सपने हू नहिं ऐहै ।

स्वाधीनपनो, बल, धीरज सबै नसैहै ;
मंगलमय : भारत-भुव मसान ह्वै जैहै।
दुख-ही-दुख करिहै चारिहु ओर प्रकासा ;
अब तजहु बीरबर, भारत की सब आसा।

इत कलह, बिरोध सबन के हिय घर करिहै ;
मूरुखता को तम चारिहु ओर पसरिहै।
बीरता, एकता, ममता दूरि सिधरिहैं ;
तजि उद्यम, सब ही दास-बृत्ति अनुसरिहैं।
ह्वै जैहैं चारिहु बरन सूद्र बनि दासा ;
अब तजहु बीरबर, भारत की सब आसा।

ह्वैहैं इत के सब भूत-पिसाच उपासी ;
कोऊ बनि जैहैं आपुहि स्वयंप्रकासी।
नसि जैहैं सिगरे सत्य-धर्म अबिनासी ;
निज हरि सों ह्वैहैं बिमुख भरतभुवबासी।
तजि सुपथ सबहि जन करिहैं कुपथ बिलासा ;
अब तजहु बीरबर, भारत की सब आसा।

अपनी बस्तुन कहँ लखिहैं सबहि पराई ;
निज चाल छोंड़ि गहिहैं औरन की धाई।
तुरकन-हित करिहैं हिंदुन संग लराई ;
जवनन के चरनहि रहिहैं सीस चढ़ाई।
तजि निज कुल करिहैं नीचन संग निबासा ;
अब तजहु बीरबर, भारत की सब आसा।

रहें हमहुँ कबहुँ स्वाधीन आर्य बल-भारी ;
यह देहैं जिय सों सब ही बात बिसारी।
हरि-बिमुख, धरम बिनु धन-बल-हीन, दुखारी ;
आलसी, मंद, तन-छीन, छुधित संसारी।

सुख सों सहिहैं सिर जवन-पादुका त्रासा ;
अब तजहु बीरबर, भारत की सब आसा ।

❀ ❀ ❀

कहाँ करुनानिधि केसव, सोए !
जागत नेकु न जदपि बहुत बिधि भारतबासी रोए ।
यक दिन वह हो, जब तुम छिन नहिं भारत-हित बिसराए ;
इत के पसु-गज को आरत लखि आतुर प्यादे धाए ।
यक-यक दीन, हीन नर के हित तुम दुख सुनि अकुलाई ;
अपनी संपति जानि इनहिं तुम रछ्यो तुरंतहि धाई ।
प्रलय-काल-सम जौन सुदरसन असुर-प्रान-संहारी ;
ताकी धार भई अब कुंठित हमरी बेर मुरारी !

❀ ❀ ❀

चलहु बीर, उठि तुरत सबै जय-ध्वजहि उड़ाओ ;
लेहु म्यान सों खग्ग खींचि, रन-रंग जमाओ ।
परिकर कसि कटि, उठौ धनुष पै धरि सर साधौ ;
केसरिया बानो सजि-सजि रन-कंकन बाँधौ ।
जो आरजगन एक होय निज रूप सँभारैं ;
तजि गृह-कलहहि अपनी कुल-मरजाद बिचारैं ।
तौ ये कितने नीच, कहा इनको बल भारी ;
सिंह जगे कहुँ स्वान ठहरिहैं समर मँझारी ?
पद-तल इन कहँ दलहु कीट-तृन-सरिस जवन-चय ;
तनिकहु संक न करहु, धर्म जित, जय तित निश्चय ।
आर्य-बंस को बधन पुन्य जा अधम-धर्म मैं ;
गो-भच्छन, द्विज-स्रुति-हिंसन नित जासु कर्म मैं ।
तिनको तुरतहिं हतौ, मिलैं रन कै घर माहीं ;
इन दुष्टन सों पाप किए हू पुन्य सदाहीं ।

चिउँटिहु पद-तल दबे डसत है तुच्छ जंतु इक ;
ये प्रतच्छ अरि, इनहिं उपेछै कौन, ताहि धिक !
धिक तिन कहँ, जे आर्य होइ जवनन को चाहैं !
धिक तिन कहँ, जे इनसों कछु संबंध निबाहैं !
उठहु बीर, तरवारि खैंचि माड़हु घन-संगर ;
लोह-लेखनी लिखहु आर्य-बल जवन-हृदय पर ।
मारू बाजे बजैं, कहूँ धौंसा घहराहीं ;
उड़हिं पताका, सत्रु-हृदय लखि-लखि थहराहीं ।
चारन बोलहिं आर्य-सुजस, बंदी गुन गावैं ;
छुटहिं तोप घनघोर, सबै बंदूक चलावैं ।
चमकहिं असि, भाले दमकहिं, ठनकहिं तन बखतर ;
हींसहिं हय, झनकहिं रथ, गज चिक्करहिं समर-थर ।
छन महँ नासहिं आर्य नीच जवनन कहँ करि छय ;
कहहु सबै भारत-जय, भारत-जय, भारत-जय !

अंधेर-नगरी

अंधेर-नगरी, अनबूझ राजा ; टका सेर भाजी, टका सेर खाजा ।
नीच-ऊँच सब एकहि ऐसे ; जैसे भँडुए, पंडित तैसे ।
कुल-मरजाद न मान-बड़ाई ; सबै एक-से लोग-लुगाई ।
जाति-पाँति पूछै नहिं कोई ; हरि का भजै सो हरि का होई ।
बेस्या, जोरू एक समाना ; बकरी, गऊ एक करि जाना ।
साँचे मारे-मारे डोलैं ; छली, दुष्ट सिर चढ़ि-चढ़ि बोलैं ।
प्रगट सभ्य, अंतर छलधारी ; सोई राजसभा बल भारी ।
साँच कहैं, ते पनही खावैं ; झूठे बहु बिधि पदवी पावैं ।
छलियन के एका के आगे ; लाख कहौ एकहु नहिं लागे ।
भीतर होइ मलिन की कारो ; चहिए बाहर रँग चटकारो ।
धर्म, अधर्म एक दरसाई ; राजा करै, सो न्याव सदाई ।

भीतर स्याहो, बाहर सादे ; राज करहिं अमले अरु प्यादे ।
अंधाधुंध मच्यो सब देसा ; मानहु राजा रहत बिदेसा ।
गो, द्विज, स्रुति आदर नहिं होई ; मानहु नृपति बिधर्मी कोई ।
ऊँच, नीच सब एकहि सारा ; मानहुँ ब्रह्म-ज्ञान बिस्तारा ।
अंधेर-नगरी अनबूझ राजा ; टका सेर भाजी, टका सेर खाजा ।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति

यह माया हरि की कलवारिनि, मद पियाय राखा बौराई ;
एक पड़ा भुइयाँ माँ लोटै, दूसर कहै चोखि दे भाई ।
ऐसा है कोइ हरिजन मोदा, तन की तपन बुझावेगा ;
पूरन प्याला पिये हरी का, फेर जनम नहिं पावेगा ।
तिल-भरि मछरी खाइबो, कोटि गऊ को दान ;
ते नर सोधे जात हैं सुरपुर बैठि बिमान ।
कलवारिन मदमाती काम-कलोल ;
भरि-भरि देति पियलवा महा ठठोल ।

इति

विशिष्ट नामों की तालिका

(सप्तम संस्करण)

लेखक, सुधा-संपादक पं० दुलारेलाल भार्गव। पुस्तक की भूमिका में कविवर निरालाजी लिखते हैं—"हिंदी-संसार में महाकवि बिहारीलाल की कितनी ख्याति है, यह किसी हिंदी-भाषा के जानकार से छिपा नहीं। कितने ही विद्वान् समालोचकों का मत है कि वह हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कलाकार हैं। उनके बाद आज तक किसी ने भी वैसा चमत्कार नहीं पैदा किया था, परंतु यह कलंक अब दूर होने को है।......सुधा-संपादक कविवर श्रीदुलारेलालजी भार्गव के दोहे महाकवि बिहारीलाल के दोहों की टक्कर के होते हैं, और बाज़-बाज़ ख़ूबसूरती में बढ़ भी गए हैं।... हिंदी के वर्तमान कवियों और समालोचकों में जो अग्रगण्य माने जाते हैं, उनमें से कोई-कोई मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं कि कविवर श्रीदुलारेलाल वर्तमान समय में व्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं, और उनकी दोहावली व्रजभाषा-साहित्य की वर्तमान सर्वोत्तम कृति। इसकी [illegible] की कोमलकांत पदावली, शृंगार और करुण-रस के कोमलतम मनोभावों की मंजुल, सजीव कल्पना-मूर्तियाँ, वीर-रस की ओजस्विनी सूक्तियाँ, देश-प्रेम का छलकता हुआ प्याला, शांत-रस की सुधा-धारा, रसानुकूल अलंकृत भाषा का मुहाविरेदार प्रयोग और संक्षेप में कहने का अद्भुत कौशल आदि एक ही जगह देखकर जी प्रसन्न हो जाता है।"

इसके अतिरिक्त रत्नाकरजी, शंकरजी, सनेहीजी, पं० पद्मसिंहजी शर्मा, रायबहादुर डॉक्टर हीरालाल, पं० हरिशंकरजी शर्मा ने दुलारे-दोहावली के दोहों की सदा प्रशंसा की है। मूल्य ॥), सजिल्द १)

कुछ सम्मतियाँ

हिंदी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ इतिहासकार, सुप्रसिद्ध समालोचक, विद्वद्वर रायबहादुर पं० शुकदेवविहारी मिश्र बी० ए० और महाकवि पं० सुमित्रानंदनजी पंत—जिस काव्यादर्श को आपने अपनाया है, दुलारे-दोहावली में निःसंदेह उसके सर्वोत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। प्रायः प्रत्येक दोहा आपने मौलिक प्रतिभा, कोमल पद-विन्यास एवं काव्योचित भाव-विलास से सजाया है। शृंगार तथा प्रकृति-प्रधान दोहे हमें अधिक पसंद हैं। तुलनात्मक दृष्टि से मध्यकालीन महारथियों की रचनाओं से वे होड़ लगाते हैं।

सरस्वती-संपादक कविवर ठाकुर श्रीनाथसिंहजी—सुधा में भी मैंने आपके दोहे पढ़े। मुझे आपके सब दोहे पसंद आए। यदि अवसर मिला, तो शीघ्र ही मेरा इरादा आपके दोहों के बारे में एक छोटा-सा लेख लिखने का है।...आपका 'स्मर-बाग़' दोहा बिहारी के दोहों से बाज़ी मार ले गया है! थोड़े शब्दों में बड़ी बात व्यक्त करने के लिये बिहारी प्रसिद्ध हैं। पर, जान पड़ता है, आप उनकी इस प्रसिद्धि पर चोट करेंगे।...मैं दोहों का विरोधी था,...पर आपके दोहों ने इस दिशा में भी मेरी रुचि उत्पन्न की है।